श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित

कर्मप्रकृति

(पूर्वार्ध—बंधनकरण)

तत्वावधान

आचार्य श्री नानेश

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला

(अन्तर्गत—श्री अ भा साधुमार्गी जैन संघ)

बीकानेर (राज)

प्रकाशक
मत्री-श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राजस्थान) ३३४ ००१

○

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित
कर्मप्रकृति (पूर्वार्ध-बधनकरण)

○

तत्त्वावधान
आचार्य श्री नानेश

○

सपादक
देवकुमार जैन

○

सस्करण प्रथम
जुलाई १९८२

○

मूल्य साठ रुपये

○

मुद्रक
नईदुनिया प्रिन्टरी
६०/१, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर-४५२ ००९

प्रकाशकीय

जैनदर्शन और धर्म के अनेक लोक-हितकारी एव सार्वभौमिक अबाधित सिद्धान्तो मे से नामकरण के अनुसार इस ग्रथ का सम्बन्ध एक अद्वितीय कर्मसिद्धान्त से है। इस ग्रथ मे आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे जुडता है, आत्मा के किन परिणामो से कर्म किन-किन अवस्थाओ मे परिणत होते है, किस रूप मे बदलते हैं, जीव को किस प्रकार से विपाक वेदन कराते हैं और कर्मक्षय की वह कौनसी विशिष्ट आत्मिक प्रक्रिया है कि अतिशय बलशाली प्रतीत होनेवाले कर्म नि शेष रूप से क्षय हो जाते है ? आदि बातो का सारगर्भित शैली मे प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रथ का प्रकाशन श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ की अन्तर्वर्ती 'श्री गणेश स्मृति ग्रथमाला' के द्वारा किया जा रहा है। सघ का प्रमुख लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और समाज का समृद्धिसपन्न विकास। व्यक्तित्व निर्माण के लिये आवश्यक है आत्मस्वरूप का बोध करते हुए सदाचारमय आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सीखना और समाजविकास पारस्परिक सहयोग, सामूहिक उत्तरदायित्व के द्वारा जनहितकारी प्रवृत्तियो को बढावा देने पर निर्भर है। इन लक्ष्यो की पूर्ति के लिये सघ द्वारा विविध प्रवृत्तिया सचालित है। इनके लिये पृथक्-पृथक् समितिया और विभाग हैं। इनमे से श्री गणेश स्मृति ग्रथमाला के माध्यम से साहित्य-प्रकाशन का कार्य किया जाता है।

ग्रथमाला का उद्देश्य जैन सस्कृति, धर्म, दर्शन और आचार के शाश्वत सिद्धातो का लोकभाषा मे प्रचार तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण करना है। उद्देश्यानुसार एव इसकी पूर्ति हेतु ग्रथमाला की ओर से सरल, सुबोध भाषा और शैली मे जैन आचार-विचार के विवेचक, प्रचारक अनेक ग्रथो और पुस्तको का प्रकाशन हुआ है। अब इसी क्रम मे कर्म-सिद्धान्त के विवेचक 'कर्मप्रकृति' जैसे महान् ग्रथ को प्रकाशित कर रहे हैं। ग्रथ पृष्ठसख्या की दृष्टि से विशाल है। अतएव सुविधा के लिये दो खडो मे विभाजित किया है। यह प्रथम खड है। इसमे 'बधनकरण' नामक प्रकरण है। शेष प्रकरण द्वितीय खड मे सकलित है। यह द्वितीय खड भी शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

परमपूज्य समताविभूति, जिनशासनप्रद्योतक, धर्मपाल-प्रतिबोधक आचार्य श्री नानालालजी म सा ने कर्मसिद्धात की अनेक गुत्थियो को अपनी विचक्षण प्रतिभा के द्वारा सहज एव सरल तरीके से सुलझा कर प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही अनेक स्थलो पर कर्मसिद्धात के गूढ रहस्यो को उद्घाटित करनेवाली व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। आचार्यश्री द्वारा व्याख्यायित होने से ग्रथ की उपयोगिता मे बहुत अधिक निखार आया है। इस उपकृति के लिये सघ आचार्यश्री का ऋणी रहेगा।

ग्रथ का सपादन श्री देवकुमारजी जैन ने उत्साह के साथ सपन्न किया, तदर्थ श्री जैन धन्यवाद के पात्र है।

इस ग्रथ के प्रकाशन हेतु श्रीमान् स्व सेठ भीखनचन्दजी सा भूरा देशनोक के सुपुत्र श्री दीपचन्दजी सा भूरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। श्री भूराजी देश के प्रतिष्ठित उद्योगपति, व्यवसायी एव श्री अ भा साधु-

मार्गी जैन सघ को तन-मन-धन से सहयोग देनेवाले वरिष्ठ और प्रमुख उन्नायको मे हैं एव परमश्रद्धेय आचार्य-प्रवर पूज्य श्री नानालाल जी म सा मे आपकी प्रगाढ श्रद्धा है। स्थायी कार्यो को करने मे अधिक रुचि होने से आपने 'श्री भीखनचन्द दीपचन्द भूरा साहित्य प्रकाशन कोष' की स्थापना की है। जिसकी ओर से उत्तम ग्रथो के सग्रह एव प्रकाशन किये जाने की योजना है।

अन्त मे हम श्रीमान् दीपचन्दजी सा भूरा का आभार मानते ह कि आपके सहयोग और प्रेरणा से इस ग्रथ को प्रकाशित कर सके हैं। आशा हे इसी प्रकार से आपका सहयोग मिलता रहेगा, जिससे सघ के लक्ष्य की पूर्ति होने के साथ समाजसेवा करने की आपकी भावना से समाज लाभान्वित हो। वक्तव्य के उपसहार मे पाठको से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे कर्मसिद्धात का परिज्ञान करने के लिये ग्रथ का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करेंगे।

निवेदक

जुगराज सेठिया
अध्यक्ष

पीरदान पारख
मत्री

चम्पालाल डागा
हस्तीमल नाहटा
सहमत्री

समीरमल काठेड़
विनयकुमार काकरिया
सहमत्री

अर्थसहयोगी

श्री दीपचंद जी भूरा का संक्षिप्त परिचय

माँ करनी की जगत्प्रसिद्ध नगरी देशनोक की धर्मभूमि मे यहाँ के सुप्रतिष्ठित भूरा परिवार मे जन्मे श्री दीपचन्दजी सा भूरा ओसवाल समाज के रत्न है। आपके पिता श्रीयुत् मीखनचन्दजी सा भूरा समाज के अग्रगण्य सुश्रावक थे और माता सोनादेवी मे धर्म-सेवा की लगन सदैव बनी रहती थी, वे सुश्राविकाओं के गुणों की धारक थी। उन्होने बाल्यकाल से ही कठोर तपस्वी जीवन अपनाया और अन्त समय तक तप पूत बनी रही। श्री भूराजी का जन्म अपने ननिहाल भीनासर मे सवत् १९७२ मे हुआ। आपके चार भाई हुए। सबसे बड़े भाई स्वर्गीय श्री तोलारामजी भूरा सरल स्वभावी सुश्रावक थे। अन्य तीन भाई सर्वश्री चम्पालालजी भूरा अग्रज तथा डालचन्दजी व बालचन्दजी अनुज हैं। श्री चम्पालालजी देशनोक जैन जवाहर मडल के अध्यक्ष हैं। सभी भाई कुशल व्यवसायी हैं और सम्पूण परिवार की समताविभूति आचायश्री नानालालजी म सा के प्रति अनन्य श्रद्धा है।

श्री दीपचन्दजी भूरा हर क्षेत्र मे अग्रगण्य व सौभाग्यशाली रहे हैं। आपके सात पुत्र एव दो पुत्रिया हैं, जो सभी धार्मिक प्रकृति एव सात्विक विचारो के प्रतीक हैं।

धार्मिक जीवन

माता और पिता के सुसस्कारो की धरोहर को श्री भूराजी ने अपने जीवन मे निरन्तर प्रवर्धमान किया है। धर्म के प्रति एव परम पूज्य जैनाचाय श्री नानालालजी म सा के प्रति आपकी और आपके पारिवारिक जनो की प्रगाढ, अविचल, असीम श्रद्धा है। श्री भूराजी धार्मिक कार्यों मे दान प्रदान करने मे कभी पीछे नही रहे। अकाल मे सकटग्रस्त गोधन की रक्षा का प्रश्न हो या अन्य राष्ट्रीय-प्राकृतिक आपदाओ का अवसर, श्री दीपचन्दजी भूरा सदैव एक सच्चे धार्मिक की भाति मुक्तहस्त से सहस्रो रुपयो का दान देते हुए दिखाई देते हैं। आपके दान से शताधिक सस्थाएँ व व्यक्ति अपने जीवनोन्नयन मे समर्थ हुए है।

व्यापारिक जीवन

श्री भूराजी ने केवल १४ वर्ष की अल्पायु मे ही व्यापारिक क्षेत्र मे प्रवेश किया और जीवन-व्यवहार की प्रत्येक सीख को अपनी कुशाग्रबुद्धि से सूक्ष्मतापूर्वक ग्रहण किया। अपने व्यापार को बहुआयामी बनाते हुए आपने अनाज, कपडा, कपास व रुई के क्षेत्रो मे विस्तीर्ण किया। आप भारत के प्रमुख रुईनिर्यातको मे से एक है। जापान आपके माल का मुख्य आयातकर्ता है। आपने देशनोक जैसे छोटे-से कस्बे मे भारतीय खाद्य निगम के भडारण की व्यवस्था की। भारत के विभिन्न भागो मे आपके व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं।

सामाजिक क्षेत्र

अपने जीवन के उषाकाल से ही व्यवसायदक्षता प्राप्त करने मे जुट जाने पर भी श्री भूरा सामाजिक जीवन मे अपनी भागीदारी के प्रति हमेशा जागरूक रहे। समाज-ऋण से उऋण होने के लिए आप सकल्पित रहे और सामाजिक सेवाकार्यो मे अग्रणी रहे। सद्य-सम्पन्न देशनोक नगरपालिका के चुनावो मे आपका निर्विरोध अध्यक्ष चुना जाना व आप द्वारा किया सदस्यो का मनोनयन १५,००० की आबादी के कस्बे मे सर्वसम्मति से व सहर्ष स्वीकार हो जाना सम्पूर्ण भारत मे एक आदर्श उदाहरण है। यह आपके वादातीत व्यक्तित्व का प्रतीक है।

उस स्थिति को सुलझाने वाला गुरुस्थानीय कर्मसिद्धान्त के अतिरिक्त कोई नही हो सकता । वह मानव में यह सोचने की क्षमता उत्पन्न करता है कि मेरे विघ्न का कारण बाह्य नही हो सकता । कुछ-न-कुछ अन्तरंग कारण ही है ।

जिस स्थान पर वृक्ष लहलहाया है, वही उसका बीज भी होना चाहिये । बिना बीज वपन किये वृक्ष की उत्पत्ति नही हो सकती । इसी प्रकार विघ्न का भी मूल कारण बाह्य नही, अपितु मेरे ही कार्य की परिणति है । व्यक्ति जिस प्रकार के बीज का वपन करेगा, फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा । अफीम का बीज बोने से अफीम ही पैदा होगी तथा गन्ने का बीज बोने से गन्ना ही मिलेगा । अफीम के वपन मे गन्ना या गन्ने के वपन से अफीम नही मिल सकता । उसी प्रकार व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करेगा, उसका फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा । पुण्य कर्म से शुभ फल एव पाप कर्म से अशुभ फल ही प्राप्त होगा । जो कुछ भी सुख-दुःख की अनुभूति मानव को होती है, वह स्वकृत शुभाशुभ कर्मो से ही होती है । उपादानकारण स्वयं का होता है, निमित्त के रूप मे दूसरा कोई भी हो सकता है । यह शिक्षा कर्मसिद्धान्त से मानव को मिल सकती है, बशर्ते कि कर्मसिद्धान्त का मार्मिक विज्ञाता परम योगी कोई गुरु हो । जो मानव को बडी-बडी आपत्तियो का भी हँस-हँसकर झेलना सिखाता है । व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता का क्या मूल्याकन है, कर्मसिद्धान्त उसकी महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है । विघ्न और सघर्ष के अकुर को ही उखाड फैकता है । आधी और तूफान मे हिमालय की तरह मानव को हर परिस्थितियो मे स्थिर रहना सिखा देता है । अतीत के जीवन को स्मृति पर उभार कर अनागत के जीवन को परिष्कृत करने की प्रेरणा देता है ।

यह महत्वपूर्ण शिक्षा मानव को कर्मसिद्धान्त के बिना नही मिल सकती । आज मानव मे नैतिकता, धीरता, पापभीरुता की यत्किंचित भी झलक मिल रही है, वह सब कर्मवाद का ही सुफल है ।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय मे डॉक्टर मेक्समूलर का दृष्टिकोण भी जानने योग्य है—"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन मे बेहद हुआ है, यदि किसी मनुष्य को मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्तभाव से इस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप-ही-आप होगी । अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है । दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता । किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सबध मे कितनी ही शका क्यो न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सब से अधिक जगह माना गया है । उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है ।"

कर्ममुक्ति का उपाय

ससारी आत्माए अनादि काल से कर्म से सबद्ध ही चली आ रही है । कर्म आत्मा का वैभाविक रूप है । प्रयत्नविशेष से उन कर्मों को विलग भी किया जा सकता है ।

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे कर्म से मुक्ति पाने के लिये तीन उपाय बतलाये है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है अर्थात् इनकी पूर्ण आराधना करने वाला जीव कर्मो से पूर्ण मुक्त हो जाता है । जैन वाङ्मय मे इन्ही को रत्नत्रय के नाम से प्रतिपादित किया जाता है ।

दो शब्द

अनन्तानन्त आत्माओ की दृश्यमान विचित्र अवस्थाओं का मूल कारण 'कर्म' ही है । कर्म के कारण ही आत्माये विभिन्न अवस्थाओं मे परिलक्षित होती है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे कर्मसिद्धान्त की ही विस्तृत विवेचना की गई है ।

'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ पर संस्कृत मे टीकाएं, गुजराती भाषान्तर तो प्रकाशित हो चुके है किन्तु वे कर्मसिद्धान्त के जिज्ञासु हिन्दीभाषा के अध्येताओ के लिये विशेष उपयोगी नही बन सके । संवत् १९३३ मे दीर्घतपस्वी श्री ईश्वरचन्दजी म सा के साथ विद्वद्वर्य श्री सेवन्तमुनिजी म सा का वर्षावास ब्यावर मे था। इस वर्ष मुनिश्रीजी परीक्षाबोर्ड की रत्नाकर परीक्षा के अध्ययन मे संलग्न थे । पंडित श्री हीरालालजी शास्त्री के द्वारा जब आप 'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे थे तब अध्ययन के साथ ही आपने पडितजी द्वारा ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी लिख लिया । विद्यार्थियो के लिये उपयोगी समझकर सुज्ञ बंधु नेमचन्दजी खीवसरा ने इस हिन्दी अनुवाद का टाईप करवा लिया ।

आचार्यश्री प्राकृतिक चिकित्सा हेतु बीकानेर के समीपस्थ भीनासर मे विराजमान थे । उस समय मे हिन्दी अनुवाद की टाईप कापी आपश्री के पास पहुँची । आचार्यश्रीजी जब इसका अवलोकन करने लगे तब विद्वद्वर्य श्री सपतमुनिजी म सा ने निवेदन किया—आचार्यप्रवर ! आपश्री के सान्निध्य मे इसका वाचन कर लिया जाय तो उपयुक्त रहेगा । तदनन्तर आचार्यश्री के सान्निध्य मे दोनों संस्कृत टीका आदि ग्रन्थों को सामने रखते हुए संत-सती वर्ग द्वारा इसका अवलोकन होने लगा तब आचार्यप्रवर ने कर्म-सिद्धान्त के अनेकों रहस्यमय विषयो पर सुन्दर प्रकाश डाला, जो एक अभिनव चिन्तन था । मुनिश्री ने उसका लेखन करके ग्रन्थ मे यथास्थान सम्बद्ध कर दिया ।

संघ के सुज्ञ श्रावकों को जब यह ज्ञात हुआ तो इसे कर्मसिद्धान्त के अध्येताओ के लिये बहुपयोगी समझा गया । जब यह हिन्दी अनुवाद मेरे पास पहुँचा तो मैने श्री देवकुमारजी को संपादन करने के लिये दिया ।

श्री देवकुमारजी ने इसका संपादन कर, जिस किसी ग्राम मे आचार्यश्री पधारते वहाँ उपस्थित होकर संपादित कापियों को आचार्यश्री के समक्ष पुन श्रवण करवाते । आचार्यश्री ने जहाँ पर भी विशेष स्पष्टीकरण करवाया इसे विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी एवं देवकुमारजी ने लिपिबद्ध करके अनुवाद मे यथास्थान संयोजित कर दिया । इन संपादित कापियों को मिलाने एवं संशोधित करने मे विशेषकर विद्वद्वर्य श्री रमेशमुनिजी, विद्वद्वर्य श्री विजयमुनि जी, विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी एवं विद्वान श्री रामसुनिजी म सा ने योगदान दिया। इसके अतिरिक्त अन्य संत-सती वर्ग का भी यथायोग्य योगदान प्राप्त हुआ ।

आचार्यश्रीजी के तत्वावधान मे संपादन और अनुवाद आदि हुआ है। व्यस्त कार्यक्रम होते हुए भी आचार्यश्रीजी ने ग्रन्थ को अवधानता के साथ श्रवण कर गहन विषयों पर अभिनव एवं सटीक चिन्तन दिया । तदर्थ संघ, समाज आचार्यश्रीजी का ऋणी है ।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त महत्त्वपूर्ण विषयों को सपादक ने अपनी भाषा मे आवद्ध किया है । इस सपादन मे यदि आचार्यश्री का चिन्तन यथावत् न आ पाया हो और कोई सैद्धान्तिक त्रुटि रह गयी हो तो वह गलती हमारी है, इसके लिये हम आचार्यश्री से हार्दिक क्षमायाचना करते है और प्रार्थना करते हैं कि समय पर त्रुटि का परिमार्जन करने की कृपा करे ।

पाठको ! परम प्रसन्नता का विषय है कि कर्मसिद्धान्त के रहस्यों को उद्घाटित करने वाला महान् ग्रथ 'कर्मप्रकृति' हिन्दी अनुवाद के रूप मे हम लोगों के बीच मे आ रहा है । विश्व का प्रत्येक मानव सुखाभिकाक्षी है । सभी सुख चाहते हैं । सभी को जीवन प्रिय है—"सव्वेसिं जीवय पिय", दु खी कोई नही वनना चाहता, तथापि आश्चर्य है कि मानव दु खी, सतप्त व पीडित ही दिखलाई देता है, इसका क्या कारण है ? मूल रूप मे इसका कारण स्वय के 'कर्म' है । इन कर्मों को समझे विना दु ख से मुक्ति एव सुख की अवाप्ति नहीं हो सकती । सुख पाने के लिये 'कर्मसिद्धान्त' का ज्ञान आवश्यक है । प्रस्तुत ग्रन्थ का गहनता से अध्ययन करने पर हमे कर्म-सिद्धान्त के समग्र स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा, जिसके कारण जगत की आत्माए दु खी हो रही है । इसका विज्ञान प्राप्त कर अपने आपको इससे विलग करने का प्रयास करेंगे तो अवश्य ही परम सुख को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकेंगे ।

इसी सद्भावना के साथ—

दस्साणियो का चौक
बीकानेर (राज) ३३८ ००१

सुन्दरलाल तातेड़

सम्पादकीय

कर्म और कर्मफल का चिन्तन मानवजीवन की साहजिक प्रवृत्ति है । प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और जानना चाहता है कि उसकी क्रिया का क्या फल होता है और उससे अर्जित, प्राप्त अनुभव के आधार से यह निर्णय करता है कि किस फल की प्राप्ति के लिये उसे क्या करना उचित है और क्या नहीं करना चाहिये । यही कारण है कि मानवीय संस्कृति, सभ्यता का प्रत्येक आयाम, चिन्तन कर्म और कर्मफल को अपना विषय बनाता आ रहा है ।

विश्व के सभी अध्यात्मवादी दर्शनों का दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो और उनकी मान्यतायें भी पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी हों, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि किसी-न-किसी रूप से उनमें कर्म की चर्चा हुई है । उदाहरणार्थ हम अध्यात्मवादी भारतीय दर्शनों के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो प्रत्यक्ष या परोक्ष, साक्षात या प्रकारान्तर से उन्होंने कर्म और कर्मफल को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है । लेकिन वैदिक और बौद्ध दर्शन के साहित्य में जिस रीति से कर्म सम्बन्धी विचार किया है, वह इतना अल्प एवं असबद्ध है कि उससे कर्म से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता है । इसीलिये उन दर्शनों में कर्म विषयक सर्वांगीण विचार करने वाला कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है । इसके विपरीत जैनदर्शन में विस्तृत रूप से कर्म के सम्बन्ध में विचार किया गया है । यह विचार गंभीर एवं व्यवस्थित है । यों तो जैन वाङ्मय के सभी विभागों में न्यूनाधिक रूप में कर्म की चर्चा पाई जाती है, लेकिन कर्म और कर्मफल की ही जिनमें विस्तृत चर्चा हुई है, ऐसे अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं ।

इन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त को मानने के कारणों की मीमांसा करने से लेकर उसके विषय में उठने वाले प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया है । जैसे कि कर्म के साथ आत्मा का बंध कैसे होता है ? उस बंध होने के कारण क्या हैं ? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है ? कर्म आत्मा के साथ कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक संश्लिष्ट रहता है ? आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है । इस स्थिति में उसका क्या रूप रहता है । कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नहीं और यदि बदला भी जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक है । कर्म की तीव्र शक्ति को मंद शक्ति में और मंद शक्ति को तीव्र शक्ति में रूपान्तरित करने वाले कौन से आत्मपरिणाम होते हैं । किस कर्म का विपाक किस दशा में नियत और किस दशा में अनियत है । कर्ममुक्त आत्मा का अवस्थान कहाँ है और उसकी परिणति कैसी होती है, आदि-आदि ।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी उक्त विशेषताओं का वर्णन करना जैन कर्मग्रन्थों का साध्य है । जैनसाहित्य में कर्म-सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रतिपादन पूर्वों में किया गया था । श्रमण भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, उसको उनके गणधरों ने बारह अंगों में विभक्त एवं निबद्ध किया । जिन्हें द्वादशांगश्रुत या जैनागम कहा जाता है । बारहवें श्रुतांग का नाम दृष्टिवाद है और उसी के भीतर चौदह विभागों का पूर्व नामक एक विशिष्ट खंड था । पूर्व इस

नामकरण के सम्बन्ध मे किन्हीं-किन्हीं का मत है कि ये पूर्व इस कारण कहलाये कि श्रमण भगवान महावीर ने सर्वप्रथम इन्हीं का उपदेश दिया था और नाना उल्लेखो से यह भी अनुमान किया जाता है कि इनमे भगवान महावीर से भी पूर्व मे हुए तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो का समावेश किया गया था, इसी कारण इनको पूर्व कहा जाता है । इन पूर्वो मे से आठवा पूर्व कर्मप्रवाद तो मुख्यरूप से कर्मविषयक ही था और उसके सिवाय दूसरे आग्रायणीय पूर्व मे भी कर्म का विचार करने के लिये कर्मप्राभृत नामक एक उपविभाग था । दुर्भाग्यवश वे पूर्व कालक्रम से विनष्ट हो गये । अत वर्तमान मे उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अश तो विद्यमान नहीं है, लेकिन उसी का आधार लेकर उत्तरवर्ती काल के महान आचार्यों ने षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, गोम्मटसार, कर्मप्रकृति, पचसग्रह आदि अर्थगभीर विशाल कर्मग्रन्थो की रचना की । ये ग्रन्थ पूर्वो की तुलना मे काफी छोटे हैं, परन्तु इनका अध्ययन भी अभ्यासियो के लिये कर्मसिद्धान्त का तलस्पर्शी ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है । इनमे पूर्वों से उद्धृत कुछ-न-कुछ अश सुरक्षित है ।

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित 'कर्मप्रकृति' नामक यह कृति कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाली एक विशिष्ट रचना है । ग्रथकार आचार्यश्री ने पूर्वगत वर्णन का आधार लेकर इस महान ग्रथ का अकन किया है । ग्रथ इतना सुव्यवस्थित एव क्रमबद्ध है कि उत्तरवर्ती काल के अनेक आचार्यो ने अपने कथन के समर्थन मे बारबार इस कर्मप्रकृति ग्रथ का उल्लेख किया है एव इस ग्रथ के आशय को विस्तार से स्पष्ट करने के लिये कई आचार्यों ने चूर्णि, सस्कृत टीका आदि व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे हैं ।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरिविरचित कर्मग्रन्थो का सपादन करते समय मुझे यथाप्रसग विवेचन को स्पष्ट करने के लिये कर्मसिद्धान्त के अनेक ग्रन्थो को देखने का अवसर मिला । उनमे यह कर्मप्रकृति ग्रन्थ भी एक था । ग्रन्थ की विवेचनशैली को देखकर उस समय यह विचार हुआ कि आचार्य मलयगिरिसूरि एव उपाध्याय यशोविजयजी की सस्कृत टीकाओ को माध्यम बनाकर इसकी हिन्दी मे विस्तृत व्याख्या की जाये और तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये विभिन्न ग्रन्थों के सदर्भों को भी समायोजित किया जाये ।

किन्तु कर्मग्रन्थो के सपादन मे व्यस्त होने के कारण मैं इस कार्य को तत्क्षण सपन्न नहीं कर सका कि इसी बीच श्री सुन्दरलाल जी सा तातेड ने मुनि श्री सेवन्तमुनि जी म सा द्वारा लिखी गई हिन्दी अनुवाद की एक प्रतिलिपि मुझे देकर शीघ्र ही सपादन कार्य करने की प्रेरणा दी । उनकी प्रेरणा को लक्ष्य मे रखते हुए परम-श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म सा के सान्निध्य मे मैंने इस ग्रन्थ का सपादन कार्य प्रारम्भ किया । कर्म-सिद्धान्त का गहनतम ग्रन्थ होने से इस पर अगाध प्रज्ञानिधि आचार्यश्री द्वारा मौलिक, सैद्धान्तिक विश्लेषणात्मक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई । अथवा मैं यो कहूँ तो अधिक सगत होगा कि आचार्यप्रवर के द्वारा ही ग्रन्थ को पूर्णता प्राप्त हुई है ।

सपादन करते समय मैंने ग्रन्थ के आशय को यथारूप मे प्रगट करने की पूरी सावधानी रखी है । फिर भी कहीं कोई चूक हो गई हो, अस्पष्टता अथवा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ । विज्ञजनो से निवेदन है कि वे उसको सशोधित करके मुझे सूचित करने की कृपा करें ।

प्रूफ सशोधन मे श्री सुन्दरलाल जी तातेड का पूर्ण सहयोग रहा है । इसके लिये उनका आभारी हूँ । प्रूफ सशोधन करते समय अशुद्धि न रहने का ध्यान रखा है, फिर भी अनजान मे कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञपाठक उसको गौण मानकर यथास्थान उसी आशय को ग्रहण करेंगे जो वहाँ अपेक्षित, शुद्ध एव सगत है ।

अंत मे परमश्रद्धेय आचार्यप्रवर एव कार्य को यथाशीघ्र सपन्न करने के लिये यथोचित योग देनेवाले प्रमुख विद्वान मुनिश्री सेवन्तमुनिजी म, श्री शातिमुनिजी म, श्री विजयमुनिजी म, श्री ज्ञानमुनिजी म, श्री धीरेन्द्रमुनिजी म, श्री राममुनिजी म एव श्री सुन्दरलाल जी तातेड तथा परोक्ष रूप मे सहयोग देने वाले अन्य सज्जनो का आभारी हूँ कि उनकी सद्-भावनाओ, कामनाओ से मैं 'कर्मप्रकृति' जैसे महान ग्रथ के सपादन करने की आकाक्षा को सफल करने मे सक्षम हो सका हूँ।

साहित्य के मूल्याकन के सही निर्णायक पाठक होते है। अतएव उनकी प्रतिक्रिया से ज्ञात हो सकेगा कि वे मेरे श्रम को किस रूप मे परखते है। मै तो इतना ही कहने का अधिकारी हूँ कि जिज्ञासु पाठको की ज्ञानवृद्धि मे यह ग्रन्थ सहायक होगा और कर्मसिद्धान्त का अध्ययन करने की प्रेरणा मिलेगी। विज्ञेषु किं बहुना।

खजाची मोहल्ला, बीकानेर

स २०३८, चैत्र कृष्णा ३,

दि १२-३-८२

देवकुमार जैन

सपादक

ᐧ थान के चित्र
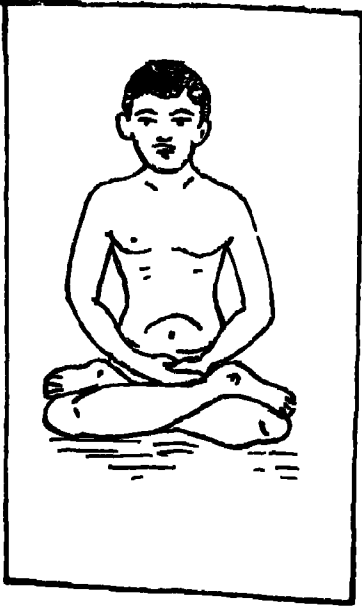
समचतुरस्रसंस्थान
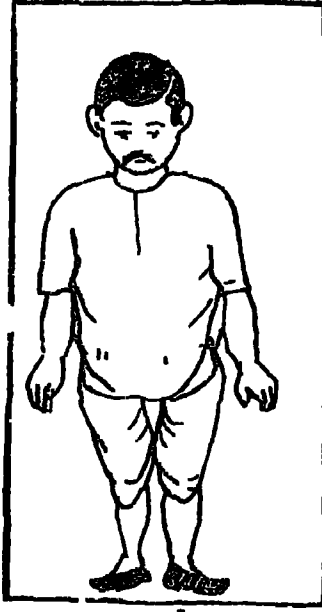
न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान

सादि - सस्थान

कुब्ज संस्थान
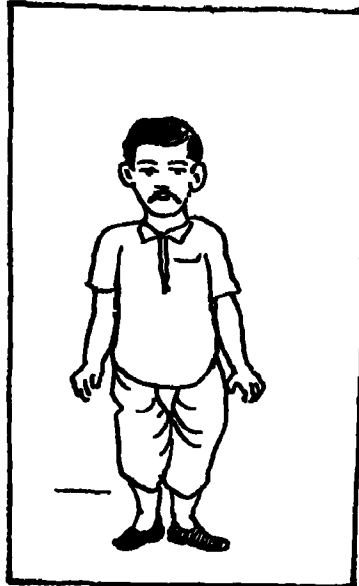
वामन - संस्थान
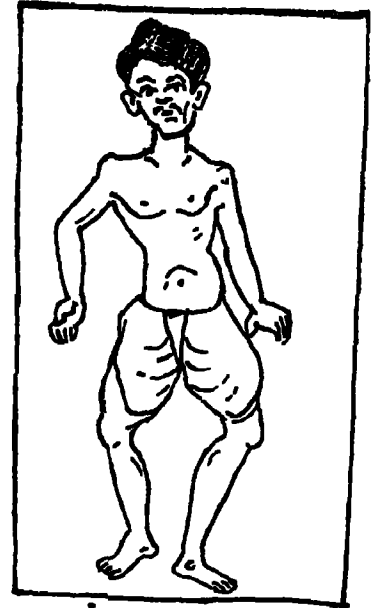
हुंड - सस्थान

सहनन के चित्र पृष्ठ २१० पर देखिये

कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण

— आचार्य श्री नानेश

विश्व के विचित्र दृश्यो की ओर दृष्टिपात करने पर चिन्तकवर्ग के मस्तिष्क मे विविध विचारतरगे परिस्फुरित होती है। चिन्तन चलता है विचित्र दृश्यो के वैविध्य पर। जब विभिन्न प्राणियो मे विविधता दृष्टिगोचर होती है तब चिन्तन चलता है कि इसका कारण क्या है? एक ही माता की कुक्षि मे जन्म लेने वाली सन्तानो मे एकरूपता क्यो नही है? एक की वर्णाकृति किसी अन्य प्रकार की है तो दूसरे की किसी और ही प्रकार की। एक का शरीर सुडौल है तो दूसरे का इससे भिन्न रूप मे। एक धनवान है तो दूसरा निर्धन। एक बुद्धिमान है तो दूसरा निर्बुद्धि। एक सौम्य-स्वभावी है तो दूसरा आक्रोश-स्वभावी। एक अनेको का नेतृत्व कर रहा है तो दूसरा अनेको की गुलामी। एक स्वस्थ है तो दूसरा रोगग्रस्त। एक ही शारीरिक उपादानकारण की अवस्था से जन्म लेने वालो मे कार्य रूप परिणति विभिन्न रूपो मे परिलक्षित होती है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि एक ही माता की कुक्षि से जुडवा रूप मे जन्म लेने वाली सन्तान मे भी उपर्युक्त विभिन्नता पाई जाती है। वैसे ही समग्र दृश्यमान सृष्टि पर दृष्टिपात करने पर एक जैसी सदृशता, एकस्वभावता प्राय दृष्टिगत नही होती। चिन्तनशील व्यक्ति जगत् की इन विचित्र विधाओ को जानने हेतु विविध कल्पनाए करता रहता है, परन्तु सम्यग् हेतु को सही तरीके से अन्वेषित नही करने के कारण मन-कल्पित किंवा अनुमानित अपूर्ण कल्पनाए करता रहता है। यही कारण है कि मानव ने जब से चिन्तन करना प्रारम्भ किया तब से पूर्वात्य, पाश्चात्य किसी भी क्षेत्र मे रहने वाले चिन्तक ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इस वैचित्र्य पर विचार किया, किन्तु वे जिन सस्कारो से अनुरजित थे उसी रूप मे उन्होने विभिन्न विचित्रताओ के कारण को खोजने का प्रयास किया।

किसी ने पानी को सर्वोपरि स्थान दिया तो किसी ने अग्नि को, किसी ने क्रियाकलापो को तो किसी ने काल को विचित्र दृश्यो का कारण माना। किसी ने स्वभाव को, किसी ने नियति को तो किसी ने पुरुषार्थ एव ईश्वर को कार्यो का कारण माना। किसी ने ग्रह-गोचर को कारण माना तो किसी ने अज्ञात को। परन्तु इस प्रकार के एकागी चिन्तन विचित्रता के कारण का सही तथ्य उजागर नही कर सके।

इस धरा पर उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति—तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जो दिव्य महापुरुष प्रादुर्भूत हुए, जिन्होने परीषहो और उपसर्गों को सहन कर राग-द्वेष की ग्रन्थियो का सर्वथा उन्मूलन कर ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त किया, जिनके ज्ञान मे दृश्य एव अदृश्य जगत के सारे पदार्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट झलकते थे, उन तीर्थंकर महापुरुषो ने इन विचित्रताओ को देखा, जाना तथा इनके मूल कारण को जनता के समक्ष विवेचित किया। वह विवेचन वीतरागी देवो द्वारा प्ररूपित होने से अविसवादी तथा अनेकान्त-दृष्टि से सपन्न था।

प्रखर प्रज्ञासपन्न व्यक्तियो ने इस विषय को गहराई से समझा तथा यथासमय लिपिबद्ध करके इसे जनता के समक्ष रखा, वही कर्मसिद्धान्त के रूप मे स्थिरीभूत हुआ। कर्मसिद्धान्त का वर्णन इतना विस्तृत हुआ कि इसका समावेश आग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के कर्मप्रवाद मे किया गया है। मूलत कर्मसिद्धान्त के उपस्कर्ता दिव्यपुरुष केवलज्ञान और केवलदर्शन तथा यथाख्यातचारित्र के धारक अनत शक्तिसपन्न तीर्थंकर देव ही है।

नोट—आचार्यश्री द्वारा कर्मसिद्धान्त की गई विवेचना से सकलित।

इस अवसर्पिणी काल मे सर्वप्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव हुए, जो कि समग्र मानव जाति मे दिव्य पुरुष के रूप मे प्रख्यात हुए थे। जिनका उल्लेख वेदो और उपनिषदो मे भी हुआ है। पाश्चात्य देशो मे इन्हे 'बावा आदम' के नाम से आज भी सबोधित किया जाता है। उन्हें जिनदेव या वीतरागदेव भी कहा जाता है। इन वीतराग देवो ने समग्र विश्व के रहस्य को प्रतिपादित किया, किन्तु इस रहस्य को समझने वाली प्रजा विरल ही रही।

अधिकाश मानव समुदाय बौद्धिक विकास की कमी के कारण इन तथ्यो को समझने मे प्राय अक्षम रहा। प्रभु ऋषभदेव ने आध्यात्मिक शासन को जिस वर्ग से विशेष रूप से सबधित किया, इस वर्गविशेष को तीर्थ के नाम से सबोधित किया गया। इसी तीर्थ का वर्गीकरण चार विभागो मे किया गया, यथा—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका।

चारो वर्ग गुण एव कर्म की निष्पन्नता के साथ विश्व के सामने आये। तीर्थंकर देवो पर परिपूर्ण श्रद्धा रखने वाले ऐसे वर्गों ने अपने सभी दु खो की समाप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया। कुछ साधक तो परिपूर्णता को प्राप्त कर आन्तरिक शक्तियो से परिपूर्ण हो ईश्वर बन गये और कुछ पुण्यकर्म के सयोग से देवलोकादि को प्राप्त हुए हो, कालान्तर मे पुन वैसी ही शक्ति को लिये हुए दूसरे तीर्थंकर हुए। वे पूर्व तीर्थकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का अध्ययन किये बिना ही स्वत साधना के क्षेत्र मे उतरे और पूर्व तीर्थकर की तरह शरीर को प्रयोगशाला बनाकर उन्होने आध्यात्मिक सिद्धि में परिपूर्णता प्राप्त की एव विराट विश्व के रहस्य को इसी रूप मे जाना, देखा एव प्रतिपादित किया। इस प्रकार एक के बाद एक २४ तीर्थकर हुए। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो मे मूलत कोई अन्तर नही था। परन्तु समय-समय पर सभी ने स्वय के परिपूर्ण ज्ञानालोक मे जो देखा, वही प्रतिपादन किया। चतुर्विध सघ की स्थापना की।

इन परिपूर्ण अवस्थाओ को वरने वाले एव तदनुरूप कथन करने वाले एक के बाद एक तीर्थकर होते रहने से उनके अनुयायी वर्ग मे मौलिक तत्त्वो मे प्राय एकरूपता रही और वह अद्यावधि तक चली आ रही है। परन्तु जिन मानवो का प्रारभ मे तो ध्यान ऋषभदेव के सन्मुख रहा परन्तु तत्त्वो की गहनता इनकी समझ से परे रही, उन मानवो के बीच सिद्धान्तो का सही सम्बन्ध यथावत नही रह सका। तब उन्होने नाममात्र की स्थिति को लेकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सिद्धान्तो का निर्माण कर दिया। यही कारण है कि समग्र मानव जाति के साथ ऋषभदेव भगवान् का सम्बन्ध तो किसी-न किसी रूप मे जुडा हुआ है परन्तु सृष्टि के रहस्य सम्बन्धी कारण एव सिद्धान्तो मे एकरूपता नही रह सकी। ऋषभदेव के पश्चात् आने वाले अन्य तीर्थकरो के साथ भी क्षेत्रीय परिधि के कारण सम्बन्ध नही जुड सका तथा जिनके क्षेत्रीय परिधि नही थी, तथापि वे परिपूर्णत पूर्वाग्रह से मुक्त नही बन सके।

जिन बुद्धिवादियो ने जो सस्कार जनसाधारण को दिये थे, इन सस्कारो मे वह सिद्धान्त रूढ—सा बन गया और इसी रूढता के कारण वे एक क्षेत्र मे विचरण करने वाले तीर्थकरो की समीपता भी नही पा सके। अत सस्कारो का परिवर्तन, परिमार्जन नही हो सका। इसलिये इस विराट विश्व की रहस्यमयी पहेली का कारण उनसे अज्ञात ही रहा। परन्तु मानव की बुद्धि ने कभी विराम नही लिया। विचित्र दृश्यो की खोज मे विभिन्न कारण ढूढती ही रही। इसीलिये विश्व मे जितने भी मत, पथ विद्यमान है वे सृष्टि के विषय मे एव उसके हेतु मे विभिन्न कल्पनाए करते रहे हैं।

जब वैदिक युग आया, तब वैदिक ऋषि, महर्षियो ने ऋषभदेव के गुणगान तो किये है।[1] परन्तु

---

१ ॐ नमो अर्हन्तो ऋषभो (यजुर्वेद)
ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाह (,, अ २६)
ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठिताना चतुर्विशति तीर्थकराणा ऋषभादि वर्द्धमानान्ताना, सिद्धान्तशरण प्रपद्यो (ऋग्वेद)
तीन लोक के प्रतिष्ठाता ऋषभदेव से लेकर श्री वर्द्धमान स्वामी तक चौबीस तीर्थकरो की शरण प्राप्त हो।
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कल सत्तम। अष्टमी मरुदेव्या तु नाभेजति उरुक्रम ॥
दर्शयन् वर्त्म वीराण सुरासुर नमस्कृत। नो कि त्रितयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिन ॥ (मनुस्मृति)
अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थ (श्रीमद् भागवत)
ऋषभ का अवतार रजोगुण व्याप्त मनुष्यो को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए हुआ।

सिद्धान्तो की दृष्टि से वे अपने-अपने अनुभवो के आधार पर ही सोचने लगे । किसी ने ब्रह्म और माया को सृष्टि का कारण माना तो किसी ने प्रकृति और पुरुष को और किसी ने बाह्य क्रियाकलापो को। इसी प्रकार कालादि मत भी इसी युग की परम्परागत देन रही। परन्तु वीतराग देव के सिद्धान्तो की वैज्ञानिक एव अकाट्य प्रक्रिया ने जब जनमानस को अत्यधिक प्रभावित करना प्रारम्भ किया तब उस समय के विभिन्न धर्मो के अग्रगण्यो ने अपने-अपने पक्ष की जनता को अपने-अपने मत मे स्थिर रखने के लिए क्रियाकलापो या, यज्ञ-याग आदि को कर्म शब्द से सबोधित कर स्व-अनुयायियो को बतलाया कि अपने मत मे भी कर्म की स्थिति का प्रावधान है, जिसको प्रारब्ध आदि शब्दो से भी अभिव्यजित किया गया था । वही सिलसिला विभिन्न पक्षो, सम्प्रदायो मे दार्शनिकता के रूप मे अभी भी चला आ रहा है। परन्तु विभिन्नता के वास्तविक मूलभूत कारण कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्मता-गहनता के साथ व्यवस्थित रूप मे विस्तृत विवेचन जितना जैनदर्शन मे मिलता है उतना किसी भी दर्शन मे उपलब्ध नही होता है। प सुखलालजी का कथन है कि 'यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य मे कर्म सम्बन्धी विचार है पर वह इतना अल्प है कि इसका कोई खास ग्रन्थ इस साहित्य मे दृष्टिगोचर नही होता । इसके विपरीत जैनदर्शन मे कर्मसम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है ।'

उन्ही वीतराग सिद्धान्तो को ऐतिहासिक एव प्रागैतिहासिक दृष्टि से भी सुनिश्चित रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है। इतिहास की पृष्ठभूमि पर श्री महावीर, श्री पार्श्वनाथ एव श्री अरिष्टनेमि तक का तो तीर्थंकर के रूप मे उल्लेख मिलता है । भगवान महावीर एव पार्श्वनाथ का तो स्पष्ट रूप से विवेचन इतिहास मे प्रमाणित होता है ।

इतिहास द्वारा प्रमाणित तीर्थंकर देवो ने जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है, उन सिद्धान्तो मे तथा पूर्व तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो मे मूलत कोई भेद नही है। अत भगवान ऋषभदेव आदि की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी स्वत सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अन्य महाविदेह आदि क्षेत्रो मे विद्यमान तीर्थंकरो (विहर-मानो) का प्रतिपादन लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञानी भगवान महावीर द्वारा होने से उनका प्रामाणीकरण तथा ऐतिहासिक मूल्याकन भी भलीभाति वैज्ञानिक तथ्यो की तरह उजागर हो जाता है।

उपर्युक्त सदर्भो से यह निर्णयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि जिनदेव द्वारा बतलाया हुआ मार्ग जैन-धर्म के नाम से जो विश्रुत है, समग्र क्षेत्रो की अपेक्षा अनादि काल से चला आ रहा है । प्रवाह की दृष्टि से उसकी आदि नही कही जा सकती । उन सिद्धान्तो की विशेषता वर्तमान युग मे भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी अधिक स्पष्ट होती हुई दृष्टिगत हो रही है । भौतिक विज्ञान के अनुसधानकर्ता भौतिक प्रयोगशाला मे जिन तथ्यो को उभार रहे है वे तथ्य कई स्थलो पर यद्यपि अन्तिम सत्य के रूप मे नही है, किन्तु इनमे दुराग्रह नही होने से अपने अनुसन्धान से पूर्व उद्घाटित तथ्यो को अपूर्ण बताने मे भी सकोच नही करते। उन्ही वैज्ञानिको की अनेक पीढियो के समाप्त होने के बाद कुछ एक तथ्य विश्व के समक्ष आये है, जो कि जैनदर्शन के सिद्धान्तो के अनुरूप है अर्थात् जिनका वर्णन जैनदर्शन मे पूर्व मे ही किया जा चुका है । इससे सहज ही जाना जा सकता है कि जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त शाश्वत सत्य है । सत्य की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति एक-न-एक दिन असदिग्ध रूप से इसी स्वीकारोक्ति मे आएगे, ऐसा कह देना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा। यह सिद्धान्त तो असदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि दृश्यमान जगत की प्रतीत होने वाली विचित्रताओ का मूलभूत कारण कर्म है। जिसका वर्णन अर्हतसिद्धान्तो मे अनादिकाल से चला आ रहा है।

विभिन्न दर्शनो में कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धान्त के विषय मे विभिन्न विचारधाराए दार्शनिक जगत मे प्रचलित है। भारतीय दर्शनो मे से जैन बौद्ध और वैदिक दर्शनो मे विशेषत कर्मसिद्धान्तो पर चर्चा की गयी है। किन्तु जितनी सूक्ष्म और विशुद्ध चर्चा जैनदर्शन मे उपलब्ध होती है, वैसी स्थिति अन्य दर्शनो की नही है ।

वैदिकदर्शन की प्रारभिक अवस्था से लेकर औपनिषदिक काल तक तो कर्मसिद्धान्त का क्रमबद्ध व्यवस्थित विवेचन वैदिकदर्शन मे उपलब्ध नही था, जैसा कि प्रोफे मालवणिया का कथन है—

आधुनिक विद्वानो को इस विषय मे कोई विवाद नही है कि उपनिषदो के पूर्वकालीन वैदिकसाहित्य मे ससार और कर्म की कल्पना का कोई स्पष्ट रूप दिखलाई नही देता था। जहाँ वैदिक एव पूर्ववर्ती ऋषियो ने जगत्-वैचित्र्य के कारण की खोज बाहरी तत्त्वो मे, ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष के रूप मे की तो औपनिषदिक ऋषियो ने इस विविधता का आतरिक कारण जानने का प्रयास किया। फलस्वरूप काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष आदि कारण सामने आए।

कालवाद—कालवादियो का कहना है—जगत के समस्त भाव और अभाव तथा सुख और दुख का मूल काल ही है। काल ही समस्त भूतो की सृष्टि करता है, सहार करता है, प्रलय को प्राप्त प्रजा का शमन भी करता है। ससार के समस्त शुभाशुभ विचारो का उत्पादक काल ही है। काल ही प्रजा का सकोच-विस्तार करता है। सब के निद्रामग्न होने पर भी काल ही जागृत रहता है। अतीत, अनागत एव प्रत्युत्पन्न भावो का काल ही कारण है। उसका अतिक्रमण नही किया जा सकता है।

स्वभाववाद—स्वभाववादियो का कहना है कि काटो का नुकीलापन, मृग, पक्षियो के चित्र-विचित्र रग, हस का शुक्ल वर्ण शुको का हरापन मोर के रगबिरगे वर्ण होना, यह ससार का सारा कार्य स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है। बिना स्वभाव कोई कार्य नही हो सकता।

नियतिवाद—नियतिवादियो का सिद्धान्त है कि जो कुछ होता है वह भवितव्यतावश होता है। जिस पदार्थ की निष्पत्ति जिस रूप मे होने वाली है, वह उसी रूप मे होती है। जो कार्य नही होने वाला है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी नही होगा। जिस व्यक्ति की मृत्यु नही होने वाली है, उसे विष, (पौइजन) भी दे दिया जाये तो उसकी मृत्यु नही हो सकती। जो कुछ भी होता है वह सब नियति से ही होता है।

यदृच्छावाद—यदृच्छावादियो का कहना है—कुछ भी कार्य होता है, वह यदृच्छा, अपने आप होता है। यदृच्छा का अर्थ है अपने आप कार्य की सिद्धि हो जाना। इस वाद मे नियत कार्यकारण की स्थिति नही रहती। मनकल्पित रूप से किसी भी कार्य का कोई भी कारण मान लिया जाता है।

भूतवाद—भूतवादियो का कथन है कि जगत के सपूर्ण कार्य भूतो से निर्मित हैं। भूतपचक ही इस लोक की उत्पत्ति के मूल कारण हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पच भूत कहलाते हैं।

पुरुषवाद—पुरुषवादियो का यह मानना है कि सृष्टि का कर्ता, भोक्ता, नियन्ता सब कुछ पुरुष ही है। इसके दो वाद प्रचलित है—ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवादी सारे जगत के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि पदार्थों का उपादानकारण ब्रह्म को ही मानते हैं—

सर्वं वै खलु इद ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।

ईश्वरवादी ईश्वर को ही अखिल जगत का कर्ता मानते हैं। ईश्वर के हिलाये बिना ससार का एक पत्ता भी नही हिल सकता। जड एव चेतन तत्त्वो का सयोजक स्वय ईश्वर ही है।

लोकवैचित्र्य का मूलकारण जानने के लिये उपर्युक्त वादो मे कुछ प्रयत्न तो किया गया है, किन्तु यह प्रयत्न सत्य तथ्य को स्पष्ट नही कर सका। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुख के रूप भिन्न-भिन्न हैं। एकसमान पुरुषार्थ करने पर भी एक को लाभ होता है, दूसरे को हानि। एक सुखी बनता है, दूसरा दुखी। एक को बिना प्रयत्न किये अकस्मात् धन की प्राप्ति हो जाती है तो दूसरे को लक्षाधिक प्रयत्न करने पर कार्षापण भी प्राप्त नही होता।

इसके कारण की अन्वेषणा जैन और बौद्ध दर्शन मे उपलब्ध होती है। बुद्ध और महावीर ने ईश्वर आदि के स्थान पर कर्म को ही प्रतिष्ठित किया। जगत्वैचित्र्य का मूल कारण 'कर्म' है, यह उद्घोषणा की। ईश्वरवादियो ने जो स्थान ईश्वर को दिया वही स्थान जैन या बौद्ध दर्शन मे कर्म को दिया गया है।

गौतम बुद्ध का सिद्धान्त है कि सारा ससार कर्म से चलता है। प्रजा कर्म से चलती है। चलते हुए रथ का चक्र जिस प्रकार धुरी से बधा रहता है, इसी प्रकार प्राणी भी कर्म से सबधित है। यद्यपि बौद्धदर्शन ने जगतवैचित्र्य के कारण की खोज मे स्वभाव को भी स्वीकार किया है, तथापि बुद्ध के विचारो मे कर्मसिद्धान्त की ही प्रमुखता रही है।

बुद्ध से जब शुभ माणवक ने प्रश्न किया—हे गौतम! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूप वाले मे हीनता या उत्तमता दिखलाई देती है।

हे गौतम! यहाँ मनुष्य अल्पायु-दीर्घायु, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान, दरिद्र-धनवान, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान क्या दिखलाई देते है? हे गौतम इसका क्या कारण है?

उत्तर मे गौतम बुद्ध ने कहा है माणवक! कर्मस्वक, कर्मदायक कर्मयोनि, कर्मबन्धु, कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियो की हीनता और उत्तमता करता है।

इस प्रकार बौद्ध विचारणा मे कर्मसिद्धान्त को स्वीकार तो किया है, लेकिन वैचारिक प्रत्यय के रूप मे ही। बौद्धदर्शन मे प्राणी हीन और उत्तम क्यो होता है, इसका उत्तर तो कर्मसिद्धान्त के रूप मे मिलता है, किन्तु कैसे होता है, इस विषय मे कोई समाधान नही मिलता।

जैनदर्शन मे कर्मसिद्धान्त की प्रक्रिया का सूक्ष्म, गहन एव व्यवस्थित विश्लेषण मिलता है। क्यो और कैसे का स्पष्ट समाधान प्राप्त होता है, जिसका सक्षिप्त वर्णन यहा प्रस्तुत है।

'कर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ

कर्म शब्द विभिन्न अर्थो मे ग्रहण किया जाता है। सामान्यत कर्म शब्द का अर्थ 'क्रिया' के रूप मे लिया जाता है। प्रत्येक प्रकार का स्पदन—चाहे वह मानसिक हो या कायिक, 'क्रिया' कहा जाता है। जैनदर्शन मे इसे त्रियोग मन-वचन-काय के रूप मे लिया जाता है। कर्म का यह क्रियात्मक अर्थ कर्म की आशिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

मीमासादर्शन मे कर्म का अर्थ यज्ञ-याग के रूप मे लिया गया है। गीता मे कर्म शब्द के अर्थ मे यज्ञ-याग के साथ आश्रम तथा वर्णानुसार किये गये स्मार्त कर्मो को भी ग्रहण किया है। बौद्ध विचारको ने भी कर्म शब्द से शारीरिक, मानसिक, वाचिक क्रियाओ को लिया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल या अकुशल कर्म कहे जाते है। यद्यपि 'कर्म' शब्द से बौद्धदर्शन मे क्रिया अर्थ लिया जाता है, तथापि वहाँ पर कर्म शब्द से 'चेतना' की ही प्रमुखता है।

निकाय मे बुद्ध ने कहा है—चेतन ही भिक्षुओ का कर्म है, ऐसा मै कहता हूँ। चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है काया से, वाणी से, मन से। तात्पर्यार्थ यह है कि चेतना के रहने पर ही समस्त क्रियाए सभवित है।

उपर्युक्त कथनानुसार कर्म का अर्थ क्रियात्मक ही लिया गया है, किन्तु कर्मसिद्धान्त मे कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से कुछ विस्तृत है। वहाँ पर शारीरिक, मानसिक एव वाचिक क्रियाओ का चेतना पर पड़ने वाला प्रभाव तथा तत्फलस्वरूप भावी क्रियाओ का निर्धारण और उनसे होने वाली अनुभूति का 'कर्म' शब्द मे ही समावेश किया गया है।

सक्षेपत कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते है—क्रिया और उसका फल (विपाक)। अर्थात् कर्म शब्द मे प्रक्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ सन्निहित है।

जैनदर्शन मे कर्म से उन परमाणुओ को भी ग्रहण किया है जो प्राणी की क्रियाविशेष से चेतन की ओर आकर्षित होकर उससे सम्बद्ध हो जाते है तथा समय की परिपक्वता के अनुसार अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर्म शब्द का अर्थ लिया जाय तो कर्म एक ऐसी शक्ति है, जो एक क्रिया के कारण सचित होती है व दूसरी क्रिया से निर्जरित हो जाती है। अपने उदयकाल मे अपर क्रिया को जन्म देकर स्वय भी अपर रूप मे पुन सचित हो जाती है।

वैचित्र्य के कारण

ससार के सभी आस्तिक दार्शनिको ने आत्मशक्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्व की अपने-अपने दृष्टिकोणो से खोज की है । वेदान्तदर्शन मे माया या अविद्या, साख्य मे प्रकृति, वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट, मीमासा मे अपूर्व, बौद्ध दर्शन मे कर्म, अविद्या, वासना, नैयायिक दर्शन मे अदृष्ट, सस्कार और धर्माधर्म के रूप मे उस तत्त्व का कथन किया है। जैनदर्शन मे उस तत्त्व को 'कर्म' के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। सामान्यतया सभी कारण समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु गहनता मे प्रवेश किया जाये तो अन्य दर्शनो की विचारणा और जैनदर्शन की विचारणा मे बहुत बडा अन्तर है । जैनदर्शन मे कर्म शब्द का जो व्यापक विश्लेपण किया गया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नही होता ।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

प्रत्येक कार्य के लिये निमित्त और उपादान दोनो ही कारणो की आवश्यकता होती है । जैनदर्शन मे जीव की प्रत्येक क्रिया के लिये उपादान के रूप मे भावकर्म (परिणाम) और निमित्त के रूप में द्रव्यकर्म (कर्म-परमाणु) प्रतिपादित है । जीव के शुभाशुभ परिणामो को भावकर्म तथा भावकर्म से आकर्षित होने वाले कर्म-वर्गणा के पुद्गल, जो चेतना के साथ सयुक्त होकर कर्म रूप मे परिणत हो जाते हैं, अपेक्षाकृत चेतना की सज्ञा को पा लेते है, द्रव्यकर्म कहलाते हैं । भावकर्म को उत्तेजित करने वाला द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा तत्सबधित बाह्यपदार्थ भी होता है ।

जब तक आत्मा मे भावकर्म की उपस्थिति नही होती है तब तक कर्मपरमाणु (द्रव्यकर्म) बधन के रूप मे परिणत नही होते। इसलिये द्रव्य और भावकर्म परस्पर एक दूसरे के कारण कहे जाते है।

प सुखलालजी ने कर्म शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है—'मिथ्यात्व, कपाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म कहलाता है।'

मिथ्यात्व (अज्ञान), कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) भावकर्म है । यह भावकम आत्मा की वैभाविक दशा हैं। आत्मा इनका उपादान रूप मे कर्ता है। जिस प्रकार घृत का अन्तरग कारण दुग्ध है, इसी प्रकार भावकर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है । द्रव्यकर्म, जो सूक्ष्म कार्मण परमाणु है, इसका आत्मा निमित्त रूप मे कर्ता है। जिस प्रकार दुग्ध को दधि रूप मे, दधि को नवनीत और घृत मे परिवर्तित करने में जिन अन्य वस्तुओ की अपेक्षा होती है वे निमित्त कारण कहे जाते हैं।

इन द्रव्य और भाव कर्म मे मुख्यतया क्रमश जड और चेतन की प्रमुखता होती है। इन दोनो मे परस्पर कार्यकारणभाव है । जिस प्रकार मुर्गी से अडा और अडे से मुर्गी होती है, इनमे किसी को भी प्राथमिकता नही दी जा सकती, उसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म मे किसी की भी प्राथमिकता का निश्चय नही किया जा सकता । प्रत्येक द्रव्यकर्म तत्सबधित भावकर्म का पूरक और प्रत्येक भावकर्म तत्सबधित द्रव्यकर्म का पूरक है। अत प्रवाह की अपेक्षा से इनका कार्यकारणभाव अनादिकालीन है ।

केवल चेतन पक्ष या केवल जड पक्ष कर्म की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नही कर सकता । द्रव्य और भाव कर्म से ही कर्म की पूर्ण व्याख्या बनती है ।

कर्मपरमाणुओ का आत्मा से सम्बन्ध

प्रत्येक ससारी आत्मा प्रति समय सात-आठ कर्मो का बध करती है। आयुष्य कर्म के बध के समय आठ कर्मो का बध अन्यथा सात कर्मों का बन्ध करती है। सजातीयता की दृष्टि से तो कर्म एक ही है, किन्तु जब जीव के मन-वचन-काया के योगो मे परिस्पन्दन होता है, तब कर्मयोग्य परमाणु आत्मा के साथ कर्मरूप मे सबद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर इनका विभागीकरण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति दुग्धपान करता है, दुग्ध जब उदरस्थ हो जाता

है और रस के रूप मे परिवर्तित हो जाता है तब उसका विभागीकरण होता है। उसकी शक्ति का कुछ-कुछ भाग आख, कान, नाक आदि इन्द्रियो को प्राप्त होता है। मुख्यतया तो दुग्ध उदरस्थ ही होता है। उसी प्रकार मन, वचन व काया के योगो का परिस्पन्दन जिस कर्म के परिणामो की मुख्यता मे हुआ है, उस कर्म को कर्म-परमाणुओ का उसके अनुपात से भाग प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अवशेष कर्मो को भी यथास्थान यथायोग्य भाग मिलता है। इसीलिये प्रतिसमय आत्मा के साथ सप्त-अष्ट कर्मो के बन्धन का विधान किया गया है।

कर्म का विभागीकरण

मूल मे तो कर्म एक ही प्रकार का होता है, तथापि जिस रूप मे वह आत्मिक विकास का अवरोधक बनता है, तदनुरूप उसका विभाग कर दिया जाता है। कर्म के मुख्य विभाग आठ किये गये है—

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

उपर्युक्त आठ कर्मो मे मोहनीय कर्म प्रमुख है। आत्मस्वरूप को आवृत करने की क्षमता, प्रभावशीलता, स्थितिकाल आदि अन्य कर्मो की अपेक्षा मोहनीय कर्म का अधिक है। मोहनीय कर्म पूरे कर्मवृक्ष का मूल कहा जाता है। जिस प्रकार मूल को उखाड देने से वृक्ष टिक नही सकता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का क्षय (नाश) कर देने पर अन्य कर्म भी नही टिक सकते। मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त करने पर अन्य कर्मो का क्षय सरलता से किया जा सकता है।

अष्ट कर्मो मे चार कर्म घातिक और चार कर्म अघातिक है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म घातिक तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्म अघातिक है। जो आत्मा के मूल गुणो का घात (आच्छादित) करते हैं वे घातिक और जो आत्मा के मूल गुणो का घात नही करते वे अघातिक कर्म कहलाते हैं।

घातिक कर्म भी दो प्रकार के होते है—देशघाती और सर्वघाती। सर्वघाती पूर्णतया आत्मगुणो को आवरित कर देते है। जबकि देशघाती किसी एक भाग को आवरित करते है। सर्वघाती से तात्पर्य मात्र गुणो के प्राकट्य को रोकना है, नाश नही। आत्मिक गुण कितने ही आवृत किये जाये तथापि चैतन्य का ज्ञापक अश सदा अनावृत रहता है।

घाती कर्म को उस बीज के समान कहा जा सकता है, जिसमे अकुरण की शक्ति है। जिन कर्मो के कारण नवीन कर्मो का बध होता रहता है, कर्मपरपरा विच्छिन्न नही होती। अघातिक कर्म भुने हुए बीज के समान है, जिनमे नवीन अकुरण की शक्ति नही है। उसी प्रकार अघातिक कर्म (दीर्घ स्थिति वाले) नवीन कर्मो को उत्पन्न नही करते, स्थिति के परिपाक के अनुसार अपना फल देकर आत्मा से विलग हो जाते है।

ज्ञानावरणीय—जिस प्रकार बादल सूर्य को आवरित करता है उसी प्रकार जो कर्म आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवरित करता है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है। बादल का आवरण सूर्य को कितना ही आवरित कर दे, तथापि इतना प्रकाश तो अवशेष रहता ही है, जिससे दिन और रात का ज्ञान हो सके। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म से आत्मा की ज्ञान शक्ति कितनी ही आच्छादित कर दी जाये तथापि ज्ञान का अनतवा भाग तो उद्घाटित ही रहता है, जिससे जीवत्व का ज्ञान हो सके। अन्यथा आत्मा अनात्मा हो जाएगी।

दर्शनावरणीय—जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन मे बाधक बनता है, दर्शन नही करने देता। उसी प्रकार जो कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति को आच्छादित करता है। अर्थात् ज्ञान से पूर्व होने वाले वस्तु के सामान्य बोध को, दर्शन शक्ति को आवरित करने वाला कर्म दर्शनावरणीय है।

वेदनीय—जिस कर्म के द्वारा आत्मा सुख और दुख का अनुभव करे, उसे वेदनीय कर्म कहते है। वह सुख भी मधुलिप्त तलवार को चाटने के समान अन्तत दुखप्रद ही है।

मोहनीय—जिस प्रकार मादक वस्तुओ के सेवन से व्यक्ति बेभान बन जाता है, हिताहित को भूल जाता है, विवेकशक्ति खो बैठता है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी बेभान हो जाता है।

हिताहित के विवेक से विकल हो जाता हे । अकरणीय भी कर डालता हे । ऐसा मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का हे—

दर्शनमोहनीय—दर्शन शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—१ निर्विशेष दर्शन, २ दृष्टिकोण, ३ श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध तो दर्शनावरणीय कर्म से है। अवशेप दो अर्थो का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय कर्म से है। दर्शनमोहनीय कर्म से जीवन मे सम्यक् दृष्टिकोण और सम्यक् श्रद्धा का अभाव हो जाता है, गलत धारणाएँ जम जाती है विवेकबुद्धि विलुप्त हो जाती है। इसके तीन भेद है—

(१) मिथ्यात्वमोहनीय—जिससे प्राणी सत्यासत्य के विवेक से विकल हो जाता है। वह सत्य को असत्य, असत्य को सत्य मान बैठता है।

(२) सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय—जिससे प्राणी सत्यासत्य का निर्णय नही कर पाता। कौनसा सत्य है और कौनसा असत्य, यह निर्णय नही होता।

(३) सम्यक्त्वमोहनीय—मिथ्यात्वमोहनीय के शुद्ध दलिको को सम्यक्त्वमोहनीय कहते है। इन शुद्ध दलिको के उदय रहने पर सम्यक्त्व बोध मे कोई बाधा नही आती अर्थात् शुद्ध श्रद्धा अभिव्यक्त हो जाती है। हा उपशम एव क्षायिक जितनी शुद्धता नही रहती, पर तत्त्वबोध होने मे रुकावट नही आती। जैसे कि आलमारी के स्वच्छ काच अन्तर्गत वस्तु के ज्ञान मे बाधक नही होते, किन्तु उनकी प्राप्ति मे बाधक होते है, इसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय, सम्यग् बोध मे बाधक नही होता।

चारित्रमोहनीय—जिसके द्वारा अनेक प्रकार के विकारो की उत्पत्ति हो तथा आचरण मे अशुभता आती हो, जो व्रतादि की प्राप्ति का बाधक हो, इसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते है।

आयुष्यकर्म—जिस प्रकार बदीगृह, कैदी की स्वतन्त्रता मे बाधक है इसी प्रकार जो कम आत्मा को नियत समय तक विभिन्न शरीरो मे कैद रखता है, उसे आयुष्यकर्म कहते है। जीव प्रतिक्षण आयुष्यकर्म के परमाणुओ का भोग कर रहा है। ज्यो–ज्यो परमाणुओ का भोग होता रहता है, त्यो–त्यो वे आत्मा से पृथक् होते जाते ह। जब पूर्वबद्ध सपूर्ण कर्म परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते है तब जीव वर्तमान शरीर को छोडकर नवीन शरीर धारण कर लेता है।

आयुष्यकम का भोग क्रमिक और आकस्मिक दो प्रकार से होता है। आयुष्य कर्म का क्रमिक भोग तो धीरे–धीरे स्वाभाविक रूप मे होता रहता है। आकस्मिक आयुष्यकर्म का भोग किसी कारण के उपस्थित होने पर एक ही साथ हो जाता है।

नामकर्म—जिस कर्म से जीव के गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाग, वर्ण आदि का निर्माण हो, उसे नामकर्म कहते है। आधुनिक परिभाषा मे इस कर्म को व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व भी कहा जा सकता है।

गोत्रकर्म—जिसके कारण लोक मे प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल मे उत्पत्ति हो, उसे गोत्रकर्म कहते है।

अन्तरायकर्म—अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि मे बाधक कर्म को अन्तरायकर्म कहते है। जिस प्रकार राजा की आज्ञा दान देने की होने पर भी भडारी बीच मे ही बाधक बन जाता है, इसी प्रकार यह कर्म भी अवरोधक बन जाता है।

उपर्युक्त अष्ट कर्मो के उत्तर भेद १४८ होते हैं। यथा–ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयुष्य के ४, नामकर्म के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५ भेद हैं। कुल १४८ भेद होते है।

कर्म और ईश्वर

प्राय सभी धार्मिक विचारधाराए शुभाशुभ कृत्यो का प्रतिफल किसी-न-किसी रूप मे स्वीकार करती हैं, लेकिन कुछ विचारधाराए इन शुभाशुभ कृत्यो का प्रतिफल स्वत और कुछ परत स्वीकार करती है। साख्य, योग, बौद्ध, मीमासक और जैन कर्मो को अपना फल देने मे स्वत समर्थ मानते है। न्याय–वैशेषिक, वेदान्त दर्शन मे कर्मो को फल देने मे स्वत समर्थ नही माना है, अपितु फलप्रदाता के रूप मे ईश्वर को स्वीकार किया है।

जैनदर्शन मे ईश्वर के त्रिरूप प्रतिपादित किये गए हैं—बद्धईश्वर, मुक्तईश्वर और सिद्धईश्वर । जो आत्माए कर्मों से आबद्ध है, वे बद्धईश्वर हैं । जिन आत्माओ ने घनघातिक कर्मचतुष्टय क्षय कर दिया, वे मुक्त-ईश्वर है। जिन आत्माओ ने सपूर्ण कर्मक्षय करके निरजन, निराकार अवस्था प्राप्त कर ली, वे सिद्धईश्वर हैं। सिद्ध-ईश्वर किसी भी जीव के किसी भी कार्य मे हस्तक्षेप नही करते । मुक्तईश्वर अपने अघातिक कर्मो का क्षय करते है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राणियो के कर्मो मे किसी प्रकार कोई भी विघ्न नही करते है। अपने ज्ञान मे उपयुक्त समझें तो यथायोग्य उपदेश दे देते है। बद्धईश्वर के रूप मे स्थित आत्माए अपने कर्मो का फल परिभोग स्वय करती हैं एव नवीन कर्मो का बधन भी स्वय करती है, किन्तु अन्य आत्मा के कर्म बन्धन एव निर्जरण मे उनका किसी भी प्रकार का व्यवधान नही होता।

जीव स्वय ही अपने कर्मो का कर्ता—भोक्ता है। इसका फल परिभोग कराने के लिए कोई दूसरा व्यक्ति किंवा ईश्वर नही आता । सृष्टि का अधिष्ठाता भी कोई ईश्वर नही है। सृष्टि अनादि-अनतकाल मे चली आ रही है। बद्धईश्वर आत्माए अपने कर्मो का फल परिभोग स्वय करती है।

ईश्वर को फलप्रदाता मानने वाले व्यक्तियो ने जो आक्षेप प्रस्तुत किये हैं, निराकरण के साथ उन आक्षेपो को प्रस्तुत किया जा रहा है।

आक्षेप

१ सूई, कैची, घडी आदि लघु-से-लघु वस्तु से लेकर गगनचुम्बी भवनो तक का निर्माता कोई पुरुष विशेष है, तो इसी प्रकार सपूर्ण जगत का निर्माता कोई व्यक्ति अवश्य होना चाहिये। वह व्यक्ति ईश्वर के अतिरिक्त अन्य नही हो सकता ।

२ अखिल जगत के समस्त प्राणी शुभाशुभ दोनो ही प्रकार के कर्म करते हैं। किन्तु अशुभ कर्मों का फल-भोग कोई नही करना चाहता। कर्म स्वय जड होने से बिना चेतन की प्रेरणा के फल देने मे समर्थ नही होते। अत कर्मवादियो के लिए भी ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

३ वह फलप्रदाता ईश्वर इस प्रकार का होना चाहिये कि सदा से मुक्त हो और अन्य मुक्त आत्माओ की अपेक्षा इसमे कुछ विशेषता हो । कर्मवादियो का यह मानना भी असगत है कि कर्म से सर्वथा छूट जाने पर सभी जीव मुक्त हो जाते हैं।

आक्षेपपरिहार

१ यह जगत अनादि-अनन्तकाल से चला आ रहा है, इसकी कोई नव—निर्मिति नही हुई है। उतार—चढाव जरूर आते रहे हैं। परिवर्तन और परिवर्धन भी होते है। इन परिवर्तनो मे कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं जो किसी पुरुष द्वारा किये जाते है और बहुत से परिवर्तन बिना किसी की सहायता से स्वत जड तत्त्वो के सहयोग से हो जाते हैं। मिट्टी—पत्थर आदि एकत्रित हो जाने पर छोटे-मोटे टीले या पहाड बन जाते है। इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से नदी बन जाती है। उष्णता से पानी भाप बनकर बादल के रूप मे बरसने लगता है, ये सब कार्य स्वत होते हैं । इसमे ईश्वर को कर्ता मानने की कोई जरूरत नही है ।

२ जिस प्रकार जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है उसी प्रकार उसका फल भोगने मे भी स्वतन्त्र है, अर्थात् जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार फल परिभोग भी करना पडता है । कर्म का फल भुगताने के लिये कोई ईश्वर नही आता। यद्यपि कर्म जड है किन्तु चैतन्य, जीव के सयोग से उसमे ऐसी शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है कि जिससे वह अपने शुभाशुभ विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट कर देता है । कर्मवाद का यह सिद्धान्त नही है कि चैतन्य के सिवाय कर्म स्वय फल देने मे सामर्थ्यवान हो जाता है। उसका तो

यह कहना है कि जीवो को कर्मो का फल देने के लिये ईश्वर की प्रेरणा की कोई आवश्यकता नही है । मिर्च व्यक्ति स्वय खाता है तो मुंह जलाने के लिये कोई दूसरा नही आता। मदिरा स्वय पीता है तो मादकता उत्पन्न करने के लिये कोई दूसरा नही आता। यद्यपि व्यक्ति मुंह जलाना या मादकता उत्पन्न करना नही चाहता, किन्तु मिर्च या मदिरा पीने से उन पदार्थो मे चेतना के सयोग से वैसी शक्ति आ जाती है और व्यक्ति की अनिच्छा होते हुए भी वे अपना फल दे देते है। इसी प्रकार आत्मा जिस प्रकार का कर्म करती है, उसी रूप मे कर्म उसी आत्मा का सयोग पाकर जीवो की इच्छा न होते हुए भी अपना फल दे देते है । इसके बीच मे ईश्वर आदि को डालने की कोई आवश्यकता नही रहती।

३ ईश्वर भी चेतनावान है, जीव भी चैतन्ययुक्त है । फिर इनमे अन्तर क्या है? अन्तर केवल इतना ही है कि ईश्वर की चैतन्यशक्तिया अनावृत हो चुकी है, किन्तु जीव की शक्तिया अभी कर्मो के कारण आच्छादित है । जिस दिन कर्मो का विलय हो जायेगा उस दिन उसका स्वरूप भी ईश्वर के रूप मे निखर जाएगा। ततश्च जीव और ईश्वर मे कोई अन्तर नही रहेगा। जीव के मोक्ष पा लेने पर भी उसे ईश्वर तुल्य नही मानें तो मुक्ति पाने का महत्त्व ही क्या रहेगा? सिद्धावस्था मे ऐसी कोई विषमता नही है। सारी सिद्धात्माए एक समान शक्तिसपन्न है । मूलत तो जगत की आत्माए ईश्वर ही है। कर्मो के कारण उनका विभिन्न रूप दिखलाई देता है । जिस प्रकार समान पावर वाले बल्वो को अनेक छोटे, बडे डिब्वो से ढक देने पर उनका प्रकाश भी इन्ही डिब्वो मे समाहित हो जाता है। उसी प्रकार समान शक्ति सपन्न आत्माओ पर भी कर्मो के विभिन्न डिब्बो का आच्छादन, बधन होने से आत्माओ की विभिन्न अवस्थाए दिखाई देती है। किन्तु सिद्धावस्था मे सब की आत्माए कर्मो के विभिन्न आवरणो से अनावृत हो जाने से एक समान हो जाती है । वहाँ पर एक ही ईश्वर को मानना दूसरे को तत्सम न मानना, युक्तिसगत नही है।

कर्मफलसविभाग

जिस व्यक्ति ने जो कर्म किया है, उसका फल परिभोग भी वही करेगा। यह नही होता कि कर्म कोई दूसरा व्यक्ति करे और उसका फल परिभोग कोई दूसरा कर ले। जैसा कि आचार्य अमितगति ने कहा है—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥

जो कर्म आत्मा ने पूर्व मे स्वय ने किया है, उसका शुभाशुभ फल वह स्वय ही भोगती है। यदि दूसरे का दिया हुआ फल भी प्राप्त होने लग जाये तो स्वय द्वारा कृत कर्म निरर्थक हो जाएगा।

यदि कर्मफल का सविभाग होने लगे तो कोई भी व्यक्ति कर्मो से छूट ही नही पायेगा या फिर सभी व्यक्ति एक साथ कर्ममुक्त हो जायेंगे।

अत जैनदर्शन का यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है कि स्वय द्वारा कृत कर्मो का फल परिभोग भी स्वय को ही करना पडता है।

व्यावहारिकदृष्टि से यह माना जा सकता है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कार्यो का प्रभाव परिवार पर नहीं अपितु समाज एव राष्ट्र पर भी पडता है। एक व्यक्ति की गलत नीति का परिणाम समूचे समाज एव राष्ट्र तक को ही नही भावी पीढी को भी भुगतना पडता है। जैसा कि लौकिक भाषा मे कहा जाता है—'एक मछली सारे तालाब को गदा कर देती है ।' अत व्यावहारिक दृष्टिकोण से कर्मफल के विभाग को कुछ अशो मे माना जा सकता है।

किन्तु ये सब कारण निमित्त के रूप मे होते हैं । उपादान तो स्वय का ही अशुद्ध होता है, तभी ऐसी परिस्थितियो का निर्माण होता है ।

जो कुछ भी सुख-दु ख, ज्ञानावस्था या अज्ञानावस्था की स्थिति बनती है, उसमे उपादानकारण तो स्वय का ही होता है, निमित्तकारण के रूप मे अन्य व्यक्ति हो सकता है। उदाहरण के रूप मे—किसी व्यक्ति को पत्थर की चोट लगी और रक्त प्रवाहित होने लगा । इस दु ख का मूल उपादानकारण तो व्यक्ति के अपने कर्म है, पत्थर तो एक निमित्तकारण के रूप मे है । इस पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि हम दूसरो के हिताहित करने मे मात्र निमित्त होते हैं तो हम उन क्रियाओ के पुण्य-पाप के भागी भी नही बन सकते । इसका समाधान यह है कि जब निमित्त बनने वाला व्यक्ति स्वय को कर्ता के रूप मे मान लेता है और उसके प्रति स्वय की रागद्वेष की वृत्ति प्रकट करता है तो वह उन कर्मों के पुण्य-पाप के फल मे भी सहभागी बन जाता है । अत यह स्पष्ट है कि कृतकर्मो का फल भी कर्ता को ही भोगना पड़ता है ।

अध्यात्मशास्त्र की भूमिका—कर्मशास्त्र

अध्यात्मशास्त्र का मूल लक्ष्य होता है—आत्मा सम्बन्धी विषयो पर विचार प्रस्तुत करना तथा उसके पारमार्थिक रूप—परमात्मा आदि विषयो पर भी गहरा मथन करना । इन विषयो पर चर्चा करने से पहले आत्मा के व्यावहारिक रूप पर चिन्तन अपेक्षित है । आत्मा की व्यावहारिकता पर चिन्तन किये बिना परमात्मरूप पर स्पष्टतया यथातथ्य चिन्तन नही किया जा सकता । एक प्राणी सुखी है, दूसरा दु खी, एक विद्वान्, दूसरा मूर्ख, एक मानव, दूसरा पशु, आदि-आदि आत्मा के व्यावहारिक रूप को समझे बिना उनका अन्तरग रूप नही समझा जा सकता । दूसरी बात यह है कि दृश्यमान अवस्थाए आत्मा का स्वभाव क्यो नही हैं ? अत अध्यात्मशास्त्र के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह आत्मा के दृश्यमान रूप को पहले स्पष्ट करे । यह कार्य कर्मशास्त्र ने सपादित किया है । वह दृश्यमान जगत की सारी अवस्थाओ को वैभाविक बतलाकर आत्मिक जगत की सारी अवस्थाओ को इन सब से विलग, शुद्ध चैतन्य के रूप मे विज्ञापित करता है ।

जब तक आत्मा के वैभाविक रूप का ज्ञान नही हो जाता, तब तक आत्मा का स्वाभाविक रूप भी नही जाना जा सकता । वैभाविक रूप ज्ञात होने पर ही जिज्ञासा प्रादुर्भूत होती है कि आत्मा का स्वाभाविक—अतरग रूप क्या है ? उस समय आत्मा का मौलिक स्वरूप उपस्थित किया जाता है । आत्मा से परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति बतलाई जाती है, जो कि अध्यात्मशास्त्र प्रस्तुत करता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र की पृष्ठभूमिका के रूप मे है। कर्मशास्त्र के बिना अध्यात्म अवस्था का विज्ञान नही हो सकता है । डिब्बे के अन्दर स्थित वस्तु तभी प्राप्त हो सकती है जब कि डिब्बे के रूप को समझकर उसे उद्घाटित किया जाये—खोला जाये । इसी प्रकार अध्यात्म का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कर्मकृत बाह्य अवस्थाओ को समझा जाये—हटाया जाये और अन्तरग ज्ञान को उजागर किया जाये ।

बाह्य वस्तुओ के प्रति अहभाव को, शरीर-आत्मा के प्रति अभेद भ्रम को हटाकर भेदज्ञान की शिक्षा कर्मशास्त्र ही देता है। जिससे अन्तर्दृष्टि खुले, अध्यात्म का ज्ञान हो, परमात्मा के दर्शन हो जाये ।

यह कर्मशास्त्र अभेदभ्रम से आत्मा को हटाकर, भेदज्ञान की तरफ आकर्षित करता हुआ पुन परमात्म-स्वरूप के अभेदज्ञान रूप अध्यात्म की उच्च भूमिका पर उपस्थित करता है ।

योगशास्त्र की बीज रूप अवस्था भी कर्मशास्त्र मे समाविष्ट है । परन्तु बहुत से अध्येता कर्म-प्रकृतियो की सख्या तथा उसके अवान्तर अनेक भेद-प्रभेदो तथा उसके सविस्तृत विवेचन को देखते हुए इसमे रुचि नही

रखते । लेकिन यह दोष कर्मशास्त्र का नही है । जिस प्रकार गणित, भूगोल, खगोल विज्ञान के प्रति जन-मानस की रुचि कम होती है तो इसका दोष उन विषयो का नही अपितु उनके अध्येताओ का ही है । इसी प्रकार कमशास्त्र की गहनता का ज्ञान स्थूलदर्शी लोग न कर सके तो यह दोष उन्ही का है, कर्मशास्त्र का नही ।

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व

जैनदर्शन मे कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान, मुख्य रूप से तीन अवस्थाए प्रतिपादित की गई है । जिन्हे क्रमश बन्ध सत्ता, उदय के नाम से सबोधित किया जाता है। जैनेतर दर्शनो मे भी सामान्यतया इन्ही को क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध के नाम से माना गया है । पातञ्जलदर्शन मे कर्म, जाति और भोग ये तीन अवस्थाए बताई है, किन्तु जैन वाङमय मे कर्म का ज्ञानावरणादि रूप से ८ एव अवान्तर १४८ भेदो के रुप मे जो विश्लेषण प्राप्त होता है, उतना किसी भी दर्शन मे नही मिलता ।

आत्मा के साथ कर्मो का बन्धन किस रूप मे होता है, कैसे होता है ? कर्म मे कैसे शक्ति पैदा होती है ? कर्म का जघन्य-उत्कृष्ट कितना अवस्थान होता है, उनका विपाक कितने समय बाद हो सकता है ? या नही भी होता है ? तीव्र-मदादि शक्तियो का परिवर्तन कैसे होता है या नही भी होता है ? बाद मे उदय मे आने वाले कर्मो का पूर्व मे उदय कैसे आ सकता है ? कभी-कभी आत्मा के कितने ही प्रयत्न करने पर भी कर्म अपना फल भोगवाए बिना क्यो नही छूटता ? सक्लेश परिणाम अपने आकर्षण से कर्मो की सूक्ष्म रज आत्मा पर किस तरह डाल देते है ? आत्मा अपनी शक्ति से कर्म के सूक्ष्म रजपटल को किस प्रकार हटा देती है ? इससे आत्मा का क्या स्वरूप उजागर होता है ? कुन्दन की तरह शुद्ध आत्मा भी कर्म के कारण कितनी मलीमस प्रतीत होती है ? कर्मों का घना आवरण होने पर भी आत्मा अपने मौलिक स्वरूप से च्युत क्यो नही होती है ? जब वह परमात्मरूप देखने की जिज्ञासु बनती है, तब उसका अन्तरायकर्म के साथ कैसा द्वन्द होता है ? और वह अपने पथ को किस प्रकार निष्कटक बनाती है ? आत्मज्ञान मे सहायक परिणामविशेष—अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण का और उसमे बाधक मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ? जीव अपने शुद्ध परिणामो की अपूर्व शक्ति—करट से कर्मो की पर्वतमाला को किस प्रकार चूर-चूर कर डालता हे ? और कभी-कभी कर्म की दबी अवस्था उछाल खाकर किस प्रकार प्रगतिशील आत्मा के पथ को अवरुद्ध कर उसका अध पतन कर देती है ? कौन-कौन से कर्म बधोदय की अपेक्षा परस्पर विरोधी है ? किस कर्म का बध किस अवस्था मे अवश्यभावी है ? किस कर्म का विपाक किस अवस्था तक नियत और किस अवस्था तक अनियत होता है ? आत्मसबद्ध कर्म किस प्रकार बाह्य पुद्‌गलो को आकर्षित करते है ? और उन पुद्‌गलो से शरीरादि निर्माण किस प्रकार होता है ? सर्वथा कर्मविलय होने पर आत्मा का मौलिक स्वरूप किस प्रकार पूर्णतया उजागर होता है ? उससे आत्मा की क्या अवस्था होती है ? और कर्मबद्ध आत्मा की कैसी विचित्र परिणति होती है ? आदि सख्यातीत प्रश्न जो कर्मसिद्धान्त से सबधित है, उन सब का सयुक्तिक एव सटीक समाधान जैनदर्शन किंवा जैन वाङमय प्रस्तुत करता है । जैनदर्शन के अतिरिक्त वैसा विवेचन पाश्चात्य, पूर्वात्य किसी भी दशन मे उपलब्ध नही होता। कर्म विषयक उत्कृष्ट विषय का गहनता के साथ प्रतिपादन करने वाला प्रस्तुत ग्रन्थ (कर्मप्रकृति) है।

कर्मवाद की व्यावहारिक उपयोगिता

किसी भी कार्य मे जब मानव प्रवृत्ति करता है तो किसी-न-किसी प्रकार की विघ्नबाधाए उपस्थित होती रहती है । उन बाधाओ को देखकर बहुत से व्यक्ति घबरा उठते है । घबरा कर दूसरो को दोषी ठहराते है। एक दूसरे के दुश्मन तक बन जाते है। कभी-कभी इतने चचल हो जाते है कि प्रारम्भ किये हुए कार्यो को भी छोड बैठते है। शान्ति और सतुलन को खो देते है।

इस बिगडती हुई स्थिति को सुलझाने के लिय एक ऐसे गुरु—नायक की आवश्यकता होती है जो उनकी प्रज्ञा पर आये हुए आवरण को अनावृत कर उपस्थित होने वाले विघ्न का मूल कारण क्या है ? इसका यथार्थ समाधान प्रस्तुत कर सके ।

उस स्थिति को सुलझाने वाला गुरुस्थानीय कर्मसिद्धान्त के अतिरिक्त कोई नही हो सकता । वह मानव में यह सोचने की क्षमता उत्पन्न करता है कि मेरे विघ्न का कारण बाह्य नही हो सकता । कुछ-न-कुछ अन्तरंग कारण ही है ।

जिस स्थान पर वृक्ष लहलहाया है, वही उसका बीज भी होना चाहिये । बिना बीज वपन किये वृक्ष की उत्पत्ति नही हो सकती । इसी प्रकार विघ्न का भी मूल कारण बाह्य नही, अपितु मेरे ही भीतर निहित है । व्यक्ति जिस प्रकार के बीज का वपन करेगा, फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा । अफीम का बीज बोने से अफीम ही पैदा होगी तथा गन्ने का बीज बोने से गन्ना ही मिलेगा । अफीम के वपन मे गन्ना या गन्ने के वपन से अफीम नही मिल सकता । उसी प्रकार व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करेगा, उसका फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा । पुण्य कर्म से शुभ फल एव पाप कर्म से अशुभ फल ही प्राप्त होगा । जो कुछ भी सुख-दुःख की अनुभूति मानव को होती है, वह स्वकृत शुभाशुभ कर्मो से ही होती है । उपादानकारण स्वय का होता है, निमित्त के रूप मे दूसरा कोई भी हो सकता है । यह शिक्षा कर्मसिद्धान्त मे मानव को मिल सकती है, बशर्ते कि कर्मसिद्धान्त का मार्मिक विज्ञाता परम योगी कोई गुरु हो । जो मानव को बडी-बडी आपत्तियो का भी हँस-हँसकर झेलना सिखाता है । व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता का क्या मूल्याकन है, कर्मसिद्धान्त उसकी महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है । विघ्न और सघर्ष के अकुर को ही उखाड फैकता है । आधी और तूफान मे हिमालय की तरह मानव को हर परिस्थितियो मे स्थिर रहना सिखा देता है । अतीत के जीवन को स्मृति पर उभार कर अनागत के जीवन को परिष्कृत करने की प्रेरणा देता है ।

यह महत्वपूर्ण शिक्षा मानव को कर्मसिद्धान्त के बिना नही मिल सकती । आज मानव मे नैतिकता, धीरता, पापभीरुता की यत्किंचित भी झलक मिल रही है, वह सब कर्मवाद का ही सुफल है ।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता के विषय मे डॉक्टर मेक्समूलर का दृष्टिकोण भी जानने योग्य है—"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन मे बेहद हुआ है, यदि किसी मनुष्य को मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्तभाव से इस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप-ही-आप होगी । अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है । दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता । किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सबध मे कितनी ही शका क्यो न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सब से अधिक जगह माना गया है । उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है ।"

कर्ममुक्ति का उपाय

ससारी आत्माए अनादि काल से कर्म से सबद्ध ही चली आ रही है । कर्म आत्मा का वैभाविक रूप है । प्रयत्नविशेष से उन कर्मों को विलग भी किया जा सकता है ।

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे कर्म से मुक्ति पाने के लिये तीन उपाय बतलाये है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है अर्थात् इनकी पूर्ण आराधना करने वाला जीव कर्मो से पूर्ण मुक्त हो जाता है । जैन वाङ्मय मे इन्ही को रत्नत्रय के नाम से प्रतिपादित किया जाता है ।

सक्षिप्त रूप मे कर्ममुक्ति के दो उपाय बतलाए जा सकते है। यथा—

ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष ।

ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है । स्थूलदृष्टि से दर्शन को ज्ञान-स्वरूप मानकर सम्यग्दर्शन का ज्ञान मे समावेश कर दिया जाता है ।

जैनदर्शन मे प्रतिपादित कर्ममुक्ति के दो अथवा तीन मार्गों को जैनेतर दर्शनो मे प्रकारान्तर से स्वीकार किया गया है। यथा—

वैदिकदर्शन मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को कर्ममुक्ति का साधन माना है। सम्यक्चारित्र मे कर्म और योग दोनो ही मार्गो का समावेश हो जाता है। क्योकि सम्यक् चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्तशुद्धि, समभाव आदि का समावेश हो जाता है। कर्ममार्ग मे मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्विक यज्ञ आते है तथा योगमार्ग मे चित्तशुद्धि के लिये की जाने वाली सत् प्रवृत्ति आती है। अत कर्ममार्ग और योगमार्ग का समावेश सम्यक्चारित्र मे हो जाता है। भक्ति मे श्रद्धा की प्रधानता होने से भक्तिमार्ग का सम्यग्दर्शन मे समावेश होता है। ज्ञानमार्ग का सम्यग्ज्ञान मे समावेश हो जाता है।

इस प्रकार जैनदर्शन मे प्रतिपादित मुक्ति के उपायो मे अन्य दर्शनो द्वारा प्रतिपादित मुक्तिप्रापक साधनो का भी समावेश हो जाता है।

कर्मसिद्धान्त और श्वेताम्बर, दिगम्बर परपरा

भगवान महावीर की शासनपरपरा प्रभु के निर्वाण होने के बाद ६०९ वर्ष तक तो व्यवस्थित रूप से चलती रही । तदनन्तर वह शासनपरपरा दिगम्बर और श्वेताम्बर दो परपराओ के रूप मे विभाजित हो गई। इस प्रकार शासन का विभागीकरण हो जाने से सिद्धान्तो मे भी अनेको स्थलो पर परिवर्तन हुआ । कुछ मनकल्पित सिद्धान्त भी बना लिये गये । यद्यपि कर्मसिद्धान्त मे मौलिक रूप से कोई विशेष मतभेद दिखलाई नही देता है । विशेषत पारिभाषिक शब्दो मे तथा इनकी व्याख्याओ मे मतभेद मिलता है ।

यदि दोनो ही परम्पराओ के कर्मसिद्धान्त के अधिकृत विद्वान् मिलकर चर्चा करते तो सभव है कर्मवाद विषयक मतभेद तो समाप्त हो जाता, किन्तु परपरा का व्यामोह समझिये या और कुछ कारण, वैसा नही हो सका । मतभेद इसी रूप मे बना रहा ।

यद्यपि आग्रायणीय पूर्व से कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ, यह बात दोनो ही परपराए समान रूप से स्वीकार करती है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि एव कुछएक मध्यस्थ दिगम्बर विद्वानो के विचारानुसार यही कहा जाता है कि श्वेताम्बर वाङ्मय वीतराग देव की वाणी से अति निकट है । इतिहासपुरुष प सुखलालजी ने भी एक स्थल पर ऐसा ही लिखा है "सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा इस मूल अगश्रुत से अति निकट है।"[1]

१—प्रभु महावीर के निर्वाण होने के लगभग ६०९ वर्ष बाद आर्यकृष्ण के शिवभूति नामक शिष्य हुए थे । कुछ बातो पर इनका मतभेद हो गया था, वे वस्त्र रखने मात्र को भी परिग्रह मान बैठे थे । जबकि ग्रहण करना मात्र परिग्रह नही है । उभय परपरा को मान्य तत्त्वार्थसूत्र मे परिग्रह की व्याख्या मूर्च्छा की गई है। मात्र वस्त्रादि ग्रहण करने को परिग्रह नही कहा है। किन्तु आग्रह की प्रबलता के कारण गुरु के बहुत समझाने पर भी नही माने और निर्वस्त्र होकर निकल पडे । अपनी आग्रह-वृत्ति के अनुरूप नवीन सिद्धान्तो का प्रणयन किया । इनके कोण्डिय और कोट्टवीर दो शिष्य हुए थे । इनके बाद इनकी परपरा चल पडी । दिशा ही इनका अम्बर होने से इन्हे 'दिगम्बर' नाम से पुकारा जाने लगा। भगवान महावीर से जो परपरा चली आ रही थी, इनके श्वेत वस्त्र होने से वह परपरा 'श्वेताम्बर' के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

भगवान महावीर से लेकर अब तक कर्मसिद्धान्त विषयक विपुल साहित्य संकलित हुआ है । उस संकलन का भाव और भाषा की दृष्टि से विभाग किया जाये तो स्थूलदृष्टि मे तीन विभाग हो जाते है—

१ पूर्वात्मक कर्मशास्त्र,
२ पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र (आकररूप कर्मग्रन्थ),
३ प्राकरणिक कर्मशास्त्र ।

पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह विभाग कर्मशास्त्र का बहुत विस्तृत, गहन, व्यापक एव सबमे पहला है । क्योंकि इसका सम्बन्ध दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वो मे से आठवें कर्मप्रवाद नामक पूर्व मे तथा आग्रायणीय पूर्व के कर्म-प्राभृत से रहा है । पूर्वविद्या का अस्तित्व भगवान महावीर के निर्वाण होने के बाद ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास के रूप मे चलता रहा । इस समय मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र मूलरूप मे विलुप्त हो चुका है । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परपरा के पास मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र की मूलत स्थिति विद्यमान नही है ।

पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र—यह विभाग पूर्व विभाग से बहुत लघु है तथापि वर्तमान अध्ययनार्थियो के लिये तो इतना बडा है कि इसे आकर कर्मशास्त्र कहा जाता है । इसका सबध साक्षात पूर्वो से है, ऐसा कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परपराओ मे मिलता है । यह पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र आशिक रूप मे दोनो ही परपराओ के पास मिलता है । किन्तु उद्धार के समय साम्प्रदायिक भेद के कारण नामकरण मे कुछ भिन्नता आ गई है । श्वेताम्बर परपरा मे १ कर्मप्रकृति, २ शतक, ३ पचसग्रह, ४ सप्ततिका, मुख्यत ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर परपरा मे मुख्यत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है ।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र—इस विभाग मे कर्मसिद्धान्त के छोटे-बडे अनेक प्रकरण सकलित किये गए है । इस समय इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से प्रचलित है । इन प्राकरणिक कर्मशास्त्रो की रचना विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी मे हुई थी । कर्मसिद्धान्त के अध्येता को सर्वप्रथम प्राकरणिक कर्मशास्त्रो का अध्ययन करना होता है । प्राकरणिक कर्मशास्त्रो का अध्ययन करने के बाद मेघावी अध्ययनार्थी आकर ग्रन्थो का अध्ययन करते है ।

भाषा—कर्मशास्त्र की व्याख्या मुख्यत तीन भाषाओ मे हुई है—१ प्राकृत, २ सस्कृत और ३ प्रादेशिक ।

प्राकृतभाषा—पूर्वात्मक तथा पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का प्रणयन प्राकृतभाषा मे ही हुआ है । प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुल भाग इस भाषा मे रचित है । कई मूलग्रन्थो की टीका, टिप्पणी भी प्राकृत भाषा मे मिलती है ।

सस्कृतभाषा—प्राचीन युग के कर्मशास्त्र तो प्राकृतभाषा मे बनाये गये थे, किन्तु बाद मे जब सस्कृतभाषा का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक होने लगा, जनमानस की रुचि भी जब सस्कृत की ओर बढने लगी, उस समय जनता के सुखावबोध के लिये कर्मशास्त्रो के टीका-टिप्पण आदि विद्वानो द्वारा सस्कृत मे लिखे गये । कई मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र भी दोनो सप्रदायो मे सस्कृत भाषा मे लिखे हुए मिलते हैं ।

प्रादेशिकभाषा—जिस प्रदेश मे जो भाषा प्रचलित होती है, इस प्रदेश की जनता को कर्मशास्त्र का ज्ञान कराने के लिये कर्मशास्त्रज्ञो ने इन भाषाओ का भी यथास्थान उपयोग किया है । मुख्यतया—१ कर्नाटकी, २ गुजराती और ३ राजस्थानी-हिन्दी । इन तीन भाषाओ मे कर्मसिद्धान्त का लेखन हुआ है । इन भाषाओ का अधिकतर उपयोग मूल और टीका के अनुवाद मे किया गया है । विशेषकर प्राकरणिक कर्मशास्त्र के मूल टीका-टिप्पण के अनुवाद मे इन भाषाओ का प्रयोग किया गया है । प्राय कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का उपयोग दिगम्बर साहित्य मे और गुजराती भाषा का उपयोग श्वेताम्बर साहित्य मे हुआ है ।

मक्षिप्त रूप मे कर्ममुक्ति के दो उपाय वतलाए जा मकते है। यथा—

ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष ।

ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है। स्थूलदृष्टि मे दर्शन को ज्ञान-स्वरूप मानकर सम्यग्दर्शन का ज्ञान मे समावेश कर दिया जाता है।

जैनदर्शन मे प्रतिपादित कर्ममुक्ति के दो अथवा तीन मार्गो को जैनेतर दर्शनो मे प्रकारान्तर मे स्वीकार किया गया है। यथा—

वैदिकदर्शन मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को कर्ममुक्ति का साधन माना है। सम्यक्चारित्र मे कर्म और योग दोनो ही मार्गो का ममावेश हो जाता है। क्योकि सम्यक् चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्तशुद्धि, समभाव आदि का समावेश हो जाता है। कर्ममार्ग मे मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्विक यज्ञ आते है तथा योगमार्ग मे चित्तशुद्धि के लिये की जाने वाली सत् प्रवृत्ति आती है। अत कर्ममार्ग और योगमार्ग का समावेश सम्यक्चारित्र मे हो जाता है। भक्ति मे श्रद्धा की प्रधानता होने से भक्तिमार्ग का सम्यग्दर्शन मे समावेश होता है। ज्ञानमार्ग का सम्यग्ज्ञान मे समावेश हो जाता है।

इस प्रकार जैनदर्शन मे प्रतिपादित मुक्ति के उपायो मे अन्य दर्शनो द्वारा प्रतिपादित मुक्तिप्रापक साधनो का भी समावेश हो जाता है।

कर्मसिद्धान्त और श्वेताम्बर, दिगम्बर परपरा

भगवान महावीर की शासनपरपरा प्रभु के निर्वाण होने के वाद ६०९ वर्ष तक तो व्यवस्थित रूप से चलती रही। तदनन्तर वह शासनपरपरा दिगम्बर और श्वेताम्बर दो परपराओ के रूप मे विभाजित हो गई। इस प्रकार शासन का विभागीकरण हो जाने मे सिद्धान्तो मे भी अनेको स्थलो पर परिवर्तन हुआ। कुछ मनकल्पित सिद्धान्त भी वना लिये गये। यद्यपि कर्मसिद्धान्त मे मौलिक रूप से कोई विशेष मतभेद दिखलाई नही देता है। विशेषत पारिभाषिक शब्दो मे तथा इनकी व्याख्याओ मे मतभेद मिलता है।

यदि दोनो ही परम्पराओ के कर्मसिद्धान्त के अधिकृत विद्वान् मिलकर चर्चा करते तो सभव है कर्मवाद विषयक मतभेद तो ममाप्त हो जाता, किन्तु परपरा का व्यामोह ममझिये या और कुछ कारण, वैसा नही हो सका। मतभेद इसी रूप मे वना रहा।

यद्यपि आग्रायणीय पूर्व से कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ, यह वात दोनो ही परपराए समान रूप से स्वीकार करती है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि एव कुछएक मध्यस्थ दिगम्बर विद्वानो के विचारानुसार यही कहा जाता है कि श्वेताम्बर वाङ्मय वीतराग देव की वाणी से अति निकट है। इतिहासपुरुष प सुखलालजी ने भी एक स्थल पर ऐसा ही लिखा है "सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा इस मूल अगश्रुत मे अति निकट है।"[1]

१—प्रभु महावीर के निर्वाण होने के लगभग ६०९ वर्ष वाद आर्यकृष्ण के शिवभूति नामक शिष्य हुए थे। कुछ वातो पर इनका मतभेद हो गया था, वे वस्त्र रखने मात्र को भी परिग्रह मान बैठे थे। जवकि ग्रहण करना मात्र परिग्रह नही है। उभय परपरा को मान्य तत्त्वार्थसूत्र मे परिग्रह की व्याख्या मूर्च्छा की गई है। मात्र वस्त्रादि ग्रहण करने को परिग्रह नही कहा है। किन्तु आग्रह की प्रवलता के कारण गुरु के वहुत ममझाने पर भी नही माने और निर्वस्त्र होकर निकल पडे। अपनी आग्रह-वृत्ति के अनुरूप नवीन सिद्धान्तो का प्रणयन किया। इनके कोन्डिय और कोट्टवीर दो शिष्य हुए थे। इनके वाद इनकी परपरा चल पडी। दिशा ही इनका अम्बर होने से इन्हें 'दिगम्बर' नाम मे पुकारा जाने लगा। भगवान महावीर मे जो परम्परा चली आ रही थी, इनके श्वेत वस्त्र होने से वह परपरा 'श्वेताम्बर' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

भगवान महावीर से लेकर अब तक कर्मसिद्धान्त विषयक विपुल साहित्य सकलित हुआ है । उस सकलन का भाव और भाषा की दृष्टि से विभाग किया जाये तो स्थूलदृष्टि से तीन विभाग हो सकते है—

१ पूर्वात्मक कर्मशास्त्र,
२ पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र (आकररूप कर्मग्रन्थ),
३ प्राकरणिक कर्मशास्त्र ।

पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह विभाग कर्मशास्त्र का बहुत विस्तृत, गहन, व्यापक एव सघन पड़ता है । क्योंकि इसका सम्बन्ध दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वो मे से आठवें कर्मप्रवाद नामक पूर्व से तथा आग्रायणीय पूर्व के कर्मप्राभृत से रहा है । पूर्वविद्या का अस्तित्व भगवान महावीर के निर्वाण होने के बाद ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास के रूप मे चलता रहा । इस समय मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र मूलरूप मे विलुप्त हो चुका है । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परपरा के पास मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र की मूलत स्थिति विद्यमान नहीं है ।

पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र—यह विभाग पूर्व विभाग से बहुत लघु है, तथापि वर्तमान अध्ययनार्थियों के लिये तो इतना बड़ा है कि इसे आकर कर्मशास्त्र कहा जाता है । इसका सबध साक्षात पूर्वो से है, ऐसा कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परपराओ मे मिलता है । यह पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र आशिक रूप मे दोनो ही परम्पराओं के पास मिलता है । किन्तु उद्धार के समय साम्प्रदायिक भेद के कारण नामकरण मे कुछ भिन्नता आ गई है । श्वेताम्बर परपरा मे १ कर्मप्रकृति, २ शतक, ३ पचसग्रह, ४ सप्ततिका, मुख्यत ये चार ग्रन्थ और दिगम्बर परम्परा मे मुख्यत महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, कषायप्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है ।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र—इस विभाग मे कर्मसिद्धान्त के छोटे-बड़े अनेक प्रकरण सकलित किये गए है । इस समय इन्ही प्रकरण ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से प्रचलित है । इन प्राकरणिक कर्मशास्त्रो की रचना विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी मे हुई थी । कर्मसिद्धान्त के अध्येता को सर्वप्रथम प्राकरणिक कर्मशास्त्रो का अध्ययन करना होता है । प्राकरणिक कर्मशास्त्रो का अध्ययन करने के बाद मेधावी अध्ययनार्थी आकर ग्रन्थो का अध्ययन करते है ।

भाषा—कर्मशास्त्र की व्याख्या मुख्यत तीन भाषाओ मे हुई है—१ प्राकृत, २ सस्कृत और ३ प्रादेशिक ।

प्राकृतभाषा—पूर्वात्मक तथा पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का प्रणयन प्राकृतभाषा मे ही हुआ है । प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुल भाग इस भाषा मे रचित है । कई मूलग्रन्थो की टीका, टिप्पणी भी प्राकृत भाषा मे मिलती है ।

सस्कृतभाषा—प्राचीन युग के कर्मशास्त्र तो प्राकृतभाषा मे बनाये गये थे, किन्तु बाद मे जब सस्कृतभाषा का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक होने लगा, जनमानस की रुचि भी जब सस्कृत की ओर बढने लगी, उस समय जनता के सुखावबोध के लिये कर्मशास्त्रो के टीका-टिप्पण आदि विद्वानो द्वारा सस्कृत मे लिखे गये । कई मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र भी दोनो सप्रदायो मे सस्कृत भाषा मे लिखे हुए मिलते हैं ।

प्रादेशिकभाषा—जिस प्रदेश मे जो भाषा प्रचलित होती है, इस प्रदेश की जनता को कर्मशास्त्र का ज्ञान कराने के लिये कर्मशास्त्रज्ञो ने इन भाषाओ का भी यथास्थान उपयोग किया है । मुख्यतया—१ कर्नाटकी, २ गुजराती और ३ राजस्थानी–हिन्दी । इन तीन भाषाओ मे कर्मसिद्धान्त का लेखन हुआ है । इन भाषाओ का अधिकतर उपयोग मूल और टीका के अनुवाद मे किया गया है । विशेषकर प्राकरणिक कर्मशास्त्र के मूल टीका-टिप्पण के अनुवाद मे इन भाषाओ का प्रयोग किया गया है । प्राय कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का उपयोग दिगम्बर साहित्य मे और गुजराती भाषा का उपयोग श्वेताम्बर साहित्य मे हुआ है ।

जैन कर्मसाहित्य और साहित्यकार

कर्मसिद्धान्त पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध होता है। दोनो ही परपराओ में कर्मसिद्धान्त मे निष्णात अनेक आचार्य हुए हैं। उन्होने अपनी विचक्षण प्रज्ञा से कर्मसिद्धान्त के रहस्यो को समुद्घाटित करने का प्रयास किया है। सस्कृत, प्राकृत एव लोक भाषाओ मे अनेक ग्रन्थ तथा इन पर टीका, टब्बा, चूर्णि आदि का प्रणयन किया है। दोनो ही परपरा के आचार्यों ने निष्पक्ष भाव से कई सैद्धान्तिक स्थलो पर एक दूसरे के भावो को समझकर अपने ग्रन्थो मे उन विचारो को स्थान भी दिया है। इसलिये दोनो ही परपराओ मे कई ग्रन्थ ऐसे भी विद्यमान हैं, जो नाम और वर्ण्य विषय की दृष्टि से समान स्तर के है।

श्वेताम्बर परपरा के कर्म साहित्य को समृद्ध करने वाले साहित्यकारो के कुछ एक नाम निम्न हैं—

१ शिवशर्मसूरि, २ चूर्णिकार आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर, ३ श्री गर्गर्षि, ४ नवागी टीकाकार अभयदेवसूरि ५ श्री चन्द्रसूरि, ६ मलधारी हेमचन्द्राचार्य, ७, श्री चक्रेश्वरसूरि ८ श्री परमानन्दसूरि, ९ श्री धनेश्वराचार्य १० श्री जिनवल्लभसूरि, ११ आचार्य मलयगिरि, १२ श्री यशोदेवसूरि, १३ श्री हरिभद्रसूरि, १४ रामदेवसूरि, १५ आचार्य देवेन्द्रसूरि, १६ श्री उदयप्रभसूरि १७ श्री गुणरत्नसूरि, १८ श्री मुनिशेखर, १९ श्री जयतिलकसूरि, २० उपाध्याय यशोविजयजी आदि।

दिगम्बर परम्परा मे कर्मसाहित्य को गौरवशाली बनाने वाले आचार्य निम्न थे— १ श्री पुष्पदंताचार्य २ आचार्य भूतबलि, ३ कुन्दकुन्दाचार्य, ४ स्वामी समन्तभद्र, ५ गुणधराचार्य, ६ वृषभाचार्य, ७ वीरसेनाचार्य, ८ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती।

वर्तमान मे विद्यमान कर्मग्रन्थो का और जो विद्यमान नही हैं, तथापि जिनके अस्तित्व का अन्य ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है, उन सबका रचनाकाल विक्रम की २री, ३री शताब्दी से लेकर २०वी शताब्दी तक का है। इस समय रचित मूल ग्रन्थो के नाम इस प्रकार हैं—

कर्मप्रकृति, पचसग्रह, प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ, सार्द्धशतक, नवीन पच कर्मग्रन्थ, मन स्थिरीकरण प्रकरण, सस्कृत कर्मग्रन्थ (चार), कर्मप्रकृति द्वात्रिंशिका, भावकरण, बधहेतूदयत्रिभगी, बधोदयसत्ताप्रकरण, कर्म-सवेधभगप्रकरण, भूयस्कारादिविचार, सक्रमकरण, महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, कषायप्राभृत, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, पचसग्रह आदि।

इन ग्रन्थो पर भाष्य, वृत्ति, टिप्पण, अवचूरि, बालावबोध आदि व्याख्या साहित्य भी रचा गया है। इन सब ग्रन्थो का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक प्रमाण होता है।

कर्मसाहित्य का आशिक परिचय

रचनाकाल की प्राचीनता के क्रम से कर्मसाहित्य का आशिक परिचय इस प्रकार है—

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत—इस ग्रन्थ का रचना काल सभवत विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी है। इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतवलि है। ग्रन्थ ३६,००० श्लोक प्रमाण है। शौरसैनी प्राकृत भाषा मे इसकी रचना हुई है। इसे कर्मप्राभृत भी कहा जाता है।

श्वेताम्बर साहित्य मे जिस प्रकार आचाराग सूत्र आदि आगम रूप मे मान्य है इसी प्रकार दिगम्बर साहित्य मे कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को आगम रूप मे माना गया है। इस ग्रन्थ मे कर्म विषयक चर्चा होने से इसे कर्मप्राभृत किंवा महाकर्मप्रकृति कहा गया है। कर्मतत्त्व की विमर्शना के साथ ही इस ग्रन्थ मे सैद्धान्तिक विवे-चन होने से आगम, सिद्धान्त एव परमागमखड के नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है। ग्रन्थ मे षट् खण्ड होने से इस ग्रन्थ को षट्खडागम और षटखण्डसिद्धान्त भी कहा जाता है।

षट खण्डो के नाम— १ जीवस्थान, २ क्षुद्रकबध, ३ बधस्वामित्व, ४ वेदना, ५ वगणा, ६ महाबध। इन षट खण्डो के भी अनेक उपखण्ड है। महाबध नामक खण्ड सब से बडा ३०,००० श्लोक प्रमाण है। इसमे प्रकृत्यादि चतुष्टय का सविस्तृत विवेचन मिलता है। इसकी प्रसिद्धि "महाधवल" नाम से भी है।

इस ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याग्रन्थो का प्रणयन हुआ है। उनमे वीरसेनाचार्य विरचित प्राकृत-सस्कृतमयुक्त विशालकाय टीका महत्त्वपूर्ण है, जिसे धवला टीका कहा जाता है। अनेक अनुपलब्ध व्याख्या ग्रथो के नाम इन्द्र-नन्दिकृत श्रुतावतार मे मिलते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

१ कुन्दकुन्दकृत परिकर्म, २ शामकुण्डकृत पद्धति, ३ तुम्बुलूरकृत चूडामणिपजिका, ४ समन्तभद्रकृत टीका, ५ बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति।

इस ग्रन्थ का उद्‌गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवें अगान्तर्गत चौदह पूर्वो मे से आग्रायणीय पूर्व माना जाता है।

आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रो मे सत्प्ररूपणा अश तक और आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रो मे अवशेष ग्रन्थ की समाप्ति की है

कषायप्राभृत—इसके रचयिता आचार्य गुणधर हैं। इसका अपरनाम पेज्जदोसपाहुड और पेज्जदोष प्राभृत भी है। पेज्ज-प्रेम (राग) दोस-दोष (द्वेष)।

प्रस्तुत ग्रथ मे राग-द्वेष अर्थात् क्रोधादिक चार कषायो का विश्लेषण किया गया है। अत दोनो अपर नाम भी सार्थक हैं। प्रतिपादन शैली अति गूढ, सक्षिप्त तथा सूत्रात्मक है। रचना-काल सभवत विक्रम की तीसरी शताब्दी है। ग्रन्थ मे २७७ गाथाए हैं। इसका उद्‌गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवें अगान्तर्गत ज्ञानप्रवाद नामक पाचवें पूर्व की दसवी वस्तु का 'पेज्जदोष' नामक तीसरा प्राभृत माना गया है।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार ग्रन्थ द्वारा कषायप्राभृत ग्रन्थ पर निम्न टीकाए लिखी गई है, ऐसा जाना जाता है—

१ आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णि सूत्र,
२ उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृति या मूल उच्चारणा,
३ आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति टीका,
४ तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि व्याख्या,
५ बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृति,
६ आचार्य वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला टीका।

उपर्युक्त व्याख्या ग्रन्थो मे से प्रथम और अन्तिम व्याख्या ग्रन्थ विद्यमान है। यतिवृषभकृत चूर्णि का ग्रन्थ-मान ७००० श्लोक प्रमाण है। आचार्य वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला टीका कषायप्राभृत की मूल और चूर्णि पर लिखी गई है। इसका प्रमाण ६०००० (साठ हजार) श्लोक है। २०००० श्लोकप्रमाण व्याख्या आचार्य जिनसेन कृत है, उनके दिवगत हो जाने से अवशेष ४०००० चालीस हजार श्लोकप्रमाण व्याख्या इन्ही के शिष्य वीरसेन कृत है। इसकी रचना शक सवत् ७७५, फाल्गुन मास, शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को वाटग्रामपुर मे राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल मे हुई थी।

कर्मप्रकृति—इस ग्रन्थ का परिचय स्वतन्त्र अभिलेख मे दिया जाएगा।

इसका रचनाकाल विक्रम की पाचवी शताब्दी सभावित है। पाचवी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी पर्यन्त—पाच सौ वर्षों मे कोई नया आकर ग्रन्थ या प्राकरणिक विभागो मे नये ग्रन्थो का लेखन हुआ हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही होता। टीका ग्रन्थो के रूप मे अनेक आचार्यों ने व्याख्या ग्रथ का प्रणयन इस काल मे किया

है, ऐसा प्रमाण मिलता है। तदनन्तर नये ग्रन्थो का आविष्करण हुआ, जिन का समावेश प्राकरणिक ग्रन्थो मे होता है।

पचसग्रह—इस ग्रन्थ के प्रणयनकर्ता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर थे। इनके गच्छ आदि का विशेष वर्णन उपलब्ध नही होता। इस ग्रन्थ मे आचार्य मलयगिरि विरचित वत्ति के अनुसार पाँच द्वारो का वर्णन मिलता है, जिनके निम्न नाम है—

१ शतक, २ सप्ततिका, ३ कषायप्राभृत, ४ सत्कर्म और ५ कर्मप्रकृति। इनका समय नौवी या दसवी शताब्दी सभवित है।

इस ग्रन्थ मे लगभग १००० गाथाए है। जिनमे योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बधहेतु, उदय, सत्ता बधनादि आठ करणो का विवेचन किया गया है। स्वोपज्ञ वृत्ति के अतिरिक्त आचार्य मलयगिरि ने १८८५० (अठारह हजार आठ सौ पचास) श्लोक प्रमाण एव आचार्य वामदेव ने २५०० श्लोक प्रमाण दीपक नामक टीका ग्रन्थो की भी रचना की है।

दिगम्बराचार्य अमितगति ने पचसग्रह नामक सस्कृत मे गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ की रचना की है। जिसका समय वि स १०७३ का है। यह ग्रन्थ गोम्मटसार का सस्कृत रूपान्तरण जैसा प्रतीत होता है। इसमे पाँच प्रकरण हैं। जिनकी श्लोक सख्या कुल १४५६ प्रमाण है। १००० श्लोक प्रमाण गद्यभाग है।

प्राकृत मे भी पचसग्रह का प्रणयन हुआ है। ग्रन्थकार का नाम, भाष्यकार का नाम, समय आदि अज्ञात है। इसमे गाथाए १३२४ हैं। गद्यभाग ५०० श्लोक प्रमाण है।

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ नवीन सज्ञा मे अभिव्यजित किये जाते हैं, क्योकि इनके आधारभूत प्राचीन कर्मग्रन्थ है। जिनकी रचना भिन्न-भिन्न आचार्यो द्वारा हुई है। समय भी भिन्न-भिन्न है। इन प्राचीन कर्मग्रन्थो के नाम इस प्रकार हैं—

१ कर्मविपाक, २ कर्मस्तव, ३ बधस्वामित्व, ४ षडशीति, ५ शतक, ६ सप्ततिका।

कर्मविपाक—इसके कर्ता गर्गर्षि है। इनका समय विक्रम की दसवी शताब्दी सभवित है। १६८ गाथाए ग्रन्थ मे है। इस पर ३ [तीन] टीकाए लिखी गई है। परमानन्दसूरिकृत वृत्ति, उदयप्रभसूरिकृत टिप्पण, एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या। इन टीका ग्रन्थो का प्रमाण क्रमश १२२, १००० तथा ५२० श्लोक है। इनका रचना काल विक्रम की बारहवी, तेरहवी शताब्दी सभवित है।

कर्मस्तव—इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात है, ५७ गाथाए है। इस पर एक भाष्य और दो टीकाए लिखी गई है। भाष्यकारो के नाम भी अज्ञात हैं। भाष्यप्रमाण क्रमश २४ और ३२ गाथा प्रमाण है। टीकाए—एक टीका तो गोविन्दाचार्यकृत १०९० श्लोकप्रमाण है। दूसरी टीका उदयप्रभसूरि कृत टिप्पण के रूप मे २९२ श्लोक-प्रमाण है।

बधस्वामित्व—इसके कर्ता भी अज्ञात है। यह ग्रन्थ ५४ श्लोकप्रमाण है। हरिभद्रसूरिकृत वृति ५६० श्लोक-प्रमाण है। जिसका रचना काल सवत् ११७२ का है।

षडशीति—इसके निर्माता जिनवल्लभगणि है। रचनाकाल विक्रम की बारहवी शताब्दी है। गाथा सख्या ८६ है। इस पर दो अज्ञातकर्तृक भाष्य तथा अनेक टीकाओ का प्रणयन हुआ है। टीकाकारो के रूप मे हरिभद्रसूरि और मलयगिरि की प्रसिद्धि है। इनकी टीकाए क्रमश ८५० और २१४० श्लोकप्रमाण हैं।

शतक—इस ग्रन्थ के कर्ता शिवशर्मसूरि है। इस पर तीन भाष्य, एक चूर्णि और तीन टीकाए रचित है। दो भाष्य तो लघु है, बृहद् भाष्य के कर्ता चक्रेश्वरसूरि है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। तीन टीकाए मलधारी हेमचन्द्र, उदयप्रभसूरि एव गुणरत्नसूरि द्वारा रची गई है।

सप्ततिका—इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात है। प्रचलित परम्परानुसार चन्द्रर्षिमहत्तर माने जाते है। शिवशर्मसूरि को भी इसके रचयिता मानने की सभावना भी अभिव्यक्त होती है। मूल ग्रन्थ मे ७५ गाथाए है। इस पर अभयदेवसूरि कृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षिमहत्तर कृत प्राकृतवृत्ति मलयगिरिकृत टीका, मेरुतुगसूरिकृत भाष्यवृत्ति कामदेवकृत टिप्पण और गुणरत्नसूरिकृत अवचूरि है। प्रकाशित भाष्यमान क्रमश १९१, ३७८० श्लोकप्रमाण है।

गोम्मटसार—इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती है। इसका जीवकाड और कर्मकाड के रूप मे विभक्तिकरण है। जीवकाड मे ७३३ और कर्मकाड मे ९७२ गाथायें हैं। कुल १७०५ गाथाए है। इसका रचनाकाल विक्रम की ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी है।

जीवकाड मे जीवस्थान, क्षुद्रबध, बधस्वामी, वेदनाखड और वर्गणाखड, इन पाच विषयो पर विवेचन किया गया है। जीवस्थान, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणा, उपयोग, इन बीस अधिकारो के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओ का विवेचन किया गया है।

कर्मकाण्ड मे कर्म सम्बन्धी निम्नाकित ९ (नौ) प्रकरण प्रतिपादित है— १ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ बधोदयसत्व, ३ सत्वस्थानभग, ४ त्रिचूलिका, ५ स्थानसमुत्कीर्तन, ६ भावचूलिका, ८ त्रिकरणचूलिका, ९ कर्मस्थितिरचना।

इस पर चामुण्डरायकृत कन्नड टीका है। इसी के आधार पर केशववर्णी द्वारा सस्कृत टीका का प्रणयन किया गया है। मदप्रबोधिनी नामक टीका अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत है। उपर्युक्त दोनो टीकाओ के आधार पर प टोडरमल्ल द्वारा सम्यक्ज्ञानचन्द्रिका नामक हिन्दी व्याख्या लिखी गई।

लब्धिसार—इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। गोम्मटसार मे जीव और कर्म पर विवेचन लिखा गया है। अत इसमे कर्ममुक्ति के उपायो को (अपने दृष्टिकोण से) बतलाया है। इसमे ६४९ गाथाए है। जिसमे २६१ गाथाए क्षपणासार की है। दर्शनलब्धि चारित्रलब्धि और क्षायिकचारित्र—इन तीन प्रकरणो द्वारा इसका विवेचन किया गया है। दर्शनलब्धि प्रकरण मे १ क्षयोपशमलब्धि २ विशुद्धलब्धि ३ देशनालब्धि ४ प्रायोग्यलब्धि ५ करणलब्धि, इन पाचो लब्धियो का तथा चारित्रलब्धि प्रकरण मे देशचारित्र और सकलचारित्र का विवेचन किया गया है। क्षायिकचारित्र (क्षपणासार) मे चारित्रमोह की क्षपणा का सविस्तृत विवेचन किया है। तत्सम्बन्धित अन्य विषयो पर भी विवेचन मिलता है।

इस पर केशववर्णी ने सस्कृत मे और प टोडरमल्ल द्वारा हिन्दी मे व्याख्या की गई है। प टोडरमल्ल की व्याख्या चारित्रलब्धि प्रकरण तक सस्कृत टीकानुसार एव क्षायिकचारित्र (क्षपणासार) की व्याख्या माधवचन्द्र-कृत गद्यात्मक व्याख्यानुसार मिलती है।

सार्धशतक—इसके रचयिता अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि है। इसमे १५५ गाथाए है। इस पर अज्ञात-कर्तृक भाष्य, चन्द्रसूरिकृत चूर्णि, चक्रेश्वरसूरिकृत प्राकृत वृत्ति, धनेश्वरसूरिकृत टीका, अज्ञातकर्तृक वृत्ति, टिप्पण आदि का प्रणयन हुआ है।

नवीन कर्मग्रन्थ

प्राचीन पच कर्मग्रन्थो के आधार पर देवेन्द्रसूरि ने नवीन पच कर्मग्रन्थो का प्रणयन किया है। प्राचीन कर्मग्रन्थो का सार देते हुए किन्ही-किन्ही स्थलो पर नवीन विषय भी विवेचित किये है। नामकरण एव भाषा मे भी प्राचीन कर्मग्रन्थो का अनुसरण किया गया है। गाथाओ की रचना आर्या छन्द मे हुई है।

१ कर्मविपाक—इस ग्रन्थ मे मुख्यतया कर्म की मूल प्रकृतियो और उत्तर प्रकृतियो के भेद, लक्षण एव कर्मों के बधने के हेतु आदि पर विचार किया गय है । इसमे ६० गाथाए है ।

२ कर्मस्तव—इसमे कर्म की चार अवस्थाओ—बध, उदय, उदीरणा, सत्ता का गुणस्थानो की दृष्टि से विवेचन किया गया है । किस गुणस्थान मे कितनी कर्म प्रकृतियो का बध, उदय उदीरणा, सत्ता है? उन्हें बतलाया गया है । इसमे ३४ गाथाए है ।

३ बधस्वामित्व—मार्गणाओ के आधार पर गुणस्थानो का विवेचन किया गया है । किस मार्गणा मे स्थित जीव की कर्मसम्बन्धी कितनी योग्यता है ? गुणस्थान विभागानुसार कर्मबध सम्बन्धी जीव की कितनी योग्यता है ? इन विषयो पर विचार किया गया है । इसमे गाथाए २५ है।

४ षडशीति—इसका अपर नाम 'सूक्ष्मार्थविचार' है । इसमे मुख्यत तीन विषयो पर चर्चा की गई है—

१ जीवस्थान, २ मार्गणास्थान, ३ गुणस्थान । जीवस्थान मे गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व, इन छह विषयो पर विवेचन किया गया है । गुणस्थान मे जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बधहेतु, बध, उदय, उदीरणा, सत्ता, अल्पबहुत्व, इन दस अधिकारो पर विचार किया गया है । जीवस्थान से प्राणियो के ससार-परिभ्रमण की विभिन्न अवस्थाओ का, मार्गणास्थान से जीवो के कर्मकृत स्वाभाविक भेदो का, गुणस्थान से आत्मा के उर्ध्वारोहण का क्रम बतलाया गया है । अन्तत भाव और सख्या का विवेचन किया गया है। इसमे ८६ गाथाए है ।

५ शतक—इस ग्रन्थ के प्रारभ मे कर्म प्रकृतियो का वर्गीकरण करके ध्रुवबधिनी आदि प्रकृतिया बतलाई गई है। तदनन्तर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बध का सविस्तृत वर्णन दिया गया है । अन्त मे उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि से जीव की आरोहण विधि बतलाई गई है ।

इन पाच कर्मग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञटीका का प्रणयन किया है । तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो जाने से किसी आचार्य द्वारा अवचूरिटीका लिखकर इसकी पूर्ति की गई है ।

कमलसयम उपाध्याय द्वारा इन कर्मग्रन्थो पर लघु टीकाओ का भी प्रणयन हुआ है । हिन्दी और गुजराती मे इन कर्मग्रन्थो के अनुवाद एव विवेचन भी मिलते है ।

भावप्रकरण—इसके रचयिता विजयवल्लभगणि हैं । ग्रन्थ मे औपशमिक आदि भावो का वर्णन है । इसमे ३० गाथाए एव ३२५ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृति है ।

बधहेतूदयत्रिभगी—यह हर्षकुलगणि कृत है, इसमे ६५ गाथाए हैं । इस पर विक्रम सवत् १६०२ मे वानरर्षि द्वारा ११५० श्लोक प्रमाण टीका लिखी गई है ।

बधोदयसत्ताप्रकरण—इसके रचयिता विजयविमलगणि है । इसमे २४ गाथाए हैं । ३०० श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञ अवचूरि है ।

उपर्युक्त कर्मसाहित्य के अतिरिक्त आचार्य प्रेमसूरि एव इनके शिष्यसमुदाय द्वारा कर्म-सम्बन्धी निम्न ग्रन्थो की स्वोपज्ञ टीकायुक्त रचना की गई है—

रसबधो, ठियबधो, पएसबधो, खवगसेढी, उत्तरपयडीरसबधो, उत्तरपयडीठियबधो, उत्तरपयडीबधो, उत्तरपयडीपएसबधो ।

कर्मप्रकृति का सिंहावलोकन

प्रस्तुत ग्रथ मे जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त कर्मवाद की सविस्तृत विवेचना की गई है ।

ग्रन्थ का नामोल्लेख ग्रन्थकार द्वारा सत्ताप्रकरण की ५६ वी गाथा मे हुआ है । यथा—'इयकम्मपगडीओ ' इस कर्मप्रकृति । इस ग्रन्थ का सकलन आग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक प्राभृत से हुआ है । इसलिये इसका नामाकन भी कर्मप्रकृति प्रकरण रखा गया है । इसमे ४७५ गाथाए है । यहा पर ग्रन्थ के विषयवर्णनक्रम और कर्ता आदि के विषय मे कुछ विचार प्रस्तुत हैं ।

ग्रन्थकार ने मगलाचरण के रूप मे 'सिद्ध सिद्धत्थ सुय ' गाथा के द्वारा अनन्त सिद्धो को तथा सिद्धार्थ-सुत (पुत्र) चरम तीर्थंकर भगवान महावीर आदि को नमस्कार किया है । तदनन्तर कर्म-सम्बधी करणाष्टक और उदय, सत्ता के वर्णन करने का सकल्प लिया है ।

करणाष्टक—(१) बधनकरण, (२) सक्रमणकरण, (३) उद्वर्तनाकरण, (४) अपवतनाकरण, (५) उदीरणाकरण, (६) उपशमनाकरण, (७) निधत्तिकरण, (८) निकाचनाकरण ।

बधनकरण—आत्मा मे योग और कषाय द्वारा सबसे पहले कर्मों का बधन होता है, तदनन्तर बधे हुए कर्मों मे सक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तना आदि प्रक्रियाए होती हैं। इसलिये सर्वप्रथम बधनकरण पर विचार किया गया है। कर्मपुद्गलो का जीवप्रदेश के साथ अग्नि एव अयोगोलक (लोहपिण्ड) की तरह अन्योन्यानुगम-परस्पर सबधित हो जाना या क्षीर-नीर की तरह मिल जाना बध है ।[1]

अष्ट कर्मों का जिस वीर्यविशेष के द्वारा बधन होता है, उसे बधनकरण कहते हैं ।[2]

आत्मप्रदेशो के साथ कर्म वर्गणाओ का सबध योग के द्वारा होता है । सलेश्यजीव की प्रवृत्तिविशेष को योग कहते हैं । ग्रन्थकार ने निम्नलिखित दस द्वारो से योग की विवेचना की है—१ अविभाग, २ वर्गणा, ३ स्पर्धक, ४ अन्तर, ५ स्थान, ६ अनन्तरोपनिधा, ७ परपरोपनिधा, ८ वृद्धि, ९ समय, १० जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा ।

जीव के द्वारा योगशक्ति से ग्रहीत कर्मदलिको मे प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध, प्रदेशबध का बधन एक साथ होता है, किन्तु उनका युगपद् वर्णन सभवित नही है, क्योकि वाचाप्रवृति क्रमश होती है। अत सर्वप्रथम योग की प्रमुखता से प्रकृतिबध और प्रदेशबध का, ततश्च योगसहकारी लेश्याजनित अध्यवसाय से उत्पन्न रसबध का और काषायिक अध्यवसायजनित स्थितिबध का विवेचन किया गया है ।

प्रकृतिबध प्रदेशबध—के अन्तर्गत २६ वर्गणाओ का स्वरूप, स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, नामप्रत्ययस्पर्धक, प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक का विवेचन, मूलोत्तर प्रकृतियो मे दलिकविभाग, प्रदेशाल्पबहुत्व, साद्यादिप्ररूपणा का मुख्यतया विवेचन किया गया है ।

अनुभागबध—अविभागादि प्ररूपणा, षटस्थानप्ररूपणा एव उसके २४ अनुयोगद्वार, अनुभागस्थानो मे जीवो को आश्रित करके अध्यवसायस्थानो मे अनुभागस्थान आदि का विवेचन किया गया है ।

स्थितिबध—स्थितिस्थान, सक्लेश-विशुद्धिस्थान, जघन्य-उत्कृष्ट कर्मप्रकृतियो की स्थिति, अबाधा आदि, निषेकप्ररूपणा, अबाधाकडक आदि प्ररूपणा, स्थितिबध-अध्यवसायस्थान प्ररूपणा मे परपरोपनिधादिप्ररूपणा, समुदाहारादि तथा स्थितिबध मे साद्यादिप्ररूपणा आदि का विवेचन किया गया है । इस प्रकार बधनकरण मे

---

(१) बधो नाम कर्मपुद्गलाना जीवप्रदेशै सह वह्न्ययपिंडवदन्योऽन्यानुगम ।
(२) बध्यतेऽष्टप्रकार कर्म येन तद्वन्धन ।

प्रकृत्यादि चार विभागो के द्वारा जीव के साथ कर्मबध की सूक्ष्म, गहन तथा मविस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस करण मे १०२ गाथाए है। करणाष्टक मे सबसे बडा करण यही है।

सक्रमणकरण—कर्मपुद्‌गलो का आत्मा के साथ बधन होने पर ही सक्रमण हो मकता हे, अत बधनकरण के बाद सक्रमणकरण पर विचार किया गया ह।

अन्य कर्म रूप मे स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशो का अन्य कर्म रूप से व्यवस्थापित कर देना सक्रम है।[1]

जिसके द्वारा अन्य प्रकृत्यादि रूप से कर्म पुद्‌गलो को व्यवस्थापित किया जाता हे, उसे सक्रमणकरण कहते है।[2] यथा बध्यमान सातावेदनीय मे अवध्यमान असातावेदनीय का, बध्यमान उच्चगोत्र मे अवध्यमान नीचगोत्र का सक्रमण होना। वध्यमान मतिज्ञानावरणीय मे वध्यमान श्रुतज्ञानावरणीय का सक्रमण होना।[3]

सक्रमणकरण की व्याख्या भी प्रकृतिसक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम के द्वारा की गई ह।

प्रकृतिसक्रम के अन्दर सक्रम का लक्षण, तत्सबधी अपवाद और नियम, पतद्‌ग्रह, साद्यनादिप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृतिसक्रम एव पतद्‌ग्रहस्थानो का वर्णन किया गया है।

स्थितिसक्रम मे स्थितिसक्रम का भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट स्थितिसक्रमपरिमाण, जघन्य स्थितिसक्रम-परिमाण, साद्यनादिप्ररूपणा, जघन्योत्कृष्ट स्थितिसक्रमस्वामित्वप्ररूपणा, इन छ अधिकारो पर विचार किया गया है।

अनुभागसक्रम मे अनुभागसक्रम का भेद, विशेप लक्षण, स्पर्धक, उत्कृष्ट अनुभागसक्रम, जघन्य अनुभागसक्रम, साद्यादि और स्वामित्व प्ररूपणा आदि का विवेचन किया गया है।

प्रदेशसक्रम मे प्रदेशसक्रम का सामान्य लक्षण, भेद, साद्यादिप्ररूपणा, उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम, जघन्य प्रदेशसक्रम, इन पाच द्वारो से वर्णन किया गया है।

उद्‌वर्तना—अपवर्तनाकरण—स्थिति और अनुभाग को वढाना, उद्वर्तना है[4] और स्थिति और अनुभाग को कम करना अपवर्तना है।[5] जीव के वीर्यविशेष की जिस परिणति से स्थिति और अनुभाग बढाये जाते हैं, उसे उद्वर्तनाकरण और जीव के वीर्यविशेप की जिस परिणति से स्थिति, अनुभाग कम किये जाते हैं, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।[6]

प्रकृति और प्रदेश मे उद्वर्तना-अपवर्तना न होने से इन दो करणो मे स्थिति और अनुभाग ही होते हैं। इन दोनो करणो के व्याघात और निर्व्याघात रूप से दो भेद होते हैं।

उदीरणाकरण—अकालप्राप्त कर्मपुद्‌गलो का उदयावलिका मे प्रवेश करना उदीरणा है।[7] जिस वीर्य-विशेप की परिणति से अकालप्राप्त कर्मदलिको का उदयावलिका मे प्रवेश होता है उसे उदीरणाकरण कहते हैं।[8]

---

१ सक्रम प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानामन्यकर्मरूपतया स्थितानामन्यकर्मस्वरूपेण व्यवस्थापनम्।

२ सक्रम्यतेऽन्यप्रकृत्यादिरूपतया व्यवस्थाप्यते येन तत्सक्रमणम्।

३— यथा—सातवेदनीये बध्यमाने असातवेदनीयस्य, उच्चैर्गोत्रे वा नीचैर्गोत्रस्य इत्यादि। बध्यमाने मतिज्ञानावरणीये बध्यमानमेव श्रुतज्ञानावरण सक्रमयति।

४ स्थित्यनुभागयोर्बृहत्करणमुद्वर्तना।

५ तयोरेव ह्रस्वीकरणमपवर्तना।

६ उद्वर्त्यते प्रावल्येन प्रभूतीक्रियते स्थित्यादि यया जीववीर्यविशेपपरिणत्या सोद्वर्तना, अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया सा अपवर्तना।

७ कर्मपुद्‌गलानामकालप्राप्तानामुदयावलिकाया प्रवेशनमुदीरणा।

८ अनुदयप्राप्त सत्कर्मदलिकमुदीर्यंत उदयावलिकाया प्रवेश्यते यया सा उदीरणा।

इसकी व्याख्या प्रकृतिउदीरणा, स्थितिउदीरणा, अनुभागउदीरणा और प्रदेशउदीरणा— इन चार प्रकार से की गई है।

प्रकृतिउदीरणा की लक्षण, भेद, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्व, उदीरणास्थान और उसके स्वामित्व इन छ प्रकार से व्याख्या की गई है।

स्थितिउदीरणा की लक्षण, भेद, साद्यनादि प्ररूपणा, अद्धाच्छेद, स्वामित्व, इन पांच द्वारो मे व्याख्या की गई है।

अनुभागउदीरणा की सज्ञा, शुभाशुभप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणा, प्रत्ययप्ररूपणा, साद्यनादिप्ररूपणा इन पाच द्वारो से विवेचना की गई है।

प्रदेशउदीरणा की साद्यनादिप्ररूपणा और स्वामित्वप्ररूपणा से व्याख्या की गई है।

उपशमनाकरण—कर्म पुद्‌गलो को उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचनाकरण के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित कर देना अर्थात् सर्वथा शात कर देना उपशमना है।[1]

जीव के जिस वीर्यविशेष की परिणति से कर्मपुद्‌गलो को उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना के अयोग्यरूप से व्यवस्थापित किया जाता है, उसे उपशमनाकरण कहते है।[2]

इस करण की मुख्य रूप से आठ द्वारो द्वारा व्याख्या की गई है। आठ द्वारो के नाम इस प्रकार है—

१ सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, २ देशविरतिलाभप्ररूपणा,
३ सर्वविरतिलाभप्ररूपणा, ४ अनन्तानुबधीविसयोजना,
५ दर्शनमोहनीयक्षपणा, ६ दर्शनमोहनीयोपशमना,
७ चारित्रमोहनीयोपशमना, ८ देशोपशमना।

निधत्तिकरण—कर्म पुद्‌गलो का उद्वर्तना, अपवर्तना करण को छोडकर शेप करणो के अयोग्यरूप से व्यवस्थापित होना निधत्ति है।[3]

जीव की जिस परिणति विशेष से कर्म पुद्‌गलो को उद्वर्तना–अपवर्तनाकरण से अतिरिक्त शेष करणो के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किया जाता है, उसे निधत्तिकरण कहते है।[4]

निकाचनाकरण—कर्मपुद्‌गलो का सभी करणो के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित होना निकाचना है।[5]

जीव की जिस वीर्यविशेष की परिणति से कर्मपुद्‌गलो को अवश्य रूप से वेद्यमान-भोगने के रूप मे निबधित किया जाता है उसे निकाचनाकरण कहते है।[6]

भेद और स्वामी की दृष्टि से तो निधत्ति और निकाचनाकरण देशोपशमना के समान है। किन्तु विशेषता यह है कि निधत्ति मे सक्रमण नही होता और निकाचना मे सक्रमण के साथ उद्वर्तना अपवर्तनादिकरण भी नही होते हैं।

इस प्रकार से करणाष्टक की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थ मे उदय और सत्ता पर विचार किया गया है। उदय और सत्ता को करण नही कहा है, क्योकि उदय स्वाभाविक रूप से बधे हुए कर्मो की अबाधा पूर्ण होने पर प्रवृत्त होता है, उसमे करण की आवश्यकता नही रहती है। सत्ता भी बधन और सक्रमण से स्वाभाविक होती है, अत इसमे भी करण की आवश्यकता नही होती है।

---

१ कर्मपुद्‌गलानामुदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनमुपशमना।

२ उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना।

३ उद्वर्तनापवर्तनावर्जं शेपकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापन निधत्ति।

४ निधीयत उद्वर्तनापवर्तनावर्जकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्ति।

५ समस्तकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापन निकाचना।

६ निकाच्यतेऽवश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना।

उदयावस्था—यथास्थितिबद्ध कर्मपुद्गलों का अबाधाकाल की पूर्णता से या अपवर्तनादिकरणविशेष से उदय-समय मे प्राप्त का अनुभवन करना उदय है।[1]

उदय और उदीरणा मे प्रकृतियो की अपेक्षा से अन्तर है। उदय की व्याख्या भी प्रकृत्यदय, स्थित्युदय, अनुभागोदय, प्रदेशोदय के द्वारा की गई है।

मुख्यतया इसमे मूलोत्तर प्रकृतियो की साद्यनादिप्ररूपणा गुणश्रेणिस्वरूप, जघन्योत्कृष्टप्रदेशोदय तथा उनके स्वामित्व पर विचार किया गया है।

सत्तावस्था—जिन कर्मपुद्गलो का अवस्थान जिस रूप मे आत्मा के साथ है, उनका उसी रूप में जव तक अवस्थान रहता है, उसे सत्ता कहते है।[2]

सत्ता का भेद, साद्यादिप्ररूपणा और स्वामित्व द्वारा विचार किया गया है।

इस प्रकार कर्मप्रकृति मे ग्रन्थकार ने करणाष्टक और उदय, सत्ता की व्याख्या करके अन्त मे उपसहार करते हुए इसका फल बतलाया है—

'कर्मप्रकृति का ज्ञान करने के साथ तदनुरूप कर्मक्षय की पद्धति को अपनाने से अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।'

प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक प्राकृत चूर्णि और दो टीकाओ का प्रणयन हुआ है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। चूर्णि का परिमाण सात हजार (७ हजार) श्लोक है। टीकाओं मे एक सुप्रसिद्ध ख्यातिप्राप्त टीकाकार आचार्य मलयगिरि की है। उनकी टीका का प्रमाण आठ हजार (८ हजार) श्लोक प्रमाण है। दूसरे टीकाकार उपाध्याय यशोविजयजी हैं, इनकी टीका का प्रमाण (१३ हजार) तेरह हजार श्लोक प्रमाण है।

कर्मविषयक विभिन्न ग्रथो का पूर्व मे दिग्दर्शन करा चुके है। उन सब ग्रन्थो के साथ कर्मप्रकृति ग्रन्थ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि जिस सुन्दर तरीके से कर्मसिद्धान्त की गहन विवेचना इस ग्रन्थ मे की गई है, उस तरह की विवेचना अन्य ग्रन्थो मे देखने को नही मिलती है। इसमे कर्म विषयक समग्र स्वरूप का आद्योपान्त विवेचन किया गया है। एक दृष्टि से इसे कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थो का चूडामणि भी कहा जाये तो अतिशयोक्ति नही होगी। महान् रत्नाकर की तरह इस ग्रन्थ मे सुगमता से प्रवेश करने के लिये पूर्व मे षटकर्मग्रन्थो का अध्ययन आवश्यक है।

---

१ कर्मपुद्गलाना यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयेणापवर्तनादिकरणविशेषतो वा उदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदय।

२ निर्जरणसक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भाव सत्ता।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

अखिल विश्व मे दो ही तत्त्व प्रधान है—जड एव चेतन । इन दो तत्त्वो के सयोग मे ही सृष्टि का निर्माण हुआ है । साख्यदर्शन मे जिन्हें प्रकृति और पुरुष के नाम से कहा जाता है, वेदान्तदर्शन मे ब्रह्म और माया के नाम से कहा गया है तो जैनदर्शन मे उन्हें जीव और अजीव के नाम से सबोधित किया जाता है । अजीव कर्मवर्गणा के पुद्गल जीवात्माओ द्वारा आकर्षित होकर कर्म के रूप मे परिणत होते है । उन कर्मो के सयोग से ही अनन्तानन्त आत्माए विभिन्न योनियो मे विभिन्न रूपो मे परिभ्रमण कर रही है ।

भगवान महावीर के 'एगे आया' (आत्मा एक है) सिद्धान्तानुसार तो चराचर विश्व की अनन्त-अनन्त आत्माए एक समान है । उनके मौलिक स्वरूप मे कोई अन्तर नही है । एकेन्द्रिय अवस्था मे रहने वाली आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप पचेन्द्रिय अवस्था मे रहने वाली आत्मा का है । मौलिक स्वरूप मे समानता होते हुए भी दृश्यमान विचित्र अवस्थाओ का मूल कारण कर्म ही है । कर्म के सयोग से ही आत्माये विभिन्न रूपो मे परिलक्षित हो रही है । ससारी आत्माए कर्मो के विभिन्न सयोगो से विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है । जैसे बाह्य रूप मे मानव के वेश परिवर्तन करने मात्र से उसके अपने रूप मे कोई अन्तर नही आता, उसी प्रकार कर्मो के सयोग से आत्मा के द्वारा विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करने मात्र से उसकी मौलिकता मे कोई अन्तर नही आता । अर्थात् कर्मो के साथ आत्मा का प्रगाढ सयोग होने पर भी आत्मा अनात्मा के रूप मे परिवर्तित नही होती ।

जीवात्माओ की इन विविध भिन्नताओ मे कर्म की अनादिता ही मूल कारण है । कर्म और आत्मा मे यह बतलाना असभव है कि कर्म पहले है या आत्मा । कर्म और आत्मा मे से किसी को भी प्रथम कौन, नही कहा जा सकता है । स्वर्ण और मिट्टी के अनादि सम्बन्ध की तरह कर्म और आत्मा का सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है ।

जीव अपने पूर्वकृत कर्मो का परिभोग करता रहता है और नवीन कर्मो का बन्धन भी करता जाता है । कर्मबन्धन की यह प्रक्रिया अनादिकालीन होते हुए भी चैतन्यवान जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मो को विलग कर अपने अमूर्त, निरजन, निराकार, अनन्त सुख स्वरूप को प्रकट कर सकता है ।

आत्मा के इस अनन्त स्वरूप को प्रकट करने के लिये कर्मसिद्धान्त का ज्ञान करना आवश्यक है । कर्मों के विलगीकरण के बिना आत्मा की मुक्ति नही हो सकती । कहा है—'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ।'

कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म एव गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ (कर्मप्रकृति) का चिन्तन, मनन के साथ अध्ययन अपेक्षित है ।

कर्मप्रकृति ग्रन्थ मे करणाष्टक तथा उदय, सत्ता पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है । जिस वीर्य-विशेष के द्वारा आत्मा के साथ कर्मो का बन्धन हो, उसे करण कहते है ।

श्री शिवशर्मसूरि द्वारा प्रणीत इस कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ पर आचार्य मलयगिरि एव उपा यशोविजयजी ने अलग-अलग टीकाओ का प्रणयन किया है । इससे कर्मसिद्धान्त को समझने मे कुछ सुविधा जरूर हुई, तथापि हिन्दी पाठको के लिये ग्रन्थ दुर्बोध रहा । इसे सुबोध बनाने के लिये ग्रन्थ का हिन्दी अनवाद एव सपादन समताविभूति महामनीषी आचार्यप्रवर के सान्निध्य मे किया गया । इससे ग्रन्थ की उपादेयता मे और अधिक निखार आया है ।

आचार्यश्री की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ने कई उलझन भरे जटिल एव गहन विपयो को तर्कसगत सहज एव सरल तरीके से प्रस्तुत किया है । कुछ विषय तो ऐसे सामने आए जिनका प्रस्तुतीकरण आज तक नही बन पड़ा था ।

अगले पृष्ठो पर ग्रन्थकार एव उभय टीकाकारो के साथ आचार्यश्री के जीवन पर सक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है ।

ग्रन्थकार शिवशर्मसूरि

'कर्मप्रकृति' के रचयिता महान् आचार्य शिवशर्मसूरि हु । आप जैनागमो मे पारगत तथा कर्मसिद्धान्त के विज्ञाता पूर्वधर आचार्य थे । कर्मसाहित्य को आपकी अपूर्व देन रही हु । उत्तरवर्ती साहित्य प्रणेता विद्वान् महाशयो के विचारो से यह जाना जाता है कि आपने आग्रायणीय पूर्व से कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक नामक कर्मग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। जिसका नवीनता के परिप्रेक्ष्य मे प्रणयन देवेन्द्रसूरि ने किया तथा उनका स्मरण करते हुए स्वोपज्ञटीका मे आभार प्रदर्शित भी किया है। यथा—

आग्रायणीय पूर्वादुधृत्य परोपकार सारधिया, येनाभ्यधायि शतक स जयति शिवशर्मसूरिश्वर ।

इस प्रकार के उल्लेख से सूरिप्रवर की विद्वत्ता, प्रौढता तथा पूर्वधर अवस्था का तो परिज्ञान होता है, किन्तु जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के विपयो मे कुछ भी जानकारी नही मिलती है।

साहित्य-अनुसन्धानकारो के द्वारा बहुत कुछ खोज करने पर भी अभी तक कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है।

प्रथम टीकाकार—मलयगिरि

आगम साहित्य के प्रमुख व्याख्याकार आचार्य मलयगिरि कमप्रकृति के प्रथम टीकाकार हु। यद्यपि इन्होने 'शब्दानुशासन' नामक स्वतत्र ग्रन्थ की रचना भी की है, तथापि इनकी प्रसिद्धि टीकाकार के रूप मे ही है, न कि ग्रन्थकार के रूप मे। इन्होने जैनागमो के अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थो पर भी टीकाए लिखी है।

आपश्री की टीकाए विपय के रहस्य को विशदता से स्पष्ट करने वाली, भापा की प्रासादिकता, शैली की प्रौढता निरूपण की स्पष्टता आदि विभिन्न दृष्टियो से समृद्ध हैं।

आपके द्वारा कितने ग्रन्थो का आलेखन हुआ, इसका स्पष्ट उल्लेख तो नही मिलता, फिर भी जितने ग्रन्थ उपलब्ध है और जिनका नामोल्लेख मिलता है, उन सब की सख्या २६ है। उनमे से २० ग्रन्थ उपलब्ध हैं। कुछएक ग्रन्थो के नाम निम्न हैं, जिन पर आपके द्वारा टीकाए लिखी गई हैं—

व्यवहारसूत्र, भगवतीसूत्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाभिगमसूत्र, आवश्यकसूत्र, वृहत्कल्पसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र आदि आगम तथा पचसग्रह, कर्मप्रकृति, धर्मसग्रहणी, सप्ततिका आदि सिद्धान्त ग्रन्थ ।

सभी का ग्रन्थमान लगभग २ लाख श्लोकप्रमाण होता है । आचार्य मलयगिरि ने अपनी विद्वत्ता का ऐसा समीचीन उपयोग किया है कि जिससे अध्येता को ग्रन्थ का बोध सहजता से हो जाता है। सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या, तदनन्तर समग्र अर्थ का स्पष्ट निर्देश किया है। इतना करने के वाद भी किन्ही विषयो का "अय भाव" "किमुक्त भवति" आदि लिखकर विशद विवेचन भी किया है।

आपश्री के जन्म, दीक्षा आदि के वारे मे विशेष उल्लेख उपलब्ध नही होता, परन्तु जिस समय कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल भूपाल को प्रतिबोधित किया था, उस समय मे आचार्य मलयगिरि विद्यमान थे, ऐसा जिनमडनगणिकृत कुमारभूपालचरित्र मे आचार्य हेमचन्द्राचार्य की विद्यासाधना के साथ आचार्य मलयगिरि का भी उल्लेख मिलता है। उसका कुछ वर्णन इस प्रकार है—

एक समय हेमचन्द्राचार्य ने गुरोराज्ञा प्राप्त कर कला—कुशलता प्राप्त करने के लिये अन्य आचार्य देवेन्द्रसूरि एव मलयगिरि के साथ गौड देश की ओर विहार किया। इसी विहार परिक्रमा मे खिल्लूस नामक ग्राम मे पहुँचे । वहा पर एक साधु रोगग्रस्त था। उसकी आप तीनो ने तन्मयता से सेवा की। उसके मन मे रैवतक तीर्थ की यात्रा करने की आतुरता थी । उसको पूर्ण करने के लिये स्थानीय लोगो को समझाकर डोली का प्रवन्ध किया। कल विहार होने से आज रात्रि वही शयन किया। प्रात काल जब जागृत हुए तो अपने आपको रैवतक पर्वत पर पाया। शासनदेवी प्रकट हुई और उसने कहा कि आपको कला-कुशलता पाने के लिये गौड देश मे जाने की आवश्यकता नही हे। देवी उन्हें अनेकविध विद्याए प्रदान कर अन्तर्धान हो गई।

यहाँ पर तीनो आचार्यो ने सिद्धचक्र की आराधना की। फलस्वरूप विमलेश्वर देव ने प्रगट होकर यथेप्सित वर माँगने के लिये कहा, तब हेमचन्द्राचार्य ने राजाओ को प्रतिबोधित करने का वर मागा। देवेन्द्रसूरि ने कान्ति-नगर से प्रतिमा लाने का और आचार्य मलयगिरि ने यथाशक्ति आगम ग्रन्थो पर टीका लिखने का वर मागा था। देव तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गया।

आचार्य मलयगिरि उसी दिन के बाद विशेषकर साहित्यसघटना मे लगे और समर्थ टीकाकार के रूप मे युग के सामने आए।

उपर्युक्त प्रसग से स्पष्ट होता है कि आचार्य मलयगिरि हेमचन्द्राचार्य के समकालीन थे। अत आचार्य मलयगिरि का समय विक्रम की बारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध या १३ वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

द्वितीय टीकाकार—उपाध्याय यशोविजयजी

कर्मप्रकृति के द्वितीय टीकाकार न्यायविशारद उपाध्याय यशोविजयजी है। उनके भी जन्मस्थान आदि के विषय मे स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नही होती। फिर भी उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर आपका समय विक्रम की १६ वी शताब्दी माना गया है। न्याय के अन्दर आपकी अविरलगति होने से ऐसा कहा जाता है कि आपने न्यायसम्बन्धी १०८ ग्रन्थो का प्रणयन किया था। इसमे "ज्ञानबिन्दु" ग्रन्थ तो आपकी विद्वत्ता का मुकुटमणि जैसा प्रतीत होता है।

महामनीषी समताविभूति आचार्यश्री नानेश

गौर वर्ण, सौम्य चेहरा, उन्नत ललाट, प्रलम्ब बाहु, दृढ एव विशाल वक्षस्थल, निर्विकार लोचन, मुखवस्त्रिका से शोभित मुखमण्डल, श्वेत परिधान मे ब्रह्मतेज से दमकती देह, श्री से सपन्न, श्रुत-शास्त्रपारगत महामनीषी समता-विभूति आचार्यश्री नानेश का जन्म वीर वसुन्धरा मेवाड के ग्रामीण अचलो मे विशालता को प्रकट करने वाले छोटे से गाव 'दाता' मे विक्रम सवत् १९७७, ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया के दिन हुआ था।

द्वितीया के चन्द्र की तरह आपके शरीर की अभिवृद्धि होने के साथ ही ज्ञानकला मे भी अहर्निश प्रगति होने लगी। माता शृगारा ने बाल्यकाल मे ही आपको नैतिकता, धीरता, वीरता स्पष्टता आदि अनेकों गुणो से शृगारित कर दिया था। शैशवावस्था से ही आप मे उन्मुक्त चिन्तन करने की क्षमता जागृत हो चुकी थी। अगणित प्राणियो की आधार विशाल पृथ्वी को देखकर सभी का आधारभूत बनने की और अनन्त आकाश को देखकर जीवन की अनन्तता को विकसित करने की उत्कट आकाक्षा उठने लगी। रग-विरगे पुष्पो की प्रसरित सुवास ने आपके मन मे विभिन्न गुणो की सौरभ भरने की भावना उत्पन्न कर दी।

जीवन के चरम सत्य को जानने की प्रबल जिज्ञासा से आप अनेको सत-महात्माओ के सान्निध्य मे पहुँचने लगे। किन्तु कही पर भी सत्य का शुद्ध नवनीत नही मिल सकने से आप हताश हो गये। सयोगवश एक सुज्ञ महानुभाव ने आपकी उन्नत भावना एव प्रबल जिज्ञासा को समझ कर आपको शान्तक्रान्ति के जन्मदाता, हुक्मगच्छ के सप्तम आचार्य श्री गणेशलालजी म सा के सान्निध्य मे पहुचा दिया।

आपने जब उन दिव्य महापुरुष के दर्शन किये और उनके विचारो को समझा, तब मन मे यह दृढ विश्वास हो गया कि इनके सान्निध्य मे रहने पर जीवन के चरम सत्य को पाने की जिज्ञासा शात हो जाएगी। लगभग ३ वर्ष पर्यन्त विरक्ति की साधना की। उसमे अग्नि से निष्तप्त स्वर्ण की भाति खरे उतरे। इगलिश शब्दो मे एक पाश्चात्य दार्शनिक ने सत्य ही कहा है—

Pure Gold does not fear the flame

विक्रम सवत् १९९६ मे पौष शुक्ला अष्टमी को विरक्ति के महापथ पर जीवन के चरम सत्य को उद्-घाटित करने के लिये आपने प्रयाण कर दिया अर्थात् श्री गणेशाचार्य के चरणो मे सर्वतोभावेन समर्पित होकर भागवती दीक्षा अगीकार कर ली।

जब मिट्टी कुंभकार के हाथो मे आ जाती है, तब कुंभकार उसे पानी मे मिलाकर रौंदता है, चाक पर चढ़ाकर घुमाता है, हाथ के द्वारा घट का आकार बना देता है। तदनन्तर अग्नि मे तपाकर पूर्ण परिपक्व बना देता है। वही मिट्टी, मिट्टी की पर्याय को छोडकर घट के रूप मे आ जाती है और महिलाओ के मस्तक पर चढ जाती है।

इसी प्रकार आपश्री ने जब अपना जीवन योग्य गुरु के हाथो मे समर्पित कर दिया तो गुरु ने उसे इस तरीके से घडा कि ज्ञान मे विशुद्धता, आचरण मे सतर्कता, जीवन मे पवित्रता, प्रतिभा मे प्रखरता निरन्तर निखरती ही चली गई। शास्त्रो के गूढ अध्ययन के साथ ही आपश्री ने जैनेतर धर्मो के सिद्धान्तो का भी ज्ञान किया। सस्कृत, प्राकृत न्याय, व्याकरण, दर्शन आदि पर भी अधिकार प्राप्त किया।

नाम ही 'नाना' है, अत नाना गुणो का आप मे समावेश होने लगा। गुरु ने शिष्य की योग्यता को परखा और वीरो की नगरी उदयपुर मे वि स २०१९, आश्विन शुक्ला द्वितीया को अपनी धवल चादर प्रदान कर सघ का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। आप हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य के रूप मे युग के सामने आए।

विश्वशाति का उपाय—समतादर्शन

विश्व मे सर्वत्र विषमता की आग धू-धू करके जल रही है। भौतिकता के सुनहले जाल मे फसकर मानव अपने जीवन को क्षत-विक्षत कर रहा है। सुख व शान्ति के स्थान पर और अधिक दु खित हो रहा है। विश्व की इस दयनीय अवस्था को देखकर आपश्री का मन दयार्द्र हो उठा। विश्व मे व्याप्त विषमता को हटाकर शाति का प्रसार करने के लिये आपश्री चिन्तन की अतल गहराइयो मे उतरे। परिणामस्वरूप *विश्वशान्ति का अमोघ* उपाय 'समता-दर्शन' जनता के समक्ष रखा। इसे चार विभागो मे विभक्त किया—सिद्धान्तदर्शन, जीवनदर्शन, आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन। समतावादी, समताधारी, समतादर्शी के रूप मे आचरण की विधि प्रस्तुत की। प्रारभिक भूमिका के रूप मे जीवन-निर्माणकारी २१ सूत्र, ५ सूत्र भी प्रस्तुत किये।[1]

इन विचारो का जनमानस पर गहरा असर हुआ। सामान्य जनता ही नही अपितु विद्वद्वर्ग ने भी इसे अपनाया और यह माना कि समतासिद्धान्त के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था की जाये तो विश्व मे सुख और शान्ति का प्रसार होने मे देरी नही लगेगी।

प्रखरप्रतिभा—आपश्री की प्रतिभा का बहुमुखी विकास हुआ है। जयपुर वर्षावास मे एक भाई ने आपश्री से प्रश्न किया—'किं जीवनम्' जीवन क्या है?।

आपश्री ने सूत्ररचना के नियमो को लक्ष्य मे रखते हुए जीवन का समग्र रूप अल्प शब्दो मे व्यक्त कर दिया। यथा—"सम्यक्निर्णायक समतामयञ्च यत् तज्जीवनम्" अर्थात् जो सम्यक् निर्णायक और समतामय है, वही जीवन है।

जीवन क्या है? इस प्रश्न पर अनेक विद्वानो ने चिन्तन किया था। अपने-अपने दृष्टिकोण के साथ उसका समाधान भी प्रस्तुत किया। पूर्ववर्ती एक महान् आचार्य ने 'किं जीवनम्' की परिभाषा "दोषवर्जित यत् तज्जीवनम्" के रूप मे प्रस्तुत की थी। किन्तु यह परिभाषा निषेधपरक है, इससे जीवन का समग्ररूप स्पष्ट नही होता। जीवन वही हो सकता है जो सम्यक् निर्णायक और समतामय हो।[2]

योग की परिभाषा

पातजल योगदर्शन मे महर्षि पतजलि ने योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' के रूप मे की है। जैनदर्शन के एक महान् आचार्य ने उसकी परिभाषा "योगश्दुश्चित्तवृत्तिनिरोध" के रूप मे प्रस्तुत की है। आचार्य-

१ 'समता दर्शन और व्यवहार' नामक पुस्तक मे एतद् विषयक सविस्तृत विवेचन मिलता है।

२ जयपुर वर्षावास के सारे प्रवचन इसी सूत्र पर हुए थे। जो 'पावस प्रवचन' के कई भागो मे प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीजी के चिन्तन ने भी इस विषय मे प्रवेश किया। आपश्री ने योग की परिभाषा—"योगश्चित्तवृत्तिसंशोधः" के रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत की। वास्तव में चित्तवृत्तियो का निरोध नही किया जा सकता, उन्हे संशोधित ही किया जा सकता है।

ध्यान-साधना के क्षेत्र मे भी आपश्री की प्रखर प्रतिभा ने अभिनव ध्यानप्रक्रिया 'समीक्षणध्यान' के रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत की है।

उपर्युक्त कुछएक दृष्टिकोणो से ही जाना जा सकता है कि आचार्यश्री की प्रतिभा का विकास किस रूप मे विकसित हुआ है।

एक महान कार्य—दलितोद्धार

आचार्यपद को सुशोभित करते हुए आपश्री का मालवक्षेत्र मे विचरण हो रहा था। वहा का दलितवर्ग जो समाज से तिरस्कृत था, जो लोग अछूत समझे जाते थे। वे गौरक्षक के स्थान पर गौभक्षक बन रहे थे। उनके जीवन की यह दयनीय अवस्था आचार्यश्रीजी से देखी नही गई, आप उनके बीच मे पहुंचे। स्थान-स्थान पर दुर्लभ मानवजीवन की उपादेयता पर मार्मिक प्रवचन दिया। आचार्यश्री के एक-एक प्रवचन से पीढियो से व्यसनग्रस्त हजारो लोगो ने सदा-सदा के लिये सप्त कुव्यसनो का त्याग कर दिया। सदाचारी एव नैतिकता के साथ अपना जीवन निर्वहन करने के लिये कटिबद्ध हो गये। जिन्हे आचार्यश्री ने 'धर्मपाल' की सज्ञा से सबोधित किया। आज उनकी सख्या लगभग एक लाख तक पहुँच गई है। जिन लोगो को व्यसनमुक्त करने के लिये आर्यसमाज की एक विशाल सस्था काम कर रही थी, सरकार भी व्यसनमुक्ति के लिये अनेको अध्यादेश निकाल चुकी है, फिर भी जनमानस मे कोई विशेष परिवर्तन नही आ पाया, जबकि आचार्यश्री के प्रवचनो से लोगो का आमूलचूल जीवन ही परिवर्तित हो गया।

सत्य है महायोगी, तप-तेजपुज का प्रभाव अवश्य पडता है।

भागवती दीक्षाए—आपश्री के सान्निध्य मे चतुर्विधसघ अहर्निश विकास कर रहा है। अभी तक लगभग १७१ भव्य आत्माओ ने इस बढते हुए भौतिक युग मे धन-दौलत, परिवार, सगे-सबधी सब का परित्याग कर सर्वतोभावेन आपश्री के चरणो मे समर्पित होकर भागवती दीक्षा अगीकार की है।

सकोचवश आचार्यश्री के जीवन की आशिक झलक ही प्रस्तुत कर रहा हूँ। क्योकि कोई व्यक्ति यह न मान बैठे कि गुरू की प्रशसा शिष्य ही कर रहा है। यह प्रशसा नही अपितु यथार्थता की एक झलक मात्र है।

मैंने भी 'कर्मप्रकृति' का एक नही अनेक बार चिन्तन-मनन के साथ अध्ययन-अध्यापन किया है किन्तु यह लिखने मे सकोच नही होता कि आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे जिन विषयो का मार्मिक विश्लेषण किया है, उसकी उपलब्धि नही हो पाई।

मैं यह विश्वास के साथ लिख रहा हूँ कि कर्मसिद्धान्त के अध्येताओ को आचार्यश्री के तत्त्वावधान मे किया गया प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद व सपादन बहु-उपयोगी सिद्ध होगा।

अपने परमात्मस्वरूप को उजागर करने वाली भव्यात्माए कर्मसिद्धान्त का ज्ञानार्जन करें। कर्म ही आत्मा के परमात्मभाव के अवरोधक हैं। उनका ज्ञान होने पर आचरण की विशुद्धता के द्वारा उन्हें हटाकर आत्मा का परमात्मस्वरूप उजागर किया जा सकता है।

भगवान महावीर का यही सदेश है—

"अप्पा सो परमप्पा" —आत्मा ही परमात्मा है।

उदयपुर
(हिरणमगरी, सेक्टर न ११)
सोमवार, दिनाक ३०-११-८१

— ज्ञानमुनि

कर्मप्रकृति : बंधनकरण : विषयानुक्रमणिका

गाथा वर्ण्यविषय

पृष्ठ

परिशिष्ट

णमो सिद्धाण

श्रीमद् शिवशर्मसूरि प्रणीत—

म्मपय ी (र्मप्रकृति)

मंगलाचरण

सिद्धं सिद्धत्थसुयं, वंदिय निद्धोयसव्वकम्ममलं ।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठमुदयसंताणि वोच्छामि ॥१॥

शब्दार्थ—**सिद्ध**—सिद्ध, सिद्धावस्था को प्राप्त, **सिद्धत्थसुय**—सिद्धार्थ राजा के पुत्र—श्रमण भगवान महावीर को, **वंदिय**—वदना करके, **निद्धोयसव्वकम्ममल**—नि शेष रूप से जिन्होंने समस्त कर्ममल को धो डाला है, **कम्मट्ठगस्स**—आठ कर्मों के, **करणट्ठं**—आठ करणो को, **उदयसंताणि**—उदय और सत्ता को, **वोच्छामि**—कहूगा ।

गाथार्थ—नि शेष रूप से जिन्होंने समस्त कर्ममल को धो डाला है और सिद्धावस्था को प्राप्त, ऐसे सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र—श्रमण भगवान महावीर को वदन करके आठ कर्मों के आठ करणो और उदय एव सत्ता को कहूगा ।

विशेषार्थ—सफलता प्राप्त करने एव निर्विघ्न रूप से कार्य के सम्पन्न होने की आकाक्षा से प्रारम्भ मे व्यक्त—शब्दात्मक और अव्यक्त—भावात्मक रूप से मगलकारी महापुरुषो का स्मरण करना और उसके बाद अपने अभिधेय—वाच्य आदि की रूपरेखा बतलाना भारतीय साहित्य की परम्परा है । तदनुसार ग्रथकार ने गाथा के पूर्वार्द्ध मे अभीष्ट प्रयोजन मे सफलता प्राप्त करने के लिये मगलरूप महापुरुषो का स्मरण किया है और उत्तरार्द्ध मे ग्रथ के वर्ण्यविषय, प्रयोजन आदि को बताया है ।[1]

मगलाचरणात्मक पदो की व्याख्या

'सिद्ध ... सव्वकम्ममल' गाथा का पूर्वार्द्ध मगलाचरणात्मक है । इसमें श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध भगवन्तो आदि की भी वदना की है ।

श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार करने रूप व्याख्या इस प्रकार है—

'सिद्धत्थसुय' यह पद श्रमण भगवान महावीर जिनेन्द्र के नाम एव उनकी विशेषताओ का बोध कराने वाला होने से विशेष्य और विशेषण पद है तथा 'सिद्ध' और 'निद्धोयसव्वकम्ममल' यह दोनो विशेषण पद है । जिनमे यह अर्थ फलित होता है कि—

---

१. इह पूर्वार्धेनेष्टदेवतानमस्कारस्याभिधान उत्तरार्धेन तु प्रयोजनादीना । —कर्मप्रकृति, मलय टी, पृ १

'सिद्ध'–सिद्ध, सिद्धदशा को प्राप्त यानी अनादि काल से वद्ध ससार के कारणभूत ज्ञानावरण आदि अष्ट प्रकार के कर्मो का क्षय करके 'सिद्धावस्था'–पूर्ण कृतकृत्यता को प्राप्त ।[1]

इसी वात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये पुन दूसरा विशेपण दिया है–निर्धौतसर्वकर्ममल–अर्थात् जिन्होने नि-नितराम्-नि शेप रूप से, पूर्णतया यानी पुन प्रादुर्भाव न हो सके, इस तरह सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप जल के द्वारा समस्त कर्ममल को धो डाला है, उनका प्रक्षालन कर दिया है[2] ऐसे सिद्धार्थसुत–सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र–श्रमण भगवान महावीर, वर्धमान स्वामी को[3] वदिय-वदन करके ।

यदि यहाँ तर्क प्रस्तुत किया जाये कि 'सिद्ध' और 'निर्धौतसर्वकर्ममल' यह दोनो तो समानार्थक पद है । दोनो से एक ही आशय ध्वनित होता है । अत इन दोनो पदो मे से किसी एक पद का प्रयोग करना चाहिये था । तो इनका समाधान यह है कि भले ही उक्त दोनो पद समानार्थक समझे जाये, फिर भी सिद्ध पद का प्रयोग करने के वाद 'निर्धौतसर्वकर्ममल' पद का प्रयोग विशिष्ट अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये किया है । जैसे कि—

१ कोपकारो ने सिद्ध शब्द के अनेक अर्थ वतलाये है, यथा–अच्छी तरह तैयार किया हुआ, विधिपूर्वक सम्पन्न, सफलता प्राप्त, निश्चित, प्रमाणित, निष्णात, दक्ष, विशेषज्ञ, जिसने सिद्धि प्राप्त की हो, मुक्त इत्यादि । जिनका यथाप्रसग अभिप्रायानुसार लोकव्यवहार और शास्त्र मे प्रयोग किया जाता है । लेकिन प्रस्तुत प्रसग मे उन अनेक अर्थो मे से सिद्ध शब्द का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करने एव वास्तव सिद्ध कौन हो सकता है ? वतलाने के लिये ही सिद्ध पद के अनन्तर पुन 'निर्धौतसर्वकर्ममल' पद का प्रयोग किया गया है कि सपूर्ण कर्मावरण का क्षय होने पर ही सिद्धावस्था प्राप्त होती है ।

२ सिद्ध नामक किसी व्यक्ति अथवा लौकिक विद्याओ मे दक्षता प्राप्त करने वाले व्यक्ति-विशेप का व्यवच्छेद करने के लिये सिद्ध के अतिरिक्त 'निर्धौतसर्वकर्ममल' विशेषण दिया है[4] कि यहा उन्ही सिद्धो को नमस्कार किया गया है जो नि शेप रूप से कर्ममल को धोकर अपुनर्भव अवस्था प्राप्त कर चुके है, जिनका जन्म-मरण रूप ससार सदा सर्वदा के लिये नष्ट हो चुका है ।

३ सिद्ध पद के अतिरिक्त निर्धौतसर्वकर्ममल पद देकर जैनदर्शन की मान्यता का मडन और एकान्तवादी अन्य दार्शनिको की दृष्टि का निरसन किया गया है ।[5] जैसे कि वेदान्त व साख्य दर्शन ब्रह्म, पुरुप को अनादि शुद्ध मानने वाले एव नैयायिक-वैशेषिक शुद्ध आत्मा का पुनर्जन्म मानने वाले दार्शनिक है । लेकिन जैनदर्शन का यह मतव्य है कि अनादि से कोई भी जीव शुद्ध नही है,

---

१ सित वद्ध ध्मात भस्मीकृतमष्टप्रकार कर्म येन स सिद्ध । —कर्मप्र मलय टी , पृ १

२ नि–नितरामपुनर्भावेन धौत सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतप सलिलप्रभावेणापगमित सर्व एव कर्मैवाष्टप्रकार जीवमालिन्यहेतुत्वात् मल इव मलो येन स तथा त । —कर्मप्रकृति, मलय टीका, पृ १

३ सिद्धार्थसुत सिद्धार्थस्य सिद्धार्थनरेन्द्रस्य, सुतमपत्य वर्धमानस्वामिनमित्यर्थ । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

४ स च नामतोऽपि कश्चिद्भवति, विद्यासिद्धादिर्वा सिद्ध इति लोके प्रतीतस्ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं यथोक्तान्वर्थसूचकमेव विशेषणमाह—निर्धौतसर्वकर्ममल । —कर्मप्र, मलय टी , पृ १

५ अनेनानादिशुद्धपुरुषप्रवादप्रतिक्षेप आवेदितो दृष्टव्य । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

किन्तु निःशेष रूप से कर्मक्षय करने के बाद ही शुद्ध सिद्धावस्था प्राप्त होती है और इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् न तो शुद्ध आत्मा का संसार में अवतरण होता है और न जन्म-मरण ही। इन्ही सब बातो को स्पष्ट करने के लिये सिद्ध के अतिरिक्त 'निर्धौतसर्वकर्ममल' विशेषण दिया है।

इस प्रकार गाथा के पूर्वार्ध की भगवान महावीर को नमस्कार करने रूप व्याख्या करने और पदो का सार्थक्य बतलाने के बाद अब प्रकारान्तर से गाथा के पूर्वार्ध की व्याख्या करते हैं। जिसमे भगवान महावीर के कतिपय अतिशयो का दिग्दर्शन कराया है।

'सिद्ध' यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थसुत' विशेषण पद है। तब इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करना चाहिये—

संसार से निस्तारण कराने मे कारण रूप होने से जिनका श्रुत अर्थात् प्रवचन सिद्धार्थ—इष्ट प्रयोजन की सिद्धि कराने वाला है। इस प्रकार 'सिद्धार्थसुत' पद द्वारा भगवान का वचनातिशय प्रगट किया गया है[1] तथा संसार से निस्तारण कराने रूप अविकल सामर्थ्य बतलाई है।[2] अथवा अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को जान लेने के कारण सिद्धार्थ अर्थात् मोक्षप्राप्त करने रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं सुत (पुत्र) के समान 'सुत' यानी गणधरादिक शिष्य जिनके, इस प्रकार की अर्थावृत्ति के द्वारा भगवान का ज्ञानातिशय प्रगट किया है।[3] साथ ही भगवान की शिष्यपरम्परा की भी विशिष्ट फलातिशयता ज्ञात होती है।[4] अथवा सिद्धार्थ यह भावप्रधान निर्देश है। देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि के द्वारा वंदना, माहात्म्य प्रदर्शन आदि किये जाने के कारण सिद्धार्थ रूप से श्रुत अर्थात् विश्रुत, प्रसिद्ध है, इस प्रकार की आवृत्ति से भगवान का माहात्म्य-अतिशय—पूजातिशय (वंदनीयता) प्रगट होता है[5] और निर्धौतसर्वकर्ममल इस पद से भगवान का अपायापगम अतिशय प्रगट किया ही गया है।[6]

इस प्रकार ग्रंथकार ने तीर्थंकरो के अनेक अतिशयो मे से मुख्य चार अतिशयो को प्रगट करते हुए भगवान महावीर की वंदना की है।[7]

इसके साथ ही ग्रंथकार ने पूर्वोक्त पदो के द्वारा भगवान महावीर को वंदना करने की जिज्ञासा का भी समाधान किया है कि—'सिद्ध' सिद्ध रूपी परम पद मे विराजमान हैं, सिद्धार्थश्रुत केवलज्ञान-दर्शन रूप उत्कृष्ट अनन्त ज्योति द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत् मे होने वाली अनन्त

---

१ तत्र सिद्धार्थं सिद्धप्रयोजनं संसारान्निस्तारकरणेन श्रुतं प्रवचनं यस्येत्यर्थाद् वचनातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र, यशो टी, पृ १

२ अनेन श्रुतस्य संसारनिस्तारणं प्रत्यविकलं सामर्थ्यमावेद्यते। —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

३ स्वकीयानन्तज्ञानाकलित भावावबोधात् सिद्धार्था सिद्धप्रयोजना सुता इव सुता शिष्या गणधरादयो यस्य स तथा तमित्यर्थावृत्त्या ज्ञानातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र, यशो टी, पृ १

४ अनेन भगवत सततेरपि विशिष्टफलातिशयभावत्वमावेदयति। —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

५ सिद्धार्थं इति भावप्रधान निर्देशादमरनरेन्द्रादि पूजार्हत्व गुणेन सिद्धार्थतया श्रुत प्रसिद्धमित्यर्थावृत्त्या पूजातिशयो लभ्यते। —कर्मप्र, यशो टी, पृ १

६ अपायापगमातिशयस्तु निर्धौतसर्वकर्ममलमित्यनेनावेदति। —कर्मप्र, यशो टी, पृ १

७ इति भगवतोऽतिशयचतुष्टय निष्टंकित भवति। —कर्मप्र, यशो टी, पृ १

पर्यायो सहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता-द्रष्टा-सर्वज्ञ है तथा 'निर्धौतसर्वकर्ममल' सम्पूर्ण कर्ममल का क्षय कर देने वाले होने से ससारातीत है—कर्ममल से रहित है, इसीलिये वे भगवान वदनीय है ।[1]

सिद्ध भगवन्तो व श्रुत को नमस्कार

ग्रथकार ने पूर्वोक्त पदो के द्वारा भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध-भगवन्तो को भी नमस्कार किया है । सिद्धो का वदना करने के प्रसग मे सिद्ध यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थश्रुत' एव 'निर्धौतसर्वकर्ममल' यह दोनो विशेषण पद है । जिनका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है कि–सम्पूर्ण कर्ममल को पूर्णतया क्षय करने रूप अभीप्सित अर्थ को सिद्ध कर लेना जिनके लिये श्रुत–प्रसिद्ध है । अर्थात् उन्होने जीवमात्र के इष्ट, अभीप्सित अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण कर्ममल का नि शेष रूप से क्षय कर दिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार करके ।

इन पदो के द्वारा श्रुत को भी नमस्कार किया है—श्रुत यह विशेष्य और सिद्ध, सिद्धार्थ विशेषण-पद है । तब उनका यह अर्थ होगा कि सिद्ध–अनादिकाल से जिसका अस्तित्व सिद्ध है तथा सिद्धार्थ–जिसका अभिधेय प्रमाणसिद्ध है और वह अभिधेय है निर्धौतसर्वकर्ममल–सम्पूर्ण कर्ममल को नि शेष रूप से धोना । इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने के उपायो का विधिवत् विज्ञान जिसमे समुपलब्ध है, ऐसे अनादि विशुद्ध आत्मीय शक्तिविशेष ज्ञानमय श्रुत को नमस्कार करके ।

साराश यह है कि ग्रथकार ने श्रमण भगवान महावीर की वदना करने के साथ ही प्रकारान्तर मे सिद्ध भगवन्तो एव ज्ञानमय श्रुत को भी नमस्कार किया है । इसके साथ ही इन्ही पदो के द्वारा ग्रथ की प्रमाणता और अपनी लघुता का भी सकेत कर दिया है कि मै अपनी बौद्धिक कल्पना का आधार लेकर नही, किन्तु सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने वाले श्रमण भगवान महावीर के श्रुत–प्रवचन के आशय के अनुसार ग्रथरचना के लिये उद्यत हुआ हूँ तथा इसके वर्णनीय विषय का साक्षात् सम्बन्ध भगवान महावीर की वाणी से और परम्परागत सम्बन्ध पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित इस वाणी से अविरुद्ध ग्रथो से है ।

गाथा के उत्तरार्ध का विवेचन

इस प्रकार से गाथा के पूर्वार्ध मे मगलमय प्रभु महावीर आदि को वदना करके ग्रथकार ने उत्तरार्ध मे ग्रथ के वर्ण्यविषय आदि का उल्लेख किया है कि ग्रथ मे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बध, सक्रम आदि के कारणभूत बधन आदि आठ करणो (आत्मपरिणामो) एव कर्मों की उदय और सत्ता अवस्थाओ का वर्णन करूगा ।[2]

आठ करणो के नाम, उदय और सत्ता के लक्षण आदि का वर्णन यथाप्रसग आगे किया जायेगा । लेकिन उसके पूर्व आठ कर्मों का स्वरूप जानना उपयोगी होने से भेद-प्रभेद सहित उनकी व्याख्या करते है ।

---

१ अतएव च भगवान् प्रेक्षावता प्रणामार्हः । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

२ प्रतिपादयिष्यामि कर्माष्टकस्य बन्धसक्रमादिहेतुभूत करणाष्टक उदयसत्ते च । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

आठ कर्मों के नाम और उनके लक्षण

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र ८ और अन्तराय नाम वाली कर्म की ये आठ मूल-प्रकृतियां हैं।[1] जिनके लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

१. **ज्ञानावरण—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञान, तदाव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेति ज्ञानावरण**—सामान्यविशेषधर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला बोध ज्ञान कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त-आच्छादित किया जाता है, उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

२. **दर्शनावरण—सामान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शन, तदाव्रियतेऽनेनेति दर्शनावरण**—वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला बोध दर्शन कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त किया जाये, उसे दर्शनावरण कहते हैं।

३ **वेदनीय—वेद्यते आह्लादादिरूपेण यत्तद्वेदनीय**—आह्लाद आदि (सुख-दुःख आदि) रूप से जो वेदन किया जाये, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

यद्यपि सभी कर्म वेदन किये जाते हैं, तथापि पंकजादि पदों के समान 'वेदनीय' यह पद रूढिविषयक है। अतः साता और असाता रूप ही कर्म वेदनीय कहा जाता है, शेष कर्म नहीं।

४. **मोहनीय[2]—मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीय**—जो आत्मा को मोहित करे अर्थात् सत्-असत् के विवेक से रहित कर दे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

५ **आयु[3]—एत्यागच्छति प्रतिबन्धकतां गतिनिर्यियासोर्जन्तोरित्यायु, यद्वा समन्तादेति गच्छति भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूना विपाकोदयमित्यायु**—जो गति से निकलने के इच्छुक जन्तु को प्रतिबन्धकपने (रुकावटपने) को प्राप्त होता है, अर्थात् गति में से नहीं निकलने देता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा भवान्तर में संक्रमण करने पर भी जो जीवों को सब ओर से विपाकोदय को प्राप्त हो, उसे आयुकर्म कहते हैं।

६. **नाम—नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम**—जो गति, जाति आदि पर्यायों के अनुभव कराने के प्रति जीव को नमावे अर्थात् अनुकूल करे, उसे नामकर्म कहते हैं।

७. **गोत्र—गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत्तद्गोत्र उच्चनीचकुलोत्पत्त्यभिव्यङ्ग्यः पर्यायविशेष, तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्र**—जो उच्च-नीच शब्दों के द्वारा उच्च और नीच कुल में उत्पत्ति रूप पर्याय विशेष को व्यक्त करे, उसे गोत्र कहते हैं। इस प्रकार के विपाक को वेदन कराने वाला कर्म भी गोत्र कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा उच्च और नीच शब्दों से कहा जाये, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

---

१ (क) प्रथम कर्मग्रथ गा ३, (ख) प्रज्ञापना पद २१/१/२२८ (ग) उत्तरा ३३/२-३, (घ) पचसग्रह ११९।

२ मुह्, मोहे धातु से 'कृद्बहुल' (सिद्ध हेम ५/१/१०/२) इस सूत्र द्वारा कर्ता के अर्थ में अनीय प्रत्यय लगाने से मोहनीय शब्द बना है।

३ गत्यर्थक इण् धातु से औणादिक उस् प्रत्यय किया गया है।

पर्यायो सहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा-सर्वज्ञ है तथा 'निर्धौतसर्वकर्ममल' सम्पूर्ण कर्ममल का क्षय कर देने वाले होने से ससारातीत हैं—कर्ममल से रहित हैं, इसीलिये वे भगवान वदनीय हैं ।[1]

सिद्ध भगवन्तो व श्रुत को नमस्कार

ग्रथकार ने पूर्वोक्त पदो के द्वारा भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध-भगवन्तो को भी नमस्कार किया है । सिद्धो का वदना करने के प्रसग मे सिद्ध यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थश्रुत' एव 'निर्धौतसर्वकर्ममल' यह दोनो विशेषण पद है । जिनका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है कि–सम्पूर्ण कर्ममल को पूर्णतया क्षय करने रूप अभीप्सित अर्थ को सिद्ध कर लेना जिनके लिये श्रुत–प्रसिद्ध है । अर्थात् उन्होंने जीवमात्र के इष्ट, अभीप्सित अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण कर्ममल का नि शेष रूप से क्षय कर दिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार करके ।

इन पदो के द्वारा श्रुत को भी नमस्कार किया है—श्रुत यह विशेष्य और सिद्ध, सिद्धार्थ विशेषण-पद है । तब उनका यह अर्थ होगा कि सिद्ध–अनादिकाल से जिसका अस्तित्व सिद्ध है तथा सिद्धार्थ–जिसका अभिधेय प्रमाणसिद्ध है और वह अभिधेय है निर्धौतसर्वकर्ममल–सम्पूर्ण कर्ममल को नि शेष रूप से धोना । इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने के उपायो का विधिवत् विज्ञान जिसमे समुपलब्ध है, ऐसे अनादि विशुद्ध आत्मीय शक्तिविशेष ज्ञानमय श्रुत को नमस्कार करके ।

साराश यह है कि ग्रथकार ने श्रमण भगवान महावीर की वदना करने के साथ ही प्रकारान्तर मे सिद्ध भगवन्तो एव ज्ञानमय श्रुत को भी नमस्कार किया है । इसके साथ ही इन्ही पदो के द्वारा ग्रथ की प्रमाणता और अपनी लघुता का भी सकेत कर दिया है कि मै अपनी बौद्धिक कल्पना का आधार लेकर नही, किन्तु सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने वाले श्रमण भगवान महावीर के श्रुत–प्रवचन के आशय के अनुसार ग्रथरचना के लिये उद्यत हुआ हूँ तथा इसके वर्णनीय विषय का साक्षात् सम्बन्ध भगवान महावीर की वाणी से और परम्परागत सम्बन्ध पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित इस वाणी से अविरुद्ध ग्रथो से है ।

गाथा के उत्तरार्ध का विवेचन

इस प्रकार से गाथा के पूर्वार्ध मे मगलमय प्रभु महावीर आदि को वदना करके ग्रथकार ने उत्तरार्ध मे ग्रथ के वर्ण्यविषय आदि का उल्लेख किया है कि ग्रथ मे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के बध, सक्रम आदि के कारणभूत बधन आदि आठ करणो (आत्मपरिणामो) एव कर्मो की उदय और सत्ता अवस्थाओ का वर्णन करूगा ।[2]

आठ करणो के नाम, उदय और सत्ता के लक्षण आदि का वर्णन यथाप्रसग आगे किया जायेगा । लेकिन उसके पूर्व आठ कर्मो का स्वरूप जानना उपयोगी होने से भेद-प्रभेद सहित उनकी व्याख्या करते है ।

---

१ अतएव च भगवान् प्रेक्षावता प्रणामार्हं । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

२ प्रतिपादयिष्यामि कर्माष्टकस्य बन्धसक्रमादिहेतुभूत करणाष्टक उदयसत्ते च । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

आठ कर्मों के नाम और उनके लक्षण

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र ८ और अन्तराय नाम वाली कर्म की ये आठ मूल-प्रकृतियां हैं।[1] जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **ज्ञानावरण—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानं, तदाव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेति ज्ञानावरण**—सामान्यविशेषधर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला बोध ज्ञान कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त-आच्छादित किया जाता है, उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

२. **दर्शनावरण—सामान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शनं, तदाव्रियतेऽनेनेति दर्शनावरण**—वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला बोध दर्शन कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त किया जाये, उसे दर्शनावरण कहते हैं।

३ **वेदनीय—वेद्यते आह्लादादिरूपेण यत्तद्वेदनीयं**—आह्लाद आदि (सुख-दुःख आदि) रूप से जो वेदन किया जाये, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

यद्यपि सभी कर्म वेदन किये जाते हैं, तथापि पंकजादि पदों के समान 'वेदनीय' यह पद रूढिविषयक है। अतः साता और असाता रूप ही कर्म वेदनीय कहा जाता है, शेष कर्म नहीं।

४. **मोहनीय[2]—मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयं**—जो आत्मा को मोहित करे अर्थात् सत्-असत् के विवेक से रहित कर दे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

५. **आयु[3]—एत्यागच्छति प्रतिबन्धकतां गतिनिर्यियासोर्जन्तोरित्यायुः, यद्वा समन्तादेति गच्छति भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तूनां विपाकोदयमित्यायु**—जो गति से निकलने के इच्छुक जन्तु को प्रतिबन्धकपने (रुकावटपने) को प्राप्त होता है, अर्थात् गति में से नहीं निकलने देता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा भवान्तर में संक्रमण करने पर भी जो जीवों को सब ओर से विपाकोदय को प्राप्त हो, उसे आयुकर्म कहते हैं।

६. **नाम—नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम**—जो गति, जाति आदि पर्यायों के अनुभव कराने के प्रति जीव को नमावे अर्थात् अनुकूल करे, उसे नामकर्म कहते हैं।

७ **गोत्र—गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत्तद्गोत्रं उच्चनीचकुलोत्पत्त्यभिव्यंग्यः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं**—जो उच्च-नीच शब्दों के द्वारा उच्च और नीच कुल में उत्पत्ति रूप पर्याय विशेष को व्यक्त करे, उसे गोत्र कहते हैं। इस प्रकार के विपाक को वेदन कराने वाला कर्म भी गोत्र कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा उच्च और नीच शब्दों से कहा जाये, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

---

१ (क) प्रथम कर्मग्रंथ गा ३, (ख) प्रज्ञापना पद २१/१/२२८ (ग) उत्तरा ३३/२-३, (घ) पंचसंग्रह ११९।

२ मुह् मोहे धातु से 'कृद्बहुलं' (सिद्ध हेम ५/१/१०/२) इस सूत्र द्वारा कर्ता के अर्थ में अनीय प्रत्यय लगाने से मोहनीय शब्द बना है।

३ गत्यर्थक इण् धातु से औणादिक उस् प्रत्यय किया गया है।

पर्यायो सहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा-सर्वज्ञ है तथा 'निर्धौतसर्वकर्ममल' सम्पूर्ण कर्ममल का क्षय कर देने वाले होने से ससारातीत है—कर्ममल से रहित है, इसीलिये वे भगवान वदनीय है ।[1]

सिद्ध भगवन्तो व श्रुत को नमस्कार

ग्रथकार ने पूर्वोक्त पदो के द्वारा भगवान महावीर को नमस्कार करने के साथ-साथ सिद्ध-भगवन्तो को भी नमस्कार किया है । सिद्धो का वदना करने के प्रसग मे सिद्ध यह विशेष्य पद है और 'सिद्धार्थश्रुत' एव 'निर्धौतसर्वकर्ममल' यह दोनो विशेषण पद है। जिनका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है कि—सम्पूर्ण कर्ममल को पूर्णतया क्षय करने रूप अभीप्सित अर्थ को सिद्ध कर लेना जिनके लिये श्रुत—प्रसिद्ध है । अर्थात् उन्होने जीवमात्र के इष्ट, अभीप्सित अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण कर्ममल का नि शेष रूप से क्षय कर दिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार करके ।

इन पदो के द्वारा श्रुत को भी नमस्कार किया है—श्रुत यह विशेष्य और सिद्ध, सिद्धार्थ विशेषण-पद है। तब उनका यह अर्थ होगा कि सिद्ध—अनादिकाल से जिसका अस्तित्व सिद्ध है तथा सिद्धार्थ—जिसका अभिधेय प्रमाणसिद्ध है और वह अभिधेय है निर्धौतसर्वकर्ममल—सम्पूर्ण कर्ममल को नि शेष रूप से धोना । इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने के उपायो का विधिवत् विज्ञान जिसमे समुपलब्ध है, ऐसे अनादि विशुद्ध आत्मीय शक्तिविशेष ज्ञानमय श्रुत को नमस्कार करके ।

साराश यह है कि ग्रथकार ने श्रमण भगवान महावीर की वदना करने के साथ ही प्रकारान्तर मे सिद्ध भगवन्तो एव ज्ञानमय श्रुत को भी नमस्कार किया है । इसके साथ ही इन्ही पदो के द्वारा ग्रथ की प्रमाणता और अपनी लघुता का भी सकेत कर दिया है कि मै अपनी बौद्धिक कल्पना का आधार लेकर नही, किन्तु सम्पूर्ण कर्ममल को क्षय करने वाले श्रमण भगवान महावीर के श्रुत—प्रवचन के आशय के अनुसार ग्रथरचना के लिये उद्यत हुआ हूँ तथा इसके वर्णनीय विषय का साक्षात् सम्बन्ध भगवान महावीर की वाणी से और परम्परागत सम्बन्ध पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित इस वाणी से अविरुद्ध ग्रथो से है।

गाथा के उत्तरार्ध का विवेचन

इस प्रकार से गाथा के पूर्वार्ध मे मगलमय प्रभु महावीर आदि को वदना करके ग्रथकार ने उत्तरार्ध मे ग्रथ के वर्ण्यविषय आदि का उल्लेख किया है कि ग्रथ मे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के बध, सक्रम आदि के कारणभूत बधन आदि आठ करणो (आत्मपरिणामो) एव कर्मो की उदय और सत्ता अवस्थाओ का वर्णन करूगा ।[2]

आठ करणो के नाम, उदय और सत्ता के लक्षण आदि का वर्णन यथाप्रसग आगे किया जायेगा । लेकिन उसके पूर्व आठ कर्मो का स्वरूप जानना उपयोगी होने से भेद-प्रभेद सहित उनकी व्याख्या करते है ।

---

१ अतएव च भगवान् प्रेक्षावता प्रणामार्हं । —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

२ प्रतिपादयिष्यामि कर्माष्टकस्य बन्धसक्रमादिहेतुभूत करणाष्टक उदयसत्ते च। —कर्मप्र, मलय टी, पृ १

आठ कर्मों के नाम और उनके लक्षण

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र ८ और अन्तराय नाम वाली कर्म की ये आठ मूल-प्रकृतिया है।[1] जिनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है–

१. ज्ञानावरण—सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञान, तदाव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेति ज्ञानावरण—सामान्यविशेषधर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला बोध ज्ञान कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त-आच्छादित किया जाता है, उसे ज्ञानावरण कहते है।

२. दर्शनावरण—सामान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शन, तदाव्रियतेऽनेनेति दर्शनावरण—वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला बोध दर्शन कहलाता है, वह जिसके द्वारा आवृत्त किया जाये, उसे दर्शनावरण कहते है।

३ वेदनीय—वेद्यते आह्लादादिरूपेण यत्तद्वेदनीय—आह्लाद आदि (सुख-दुख आदि) रूप से जो वेदन किया जाये, उसे वेदनीय कर्म कहते है।

यद्यपि सभी कर्म वेदन किये जाते है, तथापि पकजादि पदो के समान 'वेदनीय' यह पद रूढिविषयक है। अत साता और असाता रूप ही कर्म वेदनीय कहा जाता है, शेष कर्म नही।

४. मोहनीय[2]—मोहयति सदसद्विवेकविकल करोत्यात्मानमिति मोहनीय—जो आत्मा को मोहित करे अर्थात् सत्-असत् के विवेक से रहित कर दे, उसे मोहनीय कर्म कहते है।

५. आयु[3]—एत्यागच्छति प्रतिबन्धकता गतिनिर्यियासोर्जन्तोरित्यायु, यद्वा समन्तादेति गच्छति भवान्तरसक्रान्तौ जन्तूना विपाकोदयमित्यायु—जो गति से निकलने के इच्छुक जन्तु को प्रतिबन्धकपने (रुकावटपने) को प्राप्त होता है, अर्थात गति मे से नही निकलने देता है, उसे आयुकर्म कहते है। अथवा भवान्तर मे सक्रमण करने पर भी जो जीवो को सब ओर से विपाकोदय को प्राप्त हो, उसे आयुकर्म कहते है।

६ नाम—नामयति गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम—जो गति, जाति आदि पर्यायो के अनुभव कराने के प्रति जीव को नमावे अर्थात् अनुकूल करे, उसे नामकर्म कहते है।

७ गोत्र—गूयते शब्द्यते उच्चावचै शब्दैर्यत्तद्गोत्र उच्चनीचकुलोत्पत्त्यभिव्यंग्यः पर्यायविशेष, तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्र—जो उच्च-नीच शब्दो के द्वारा उच्च और नीच कुल मे उत्पत्ति रूप पर्याय विशेष को व्यक्त करे, उसे गोत्र कहते है। इस प्रकार के विपाक को वेदन कराने वाला कर्म भी गोत्र कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा उच्च और नीच शब्दो से कहा जाये, उसे गोत्रकर्म कहते है।

---

१ (क) प्रथम कर्मग्रथ गा ३, (ख) प्रज्ञापना पद २१/१/२२८ (ग) उत्तरा ३३/२-३, (घ) पचसग्रह ११९।

२ मुह्, मोहे धातु से 'बृद्बहुल' (सिद्ध हेम ५/१/१०/२) इस सूत्र द्वारा कर्ता के अर्थ मे अनीय प्रत्यय लगाने से मोहनीय शब्द बना है।

३ गत्यर्थक इण् धातु से औणादिक उस् प्रत्यय किया गया है।

८ अन्तराय—जीव दानादिक चान्तरा व्यवधानापादनायेति गच्छतीत्यन्तराय—जो जीव को ज्ञानादिक की प्राप्ति म अन्तर अर्थात् व्यवधान प्राप्त (आपादन) करने के लिये आता है, उसे अन्तराय कर्म कहते है ।

इन आठो कर्मो की यथाक्रम मे पाच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाच उत्तर प्रकृतिया है ।[1]

ज्ञानावरण कर्म की उत्तरप्रकृतिया

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल ज्ञानावरण के भेद मे ज्ञानावरण कर्म की पाच प्रकृतिया है । मति, श्रुत आदि का स्वरूप सुव्यक्त (अति स्पष्ट) है ।[2]

दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतिया

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि के भेद से दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तरप्रकृतिया है ।[3]

१ चक्षुषा दर्शन चक्षुर्दर्शन, तदावरण चक्षुर्दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन को चक्षुदर्शन कहते है और उसका आवरण करने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है ।

२ शेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शन, तदावरणमचक्षुर्दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रियो और मन के द्वारा होनेवाला दर्शन अचक्षुदर्शन कहलाता है और उसका आवरण करने वाला कर्म अचक्षदर्शनावरण है ।

---

१ (क) पचसग्रह १२०, (ख) तत्वार्थसूत्र ८/६ । यद्यपि नामकर्म की समस्त उत्तर प्रकृतियो की सख्या तेरानवै या एक सौ तीन है। लेकिन यहा १४ पिंडप्रकृति, ८ प्रत्येक प्रकृति, १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक प्रकृतियो को मिलाकर बयालीस प्रकृतियो का सकेत किया है । पिंडप्रकृतियो के अवान्तर भेदो का ग्रहण नही किया है। तेरानवै या एक सौ तीन प्रकृति होने का स्पष्टीकरण यथास्थान आगे किया जा रहा है।

२ मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवलज्ञान, ये ज्ञान के पाच भेद है । जिनके लक्षण इस प्रकार है—मन और इन्द्रिया की सहायता से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते है । (२) शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमे हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है। (३) मन और इन्द्रियो की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त द्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते है। (४) मन और इन्द्रियो की अपेक्षा न रखते हुए मन के चिन्तनीय पर्यायो को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मन पर्यायज्ञान कहते है । जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है तब 'चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य मे प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतिया धारण करता है, वे ही आकृतिया मन की पर्याय है। (५) सम्पूर्ण द्रव्यो को उनकी त्रिकाल मे होने वाली समस्त पर्यायो सहित इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा के द्वारा जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते है । यह ज्ञान रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेयो को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति वाला है ।

इन ज्ञानो को आच्छादित करने वाले कर्मो के क्रमश मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये पाच भेद है। मतिज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण कहते है । इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि शेष ज्ञानावरणो के लक्षण भी समझ लेना चाहिये।

३ पचसग्रह १२२

३ अवधिरेव दर्शनमवधिदर्शनं, तदावरणमवधिदर्शनावरण---अवधिज्ञान के पूर्व होने वाला दर्शन अवधिदर्शन कहलाता है और उसका आवरण करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण है ।

४ केवलमेव दर्शनं केवलदर्शन, तदावरण केवलदर्शनावरण---केवलज्ञान के साथ होने वाले दर्शन (सामान्यबोध) को केवलदर्शन कहते है और उसका आवरण करने वाला कर्म केवल-दर्शनावरण कहलाता है ।

५ नियत द्राति अविस्पष्टतया गच्छति चैतन्य यस्या स्वापावस्थाया सा निद्रा---शयन की जिस अवस्था मे चैतन्य अविस्पष्ट रूप को प्राप्त हो, उसे निद्रा कहते है । इस निद्रा वाले जीवो को चुटकी बजाने मात्र से जगाया जा सकता है ।

६ निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा---निद्रा मे भी अतिशायिनी (अधिक गहरी नींद सुलाने वाली) निद्रा को निद्रा-निद्रा कहते है । यहाँ मध्यमपदलोपी समास है।[1] इस निद्रा मे चैतन्य अत्यन्त अस्फुटीभूत हो जाता है । इस निद्रा वाला जीव बहुत प्रयत्नो के बाद प्रबोध को प्राप्त होता है ।

७ उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति घूर्णते यस्या स्वापावस्थाया सा प्रचला---जिस निद्रा-दशा मे बैठा या खडा हुआ जीव झूमने लगता है, उसे प्रचला कहते है ।

८ प्रचलातोऽतिशायिनी (प्रचला) प्रचलाप्रचला---प्रचला से भी अतिशायिनी प्रचला को प्रचला-प्रचला कहते है । यह निद्रा गमन आदि करते हुए भी जीव के उदय मे आ जाती है, इसीलिए इसे प्रचला से भी अधिक अतिशायिनी वाला कहा है ।

९ स्त्याना पिण्डीभूता ऋद्धिरात्मशक्तिरूपा यस्या स्वापावस्थाया सा स्त्यानर्द्धि---जिस शयनावस्था मे आत्मा की शक्ति रूप ऋद्धि स्त्यान अर्थात् पिंडीभूत (एकत्रित) हो जाये, उसे स्त्यानर्द्धि[2] कहते है । यदि प्रथम सहनन (वज्रऋषभनाराच सहनन) वाले को इसका उदय हो तो अर्ध-चक्री (वासुदेव) के बल से आधे बल के बराबर शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

दर्शनावरण कर्म की ये नौ ही प्रकृतिया प्राप्त हुई दर्शनलब्धि की नाशक होने से और अप्राप्त दर्शनलब्धि की प्रतिबधक होने से दर्शनावरण कही जाती है ।

---

१ निद्रा-निद्रा मे 'अतिशायिनी' इस मध्यम पद का लोप होने से यह मध्यम पदलोपी समासपद है । इसी प्रकार प्रचला-प्रचला मे भी 'अतिशायिनी' इस मध्यम पद का लोप समझना चाहिये ।

२ स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिसका निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है---
जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था मे विशेष बल प्रगट हो जाये । (स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भाव सा स्त्यानगृद्धि) अथवा जिस निद्रा मे दिन मे चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकाक्षा का एकत्रीकरण हो जाये, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा (स्त्याना सघातीभूतागृद्धिर्दिनचिन्तितार्थसाधनविषयाऽभिकाक्षा यस्या सा स्त्यानगृद्धि) कहते है। अथवा जिसके उदय मे आत्मा स्वप्न (शयनावस्था) मे रौद्र बहुकर्म करती है, उसे स्त्यानगृद्धि कहते है । स्त्यायति धातु के अनेक अर्थ है, उनमे से यहा स्त्यान का अर्थ स्वप्न और गृद्धि का दीप्ति अर्थ लिया है (स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्र बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धि) ।

वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतिया

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृति है—सात और असात ।

यदुदयादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादलक्षण सातं वेद्यते तत्सातवेदनीय, तद्विपरीतमसातवेदनीय—जिसके उदय से आरोग्य, विषयोपभोग आदि से उत्पन्न आह्लादादि रूप साता का वेदन हो, वह सातवेदनीय है और इसके विपरीत असातवेदनीय कहलाता है ।

मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतिया

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, ये अट्ठाईस मोहनीय कर्म की प्रकृतिया है ।[1]

मिथ्यात्व—यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धान तन्मिथ्यात्व—जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धान नही होता है, वह मिथ्यात्व है ।

सम्यग्मिथ्यात्व—यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्व न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति तत्सम्यग्मिथ्यात्व—जिसके उदय से जीव जिनप्रणीत तत्त्वो का सम्यक् प्रकार श्रद्धान नही करता है और न ही निन्दा करता है, वैसे ही अन्य मतो को समझता है, अर्थात् वीतरागी और सरागी एव उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है, वह सम्यग्मिथ्यात्व कर्म है ।

सम्यक्त्व—यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्व सम्यक् श्रद्धत्ते तत्सम्यक्त्व—जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व का जीव सम्यक् प्रकार श्रद्धान करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म है ।[2]

इन तीनो प्रकृतियो को दर्शनमोहनीय कहते है ।

कषाय—कषस्य ससारस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषाया—कष् अर्थात् ससार की आय यानी लाभ जिनसे हो, वे कषाय कहलाती है ।[3]

कषाय चार प्रकार की है—क्रोध, मान, माया और लोभ । ये प्रत्येक कषाय अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार की है । इस प्रकार

---

१ पचसग्रह १२३
कर्मविचारणा के प्रसग मे मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतिया मानने का विधान उदय और सत्ता की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु बधापेक्षा छब्बीस भेद होते है। क्योकि दर्शनमोहनीय कर्मबध की अपेक्षा मिथ्यात्व रूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामो के द्वारा उसके शुद्ध और अर्धशुद्ध और अशुद्ध, यह तीन रूप हो जाते है। जो क्रमश सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते है और इन्ही रूपो मे अपना फल वेदन कराते है।

२ यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व मे तो बाधा नही पहुचाता है, परन्तु इसके उदय रहने पर औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नही हो पाता है ।

३ शास्त्रो मे कषाय शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, जैसे—

कम्म कस भवो वा कसमाओ सि जओ कसाया ते ।
कम्ममाययति व जओ गमयति कस कसायत्ति ॥

कष् अर्थात् कर्म अथवा भव, उनकी आय यानी लाभ जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा कर्म या ससार जिससे आये, वह कषाय अथवा जिसके होने पर जीव कर्म अथवा ससार प्राप्त करे, उसे कषाय कहते है ।
—विशेषा भा, गा १२२७

कषायो के सोलह भेद होते है । इनमे अनन्तं ससारमनुवध्नन्तीत्येवशीला अनन्तानुवधिन —जो कषाय अनन्त ससार को वाधने के स्वभाव वाली है, उन्हे अनन्तानुवधी कहते है । इनका 'सयोजना' यह दूसरा भी नाम है । जिनके द्वारा जीव अनन्त भवो के साथ सयुक्त अर्थात् सवद्ध किये जाते है, उन्हे सयोजना कहते है । यह सयोजना शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—सयोज्यन्ते सवध्यन्ते-ऽनन्तैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते सयोजना इति व्युत्पत्ते । जिनके उदय म स्वल्प भी प्रत्याख्यान न हो सके, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती है । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यान येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्याना । सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान (त्याग, सयम) जिनके द्वारा आवृत्त किया जाये, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय है—प्रत्याख्यान सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणा । परीषहो और उपसर्गो के आने पर जो चारित्रधारक साधु को भी 'स' अर्थात् कुछ जलाती रहती है (वीतरागदशा म वाधा डालती है), वे सज्वलन कषाय कहलाती है—परीषहोपसर्गनिपाते सति चारित्रिणमपि स ईषज्ज्वलयन्तीति सज्वलनाः ।[1]

नोकषाय—इस पद मे 'नो' शब्द साहचर्य के अर्थ मे है । इसलिये इस पद का यह अर्थ होता है कि जो कषायो के साथ सहचारी रूप से, सहवर्ती रूप से रहे, वे नोकषाय कहलाती है—नोकषाया इत्यत्र नोशब्दः साहचर्ये, तत कषायै सहचारिण सहवर्तिनो ये ते नोकषाया. ।

प्रश्न—नोकषाये किन कषायो के साथ सहचारी रूप से रहती है ?

उत्तर—आदि की वारह कषायो (अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्को) के साथ सहचारी रूप से रहती है । क्योकि आदि की वारह कषायो के क्षय हो जाने पर फिर नोकषाये नही रहती है । क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षपक जीव की उन वारह कषायो के क्षय होने के अनन्तर ही इन हास्यादि नोकषायो का क्षपण करने के लिये प्रवृत्ति होती है । अथवा सम्यक् प्रकार अर्थात् प्रवल रूप से उदय को प्राप्त ये नोकषाये अवश्य ही अनन्तानुवधी क्रोधादि वारह कषायो को प्रदीप्त करती है । इसलिये ये कषायसहचारी कहलाती है ।[2] कहा भी है—

कषायसहवर्त्तित्वात्कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता ॥

---

१. मूल रूप मे क्रोध, मान, माया और लोभ, ये कषाय के चार भेद हैं । स्वभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना क्रोध है । गर्व, अभिमान, झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते है । कपट भाव अर्थात् विचार और प्रवृत्ति मे एकरूपता का अभाव माया और ममता परिणामो को लोभ कहते है ।

इन कषायो के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते है जो क्रमश अनन्तानुवधी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) और सज्वलन (मद स्थिति) कहलाते हैं ।

अनन्तानुवधी कषायें सम्यग्दर्शन का उपघात करती हैं । इनके उदय मे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता है और पूर्वोत्पन्न भी नष्ट हो जाता है । अप्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय से आशिक त्यागरूप परिणाम ही नही होते हैं । प्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय रहने पर एकदेश त्यागरूप श्रावकाचार के पालन करने मे बाधा नही आती है, किन्तु सर्वत्याग रूप श्रमणधर्म का पालन नही हो पाता है । सज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति नही होती है । अर्थात् यथातथ्यरूप से सर्वविरति चारित्र पालन करने मे रुकावट आती रहती है ।

२ इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये ।

वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियां

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृति है—सात और असात ।

यदुदयादारोग्यविषयोपभोगादिजनितमाह्लादलक्षण सात वेद्यते तत्सातवेदनीय, तद्विपरीतमसातवेदनीय—जिसके उदय से आरोग्य, विषयोपभोग आदि से उत्पन्न आह्लादादि रूप साता का वेदन हो, वह सातवेदनीय है और इसके विपरीत असातवेदनीय कहलाता है ।

मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतिया

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, ये अट्ठाईस मोहनीय कर्म की प्रकृतिया है ।[1]

मिथ्यात्व—यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धान तन्मिथ्यात्व—जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धान नही होता है, वह मिथ्यात्व है ।

सम्यग्मिथ्यात्व—यदुदयाज्जिनप्रणीततत्त्व न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति तत्सम्यग्मिथ्यात्व—जिसके उदय से जीव जिनप्रणीत तत्त्वो का सम्यक् प्रकार श्रद्धान नही करता है और न ही निन्दा करता है, वैसे ही अन्य मतो को समझता है, अर्थात् वीतरागी और सरागी एव उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है, वह सम्यग्मिथ्यात्व कर्म है ।

सम्यक्त्व—यदुदयवशाज्जिनप्रणीततत्त्व सम्यक् श्रद्धत्ते तत्सम्यक्त्व—जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व का जीव सम्यक् प्रकार श्रद्धान करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म है ।[2]

इन तीनो प्रकृतियो को दर्शनमोहनीय कहते है ।

कषाय—कषस्य ससारस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषाया—कष् अर्थात् ससार की आय यानी लाभ जिनसे हो, वे कषाय कहलाती है ।[3]

कषाय चार प्रकार की है—क्रोध, मान, माया और लोभ । ये प्रत्येक कषाय अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार की है । इस प्रकार

---

१ पचसग्रह १२३

कर्मविचारणा के प्रसग मे मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतिया मानने का विधान उदय और सत्ता की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु बधापेक्षा छब्बीस भेद होते हैं। क्योकि दर्शनमोहनीय कर्मबध की अपेक्षा मिथ्यात्व रूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामो के द्वारा उसके शुद्ध और अर्धशुद्ध और अशुद्ध, यह तीन रूप हो जाते है। जो क्रमश सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय कहलाते हैं और इन्ही रूपो मे अपना फल वेदन कराते है।

२ यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व मे तो बाधा नही पहुचाता है, परन्तु इसके उदय रहने पर औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नही हो पाता है ।

३ शास्त्रो मे कषाय शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है, जैसे—

कम्म कस भवो वा कसमाओ सि जओ कसाया ते।
कसमाययति व जओ गमयति कस कसायत्ति ॥

कष् अर्थात् कर्म अथवा भव, उनकी आय यानी लाभ जिसमे हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा कर्म या ससार जिसमे आये, वह कषाय अथवा जिसके होने पर जीव कर्म अथवा ससार प्राप्त करे, उसे कषाय कहते हैं।

—विशेषा भा, गा १२२७

कषायो के सोलह भेद होते है। इनमे अनन्त ससारमनुबध्नन्तीत्येवशीला अनन्तानुबंधिन —जो कषाय अनन्त ससार को बाधने के स्वभाव वाली है, उन्हे अनन्तानुबधी कहते है। इनका 'सयोजना' यह दूसरा भी नाम है। जिनके द्वारा जीव अनन्त भवो के साथ सयुक्त अर्थात् सबद्ध किये जाते है, उन्हे सयोजना कहते है। यह सयोजना शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—**सयोज्यन्ते सबध्यन्तेऽनन्तैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते सयोजना इति व्युत्पत्ते**। जिनके उदय मे स्वल्प भी प्रत्याख्यान न हो सके, वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती है। **न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यान येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्याना**। सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान (त्याग, सयम) जिनके द्वारा आवृत्त किया जाये, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय है—**प्रत्याख्यान सर्वविरतिरूपमाव्रियते यैस्ते प्रत्याख्यानावरणा**। परीषहो और उपसर्गो के आने पर जो चारित्रधारक साधु को भी 'स' अर्थात् कुछ जलाती रहती है (वीतरागदशा मे बाधा डालती है), वे सज्वलन कषाय कहलाती है—**परीषहोपसर्गनिपाते सति चारित्रिणमपि स ईषज्ज्वलयन्तीति संज्वलना**।[1]

नोकषाय—इस पद मे 'नो' शब्द साहचर्य के अर्थ मे है। इसलिये इस पद का यह अर्थ होता है कि जो कषायो के साथ सहचारी रूप से, सहवर्ती रूप से रहे, वे नोकषाय कहलाती है—**नोकषाया इत्यत्र नोशब्द साहचर्ये, तत कषायै सहचारिण सहवर्तिनो ये ते नोकषाया**।

प्रश्न—नोकषाये किन कषायो के साथ सहचारी रूप से रहती है?

उत्तर—आदि की बारह कषायो (अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्को) के साथ सहचारी रूप से रहती है। क्योकि आदि की बारह कषायो के क्षय हो जाने पर फिर नोकषाये नही रहती है। क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षपक **जीव की** उन बारह कषायो के क्षय होने के अनन्तर ही इन हास्यादि **नोकषायो** का क्षपण करने के लिये प्रवृत्ति होती है। अथवा सम्यक् प्रकार अर्थात् प्रबल रूप से उदय को प्राप्त ये नोकषाये अवश्य ही अनन्तानुबधी क्रोधादि बारह कषायो को प्रदीप्त करती है। इसलिये ये कषायसहचारी कहलाती है।[2] कहा भी है—

कषायसहवर्तित्वात्कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

---

१. मूल रूप मे क्रोध, मान, माया और लोभ, ये कषाय के चार भेद है। स्वभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना क्रोध है। गर्व, अभिमान, झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं। कपट भाव अर्थात् विचार और प्रवृत्ति मे एकरूपता का अभाव माया और ममता परिणामो को लोभ कहते हैं।

इन कषायो के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते है जो क्रमश अनन्तानुबधी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) और सज्वलन (मद स्थिति) कहलाते हैं।

अनन्तानुबधी कषायें सम्यग्दर्शन का उपघात करती है। इनके उदय मे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता है और पूर्वोत्पन्न भी नष्ट हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय से आशिक त्यागरूप परिणाम ही नही होते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय रहने पर एकदेश त्यागरूप श्रावकाचार के पालन करने मे बाधा नही आती है, किन्तु सर्वत्याग रूप श्रमणधर्म का पालन नही हो पाता है। सज्वलन कषाय के उदय मे यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति नही होती है। अर्थात् यथातथ्यरूप से सर्वविरति चारित्र पालन करने मे रुकावट आती रहती है।

२ इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

अर्थात् कपायो के साथ रहने से अथवा कपायो को प्रेरणा देने स भी हास्यादि नौ प्रकृतियो को नोकपाय कहा गया है।

इन नव नोकषायो के नाम है[1]—वेदत्रिक और हास्यादिपट्क। इनम से वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद है। वेदत्रिक के लक्षण इस प्रकार है—

१ **यदुदये स्त्रिया पुस्यभिलाष पित्तोदये मधुराभिलाषवत्स स्त्रीवेद**—जिसके उदय होने पर स्त्री की पुरुप मे अभिलापा उत्पन्न हो, वह स्त्रीवेद है। जेसे पित्त के उदय होने पर मधुररस की अभिलाषा होती है।

२ **यदुदयात्पुस स्त्रियामभिलाष श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत्स पुरुषवेद.**—जिसके उदय से पुरुप की स्त्री मे अभिलाषा हो, वह पुरुपवेद है। जैसे—श्लेष्म (कफ) के उदय मे आम्लरस की अभिलापा होती है।

३. **यदुदयात्स्त्रीपुसयोरुपर्यभिलाष पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवत्स नपुसकवेद**—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनो के ऊपर अभिलापा हो, वह नपुसकवेद है। जेसे पित्त और कफ का उदय होने पर खटमिट्टे रस की अभिलापा होती है।

हास्यादिषट्क हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप है। हास्यादि इन छहो का स्वरूप इस प्रकार है—

१. **यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्त वा हसति तद्धास्यमोहनीय**—जिसके उदय से निमित्त मिलने पर या निमित्त नही मिलने पर भी जीव हसता है, वह हास्यमोहनीय है।

२ **यदुदयाद्बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु प्रीतिस्तद्रतिमोहनीय**—जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओ मे प्रीति हो, वह रतिमोहनीय है।

३ **यदुदयात्तेष्वप्रीतिस्तदरतिमोहनीय**—जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओ मे अप्रीति हो, वह अरतिमोहनीय है।

शका—बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओ पर जो प्रीति और अप्रीति होती है, वह साता और असाता रूप ही है। इस कारण वेदनीयकर्म के द्वारा इनकी अन्यथासिद्धि है, तो फिर रति और अरति मोहनीय को पृथक् रूप से क्यो कहा है?

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३३/११ मे जो—'सत्तविह णवविह वा कम्म च णोकसायज' नोकपाय मोहनीय के सात या नौ भेदो का सकेत किया है, उसका कारण यह है कि जब वेद के स्त्री, पुरुप और नपुसक ये तीन भेद नही करके सामान्य से वेद को गिनते है तब हास्यादि छह और वेद, कुल मिलाकर सात भेद होते है और जब वेद के स्त्रीवेद, पुरुपवेद और नपुसकवेद, ये तीन भेद पृथक्-पृथक् लिये जाते है तो नौ भेद होते हैं। सामान्यतया नोकपाय मोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध है। अत. यहा भी नौ भेदो के नाम गिनाये गये है।

समाधान—ऐसी शका नही करनी चाहिये। क्योंकि वेदनीयकर्म के द्वारा प्राप्त सुख और दु ख के कारणो के मिलने पर भी चित्त को अन्यथाभाव रूप मे परिणत करा देना, उन रति और अरति मोहनीय कर्मो का व्यापार है।[1]

४ यदुदयात् प्रियविप्रयोगादावाक्रन्दति भूपीठे लुठति दीर्घं नि श्वसिति तच्छोकमोहनीय—जिसके उदय से जीव प्रिय वस्तु के वियोगादि होने पर आक्रन्दन करता है, भूतल पर लोटता है और दीर्घ नि श्वास छोडता है, वह शोकमोहनीय है।

५ यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा स्वसकल्पतो बिभेति तद्भयमोहनीय—जिसके उदय से सनिमित्त या अनिमित्त अपने सकल्प से जीव डरता है, वह भयमोहनीय है।

६ यदुदयाच्छुभमशुभ वा वस्तु जुगुप्सते तद्जुगुप्सामोहनीय—जिसके उदय से जीव शुभ या अशुभ वस्तु से ग्लानि करता है, वह जुगुप्सा मोहनीय है।[2]

सोलह कषायो और नव नोकषायो की चारित्रमोह सज्ञा है।

आयुकर्म की उत्तरप्रकृतिया

देवायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और नरकायु, ये चार आयुकर्म की उत्तर प्रकृतिया हैं।[3]

नामकर्म की उत्तरप्रकृतिया

चौदह पिण्ड प्रकृतिया, प्रतिपक्ष रहित आठ प्रत्येक प्रकृतिया, त्रसादि दस तथा इनकी प्रतिपक्षी (स्थावरादि) दस, कुल बीस प्रकृतिया, इस प्रकार सब मिलकर नामकर्म की बयालीस प्रकृतिया हैं। इनमे चौदह पिण्डप्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—गति, जाति, शरीर, अगोपाग, बधन, सघात, सहनन, सस्थान, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति।[4] अवान्तर भेद वाली होने से

१ साता और असाता वेदनीयकर्म उपस्थित सुख दु ख के साधनो, कारणो, सामग्रियो द्वारा अपना विपाक-वेदन कराते हैं। लेकिन रति-अरति मोहनीय कर्म जीव के भाव है, जो वेदनीयकर्मजन्य सामग्री के उपलब्ध रहने या न रहने पर उसके प्रति प्रीति-अप्रीति का भाव पैदा करते हैं। इसीलिये रति-अरति मोहनीय को वेदनीयकर्म से पृथक् कहा गया है। साराश यह है कि वेदनीयकर्म प्रीति-अप्रीति की सामग्री उपस्थित करने मे निमित्तकारण हो सकता है, उपादानकारण नही। किन्तु उन कारणो के रहते या न रहते जीव मे जो सुख-दु ख, प्रीति-अप्रीति का भाव पैदा होता है, उसका कारण रति-अरति मोहनीय है। इस दृष्टिकोण की अपेक्षा से ही रति-अरति मोहनीय को वेदनीयकर्म से पृथक् कहा है।

२ हास्यादिषट्क के लक्षणो मे कही पर तो सनिमित्त और अनिमित्त शब्द का प्रयोग कर दिया गया है और कही पर नही, लेकिन सर्वत्र उक्त दोनो शब्दो का प्रयोग समझना चाहिये और इन दोनो शब्दो का आशय यह है कि सनिमित्त कारणवश अर्थात् तात्कालिक बाह्य पदार्थ कारण हो तो सनिमित्त और मात्र मानसिक विचार ही निमित्त हो तो अनिमित्त—अकारण, बिना कारण के ऐसा आशय विवक्षित है।

३ जिस कर्म के उदय से जीव को नरकगति का जीवन बिताना पडता है, उसे नरकायु कहते हैं। इसी प्रकार तिर्यच, मनुष्य और देव आयुओ के, लक्षण समझ लेना चाहिये।

४ नामकर्म की इन गति आदि चौदह पिंडप्रकृतियो के क्रमश चार, पाच, पाच, तीन, पाच, पाच, छह, छह, पाच, दो, पाच, आठ, चार और दो अवान्तर भेद होते है। इन सब भेदो को जोडने से कुल पैंसठ भेद हो जाते है।

गइयाईण उ कमसो चउ पण पण ति पण पच छच्छक्क।
पण दुग पणट्ठ चउ दुग इय उत्तरभेय पणसट्ठी॥

—प्रथम कर्मग्रंथ ३०

इन प्रकृतियो को पिण्डप्रकृतिया कहा गया है । इनके लक्षण और गर्भित अवान्तर भेदों के नाम इस प्रकार है—

१. **गति—गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैं प्राप्यत इति गति नारकत्वादिपर्यायपरिणति —** जो तथाविध (उस नाम वाले) कर्म की सहायता से जीवो द्वारा गम्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होती है, अथवा प्राप्त की जाती है, उसे गति कहते है । अर्थात् नारकत्व आदि पर्याय की परिणति होना गति कहलाती है । वह चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति । इन नारकादि के विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी उस नाम वाली गतिकर्म कहलाती है, अत वह भी चार प्रकार की है ।

२ **जाति—एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियादिशब्दप्रवृत्तिनिबन्धन तथाविधसमानपरिणतिलक्षण सामान्य जाति·**—एकेन्द्रिय आदि जीवो के लिये एकेन्द्रिय आदि शब्द की प्रवृत्ति के कारणभूत और उस प्रकार की समान परिणति लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते है और उसके विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी जाति कहलाती है ।

जाति नामकर्म को पृथक् मानने के सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यो का यह अभिप्राय है—द्रव्यरूप इन्द्रिया तो अगोपाग नामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म की सामर्थ्य से सिद्ध है और भावरूप इन्द्रिया स्पर्शन आदि इन्द्रियावरण कर्मो के क्षयोपशम की सामर्थ्य से सिद्ध होती है, क्योकि **'क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणीति वचनात्'** इन्द्रिया क्षायोपशमिक होती है—ऐसा आगमवचन है । किन्तु जो एकेन्द्रिय आदि शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त रूप सामान्य है, वह जाति से भिन्न अन्य प्रकृति के द्वारा साध्य न होने से जाति नामकर्म के निमित्त से होता है ।

शका—शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त से जाति की सिद्धि नही होती है। अन्यथा हरि आदि पद को प्रवृत्ति का निमित्त होने से हरित्व आदि रूप भी जाति सिद्ध होगी। अतएव एकेन्द्रिय आदि का व्यवहार उपाधिविषयक ही मानना चाहिए । तव जाति नामकर्म की आवश्यकता ही नही रहती है और यदि इस प्रकार एकेन्द्रिय आदि के व्यवहार से एकेन्द्रिय आदि जाति मानी जाती है, तव नारकत्वादि भी नारक आदि व्यवहार की निमित्तभूत पचेन्द्रियत्व आदि म व्याप्त जाति ही मानना चाहिये। ऐसी स्थिति मे गति नामकर्म की आवश्यकता नही रहती है।

समाधान—उक्त तर्क का समाधान यह है कि अपकृष्ट—अत्यल्प चैतन्य आदि के नियामक रूप से एकेन्द्रिय आदि जाति की सिद्धि होती है। वही एकेन्द्रिय आदि के व्यवहार का निमित्त है। अत लाघव से (अल्पअक्षरो मे, सक्षेप मे कथन करने की दृष्टि से) और एकेन्द्रिय आदि मे उत्पन्न होने का कारण होने से जाति नामकर्म की पृथक् सिद्धि होती है । नारकत्व आदि जाति रूप नही है । अन्यथा तिर्यञ्चत्व का पचेन्द्रियत्व आदि के साथ साकर्य हो जायेगा। किन्तु सुख-दुःख विशेष के

उपभोग का नियामक जो परिणामविशेष है और उसका जो कारण रूप है, उनसे गति नामकर्म की पृथक् सिद्धि होती है।[1]

जाति पाच प्रकार की हैं—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पचेन्द्रिय जाति। इसीलिये इनका विपाक-वेदन कराने वाला जाति नामकर्म भी पाच प्रकार का है।

३ शरीर—शीर्यत इति शरीरं—जो सडे-गले, बिखरे, उसे शरीर कहते हैं। शरीर के पाच भेद है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इसीलिये इन शरीरो के विपाक का वेदन कराने वाला शरीर नामकर्म भी पाच प्रकार का है।

यदुदयादौदारिकशरीरयोग्यान् पुद्गलानादायौदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सबन्धयति तदौदारिकशरीरनाम—जिसके उदय मे जीव औदारिक शरीर के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप मे परिणमाता है और परिणमा करके जीवप्रदेशो के साथ परस्पर प्रवेश रूप से सम्बन्ध कराता है, वह औदारिकशरीर नामकर्म है।

इसी प्रकार शेष शरीर नामकर्म के अर्थ (लक्षण) जान लेना चाहिये।

४ अगोपाग—शिर (मस्तक) आदि आठ अग होते है—**"सीसमुरोयरपिट्ठी दो बाहू ऊरुया य अट्ठगा"** शिर, उर (वक्षस्थल), उदर (पेट), पीठ, दो भुजाये और दो पैर। इन अगो के अवयवरूप जो अगुली आदि है, वे उपाग कहलाते है और इनके प्रत्यवयवभूत जो अगुली आदि की पर्व, रेखाये आदि, वे अगोपाग कहलाती है। इस प्रकार अग और उपाग के समुदाय को अगोपाग कहते है तथा अग, उपाग और अगोपाग का समुदाय भी अगोपाग कहलाता है। क्योकि व्याकरणशास्त्र के **'स्यादावसख्येय'** (सि ३/१/११९) इत्यादि सूत्र से एक शेष रहता है। इस प्रकार अगोपाग का निमित्तभूत कर्म भी अगोपाग कहलाता है—**तन्निमित्त कर्माङ्गोपाग**। वह तीन प्रकार का होता है—औदारिक-अगोपाग, वैक्रिय-अगोपाग और आहारक-अगोपाग।

यदुदयवशादौदारिकशरीरत्वेन परिणताना पुद्गलानामगोपागविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकोपागनाम—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप मे परिणत पुद्गलो की औदारिक शरीर के अग और उपाग के विभाग रूप से परिणति होती है, वह औदारिक-अगोपाग नामकर्म है। इसी प्रकार वैक्रिय-अगोपाग और आहारक-अगोपाग नामकर्म के भी लक्षण समझ लेना चाहिये।

---

१ जाति नामकर्म को पृथक् मानने के प्रसग मे उक्त समाधान के अतिरिक्त यह एक और दृष्टिकोण है—जाति नामकर्म जिस अव्यभिचारी सादृश्य से नारक आदि ससारी जीवो मे एकपने का जैसा बोध कराता है, वैसा गति नामकर्म से नही होता है। जाति नामकर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि भाव का नियामक कर्म है। अत यदि जाति नामकर्म पृथक् न माना जाये तो हाथी, घोडा, बैल, मनुष्य आदि पचेन्द्रिय जीव भी भ्रमर, मच्छर, इन्द्रगोप, वृक्ष आदि के आकार वाले और ये हाथी आदि के आकार के हो जायेगे। इस प्रकार प्रतिनियत सादृश्य और प्रतिनियत इन्द्रियो की व्यवस्था को बतलाने वाला जातिनामकर्म पृथक् सिद्ध होता है।

तैजस और कार्मण शरीर का आकार जीव के प्रदेशों के समान ही होता है, इसलिये उन दोनों शरीरों के (उस, उस नाम वाले) अगोपांग सम्भव नहीं हैं।

५ बन्धन—बध्यतेऽनेनेति बंधन, यदुदयादौदारिकादिपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमेकत्वमुपजायते काष्ठद्वयस्येव जतुसम्बन्धात्—जिसके द्वारा बांधा जाये, उसे बंधन कहते हैं। अतः जिस कर्म के उदय से जैसे—लाख के संबंध से दो काष्ठों का सम्बन्ध हो जाता है, वैसे ही औदारिक आदि शरीरों के पूर्वगृहीत और गृह्यमाण (वर्तमान में ग्रहण किये जा रहे) पुद्गलों का परस्पर एकत्व होता है, वह बन्धन नामकर्म है। औदारिकबन्धन आदि के भेद से बन्धन नामकर्म पांच प्रकार का है।

६ संघातन—संघात्यन्ते गृहीत्वा पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत्संघातन—जिसके द्वारा औदारिकादि शरीरों के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते हैं, वह संघातन नामकर्म है। औदारिकसंघातन आदि के भेद से यह कर्म भी पांच प्रकार का है।

शंका—इस संघातन कर्म का क्या व्यापार (कार्य) है? यदि पुद्गलों को एकत्रित करना मात्र इसका कार्य है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पुद्गलों का संघात तो पुद्गलों के ग्रहण मात्र से ही सिद्ध हो जाता है, उसमें संघातन नामकर्म का कोई उपयोग नहीं है। यदि यह कहा जाये कि औदारिक आदि शरीरों की रचना का अनुकरण करने वाला संघातविशेष इस कर्म का व्यापार है, ऐसा सम्प्रदाय का (जैनदर्शन अथवा कर्मसिद्धान्त का) मत माना जाये तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि तंतुओं के समुदाय को जैसे पट कहा जाता है, उसके समान औदारिक आदि वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न होने वाले पुद्गलसमुदाय को भी औदारिक शरीरादि में हेतु होने से संघातन के स्वरूप में किसी अधिक विशेष पद का आश्रय नहीं लिया गया है।

समाधान—आपका कथन सत्य है। प्रतिनियत प्रमाण रूप औदारिक आदि शरीरों की रचना के लिये संघातविशेष अवश्य आश्रय करने योग्य होता है। इसलिये उसके निमित्तभूत तारतम्य का भागी होने से संघातन नामकर्म की सिद्धि होती है, इसलिये सम्प्रदाय का अभिप्राय ही युक्तिसंगत है।[1]

७ संहनन—संहननं नामास्थिरचनाविशेष—हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं।[2] वह छह प्रकार का है—वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ वज्रं कीलिका, ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः ततश्च, द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयोः पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदिकीलिकाख्यवज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद्वज्रर्षभनाराचसंज्ञमाद्यं संहननं—वज्र नाम कीलिका का है परिवेष्टन

१ अतः शरीर की रचना के लिये प्रतिनियत योग्य पुद्गलों को सन्निहित करना; एक दूसरे के पास व्यवस्थित रूप में स्थानापन्न करना जिससे उन पुद्गलों की परस्पर में प्रदेशों के अनुप्रवेश से एकरूपता प्राप्त हो सके, यही उसका कार्य है। इसीलिये संघात नामकर्म पृथक् माना है। संघातन का अर्थ सामीप्य होना, सान्निध्य होना। पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का परस्पर बंधन तभी संभव है जब गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का पारस्परिक सामीप्य हो। अर्थात् दोनों एक दूसरे के निकट होंगे तभी बंधन होना सम्भव है।

२ औदारिक शरीर के अलावा अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियां नहीं होती है। अतः संहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है।

पट्ट को ऋषभ कहते है और दोनो ओर मे होने वाले मर्कटबन्ध को नाराच कहते है। अर्थात् दोनो ओर से मर्कटबध के द्वारा बधी हुई दो हड्डिया तीसरी 'पट्टाकृति' वाली हड्डी के द्वारा परिवेष्टित और उन तीनो हड्डियो को भेदन करने वाली वज्र सज्ञावाली कीलिका नाम की हड्डी जहाँ होती है, उसे वज्रऋषभनाराचसहनन कहते है।

२ यत्पुन. कीलिकारहित तदृषभनाराच द्वितीय—जो सहनन उपर्युक्त प्रकार वाले सहनन मे से कीलिकारहित होता है, वह ऋषभनाराचसहनन नामक दूसरा सहनन है।

३ यत्रास्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसज्ञ तृतीय—जहाँ दो हड्डियो मे केवल मर्कटबध ही होता है, वह नाराच नामक तीसरा सहनन है।

४ यत्र पुनरेकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वे च कीलिकाबन्धस्तदर्द्धनाराच चतुर्थ—जिसके एक पार्श्व (बाजू) मे मर्कटबन्ध हो और दूसरे पार्श्व मे कीलिका बध हो, वह अर्धनाराच नामक चौथा सहनन है।

५ यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकाख्यं पंचमं—जिसमे हड्डिया केवल कीलो से ही बधी होती हैं वह कीलिका नामक पाचवा सहनन है।

६ यत्र पुन· परस्परं पर्यन्तस्पर्शमात्रलक्षणा सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति नित्यमेव स्नेहाभ्यगादिरूपां सेवा प्रतीच्छन्ति वा तत्सेवार्त्ताख्य षष्ठ—जिसमे हड्डिया परस्पर पर्यन्तभाग मे स्पर्श करने मात्र लक्षण वाली सेवा (सबन्ध) को प्राप्त होती है, अथवा जो सहनन नित्य ही तेलमर्दन आदि रूप सेवा की इच्छा करता है, वह सेवार्त नामक छठा सहनन है।

उक्त छहो सहननो का कारणभूत सहनन नामकर्म भी छह प्रकार का है।

८ सस्थान—सस्थानमाकारविशेष, सगृहीतसघातितबद्धेष्वौदारिकादिपुद्गलेषु यदुदयाद् भवति तत्सस्थाननाम—आकारविशेष को सस्थान नाम कहते है, अत सग्रह किये गये, सघात रूप से बधे हुए औदारिक आदि पुद्गलो मे जिसके उदय से आकारविशेष होता है, वह सस्थान[1] नामकर्म है। वह समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुड के भेद से छह प्रकार का है।

१ यदुदयात्समचतुरस्र सस्थान स्यात्तत्समचतुरस्रसस्थाननाम—जिसके उदय से समान चतुष्कोण युक्त सस्थान (आकार) होता है, वह समचतुरस्रसस्थान नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य सस्थान नामकर्म के लक्षणो के लिये भी जानना चाहिये। जिस शरीर मे 'सम' अर्थात् सामुद्रिक शास्त्रोक्त प्रमाणरूप लक्षण अविसवादी चारो अस्र (कोण) होते हैं, अर्थात् जिस शरीर के अवयव समानरूप से चारो दिग्भाग से सयुक्त होते है, ऐसे आकार को समचतुरस्रसस्थान कहते है।

२ नाभेरुपरि सपूर्णप्रमाणत्वादधस्त्वतथात्वादुपरिसपूर्णप्रमाणाधोहीनन्यग्रोधवत्परिमडलत्व यस्य तन्न्यग्रोधपरिमडल—नाभि से ऊपर सपूर्ण प्रमाण वाले और नाभि से नीचे उससे विपरीत प्रमाण वाले आकार को न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान कहते है। न्यग्रोध वटवृक्ष का नाम है। जैसे वह

१. सहनन एव संस्थान की आकृतियो को परिशिष्ट मे देखिये।

तने मे ऊपर विशाल और नीचे हीन प्रमाण वाला होता है, उसके समान जो शरीर नाभि से नीचे हीन अग वाला और नाभि से ऊपर विशाल अग वाला होता है, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान जानना चाहिये ।

३ तीसरा सादि सस्थान है । यहाँ पर आदि का अर्थ उत्सेध (मूल) नाभि से नीचे का देहभाग ग्रहण किया गया है। अत जो इस प्रकार के आदि रूप नाभि से अधस्तन यथोक्त प्रमाण लक्षण वाले भाग के साथ रहे, उसे सादि कहते है । विशेषण की अन्यथानुपपत्ति से उक्त विशिष्ट अर्थ प्राप्त होता है ।

कुछ दूसरे आचार्य 'सादि' के स्थान पर 'साचि' ऐसा पाठ प्रयुक्त करते है । इस पाठ के अनुसार 'साचि' इस पद का सिद्धान्तवेत्ता आचार्य शाल्मली (सेमल) वृक्ष अर्थ करते है । जैसे शाल्मली वृक्ष का स्कन्ध, काड अतिपुष्ट होता है और ऊपर तदनुरूप महाविशालता नही होती है। अत उसके समान ही जिस सस्थान का अधोभाग तो परिपूर्ण हो, किन्तु उपरिम भाग परिपूर्ण न हो । साराश यह है कि जो सस्थान साचि (शाल्मली, सेमल) वृक्ष के जैसे आकार का हो, वह साचिसस्थान है ।

४ **यत्र शिरोग्रीव हस्तपादादिक च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेत उरउदरादि च मडभ तत्कुब्ज**--- जिस शरीर मे शिर, ग्रीवा, हाथ, पैर आदि अवयव तो यथोक्त प्रमाण वाले लक्षण से युक्त हो, किन्तु वक्षस्थल ओर उदर आदि कुबडयुक्त हो, वह कुब्जसस्थान है ।

५ **यत्र पुनरुदरादि प्रमाणलक्षणोपेत हस्तपादादिक च हीनं तद्वामन**—जिस शरीर मे वक्षस्थल, उदर आदि तो प्रमाण लक्षण से युक्त हो, किन्तु हाथ, पैर आदि हीनता युक्त हो, वह वामन-सस्थान है ।

६ **यत्र तु सर्वेऽप्यवयवा प्रमाणलक्षणपरिभ्रष्टास्तत् हुड**---जिस शरीर मे सभी अवयव प्रमाणलक्षण (प्रमाणोपेत) से रहित हो, वह हुडसस्थान कहलाता है ।

९ **वर्ण---वर्ण्यतेऽलक्रियते शरीरमनेनेति वर्ण** ---जिसके द्वारा शरीर अलकृत किया जाये, रगा जाये, उसे वर्ण कहते है। वह श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण के भेद से पाच प्रकार का है । अत शरीरो मे इन वर्णो को उत्पन्न करने का कारणभूत कर्म भी पाच प्रकार का होता है।

जिस कर्म के उदय से प्राणियो के शरीर मे श्वेत वर्ण उत्पन्न हो, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। जैसे---बगुला आदि का श्वेतवर्ण होता है—**यदुदयाज्जन्तूना शरीरे श्वेतवर्ण प्रादुर्भवेत् यथा** **तीना तच्छ्वेतवर्णनाम** । इसी प्रकार पीत आदि वर्णो के लक्षण भी जान लेना चाहिये ।

१० **गध---गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्ध**---नासिका के द्वारा जो सूघा जाये, वह गध कहलाता है । वह दो प्रकार का होता है—सुरभिगध और दुरभिगध । इन दोनो प्रकार की गधो का कारणभूत नामकर्म भी दो प्रकार का है । उनमे से—**यदुदयाज्जन्तूना शरीरेषु सुरभिगन्ध उपजायते यथा शतपत्रादीना तत्सुरभिगन्धनाम, एतद्विपरीत दुरभिगन्धनाम**---जिस कर्म के उदय मे

प्राणियो के शरीरो मे कमल आदि की सुरभिगध की तरह सुरभिगन्ध उत्पन्न होती है, वह सुरभिगध नामकर्म है, इसके विपरीत दुरभिगध नामकर्म जानना चाहिये ।

११. रस—रस्यते आस्वाद्यते इति रस—जिसका स्वाद लिया जाये, उसे रस कहते हैं । यह तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर के भेद से पाच प्रकार का है और इनकी उत्पत्ति का कारणभूत नामकर्म भी पाच प्रकार का है । उनमे से—**यदुदयाज्जन्तूना शरीरेषु तिक्तो रसो भवति यथा मरिचादीना तत्तिक्तरसनाम**—जिसके उदय से प्राणियो के शरीरो मे मिर्च आदि के समान तिक्त (चिरपरा) रस उत्पन्न होता है, वह तिक्तरस नामकर्म है । इसी प्रकार शेष रस नामकर्मों का भी अर्थ जानना चाहिये ।

१२ स्पर्श—स्पृश्यते इति स्पर्श.—जो छुआ जाये वह स्पर्श कहलाता है । वह कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का है । इन स्पर्श का कारणभूत नामकर्म भी आठ भेद वाला है । उनमे से—**यदुदयाज्जन्तूनां शरीरेषु पाषाणादीनामिव कार्कश्य भवति तत्कर्कशस्पर्शनाम**—जिसके उदय से प्राणियो के शरीरो मे पाषाण आदि के समान कर्कशता उत्पन्न होती है, वह कर्कश नामकर्म है । इसी प्रकार शेष स्पर्श नामकर्मो का भी अर्थ जानना चाहिये ।

१३ आनुपूर्वी—विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थान गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाट्यानुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी—विग्रह से भवान्तर के उत्पत्तिस्थान को जाते हुए जीव की श्रेणी (आकाश प्रदेशपक्ति) के अनुसार नियत रूप से जो गमन परिपाटी होती है, उसे आनुपूर्वी कहते है और इस प्रकार के विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी आनुपूर्वी कहलाती है। वह चार प्रकार की है– नरकगत्यानपूर्वी, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ।

१४ विहायोगति[1]—विहायसा गतिर्विहायोगति—आकाश द्वारा होने वाली गति विहायोगति कहलाती है । प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से वह दो प्रकार की है । हस, हाथी और बैल आदि की प्रशस्त गति होती है और गर्दभ, ऊट, भैसा आदि की अप्रशस्त गति होती है और इसी प्रकार की विपाकवेद्य विहायोगति कर्मप्रकृति भी दो प्रकार की है ।

यह पिडप्रकृतियो का लाक्षणिक अर्थ है, इनके पैसठ अवान्तर भेद होते है। अब क्रमप्राप्त प्रत्येक प्रकृतियो का कथन करते है ।

अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतिया

सप्रतिपक्ष और अप्रतिपक्ष के भेद से प्रत्येक प्रकृतिया दो प्रकार की है । इनमे से अल्पवक्तव्य होने से अप्रतिपक्ष प्रकृतियो का कथन करते है । जो अगुरुलघु, उपघात, पराघात,

१ विहायोगति मे विहायस् विशेषण पुनरुक्ति दोष निवारण हेतु दिया गया है । सिर्फ गति शब्द रखने पर नामकर्म की पहली प्रकृति का नाम भी गति होने से पुनरुक्ति दोष हो सकता था। अत यहा जीव की चाल अर्थ में गति शब्द को समझने के लिये विहायस् शब्द है, न कि देवगति, मनुष्यगति आदि के अर्थ मे।

उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण और तीर्थंकर नामकर्म के भेद से आठ प्रकार की है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१ **यदुदयात्प्राणिना शरीराणि न गुरूणि न लघूनि नापि गुरुलघूनि किंत्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनाम**—जिसके उदय मे प्राणियो के शरीर न तो भारी हो और न लघु हो और न गुरुलघु ही हो किन्तु यथायोग्य अगुरुलघु परिणाम से परिणत होते हैं, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते है।

२ **यदुदयात्स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वागलवृन्दलबकचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते स्वयंकृतोद्बन्धनभैरवप्रपातादिभिर्वा तदुपघातनाम**—जिसके उदय से प्रतिजिह्वा (पडजीभ), गलवन्द, लवक, चौरदन्त आदि के द्वारा प्राणी उपघात को प्राप्त हो, अथवा स्वयकृत बधन, (फासी), भैरवप्रपात अर्थात् भयकर पर्वत आदि मे गिरने आदि द्वारा मारा जाये, उसे उपघात नामकर्म कहते है।

३ **यदुदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महासभागत' सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति प्रतिवादिनश्च प्रतिभा प्रतिहन्ति तत्पराघातनाम**—जिसके उदय से जीव ऐसा ओजस्वी हो कि जिसके दर्शन से अथवा वचन-सौष्ठवता से बडी सभा मे जाने पर जो सभासदो को भी त्रास उत्पन्न करे और प्रतिवादी की प्रतिभा का घात करे, उसे पराघात नामकर्म कहते है।

४ **यदुदयादुच्छ्वासनि श्वासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम**—जिसके उदय से उच्छ्वास और नि श्वास रूप लब्धि उत्पन्न होती है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

५ **यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यप्युष्णप्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तदातपनाम**—जिसके उदय से प्राणियो के शरीर मूल स्वरूप से तो अनुष्ण (उष्णता रहित, शीतल) होते हुए भी उष्ण प्रकाशरूप ताप करते है, वह आतप नामकर्म है। इस कर्म का विपाक सूर्यमडलगत पृथ्वीकायिक जीवो मे ही होता है, अग्नि मे नही। अग्नि मे आतप नामकर्म के उदय का प्रवचन मे निषेध किया गया है। किन्तु अग्नि मे उष्णता उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से एव उत्कट लोहित वर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाशपना कहा गया है।

६ **यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योत कुर्वन्ति यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियचन्द्रग्रहनक्षत्रताराविमानरत्नौषधयस्तदुद्योतनाम**—जिसके उदय से प्राणियो के शरीर अनुष्ण (शीतल) प्रकाश रूप उद्योत करते है, जैसे—साधु और देव के उत्तर वैक्रियशरीर मे से तथा चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओ के विमानो, रत्नो और औषधिविशेषो मे से शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नामकर्म है।

७ **यदुदयाज्जन्तुशरीरेष्वङ्गप्रत्यङ्गाना प्रतिनियतस्थानवर्त्तिता भवति तन्निर्माणनाम सूत्रधारकल्प**—जिसके उदय से प्राणियो के शरीरो मे अगो और प्रत्यगो की अपने-अपने नियत स्थान पर रचना होती है, वह सूत्रधार के समान निर्माण नामकर्म है।

इस कर्म का अभाव मानने पर भृतक (सेवक) सदृश अगोपाग आदि नामकर्म के द्वारा शिर, उर, उदर आदि की रचना होने पर भी नियत स्थान पर उनके होने का नियम नही रहेगा।

८ यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्याद्यतिशया प्रादुर्भवन्ति तत्तीर्थंकरनाम—जिसके उदय में अष्ट महाप्रातिहार्य[1] आदि अतिशय प्रगट होते हैं, वह तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार अप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप है। अब सप्रतिपक्षा प्रकृतियों के स्वरूप का कथन करते हैं।

सप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियां

त्रसदशक और स्थावरदशक के भेद से सप्रतिपक्षा प्रकृतियां बीस हैं। उनमें से त्रसदशक के नाम इस प्रकार हैं—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति तथा स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, ये स्थावरदशक हैं।

प्रतिपक्ष प्रकृति सहित इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

त्रस-स्थावर—त्रसन्त्युष्णाद्यभितप्ताः स्थानान्तरं गच्छन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि त्रसनाम। तद्विपरीतं स्थावरनाम, यदुदयादुष्णाद्यभितापेऽपि स्थानपरिहारासमर्थाः पृथिव्यादयः स्थावरा भवन्ति—जो उद्वेग को प्राप्त होते हैं और उष्णता आदि से संतप्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। इस प्रकार की विपाकवेद्य कर्मप्रकृति भी त्रस नामकर्म कहलाती है। इसके विपरीत स्थावर नामकर्म है कि जिसके उदय से उष्णता आदि से संतप्त होने पर भी जो अपने स्थान का परिहार करने में असमर्थ होते हैं, ऐसे पृथ्वी आदि जीव स्थावर हैं।

बादर-सूक्ष्म[2]—यदुदयाज्जीवानां चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वलक्षणं बादरत्वं भवति तद्बादरनाम—जिसके उदय से जीव का शरीर नेत्रों से ग्रहण करने योग्य होता है, वह बादर नामकर्म है। पृथ्वी आदि का एक-एक शरीर नेत्रों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होने पर भी बादरत्व के परिणामविशेष से अनेक शरीरों का समुदाय होने पर उनके शरीरों का नेत्र से ग्रहण होता ही है। तद्विपरीतं सूक्ष्मनाम, यदुदयाद् बहूनां समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति—बादर नामकर्म से विपरीत सूक्ष्म नामकर्म है, जिसके उदय से समुदाय को प्राप्त भी बहुत से प्राणियों के शरीर नेत्रों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं।

पर्याप्त-अपर्याप्त[3]—यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तनाम, तद्विपरीतमपर्याप्तनाम, यदुदयात्स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो न भवति—जिसके उदय से जीव अपने योग्य

---

१ आठ महाप्रातिहार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

१ अशोकवृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि और ८ आतपत्र (छत्र)।

२ बादर और सूक्ष्म नामकर्म का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

३ पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

पर्याप्तियो को उत्पन्न करने मे समर्थ होता है, वह पर्याप्त नामकर्म है। इसके विपरीत अपर्याप्त नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो के निर्माण करने मे समर्थ नही होता है।

प्रत्येक-साधारण शरीर---यदुदयात् प्रतिजीव भिन्नशरीरमुपजायते तत् प्रत्येकनाम---जिसके उदय से प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होता है, वह प्रत्येक नामकर्म है। **यदुदयादनन्ताना जीवनामेक शरीर भवति तत्साधारणनाम**---जिसके उदय मे अनन्त जीवो का एक शरीर होता है, वह साधारण नामकर्म है।

शका---प्रवचन (आगम) मे कपित्थ (कबीट-कथा), अश्वत्थ (वट), पीलू (पिलखन) आदि वृक्षो के मूल, स्कन्ध, त्वक् (छाल), शाखा आदि प्रत्येक असख्यात-असख्यात जीव वाले कहे गये है, किन्तु मूल आदि देवदत्त के शरीर के समान अखडित एक शरीर के आकार रूप पाये जाते है, तव उन कपित्थ आदि के प्रत्येकशरीरपना कैसे सम्भव है? क्योकि उनमे प्रत्येक जीव के पृथक्-पृथक् शरीरभेद का अभाव है।

समाधान---यह कहना युक्तिसगत नही है, क्योकि उन मूल आदि मे भी असख्यात जीवो के भिन्न-भिन्न शरीर माने गये है। केवल श्लेपद्रव्य से मिश्रित बहुत--से सरसो की बत्ती के समान प्रबल राग-द्वेष से सचित विचित्र प्रत्येक नामकर्म के पुद्गलो के उदय से उन जीवो का परस्पर मिला हुआ शरीर होता है।[1]

स्थिर-अस्थिर---यदुदयाच्छिरोऽस्थिदन्तादीना शरीरावयवाना स्थिरता भवति तत् स्थिरनाम, तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयाज्जिह्वादीना शरीरावयवानामस्थिरता---जिसके उदय से शिर, हड्डी, दात आदि शरीर के अवयवो की स्थिरता होती है, वह स्थिर नामकर्म है। इसके विपरीत अस्थिर नामकर्म है कि जिसके उदय से जिह्वादि शरीर के अवयवो की अस्थिरता रहती है।

शुभ-अशुभ---यदुदयान्नाभेरुपरितना अवयवा' शुभा जायन्ते तच्छुभनाम, तद्विपरीतमशुभनाम, यदुदयान्नाभेरधस्तना पादादयोऽवयवा अशुभा भवन्ति---जिसके उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते है, वह शुभ नामकर्म है और इससे विपरीत अशुभ नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से नाभि से नीचे के पैर आदि अवयव अशुभ होते है। जैसे कि शिर से स्पर्श किये जाने पर मनुष्य को सतोप प्राप्त होता है और पैर से स्पर्श किये जाने पर क्रोधाभिभूत हो जाता है। कामिनी के पादस्पर्श होने पर भी कामी पुरुप जो सतोप का अनुभव करता है, वह कामरागजनित मोहनिमित्तक है वास्तव नही। अत अशुभ नामकर्म के उक्त लक्षण मे व्यभिचार, दोप नही है।

सुस्वर-दुस्वर---यदुदयाज्जीवस्वर श्रोतृप्रीतिहेतुर्भवति तत्सुस्वरनाम, तद्विपरीत दुस्वरनाम, यदुदयात्स्वर श्रोतृणामप्रीतिहेतुर्भवति---जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोताओ को प्रीति का कारण होता है, वह सुस्वर नामकर्म है। इसके विपरीत दुस्वर नामकर्म है कि जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोताओ को अप्रीति का कारण होता है।

---

१ साधारण और प्रत्येक नामकर्म के विशेष स्पष्टीकरण के लिये परिशिष्ट देखिये।

सुभग-दुर्भग—यदुदयादनुपकृदपि सर्वस्य मन प्रियो भवति तत्सुभगनाम, तद्विपरीत दुर्भगनाम, यदुदयादुपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति—जिसके उदय मे उपकार नही करने पर भी मनुष्य सबका मनोप्रिय होता है, वह सुभग नामकर्म है। इसके विपरीत दुर्भग नामकर्म कहलाता है कि जिसके उदय से उपकार करने वाला भी मनुष्य लोगो के द्वेष का पात्र होता है ।

तीर्थंकर भी अभव्यो के लिये जो द्वेष के पात्र होते है तो उसमे तीर्थंकर के दुर्भग नामकर्म का निमित्त नही है, किन्तु इसमे अभव्यो का हृदयगत मिथ्यात्वदोष ही कारण है, ऐसा समझना चाहिये।

आदेय-अनादेय—यदुदयाल्लोको यत्तदपि वचन प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव चाभ्युत्थानाद्याचरति तदादेयनाम, तद्विपरीतमनादेयनाम, यदुदयादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्यभ्युत्थानाद्यर्होय.—जिसके उदय से जिस किसी भी वचन को लोक प्रमाण मानते है और जिसको देखने के अनन्तर आदर-सत्कार हेतु अभ्युत्थानादि का आचरण करते है, वह आदेय नामकर्म है और इसके विपरीत अनादेय नामकर्म है कि जिसके उदय मे योग्य वचन को बोलता हुआ भी पुरुष उपादेय वचन वाला नही होता और न अभ्युत्थान आदि के ही योग्य होता है ।

यश कीर्ति-अयश कीर्ति—तप, शौर्य, त्यागादि के द्वारा उपार्जन किये गये यश से जिसाक कीर्तन किया जाये, उसे यश कीर्ति कहते है। अथवा सामान्य रूप से ख्याति को यश और गुणो के कीर्तन रूप प्रशसा को कीर्ति कहते है । अथवा एक दिशा मे फैलने वाली प्रसिद्धि को कीर्ति कहते है एव सर्व दिशा मे फैलने वाली ख्याति यश कहलाती है । अथवा दान-पुण्य-जनित प्रसिद्धि को कीर्ति और पराक्रमजनित प्रख्याति को यश कहते है ।[1]

ते यश कीर्ती यदुदयाद्भवतस्तद्यशःकीर्तिनाम, तद्विपरीतमयश कीर्तिनाम, यदुदयान्मध्यस्थस्यापि जनस्याप्रशस्तो भवति—वे यश और कीर्ति जिस कर्म के उदय से होते है, वह यश कीर्तिनाम है। इसके विपरीत अयश कीर्ति नामकर्म है कि जिसके उदय से मध्यस्थ भी रहने वाला मनुष्य लोको द्वारा प्रशसनीय नही होतप्रा है ।

इस प्रकार प्रतिपक्ष सहित प्रत्येक प्रकृतियो के लक्षण जानना चाहिये। इनमे से त्रसादि दस प्रकृतिया त्रसदशक और स्थावरादि दस प्रकृतिया स्थावरदशक कहलाती है ।

गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतिया

गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृतिया है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र ।

१ यदुदयादुत्तमजातिकुलबलतपोरूपैश्वर्यश्रुतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिसम्भवस्तदुच्चैर्गोत्र—जिसके उदय से उत्तम जाति, कुल, बल, तप, रूप, ऐश्वर्य, शास्त्रज्ञान, सत्कार, अभ्युत्थान, आसनप्रदान और अजलिप्रग्रह (हाथ जोडना) आदि सभव होता है, वह उच्चगोत्रकर्म है ।

२ यदुदयात् पुनर्ज्ञानादिसपन्नोऽपि निन्दा लभते हीनजात्यादिसभव च तन्नीचैर्गोत्र—जिसके उदय से ज्ञानादि गुणो से सम्पन्न भी पुरुष निंदा को पाता है और हीन जाति, कुलादिक मे उत्पन्न होता है, वह नीचगोत्रकर्म है।

१ एक दिग्गामिनी कीर्ति सर्वदिग्गामुक यश । दानपुण्यभवा कीर्ति पराक्रमकृत यश ॥

अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतिया

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यान्तराय के भेद से अन्तरायकर्म की पाच उत्तरप्रकृतिया हैं।

१ **यदुदयात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातु नोत्सहते तद्दानान्तराय**—जिसके उदय से धन-वैभव होने पर, गुणवान् पात्र के उपस्थित होने पर और उसके लिये दिया गया दान महान फल वाला होता है, ऐसा जानता हुआ भी व्यक्ति दान देने के लिये उत्साहित नही होता है, वह दानान्तरायकर्म है।

२ **यदुदयाद्दातुर्गृहे विद्यमानमपि देय गुणवानपि याचमानोऽपि न लभते तल्लाभान्तराय**—जिसके उदय से दाता के घर मे विद्यमान भी देय वस्तु को मागने वाला गुणवान पुरुष भी उसे प्राप्त न कर सके, वह लाभान्तरायकर्म कहलाता है।

३-४ **यदुदयाद्विशिष्टाहारादि प्राप्तावप्यसति च प्रत्याख्यानादिपरिणामे कार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तु तद्भोगान्तराय**—जिसके उदय से विशिष्ट आहारादि की प्राप्ति होने पर भी और प्रत्याख्यान (त्याग) आदि के परिणाम नही होने पर भी कृपणतावश भोगने के लिये मनुष्य उत्साहित न हो सके, उसे भोगान्तरायकर्म कहते है। इसी प्रकार उपभोगान्तरायकर्म का भी अर्थ जान लेना चाहिये। लेकिन इतना अन्तर (भेद) है कि जो एक वार भोगा जाये, वह भोग और जो वार-वार भोगा जाये, वह उपभोग कहलाता है।

५ **यदुदयात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनेऽपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति तद्वीर्यान्तराय**—जिसके उदय से शरीर के निरोग होने पर भी और यौवनावस्था होने पर भी व्यक्ति अल्पप्राण (हीनवल वाला) होता है, वह वीर्यान्तराय कर्म कहलाता है।

बध, उदय और सत्ता की अपेक्षा उत्तरप्रकृतियो की सख्या

पूर्वोक्त नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियो के पैसठ अवान्तर भेदो के साथ आठ अप्रतिपक्षा और वीस सप्रतिपक्षा प्रकृतियो को मिला देने पर नामकर्म की तेरानवे प्रकृतिया हो जाती है। इनमे से वध और उदय मे वधन और सघातन नामकर्म अपने-अपने शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ही विवक्षित किये जाते है, पृथक् नही तथा वर्णादिचतुष्क भेदरहित सामान्य से ही विवक्षित किये जाते है, इसलिये वधयोग्य प्रकृतियो का विचार करने के प्रसग मे नाम-कर्म की तेरानवे प्रकृतियो मे से पाच वधन और पाच सघातन एव वर्णादि चतुष्क की सोलह प्रकृतियो को घटा देने से सडसठ प्रकृतिया ग्रहण की जाती है तथा मोहनीयकर्म की सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतिया अधिकृत नही की जाती है। क्योकि मिथ्यात्व कर्म के पुद्गलो के सम्यक्त्व उत्पादक यथाप्रवृत्त आदि तीन करणरूप परिणामो की विशुद्धिविशेष से तीन भेद रूप किये गये तीन पुजो की शुद्ध, अर्धविशुद्ध और सर्वअविशुद्ध की अपेक्षा क्रम से सम्यक्त्व (शुद्ध), सम्यग्मिथ्यात्व (अर्ध विशुद्ध), मिथ्यात्व (सर्वाविशुद्ध) सज्ञा होती है। इसलिये वधयोग्य एक सौ वीस प्रकृतिया होती है।

उदय में एक सौ वाईस प्रकृतिया ग्रहण की जाती है। क्योकि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का भी अपने-अपने रूप से उदय होता है।

सत्ता मे पूर्व मे निकाली गई छब्बीस प्रकृतियो के भी ग्रहण करने मे एक सौ अट्ठाईस प्रकृतिया ग्रन्थकार (कर्मप्रकृतिकार) के मत से होती हे। किन्तु गर्गर्षि आदि के मत म बन्धन के पन्द्रह भेद ग्रहण करने मे एक सौ अट्ठावन प्रकृतिया होती है ।

बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

प्रश्न—बधन नामकर्म के पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर—औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनो शरीरो के स्वय के और तैजस, कार्मण शरीर के साथ क्रमश मिलाने पर बधन के नौ भेद हो जाते है, तैजस और कार्मण को उन्ही तीनो शरीरो के साथ मिलाने पर तीन भेद और होते है तथा तैजस-तैजस बधन, तैजस-कार्मण बधन और कार्मण-कार्मण बधन, इन तीनो भेदो को उक्त बारह भेदो मे मिला देने पर बधन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते है ।[1] इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

पूर्वगृहीत औदारिक पुद्‌गलो का वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक बधन है । उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्‌गलो का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत तैजस-पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे औदारिक-तैजसबन्धन कहते हे और उन्ही पूर्वगृहीत एव गृह्यमाण औदारिक पुद्‌गलो का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत कार्मण पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता हे, वह औदारिक-कार्मण बन्धन है।

पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्‌गलो का अपने ही गृह्यमाण वैक्रिय पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-वैक्रिय-बधन है। उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्‌गलो का गृह्यमाण और पूर्वगृहीत तैजस पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-तैजसबधन है और उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्‌गलो का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्‌गलो के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-कार्मणबधन है।

---

१ बधन नामकर्म के पूर्वोक्त नौ, तीन और तीन, इन कुल भगो को जोडने से जो पन्द्रह भेद होते है, उनके नाम इस प्रकार है—

१ औदारिक-औदारिक बन्धन, २ औदारिक-तैजस बन्धन, ३ औदारिक-कार्मण बन्धन, ४ वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, ५ वैक्रिय-तैजस बन्धन, ६ वैक्रिय-कार्मण बन्धन, ७ आहारक-आहारक बन्धन, ८ आहारक-तैजस बन्धन, ९ आहारक-कार्मण बन्धन, १० औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, १२ आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन, १३ तैजस-तैजस बन्धन, १४ तैजस-कार्मण बन्धन, १५ कार्मण-कार्मण बन्धन।

प्रकारान्तर से बधन नाम के पन्द्रह भेदो को गिनने की सरल रीति—

मूल शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भग ५

औदारिक-औदारिक, वैक्रिय-वैक्रिय, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण।

तैजस शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भग ३

औदारिक-तैजस, वैक्रिय-तैजस, आहारक तैजस।

कार्मण शरीर के साथ सयोग करने से बनने वाले भग ४

औदारिक-कार्मण, वैक्रिय-कार्मण, आहारक-कार्मण, तैजस-कार्मण।

तैजस-कार्मण शरीर का युगपत् सयोग करने से बनने वाले भग ३

औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण ।

पूर्वगृहीत आहारक पुद्गलो का अपन ही गृह्यमाण आहारक पुद्गलो के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-आहारकवधन है। उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलो का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलो के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-तैजसवधन है। उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलो का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलो के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह आहारक-कार्मणवधन है।

गृहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्गलो का तैजस पुद्गलो एव कार्मण पुद्गलो का जो परस्पर सम्वन्ध होता है, वह औदारिक-तैजस-कार्मणवधन है। इसी प्रकार वैक्रिय-तैजस-कार्मण और आहारक-तैजस-कार्मण इन दोनो वन्धनो के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिये।

पूर्वगृहीत तैजस पुद्गलो का वर्तमान मे गृह्यमाण अपने ही तेजस पुद्गलो के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह तैजस-तैजसवन्धन है। उन्ही पूर्वगृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलो का पूर्वगृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलो के साथ जो सवध होता है, वह तैजस-कार्मणवन्धन है। पूर्वगृहीत कार्मण पुद्गलो का अपने ही गृह्यमाण कार्मण पुद्गलो के साथ जो सम्वन्ध होता है, वह कार्मण-कार्मणबधन है।

शका—जो आचार्य परपुद्गलो के सयोग रूप वधन होते हुए भी उसकी विवक्षा न करके पाच ही वन्धन मानते है, उनके मत मे सघातन नामकर्म भी पाच सम्भव है। किन्तु जो आचार्य वन्धन के पन्द्रह भेद मानते है, उनके मत मे **'नासहतस्य बधनमिति'** सघात रहित का बधन सम्भव नही, इस न्याय के अनुसार वधन की तरह सघातन नामकर्म के भी पन्द्रह भेद प्राप्त होते है। इसलिये ऊपर कही गई एक सौ अट्ठावन कर्म प्रकृतियो की सख्या घटित नही होती है।

समाधान—यह कहना उपयुक्त नही है, क्योकि उनके मत मे वधन के अनुकूल पुद्गलो का एकीकरण करना, यह सघातन का लक्षण नही है। किन्तु औदारिक आदि शरीरो की रचना के अनुकूल पुद्गलो का एकीकरण करना, यह सघातन का लक्षण है, इसलिये कोई दोष नही है।

इस प्रकार सब कर्मो की उत्तर प्रकृतियो के लक्षण समझना चाहिये।

कर्मप्रकृतियो का वर्गीकरण

अव इन प्रकृतियो की—१ ध्रुववधित्व, २ ध्रुवोदयत्व, ३ ध्रुवसत्ताकत्व, ४ सर्वघातित्व, ५ परावर्त्तमानत्व तथा ६ अशुभत्व तथा इनकी प्रतिपक्षी, ७ अध्रुवबधित्व, ८ अध्रुवोदयत्व, ९ अध्रुवसत्ताकत्व, १० देशघातित्व, ११ अपरावर्त्तमानत्व और १२ अशुभत्व तथा १३ पुद्गलविपाकित्व, १४ भवविपाकित्व, १५ क्षेत्रविपाकित्व, १६ जीवविपाकित्व भेदो की अपेक्षा और १७ स्वानुदयवधी, १८ स्वोदयबधी, १९ उभयवधी, २० समक (युगपद्) व्यवच्छिद्यमानवधोदय, २१ क्रमव्यवच्छिद्यमानबधोदय, २२ उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानवन्धोदय, २३ सान्तरबध, २४ सान्तर-निरन्तरबध, २५ निरन्तरबध, २६ उदयसक्रमोत्कृष्ट, २७ अनुदय-सक्रमोत्कृष्ट, २८ उदयवन्धोत्कृष्ट, २९ अनुदयबधोत्कृष्ट, ३० उदयवती और ३१ अनुदयवती सज्ञाओ के द्वारा (सज्ञाओ की अपेक्षा) जो विशेषता है, अव उसका विचार किया जाता है।

१ ध्रुवबंधिनी प्रकृतिया

निजहेतुसम्भवे यासामवश्यभावी बन्धस्ता ध्रुवबन्धिय—जिन प्रकृतियो का अपने बध के कारण मिलने पर बध अवश्य होता है, वे ध्रुवबधिनी है।

ज्ञानावरण की पाच, अतराय की पाच, दर्शनावरण की नौ, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, ये अडतीस घातिकर्मो की प्रकृतिया तथा अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तैजसशरीर, वर्णादि चतुष्क और कार्मणशरीर ये नामकर्म की नौ प्रकृतिया, कुल मिलाकर ये (३८+९=४७) सैंतालीस प्रकृतिया ध्रुवबधिनी है।[1] क्योकि इन प्रकृतियो के बन्धकाल का व्यवच्छेद होने तक अर्थात् बधकाल का एव बध के निमित्तो का सद्भाव रहने तक अर्थात् बधव्युच्छित्ति न होने तक ध्रुवरूप से बध होता है।

इनमे मिथ्यात्व प्रकृति मिथ्यात्व गुणस्थान के अतिम समय तक निरन्तर बधती है, उनमे परे (पहले गुणस्थान के अतिरिक्त आगे के गुणस्थानो मे) उसके उदय का अभाव होने से उसका (मिथ्यात्व का) बध नही होता है। क्योकि मिथ्यात्व का जब तक वेदन किया जाता है अर्थात् उदय रहता है, तब तक ही बधता है। आगम का भी यह वचन है— **'जे वेयइ से बज्झइ'** अर्थात् जब तक उदय रहता है, तब तक बध होता रहता है।

अनन्तानुबधीचतुष्क और स्त्यानर्द्धित्रिक[2] ये सात प्रकृतिया सासादन गुणस्थान तक निरन्तर बधती रहती है। उससे परे अनन्तानुबधी कषायो का उदय नही होने से उक्त प्रकृतियो का बध नही होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (चौथे गुणस्थान) तक, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क देशविरति गुणस्थान (पाचवे गुणस्थान) तक और निद्रा व प्रचला प्रकृति अपूर्वकरणगुणस्थान (आठवे गुणस्थान) के प्रथम भाग तक निरन्तर बधती रहती है। उसके आगे उनके बधयोग्य अध्यवसायो (भावो) का अभाव होने से उनका बध नही होता है। इसी प्रकार नामकर्म की नौ ध्रुवबधिनी प्रकृतिया (अगुरुलघु आदि कार्मणशरीर पर्यन्त) अपूर्वकरण गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त और भय व जुगुप्सा अतिम समय तक, सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ अनिवृत्तिबादरसपराय गुणस्थान (नौवे गुणस्थान) तक निरन्तर बधती रहती है, उसके आगे बादर कषाय के उदय का अभाव होने से उनका बध नही होता है। ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क ये चौदह प्रकृतिया सूक्ष्मसपराय गुणस्थान (दसवे गुणस्थान) तक निरन्तर बधती रहती है। उसके परे कषायो के उदय का अभाव होने से उनका बध नही होता है।

२ अध्रुवबंधिनी प्रकृतिया

निजबधहेतुसम्भवेऽपि भजनीयबधा अध्रुवबधिन्य—जो प्रकृतिया अपने-अपने बध कारणो के सम्भव होने पर भी भजनीय बधवाली है अर्थात् जिनका कभी बध होता है और कभी नही होता है,

१ नाणतरायदसण धुवबधिकसायमिच्छभयकुच्छा।
जगुरुलघु निमिण तेय, उवघायवण्णचउकम्म॥

—पचसग्रह १३३

गो० कर्मकाड १२४ मे भी इन्ही प्रकृतियो को ध्रुवबधिनी बताया है।

२ स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

वे अध्रुवबधिनी कहलाती है। ऐसी प्रकृतिया ऊपर कही गई ध्रुवबधिनी सैतालीस प्रकृतियो से शेष रही तिहत्तर प्रकृतिया है। उनके नाम इस प्रकार है—

औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, विहायोगतिद्विक, गोत्रद्विक, वेदनीयद्विक, हास्यादि युगलद्विक, वेदत्रिक, आयुचतुष्क, गतिचतुष्क, आनुपूर्वीचतुष्क, जातिपचक, सस्थानपट्क, सहननपट्क, त्रसादि बीस (त्रसदशक और स्थावरदशक), उच्छ्वास, तीर्थंकर, आतप, उद्योत और पराघात। ये तिहत्तर प्रकृतिया अपने-अपने बध के कारणो का सदभाव होने पर भी बध को अवश्य ही प्राप्त नही होती है, अर्थात् कभी बधती है और कभी नही बधती है। कादाचित्क बध होने के कारणो का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का अविरति आदि अपने बधकारण के होने पर भी अपर्याप्तप्रायोग्य बधकाल मे बध का अभाव रहता है और पर्याप्तप्रायोग्य बधकाल मे ही उनका बध होता है। एकेन्द्रियप्रायोग्य प्रकृतियो का बध होने से ही आतप नामकर्म का बध होता है और उद्योत का भी तिर्यग्गतिप्रायोग्य प्रकृतियो का बध होने पर ही बध होता है। जिन (तीर्थंकर) नामकर्म का सम्यक्त्व रूप अपने बधकारण के विद्यमान रहने पर भी कदाचित् ही बध होता है और आहारकद्विक का सयम रूप निज बधकारण के विद्यमान होने पर भी कदाचित् बध होता है और शेष औदारिकद्विक आदि प्रकृतियो का सविपक्ष प्रकृति होने से ही कदाचित् बध होता है और कदाचित् नही होता है।

यद्यपि यत्किचित् बधहेतु के सद्भाव मे बध का अभाव प्राप्त होता है और बधकारण के रहने तक बध का अभाव असम्भव है, तथापि मिथ्यात्व आदि गिनाये गये सामान्य बधकारणो के सद्भाव मे अवश्य ही बध होने से ध्रुवबधित्व है और इसके विपरीत अवस्था मे अर्थात् सामान्य बधकारणो के रहने पर भी बध नही होना अध्रुवबधित्व है, यह ध्रुवबधी और अध्रुवबधी की परिभाषा का रहस्य है।[1]

३ ध्रुवोदया प्रकृतिया

उदयकालव्यवच्छेदादर्वाग्ध्रुवो निरन्तर उदयो यासा ता ध्रुवोदया—उदयकाल के व्यवच्छेद होने से पूर्व तक ध्रुव रूप से जिनका निरतर उदय रहे, वे ध्रुवोदया प्रकृति कहलाती है। ऐसी प्रकृतियो की सख्या सत्ताईस है—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस, कार्मण शरीर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभ और अशुभ नामकर्म, ये नामकर्म की बारह प्रकृतिया तथा ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क और मिथ्यात्व ये घातिकर्मो की पन्द्रह प्रकृतिया, इस प्रकार सब मिलाकर (१२+१५=२७) सत्ताईस प्रकृतिया ध्रुवोदया है।[2]

१ उक्त कथन का आशय यह है—
यत्किचित् बधकारण के रहने पर बध नही होकर अपने निश्चित सामान्य बधकारण के रहने पर जिसका निश्चित रूप से बध होता है और निश्चित सामान्य बधकारण के होने पर भी जिसका बध नही होता है—वही कर्म प्रकृतियो के ध्रुवबधित्व और अध्रुवबधित्व के भेद का कारण है।

२ निम्माण थिराथिरतेय कम्मवण्णाइ अगुरसुहमसुह।
नाणन्तरायदसग दसणचउमिच्छनिच्चुदया॥

—पचसग्रह १३४

पूर्वोक्त सत्ताईस प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व प्रकृति पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक और शेष ज्ञानावरणपचक आदि चौदह घातिप्रकृतिया क्षीणमोह गुणस्थान के अतिम समय तक ध्रुव रूप मे उदय रहती है तथा नामकर्म की निर्माण आदि बारह प्रकृतिया तेरहवे सयोगिकेवली गुणस्थान के अतिम समय तक ध्रुव रूप से उदय मे रहती है।

४. अध्रुवोदया प्रकृतिया

व्यवच्छिन्नोदया अपि सत्यो या प्रकृतयो हेतुसपत्त्या भूयोऽप्युदयमायान्ति ता अध्रुवोदया—उदय का विच्छेद होने पर भी जो प्रकृतिया उदय कारणो की प्राप्ति मे फिर भी उदय मे आ जाती है, वे अध्रुवोदया कहलाती है। ऐसी अध्रुवोदया प्रकृतिया पचानवै है—स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, इन चार प्रकृतियो से रहित अध्रुवबधिनी उनहत्तर प्रकृतिया, मिथ्यात्व के बिना मोहनीयकर्म की ध्रुवबधिनी अठारह प्रकृतिया तथा पाच निद्राये, उपघात नामकर्म मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, कुल मिलाकर ये (६९+१८+५+१+१+१=९५) पचानवै प्रकृतिया अध्रुवोदया है।

शका—इस प्रकार से तो मिथ्यात्व प्रकृति भी अध्रुवोदया क्यो न मानी जाये ? क्योकि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर व्युच्छिन्न हुआ भी उसका उदय मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होने पर पुन होने लगता है।

समाधान—जिन प्रकृतियो का गुणप्रत्यय से उदयविच्छेद जिन गुणस्थानो मे नही होता है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से उन्ही गुणस्थानो मे कदाचित् वह हो और कदाचित् न हो, ऐसी प्रकृतियो को अध्रुवोदया कहा गया है। जैसे—क्षीणमोह गुणस्थान तक निद्रा प्रकृति की उदयव्युच्छित्ति नही होती है, फिर भी वहाँ तक उसका कादाचित्क उदय होता है, सर्वदा नही। किन्तु मिथ्यात्व प्रकृति तो अपने उदयविच्छेद होने तक निरतर उदय को प्राप्त रहती है, इसीलिये उसे अध्रुवोदया नही माना जा सकता है।

शका—इस प्रकार तो मिश्रमोहनीय प्रकृति भी मिश्र गुणस्थान मे निरन्तर उदय को प्राप्त रहती है, इसलिये उसे ध्रुवोदया होना चाहिये।

समाधान—नही। क्योकि गुणप्रत्यय के द्वारा उदय-विच्छेद से पहले उदय के होने और नही होने की अपेक्षा उसको अध्रुवोदया कहा गया है। यदि एक गुणस्थान के अवच्छेद से उदय के होने और नही होने की अपेक्षा अध्रुवोदयपना कहा जाता, तभी उक्त दोष होता।

५ ध्रुवसत्ताका प्रकृतिया

विशिष्टगुणप्राप्ति विना ध्रुवा निरतरा सत्ता यासा ता ध्रुवसत्ताका—विशिष्ट गुणस्थान की प्राप्ति के बिना ध्रुव रूप से निरन्तर जिनकी सत्ता बनी रहती है, उन्हे ध्रुवसत्ताका प्रकृति कहते है। ऐसी प्रकृतिया एक सौ तीस है। यथा—त्रसबीस (त्रसदशक, स्थावरदशक), वर्णादि बीस, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजस-तैजसबन्धन, तैजस-कार्मणबन्धन, कार्मण-कार्मणबन्धन, तैजससघातन और कार्मणसघातन रूप तैजसकार्मणसप्तक और ध्रुवबधिनी सैतालीस प्रकृतियो मे से वर्णचतुष्क

और तैजस, कार्मण के सिवाय (क्योंकि इनका स्वतन्त्र रूप से पहले उल्लेख कर दिया है) शेष इकतालीस प्रकृतिया तथा वेदत्रिक, सस्थानषट्क, सहननषट्क, जातिपचक, साता-असाता वेदनीयद्विक, हास्य-रतियुगल, अरति-शोकयुगल, औदारिकशरीर, औदारिकअगोपाग, औदारिकसघातन, औदारिक-औदारिकबधन, औदारिक-तैजसबन्धन, औदारिक-कार्मणबन्धन और औदारिक-तैजसकार्मणबन्धन रूप औदारिकसप्तक, उच्छ्वास, आतप, उद्योत और पराघात चतुष्क, विहायोगतिद्विक, तिर्यचद्विक और नीचगोत्र, ये एक सौ तीन प्रकृतिया ध्रुवसत्ता वाली है। क्योकि ये सम्यक्त्वलाभ से पहले सब प्राणियो को सदैव सम्भव है ।

६ अध्रुवसत्ताका प्रकृतिया

कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताका —जिनकी सत्ता कदाचित् होती है और कदाचित् नही होती है, वे अध्रुवसत्ताका प्रकृतिया कहलाती है। उच्चगोत्र, तीर्थंकर नाम, सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअगोपाग रूप वैक्रियषट्क, चारो आयु, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्यद्विक तथा आहारकशरीर, आहारकअगोपाग रूप आहारकद्विक—ये अठारह प्रकृतिया अध्रुवसत्तावाली है।[1] क्योकि उच्चगोत्र एव वैक्रियषट्क, ये सात प्रकृतिया त्रसपर्याय की प्राप्ति होने पर होती है तथा अप्राप्त होने पर नही होती है। अथवा त्रसत्व अवस्था मे उक्त प्रकृतिया प्राप्त हो जाने पर भी स्थावर पर्याय मे गये हुए जीव के द्वारा अवस्था विशेष पाकर उद्वेलित कर दी जाती है। इसलिये इनको अध्रुवसत्ता वाली कहा गया है। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति जब तक भव्यत्व भाव का परिपाक नही होता है, तब तक सत्ता मे नही रहती है तथा भव्यत्व भाव के परिपाक से सत्ता प्राप्त कर लेने पर भी जीव के मिथ्यात्व मे चले जाने पर फिर उनकी उद्वेलना[2] कर दी जाती है और अभव्यो के तो इन दोनो की सत्ता सर्वथा ही नही रहती है। इसीलिये इनको अध्रुवसत्ता वाला कहा गया है। तीर्थंकर नाम का सत्व विशुद्ध सम्यक्त्व होने पर होता है, अन्य समय नही होता है। आहारकद्विक प्रकृतिया भी तथाविध विशिष्ट सयम के होने पर ही बध को प्राप्त होती है, उसके

---

१ उपाध्याय यशोविजयकृत टीका के अनुसार ध्रुवसत्ताका प्रकृतिया एक सौ तीस और अध्रुवसत्ताका प्रकृतिया अठारह बतलाई है। इसका कारण यह है कि उसमे वैक्रियएकादश के स्थान मे वैक्रियषट्क और आहारकसप्तक के स्थान मे आहारकद्विक लिया है। इस प्रकार वैक्रियसघातन, वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन, वैक्रिय-तैजस बन्धन, वैक्रिय-कार्मण बन्धन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बन्धन, आहारकसघातन, आहारक-आहारक बधन, आहारक-तैजस बन्धन, आहारक-कार्मण बन्धन, आहारक-तैजस-कार्मण बन्धन इन दस प्रकृतियो को सत्ता मे सम्मिलित नही किया है। परन्तु यहा जो अध्रुवसत्ताका प्रकृतिया अठारह कही है, वे घटित नही होती है। क्योकि ध्रुवसत्ता मे गिनाई गई एक सौ तीस प्रकृतिया, एक सौ अट्ठावन की अपेक्षा है, एक सौ अडतालीस की अपेक्षा नही। एक सौ अडतालीस की अपेक्षा तो ध्रुवसत्ता मे एक सौ छब्बीस और अध्रुव सत्ता मे बाईस होती है। यदि एक सौ अट्ठावन की अपेक्षा ध्रुवसत्ता एव अध्रुवसत्ता का विचार किया जाये तो अध्रुवसत्ता मे अट्ठाईस प्रकृतिया मानना चाहिये और तब वैक्रियषट्क के बदले वैक्रियएकादश और आहारकद्विक के स्थान पर आहारकसप्तक का ग्रहण करना चाहिये। उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा अठारह प्रकृतियो को अध्रुवसत्ताका बतलाने का कारण पचसग्रह के तृतीय द्वार की ३३वी गाथा के चतुर्थ पाद मे आगत 'अट्ठारस अध्रुवसत्ताओ' पद है। उसी के आधार पर उपाध्यायजी ने अठारह प्रकृतियो को अध्रुवसत्ता वाला कहा है।

२ यथाप्रवृत्त आदि तीन करण रूप परिणामो के बिना ही कर्म प्रकृतियो का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना, जिससे उनका सर्वथा निःसत्ताक होने का प्रसग प्राप्त हो, उद्वेलना कहलाता है।

अभाव मे नही बधती है और बधने पर भी अविरति के निमित्त से उद्वेलित हो जाती है। मनुष्यद्विक भी तेजस्कायिक और वायुकायिक मे गये हुए जीवो के द्वारा उद्वलित कर दी जाती है तथा देवायु, नरकायु स्थावर जीवो के, तिर्यंचायु अहमिन्द्रो के और मनुष्यायु तेजस्काय, वायुकाय और सातवे नरक के नारक को सर्वथा ही नही बधने से सत्ता मे नही पाई जाती है। किन्तु अन्य जीवो के इन प्रकृतियो की सत्ता सम्भव भी है। इसीलिये तीर्थंकर आदि उक्त प्रकृतियो को अध्रुव सत्ता वाली कहा गया है।

शका—आयुचतुष्क और तीर्थंकर नाम को छोडकर अनन्तानुबधीचतुष्क सहित सत्रह प्रकृतिया श्रेणि नही चढने पर भी उद्वलन के योग्य कही गई है।[1] इस प्रकार अनन्तानुबधियो की भी उद्वेलना सम्भव होने से उनको ध्रुवसत्कर्मता (ध्रुवसत्तापना) कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसा मत कहिये, क्योकि सम्यक्त्व आदि गुणो की अप्राप्ति होने पर कदाचित् होना ही अध्रुवसत्ता का लक्षण है। उत्तरगुणो की प्राप्ति होने पर सत्ता के अभाव मे यदि अध्रुवसत्तापना कहा जाये तो सभी प्रकृतिया अध्रुवसत्ता वाली हो जायेगी। इसीलिए अध्रुवसत्ता का ऊपर जो लक्षण कहा गया है, वही युक्तिसगत है। क्योकि सम्यक्त्व गुण के द्वारा उद्वलन की जाने वाली भी अनन्तानुबधी कषायो का सम्यक्त्व की अप्राप्ति मे कादाचित्कपने का अभाव होने से ही ध्रुवसत्ताकत्व विना किसी बाधा के माना गया है।[2]

७–८ घातिनी-अघातिनी प्रकृतिया

स्वविषय कात्स्न्र्येन घ्नन्ति यास्ता सर्वघातिन्य—जो प्रकृतिया अपने विषय को सम्पूर्ण रूप से घात करती है, वे सब सर्वघातिनी कहलाती है। ऐसी प्रकृतिया वीस है, जो इस प्रकार है—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, आदि की बारह कषाय, मिथ्यात्व और पाच निद्राये। ये प्रकृतिया यथायोग्य अपने घातने योग्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सम्यक्त्व गुण को सम्पूर्ण रूप से घातती है। उक्त प्रकृतियो से शेष रही पच्चीस घाति कर्म की प्रकृतिया देशघातिनी[3] है। क्योकि ये ज्ञानादि गुणो के एकदेश का घात करती है। उक्त कथन का यह आशय जानना चाहिये कि

---

१ आहारकद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, सम्यक्त्व प्रकृति, मिश्र प्रकृति, उच्च गोत्र, अनन्तानुबन्धी कषायें उद्वेलन प्रकृतिया है।

२ उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—

सम्यग्दृष्टि जीवो के ही अनन्तानुबधी कषायो का उद्वेलन होता है और अध्रुवसत्तापने का विचार उन्ही जीवो की अपेक्षा किया जाता है, जिन्होने सम्यक्त्व आदि उत्तर गुणो को प्राप्त नही किया है। अत अनन्तानुबन्धी कषायो को ध्रुवसत्ताका ही मानना चाहिये। यदि उत्तर गुणो की प्राप्ति की अपेक्षा से अध्रुवसत्ताकत्व को माना जायेगा तो केवल अनन्तानुबधी कषाय ही अध्रुवसत्ताका नही ठहरेंगी, बल्कि सभी प्रकृतिया अध्रुवसत्ताका कहलायेंगी। क्योकि उत्तर गुणो के होने पर सभी प्रकृतिया अपने-अपने योग्य गुणस्थान मे सत्ता मे विच्छिन्न हो जाती है।

३ नाणावरणचउक्क दसणतिग नोकसाय विग्घपण।
सजलण देसघाई तइयविगप्पो इमो अन्ने॥

—पचसग्रह १३७

ज्ञानावरणचतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, नव नोकषाय, अन्तरायपचक, सज्वलनकषायचतुष्क ये पच्चीस प्रकृतिया देशघाति है। घाति और अघाति प्रकृतियो के विचार के प्रसग मे यह घाति प्रकृतियो का एक अवान्तर तीसरा विकल्प है।

यद्यपि केवलज्ञानावरणकर्म ज्ञान लक्षण वाले आत्मा के गुण को सपूर्ण रूप मे घात करने मे प्रवृत्त होता है, तथापि उसके द्वारा यह गुण सम्पूर्णघात (उच्छेद) नही किया जा सकता है, क्योकि ऐसा स्वभाव है।[1] जैसे सूर्य और चन्द्र की किरणो के आवरण करने के लिये प्रवर्तमान भी विशाल घनपटल के द्वारा उनकी प्रभा पूर्णरूप मे आच्छादित नही की जाती है। यदि ऐसा न माना जाये तो दिन और रात के विभाग का अनुभव (परिज्ञान) नही हो सकेगा। इसलिये केवलज्ञानावरण के द्वारा केवलज्ञान का सपूर्ण रूप मे आवरण करने पर भी जो तद्गत (ज्ञान सम्बन्धी) मद, विशिष्ट और विशिष्टतर प्रकाशरूप मतिज्ञानादि सज्ञा वाला ज्ञान का एकदेश विद्यमान रहता है, उसे यथायोग्य मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण कर्म घातते है, इसलिये वे देशघाति कर्म है।

इसी प्रकार केवलदर्शनावरणकर्म के द्वारा केवलदर्शन के सम्पूर्ण रूप मे आवरण करने पर भी जो तद्गत मद, मदतर, विशिष्ट और विशिष्टतर आदि रूप वाली प्रभा शेष रहती है और जिसकी चक्षुदर्शन आदि सज्ञा है, उसे यथायोग्य चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण कर्म आवृत्त करते है। इसलिये दर्शन गुण के एकदेश का घात करने से ये देशघाति कर्म कहलाते है।

निद्रादिक पाचो दर्शनावरण कर्म की प्रकृतिया यद्यपि केवलदर्शनावरण कर्म के द्वारा आवृत्त केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभामात्र दर्शनगुण के एकदेश का घात करती है, तथापि वे चक्षुदर्शनावरणादि कर्मो के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई दर्शनलब्धि को जडमूल से घात करती है, इसलिये उन्हे सर्वघातिनी कहा गया है।

सज्वलन कषायचतुष्क और नव नोकषाय अनन्तानुबधीचतुष्क आदि बारह कषायो के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलब्धि को एकदेश से घात करती है, इसलिये वे देशघातिनी प्रकृतिया है। क्योकि चारित्रगुण मे केवल अतिचारो को उत्पन्न करना ही इनका कार्य है। जैसा कि कहा है—चारित्र के सभी अतिचार सज्वलन कषायो के उदय से होते है और बारह कषायो के उदय से चारित्र का मूलछेद होता है[2] तथा घाति कर्मो के क्षयोपशम से जीव के जो सम्यक्त्व, चारित्र

---

१ ज्ञानावरण कर्म का कैसा भी गाढ आवरण हो जाये, लेकिन आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रहता है। क्योकि ज्ञान आत्मा का गुण, स्वभाव है और स्वभाव का कभी नाश नही होता है। अत ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण को आच्छादित तो कर सकता है, समूलोच्छेद नही कर सकता है, केवलज्ञान का अनन्तवा भाग तो नित्य अनावरित ही रहता है। यदि आवरण का अर्थ ज्ञान का समूलोच्छेद माना जाये तो फिर जीव, जीव ही नही रहे, जीव अजीव मे कोई भेद न रहे तथा तब ज्ञान आत्मा का स्वभाव नही माना जा सकता है—

सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो णिच्चुग्घाडियो हवई, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्त पावेज्जा।

—नन्दीसूत्र ७५

२ सव्वेऽवि य अइयारा सजलणाण तु उदयओ होति।
मूलच्छेज्ज पुण होई बारसण्ह कसायाण॥ —पचाशक

यहा मूलछेद का तात्पर्य सर्वचारित्र की अपेक्षा से समझना चाहिये। प्रत्याख्यानावरण के उदय मे देशचारित्र होता है, किन्तु सर्वचारित्र नही होता है।

उत्पन्न होते है, उनके एकदेश को सज्वलन और नव नोकषाय घात करती है।[1] इसीलिये सज्वलन और नोकषाये देशघाति है।

इस ससार मे ग्रहण, धारण आदि के योग्य जिस वस्तु को जीव न दे सके, न पा सके, न भोग सके, न उपभोग कर सके, न सामर्थ्य पा सके, वह दानान्तराय आदि का विषय है। यह दान, लाभ आदि सर्वद्रव्यो का अनन्तवा भाग एक जीव को प्राप्त होता है। इसीलिये उन प्रकार के सर्व द्रव्यो के एकदेश विषयभूत दान आदि मे विघात करने से दानान्तराय आदि देशघाति कहलाते है।

यहाँ पर देशघाति का लक्षण सर्वघाति से अन्यत्व (सर्वघाति रस से) गर्भित जानना चाहिये। इस कारण चारित्र के देशरूप देशविरति का प्रतिबन्ध करने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषायो का पूर्ण चारित्र की अपेक्षा देशघातित्व नही है। क्योकि चारित्रगत अपकर्ष का जनक ऐसा देशघातित्व अप्रत्याख्यानावरण कषायो मे नही है। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण कषायो को सर्वघाति मानने म कोई दोष नही है।[2]

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि घातिकर्मों की कुछ प्रकृतिया सर्वघातिनी है और कुछ देशघातिनी है।[3]

नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुकर्म के अन्तर्गत जो प्रकृतिया है, वे घात करने योग्य गुणो का अभाव होने से कुछ भी घात नही करती है, इसलिये उन्हे अघातिनी जानना चाहिये।

सर्वघातिनी प्रकृतियो का रस (अनुभाग) यद्यपि ताम्रभाजन के समान छिद्ररहित, घृतवत् अतिस्निग्ध, द्राक्षावत् (दाख की तरह) तनुप्रदेश से उपचित (सचित किया हुआ) और स्फटिक या अभ्रकवत् अतीव निर्मल होता है, तथापि अपने विषयभूत सम्पूर्ण गुण को घात करने से सर्वघाति कहलाता है एव देशघाति प्रकृतियो का कोई रस वश-दल (वास की सीको) से निर्मापित चटाई

---

१ घाइखओवसमेण सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस्स।
ताण हणति देस सजलणा णोकसाया य ॥ —कर्मप्रकृति, यशो टीका से उद्धृत।

२ उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—
अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय रहने पर श्रुत (ज्ञान) की अपेक्षा जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और सिर्फ सम्यक्त्व की प्राप्ति मे बाधक नही होना ही सर्वघाति का लक्षण नही है। क्योकि सम्यक्त्व की तरह चारित्र भी जीव का स्वभाव है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय मे जीव को सर्वत या देशत चारित्र नही होता है। अप्रत्याख्यानावरण मे अकार सर्व निषेधार्थक है। इसीलिये अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाति है। देशघाति तो इसको तभी कह सकते थे जब यह चारित्र मे न्यूनता की कारण होती। किन्तु इसके उदय रहते सर्वत या देशत चारित्र प्राप्त ही नही हो पाता है। जो मूल को ही सर्वथा उत्पन्न न होने दे तो फिर उसमे न्यूनता का विचार कैसे सम्भव है? अत अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाति है—

सव्व देसोवजओपच्चक्खाण न जेसि उदयम्मि।
ते अप्पच्चक्खाणा सव्वनिसेहे मओऽकारो ॥ —विशेषा भाष्य १२३२

३ यहा बध की अपेक्षा सर्वघाति प्रकृतिया बीस और देशघाति प्रकृतिया पच्चीस बतलाई है। लेकिन उदय की अपेक्षा सर्वघाति प्रकृतिया इक्कीस और देशघाति प्रकृतिया छब्बीस होगी। इस प्रकार बध और उदय मे दो प्रकृतियो का अन्तर हो जाता है। इसका कारण यह है कि बधयोग्य प्रकृतिया एक सौ बीस है और उदययोग्य एक सौ बाईस। क्योकि सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का बध तो नही होता है, किन्तु उदय होता है। तब सर्वघाति बीस प्रकृतियो मे सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय को मिलाने पर इक्कीस प्रकृतिया सर्वघाति और देशघाति पच्चीस प्रकृतियो मे सम्यक्त्व प्रकृति को मिलाने पर छब्बीस प्रकृतियां देशघाति होगी।

के समान अति स्थूल सैकडो छिद्रो मे व्याप्त और कोई रस चिकने वस्त्र के समान अति सूक्ष्म छिद्रो से युक्त अल्प स्नेहवाला, विमल और अपने विषयभूत गुण के एकदेश को घात करने से देशघाति होता है। किन्तु अघातिनी प्रकृतियो का रस उक्त दोनो प्रकार के रसो मे विलक्षण होने के कारण अघाति कहलाता है। केवल घाति प्रकृतियो के सम्पर्क से अघातिनी प्रकृतियो का रस-विपाक देखा जाता है। जैसे—कोई स्वय चोर नही है, किन्तु चोरो के सम्पर्क से चोरपना देखा जाता है।

९-१० परावर्त्तमान, अपरावर्त्तमान प्रकृतिया

या[1] प्रकृतय प्रकृत्यन्तरस्य बधमुदय वा विनिवार्य बधमुदय वाऽगच्छन्ति ता परावर्त्तमाना, इतरा अपरावर्त्तमाना —जो प्रकृतिया दूसरी प्रकृति के बध या उदय को रोककर बध या उदय को प्राप्त होती है, वे परावर्त्तमाना प्रकृतिया और इनके विपरीत प्रकृतिया अपरावर्त्तमाना प्रकृतिया कहलाती है।

इनमे ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, पराघात, तीर्थंकर, उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और नामकर्म की नौ ध्रुवबधिनी प्रकृतिया, ये उनतीस प्रकृतिया बध और उदय के आश्रय से अपरावर्त्तमाना है। क्योकि इन प्रकृतियो का बध या उदय बधने वाली या वेद्यमान शेष प्रकृतियो के द्वारा घात नही किया जा सकता है। शेष इक्यानवै प्रकृतिया बध की अपेक्षा परावर्त्तमाना है तथा उदय की उपेक्षा इन्ही (इक्यानवै) मे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनो को और मिला देने पर तेरानवै प्रकृतिया परावर्त्तमाना है।

११-१२ शुभ-अशुभ प्रकृतियां

जीवप्रमोदहेतुरसोपेता प्रकृतय शुभा, नास्ति शुभो रसो यासु ता अशुभा —जो प्रकृतिया जीव के प्रमोद के कारणभूत रस से युक्त होती है, वे शुभ (पुण्य) प्रकृतिया कहलाती है और जिनमे शुभ रस नही होता है, वे अशुभ (पाप) प्रकृतिया कहलाती है। इनमे मनुष्यत्रिक, देवत्रिक, तिर्यंचायु, उच्छ्वास नामकर्म, शरीरपचक, अगोपागत्रिक, शुभविहायोगति, शुभवर्णादि चतुष्क, त्रसदशक, तीर्थंकर नाम, निर्माण, प्रथम सहनन, प्रथम सस्थान, आतप नाम, पराघात नाम, पचेन्द्रिय जाति, अगुरुलघु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और उद्योत नामकर्म, ये बयालीस प्रकृतिया शुभ[1] है और शेष बयासी प्रकृतिया अशुभ है।

वर्णादि चतुष्क की सख्या शुभ प्रकृतियो मे भी ग्रहण की जाती है और अशुभ प्रकृतियो की सख्या मे भी ग्रहण की जाती है। क्योकि इनका शुभ-अशुभ रूप दोनो प्रकार होना सम्भव है।[2]

---

१ यहा गिनाई गई बयालीस शुभ प्रकृतिया सर्वत्र शुभ प्रकृतियो के रूप मे प्रसिद्ध है। लेकिन आचार्य उमास्वाति ने—'सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्' (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ८/२६ मे) सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चार प्रकृतियो को भी शुभ (पुण्य) प्रकृति बतलाया है। ये चार प्रकृतिया दूसरे किसी भी ग्रथ मे पुण्य रूप मे वर्णन नही की गई है। इन चार प्रकृतियो को पुण्य रूप मानने वाला मतविशेष प्राचीन है, क्योकि भाष्यवृत्तिकार श्री सिद्धसेनगणि ने भी मतभेद को दर्शाने वाली कारिकायें दी है और लिखा है कि इस मतव्य का रहस्य सम्प्रदायविच्छेद होने से हमे मालूम नही हुआ। चौदह पूर्वधारी (बहुश्रुत) गम्य है। इनको शुभ प्रकृति मानने के सम्बन्ध मे एक सभव दृष्टिकोण परिशिष्ट मे देखिये।

२ वर्णचतुष्क को उभयभेदो मे ग्रहण करने से शुभ और अशुभ प्रकृतियो की सख्या क्रमश बयालीस और बयासी बतलाई है। लेकिन वर्णचतुष्क को शुभ प्रकृतियो मे ग्रहण करने पर अशुभ प्रकृतियो की सख्या अठहत्तर और शुभ प्रकृतियों की सख्या बयालीस होगी और वर्णचतुष्क को अशुभ प्रकृतियो मे ग्रहण करने पर शुभ प्रकृतिया अडतीस और अशुभ प्रकृतिया बयासी मानी जायेंगी।

सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व उदय की अपेक्षा अशुभ है, बन्ध की अपेक्षा नही। क्योकि इन दोनो का बन्ध ही नही होता है, इसलिये इनको पृथक् रखा गया है।

१३ पुद्गलविपाकिनी प्रकृतिया

पुद्गले पुद्गलविषये विपाक फलदानाभिमुख्य यासा ताः पुद्गलविपाकिन्य—पुद्गल मे अर्थात् पुद्गल के विषयभूत शरीरादिक मे जिनका विपाक अर्थात् फल देने की प्रमुखता पाई जाती है, वे पुद्गलविपाकिनी प्रकृतिया कहलाती है। वे छत्तीस है, यथा—आतपनाम, उद्योतनाम, सस्थान-षट्क, सहननषट्क, नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतिया,[1] आदि के तीन शरीर, अगोपागत्रिक, उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण। ये प्रकृतिया अपना विपाक पुद्गलो (पौद्गलिक शरीर) मे दिखलाती है। इस प्रकार का स्पष्ट लक्षण होने से ये पुद्गलविपाकिनी कहलाती है।

शका—रति और अरति मोहनीय कर्म का उदय पुदगलो को प्राप्त कर होता है। जैसे—कटक आदि के स्पर्श से अरति का विपाकोदय होता है और माला, चन्दन आदि के स्पर्श से रति का विपाकोदय होता है। तब इन दोनो को भी पुद्गलविपाकिनी क्यो नही कहा गया है?

समाधान—ऐसा नही है। क्योकि कटक आदि के स्पर्श के बिना भी प्रिय और अप्रिय वस्तु के दर्शन और स्मरण आदि से रति, अरति का विपाकोदय देखा जाता है। इसलिये पुद्गलो के साथ व्यभिचार आने से रति, अरति का पुद्गलविपाकीपना सिद्ध नही होता है। इसी प्रकार क्रोधादि विषयक प्रश्नो के बारे मे भी समाधान जानना चाहिये।

१४ भवविपाकिनी प्रकृतिया

भवे नारकादिरूपे स्वयोग्ये विपाक फलदानाभिमुख्य यासा ता भवविपाकिन्य—अपने योग्य नरकादि रूप भव मे फल देने की अभिमुखतारूप विपाक जिनका होता है, वे प्रकृतिया भवविपाकिनी कहलाती है। क्योकि बाधी गई आयु जब तक पूर्वभव के क्षय से स्वयोग्य भव प्राप्त नही होता है, तब तक उदय मे नही आती है। इसलिये वे भवविपाकिनी है।

शका—आयुकर्म के समान गतिया भी अपने योग्य भव की प्राप्ति होने पर ही उदय मे आती है। अतएव फिर उन्हे भी भवविपाकी क्यो नही कहा जाता है?

समाधान—आपका कहना सत्य है। किन्तु आयु का परभव मे सक्रमण से भी उदय नही होता है। इसलिये स्वभव के साथ व्यभिचार का सर्वथा अभाव होने से चारो आयु भवविपाकी कही जाती है, किन्तु गतियो का परभव मे भी सक्रमण से उदय होता है, इसलिये वे अपने भव के साथ व्यभिचार वाली है, अत उन्हे भवविपाकिनी नही कहा गया है।

१५ क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतिया

क्षेत्रे गत्यन्तरसक्रमणहेतुनभ पथे विपाक फलदानाभिमुख्य यासा ता क्षेत्रविपाकिन्य—दूसरी गति मे (भवान्तर मे) जाने के कारणभूत आकाश मार्ग, रूप क्षेत्र मे फल देने की अभिमुखता

१ निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, गध, रस, स्पर्श।

वाला विपाक जिन प्रकृतियो का होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कहलाती है । नरकानुपूर्वी आदि चारो आनुपूर्वी नामकर्म क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतिया है। ये प्रकृतिया पूर्व गति मे दूसरी गति मे जाने वाले जीव के अपान्तराल मे उदय मे आती है, शेपकाल मे नही। यद्यपि अपने योग्य क्षेत्र को छोडकर अन्यत्र भी इनका सक्रमोदय सभव है तथापि क्षेत्रहेतुक स्वविपाकोदय से जैसा इनका प्रादुर्भाव होता है, वैसा अन्य प्रकृतियो का नही होता है। दूसरी प्रकृतियो द्वारा स्पर्श नही किये जाने वाले असाधारण क्षेत्र के निमित्त से इनका विपाकोदय होता है, अत इनको क्षेत्रविपाकिनी कहा जाता है।

१६ जीवविपाकिनी प्रकृतिया

जीवे जीवगते ज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे विपाकस्तदनुग्रहोपघातादिसपादनाभिमुख्यलक्षणो यासां ता. जीवविपाकिन्य'—जीव मे अर्थात् जीवगत (असाधारण लक्षण रूप) ज्ञानादि स्वरूप मे जिन प्रकृतियो का अनुग्रह और उपघात आदि सपादन की अभिमुखता लक्षण वाला विपाक होता है, वे जीवविपाकिनी कहलाती है । वे इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, साता-असातावेदनीय, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को छोडकर मोहनीय की छब्बीस प्रकृतिया, अन्तरायपचक, गतिचतुष्क, जातिपचक, विहायोगतिद्विक, त्रसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुस्वर, दुस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, तीर्थंकरनाम, उच्छ्वासनाम, नीचगोत्र और उच्चगोत्र—ये छिहत्तर प्रकृतिया बधयोग्यता की अपेक्षा पचसग्रह मे जीवविपाकिनी कही गई है। अन्य ग्रथों मे तो उदययोग्य की विवक्षा से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को भी ग्रहण कर अठहत्तर प्रकृतिया जीवविपाकिनी कही है। ये प्रकृतिया जीव मे ही अपना विपाक दिखलाती है, अन्यत्र नही। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण की पाचो प्रकृतिया जीव के ज्ञान गुण का घात करती है । दर्शनावरणनवक प्रकृतिया आत्मा के दर्शन गुण को, मिथ्यात्व मोहनीय सम्यक्त्व गुण को, चारित्र मोहनीय की प्रकृतिया चारित्र गुण को और दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की प्रकृतिया दानादि लब्धि को घातती है। सातावेदनीय, असातावेदनीय सुख-दु ख का अनुभव कराती है और गतिचतुष्क आदि नामकर्म की प्रकृतिया गति आदि जीव की विविध पर्यायो को उत्पन्न करती है।

शका—भवविपाकी आदि प्रकृतिया भी वस्तुत जीवविपाकी ही है, क्योकि आयुकर्म की सभी प्रकृतिया अपने योग्य भव मे विपाक दिखाती है और वह विपाक उस भव को धारण करने रूप लक्षण वाला है एव वह भव जीव के ही होता है। उससे भिन्न दूसरे के नही । इसी प्रकार चारो आनुपूर्विया भी विग्रहगति रूप क्षेत्र मे विपाक को दिखलाती हुइ जीव के अनुश्रेणिगमन विषयक स्वभाव को धारण करती है तथा उदय को प्राप्त हुई आतप, सस्थान नाम आदि पुद्गल-विपाकिनी प्रकृतिया भी उस प्रकार की शक्ति को जीव मे उत्पन्न करती है कि जिसके द्वारा वह जीव उसी प्रकार के पुद्गलो को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलो की तथारूप ही रचनाविशेष करता है। इसलिये ये सभी प्रकृतिया जीवविपाकिनी ही माननी चाहिये।

समाधान—आपका यह कथन सत्य है, किन्तु केवल भवादि की प्राधान्य विवक्षा के विपाक से भिन्न होने के कारण पूर्वोक्त प्रकृतियो को जीवविपाकी कहा गया है।

प्रकारान्तर से प्रकृतियो की विशेषता का अधिकार

विपाक (फल देने रूप शक्ति) का आधार लेकर अन्य प्रकार मे भी अनुयोग किया जाता है। जैसे कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतिया दो प्रकार की होती है—हेतुविपाका और रसविपाका। इनमे से हेतु के आश्रय से जिनका विपाक दिखलाया जाता है, वे हेतुविपाका प्रकृतिया कहलाती हैं— **हेतुमधिकृत्यविपाको निर्दिश्यमानो यासा ता हेतुविपाका** । व पुद्‌गल, क्षेत्र, भव और जीव के हेतुभेद से चार प्रकार की पहले कह दी गई है तथा रस को मुख्य करके जिनका विपाक दिखलाया जाये वे रसविपाका प्रकृतिया कहलाती हैं—**रस मुख्यीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासा ता रस-विपाकाः**। वे चार प्रकार की होती हैं— एकस्थानक रसवाली, द्विस्थानक रसवाली, त्रिस्थानक रसवाली, चतु स्थानक रसवाली। इनमे शुभ प्रकृतियो का रस दूध, खाड आदि रसो के सदृश होता है और अशुभ प्रकृतियो का रस नीम, घोषातिकी (चिरायता) आदि के रस के समान।

जो स्वाभाविक रस होता है वह एकस्थानक रस कहलाता है। दो कर्षो (मापविशेष) मे आवर्तित करने (औटने, उबालने) पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, तत्सदृश द्विस्थानक रस होता है। पुन तीन कर्षो मे आवर्तित करने पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, उसके सदृश त्रिस्थानक रस होता है और चार कर्षो के आवर्तन करने पर निकाले गये एक कर्ष के समान चतु स्थानक रस होता है। एकस्थानक रस, द्विस्थानक रस आदि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति वाले जानना चाहिये ।[1]

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, पुरुषवेद, सज्वलनकषायचतुष्क और पाचो अन्तराय, इन सत्रह प्रकृतियो मे बध का आश्रय करके (बध की अपेक्षा) एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतु स्थानक रस की परिणति पाई जाती है । इनमे जब तक श्रेणी की प्राप्ति नही होती है, तब तक इन सत्रह प्रकृतियो का अध्यवसाय के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक या चतु स्थानक रस का बध होता है, किन्तु श्रेणी की प्राप्ति होने पर अनिवृत्तिबादर गुणस्थान (नौवे गुणस्थान) के काल के सख्यातो भागो के बीत जाने के अनन्तर इन प्रकृतियो के अशुभ होने पर भी उस समय होने वाले अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसायो (परिणामो) के योग से एकस्थानक रस का ही बध होता है । इस प्रकार बध की अपेक्षा यह सभी प्रकृतिया चारो स्थानक वाले रस से परिणत पाई जाती है। इसके सिवाय शेष सभी शुभ और अशुभ प्रकृतिया द्विस्थानक रस, त्रिस्थानक रस और चतु स्थानक रसवाली प्राप्त होती हैं। किन्तु कदाचित् भी एकस्थानक रसवाली नही पाई जाती है ।

इसका कारण यह है कि उक्त सत्रह प्रकृतियो के सिवाय हास्यादि अशुभ प्रकृतियो के एकस्थानक रस की बधयोग्य शुद्धि अपूर्वकरण, अप्रमत्त और प्रमत्तसयतो मे (छठे, सातवे और आठवे गुणस्थान मे) नही होती है और जब एकस्थानक रस के बधयोग्य परम प्रकर्ष को प्राप्त शुद्धि अनिवृत्तिबादर गुणस्थान काल के सख्यातो भागो से परे उत्पन्न होती है, तब वे प्रकृतिया बध को ही प्राप्त नही होती है ।[2] इसलिये उनका एकस्थानक रस नही कहा गया है।

१ इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

२ गुणस्थानो मे बधयोग्य प्रकृतियो की सख्या, उनके नाम और विशेष वक्तव्य परिशिष्ट मे देखिये।

वाला विपाक जिन प्रकृतियो का होता है, वे क्षेत्रविपाकिनी कहलाती है। नरकानुपूर्वी आदि चारो आनुपूर्वी नामकर्म क्षेत्रविपाकिनी प्रकृतिया है। ये प्रकृतिया पूर्व गति मे दूसरी गति मे जाने वाले जीव के अपान्तराल मे उदय मे आती है, शेषकाल मे नही। यद्यपि अपने योग्य क्षेत्र को छोडकर अन्यत्र भी इनका सक्रमोदय सभव है तथापि क्षेत्रहेतुक स्वविपाकोदय से जैसा इनका प्रादुर्भाव होता है, वैसा अन्य प्रकृतियो का नही होता है। दूसरी प्रकृतियो द्वारा स्पर्श नही किये जाने वाले असाधारण क्षेत्र के निमित्त से इनका विपाकोदय होता है, अत इनको क्षेत्रविपाकिनी कहा जाता है।

१६ जीवविपाकिनी प्रकृतिया

जीवे जीवगते ज्ञानादिलक्षणे स्वरूपे विपाकस्तदनुग्रहोपघातादिसपादनाभिमुख्यलक्षणो यासां ता. जीवविपाकिन्य '—जीव मे अर्थात् जीवगत (असाधारण लक्षण रूप) ज्ञानादि स्वरूप मे जिन प्रकृतियो का अनुग्रह और उपघात आदि सपादन की अभिमुखता लक्षण वाला विपाक होता है, वे जीवविपाकिनी कहलाती है। वे इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, साता-असातावेदनीय, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को छोडकर मोहनीय की छब्बीस प्रकृतिया, अन्तरायपचक, गतिचतुष्क, जातिपचक, विहायोगतिद्विक, त्रसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुस्वर, दु स्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, तीर्थंकरनाम, उच्छ्वासनाम, नीचगोत्र और उच्चगोत्र—ये छिहत्तर प्रकृतिया बधयोग्यता की अपेक्षा पचसग्रह मे जीवविपाकिनी कही गई है। अन्य ग्रथों मे तो उदययोग्य की विवक्षा से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को भी ग्रहण कर अठहत्तर प्रकृतिया जीवविपाकिनी कही है। ये प्रकृतिया जीव मे ही अपना विपाक दिखलाती है, अन्यत्र नही। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण की पाचो प्रकृतिया जीव के ज्ञान गुण का घात करती है। दर्शनावरणनवक प्रकृतिया आत्मा के दर्शन गुण को, मिथ्यात्व मोहनीय सम्यक्त्व गुण को, चारित्र मोहनीय की प्रकृतिया चारित्र गुण को और दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की प्रकृतिया दानादि लब्धि को घातती है। सातावेदनीय, असातावेदनीय सुख-दु ख का अनुभव कराती है और गतिचतुष्क आदि नामकर्म की प्रकृतिया गति आदि जीव की विविध पर्यायो को उत्पन्न करती है।

शका—भवविपाकी आदि प्रकृतिया भी वस्तुत जीवविपाकी ही है, क्योकि आयुकर्म की सभी प्रकृतिया अपने योग्य भव में विपाक दिखाती है और वह विपाक उस भव को धारण करने रूप लक्षण वाला है एव वह भव जीव के ही होता है। उससे भिन्न दूसरे के नही। इसी प्रकार चारो आनुपूर्विया भी विग्रहगति रूप क्षेत्र मे विपाक को दिखलाती हुइ जीव के अनुश्रेणिगमन विषयक स्वभाव को धारण करती है तथा उदय को प्राप्त हुई आतप, सस्थान नाम आदि पुद्गल-विपाकिनी प्रकृतिया भी उस प्रकार की शक्ति को जीव मे उत्पन्न करती है कि जिसके द्वारा वह जीव उसी प्रकार के पुद्गलो को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलो की तथारूप ही रचनाविशेष करता है। इसलिये ये सभी प्रकृतिया जीवविपाकिनी ही माननी चाहिये।

समाधान—आपका यह कथन सत्य है, किन्तु केवल भवादि की प्राधान्य विवक्षा के विपाक से भिन्न होने के कारण पूर्वोक्त प्रकृतियो को जीवविपाकी कहा गया है।

प्रकारान्तर से प्रकृतियो की विशेषता का अधिकार

विपाक (फल देने रूप शक्ति) का आधार लेकर अन्य प्रकार मे भी अनुयोग किया जाता है। जैसे कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतिया दो प्रकार की होती है—हेतुविपाका और रसविपाका। इनमे से हेतु के आश्रय से जिनका विपाक दिखलाया जाता है, वे हेतुविपाका प्रकृतिया कहलाती है— **हेतुमधिकृत्यविपाको निर्दिश्यमानो यासा ता हेतुविपाका** । वे पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव के हेतुभेद से चार प्रकार की पहले कह दी गई है तथा रस को मुख्य करके जिनका विपाक दिखलाया जाये वे रसविपाका प्रकृतिया कहलाती हैं—**रस मुख्यीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासा ता रसविपाका**। वे चार प्रकार की होती हैं— एकस्थानक रसवाली, द्विस्थानक रसवाली, त्रिस्थानक रसवाली, चतु स्थानक रसवाली। इनमे शुभ प्रकृतियो का रस दूध, खाड आदि रसो के सदृश होता है और अशुभ प्रकृतियो का रस नीम, घोषातिकी (चिरायता) आदि के रस के समान।

जो स्वाभाविक रस होता है वह एकस्थानक रस कहलाता है। दो कर्षो (मापविशेष) मे आवर्तित करने (औटने, उवालने) पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, तत्सदृश द्विस्थानक रस होता है। पुन तीन कर्षो मे आवर्तित करने पर जो एक कर्ष अवशिष्ट रहता है, उसके सदृश त्रिस्थानक रस होता है और चार कर्षो के आवर्तन करने पर निकाले गये एक कर्ष के समान चतु स्थानक रस होता है। एकस्थानक रस, द्विस्थानक रस आदि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति वाले जानना चाहिये ।[1]

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, पुरुषवेद, सज्वलनकषायचतुष्क और पाचो अन्तराय, इन सत्रह प्रकृतियो मे बध का आश्रय करके (बध की अपेक्षा) एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतु स्थानक रस की परिणति पाई जाती है। इनमे जब तक श्रेणी की प्राप्ति नही होती है, तब तक इन सत्रह प्रकृतियो का अध्यवसाय के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक या चतु स्थानक रस का बध होता है, किन्तु श्रेणी की प्राप्ति होने पर अनिवृत्तिबादर गुणस्थान (नौवे गुणस्थान) के काल के सख्यातो भागो के बीत जाने के अनन्तर इन प्रकृतियो के अशुभ होने पर भी उस समय होने वाले अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसायो (परिणामो) के योग से एकस्थानक रस का ही बध होता है। इस प्रकार बध की अपेक्षा यह सभी प्रकृतिया चारो स्थानक वाले रस से परिणत पाई जाती है। इसके सिवाय शेष सभी शुभ और अशुभ प्रकृतिया द्विस्थानक रस, त्रिस्थानक रस और चतु स्थानक रसवाली प्राप्त होती है। किन्तु कदाचित् भी एकस्थानक रसवाली नही पाई जाती है।

इसका कारण यह है कि उक्त सत्रह प्रकृतियो के सिवाय हास्यादि अशुभ प्रकृतियो के एकस्थानक रस की बधयोग्य शुद्धि अपूर्वकरण, अप्रमत्त और प्रमत्तसयतो मे (छठे, सातवे और आठवे गुणस्थान म) नही होती है और जब एकस्थानक रस के बधयोग्य परम प्रकर्ष को प्राप्त शुद्धि अनिवृत्तिबादर गुणस्थान काल के सख्यातो भागो से परे उत्पन्न होती है, तब वे प्रकृतिया बध को ही प्राप्त नही होती है।[2] इसलिये उनका एकस्थानक रस नही कहा गया है।

---

१ इसका विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

२ गुणस्थानो मे बधयोग्य प्रकृतियो की सख्या, उनके नाम और विशेष वक्तव्य परिशिष्ट मे देखिये।

यहाँ यह शका नही करनी चाहिये कि जैसे श्रेणी के आरोहण करने पर अनिवृत्तिवादर गुणस्थान के काल के सख्यातो भाग के व्यतीत हो जाने पर उससे परे (आगे) अतिविशुद्धता होने से मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियो का एकस्थानक रसबध सम्भव है, उसी प्रकार क्षपकश्रेणी के आरोहण करने पर सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के चरम, द्विचरम आदि समयो मे वर्तमान जीव के अतीव (अत्यन्त) विशुद्धता होने मे जिसका बध सम्भव है, ऐसे केवलद्विक (केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण) का एकस्थानक रसबध कैसे सम्भव नही है ? तो इसका कारण यह है कि स्वल्प भी केवलद्विक का रस सर्वघाति ही होता है । सर्वघातिनी प्रकृतियो के जघन्य पद मे भी द्विस्थानक रस ही पाया जाता है ।

सक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि भी शुभ प्रकृतियो का एकस्थानक रस नही बाधता है, किन्तु कुछ विशुद्धि को प्राप्त करने वाले मिथ्यादृष्टि के ही उसका बध सम्भव है । अत्यन्त सक्लेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के उसका बध असम्भव है और सक्लेश के उत्कर्ष होने पर शुभ प्रकृतियो मे एकस्थानक रसबध की सम्भावना को अवकाश नही है तथा जो नरकगति के योग्य वैक्रिय, तैजस आदि शुभप्रकृतिया अति सक्लेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के बन्ध को प्राप्त भी होती है, उनका भी इस प्रकार का स्वभाव होने से जघन्य पद की अपेक्षा भी द्विस्थानक ही रसबन्ध प्राप्त होता है, एकस्थानक रसबन्ध प्राप्त नही होता है ।

शंका—कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति मात्र सक्लेश की उत्कर्षता से बधती है । इसलिये जिन अध्यवसायो के द्वारा शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति होती है, उनके ही द्वारा एकस्थानक रस भी क्यो नही होता ?

समाधान—इसका कारण यह है कि यहाँ (स्थितिबध के प्रकरण मे) प्रथम स्थिति से प्रारम्भ कर एक-एक समय की वृद्धि से असख्यात स्थितिविशेष (स्थिति के भेद) होते है और एक-एक स्थिति मे असख्यात रसस्पर्धक सघातविशेष होते है । इसलिये बध्यमान उत्कृष्ट स्थिति मे एक-एक स्थितिविशेष पर जो असख्यात रसस्पर्धक सघात-विशेष पाये जाते है, वे उतने ही सब द्विस्थानक रस मे ही घटित होते है, एकस्थानक रस से घटित नही होते है । इसलिये शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबध होने पर भी एकस्थानक रसबन्ध प्राप्त नही होता है।[1] कहा भी है—

शुभ प्रकृतियो का भी उत्कृष्ट स्थितिबधाध्यवसाय स्थानो के द्वारा एकस्थानक रसबध प्राप्त नही होता है । क्योकि स्थितिबधाध्यवसायस्थानो से अनुभागस्थान असख्य गुणित होते है ।[2]

यहाँ पर सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियो के जो चतु स्थानक रसवाले या त्रिस्थानक रसवाले स्पर्धक[3] है, वे सभी नियम से सर्वघाती ही होते है । द्विस्थानकरस वाले स्पर्धक

१ इस शका-समाधान का विशेष आशय परिशिष्ट मे स्पष्ट किया है।

२ उक्कोसठिईअज्झवसाणेहि एगठाणिओ हु हो।
सुभियाण त न ज ठिइ असखगुणियाओ अणुभागा ।। —पचसग्रह, तृतीय द्वार, गा ५४

३ सर्वजघन्य गुणवाले प्रदेश के अविभाग प्रतिच्छेदो की राशि का वर्ग और समगुण वाले वर्गो के समूह को वर्गणा और वर्गणाओ के समूह को स्पर्धक कहते है । कर्मस्कन्ध मे, उसके अनुभाग मे, जीव के कषाय व योग मे तथा इसी प्रकार अन्यत्र भी स्पर्धक सज्ञा का ग्रहण किया जाता है। किसी भी द्रव्य के प्रदेशो मे अथवा उनकी शक्ति के अशो मे जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त जो क्रमिक वृद्धि या हानि होती है, उसी मे यह स्पर्धक उत्पन्न होते है।

सर्वघातिनी प्रकृतियो के तो सर्वघाति ही होते ह, किन्तु देशघातिनी प्रकृतियो के कितने ही रसस्पर्धक सर्वघाति और कितने ही देशघाति, इस प्रकार मिश्र रूप होते ह । एकस्थानक रस वाले स्पर्धक देशघातिनी प्रकृतियो के ही होते है, इसलिये वे देशघाति ही है ।

घाति प्रकृतियो में प्राप्त भाव

यहाँ पर अवधिज्ञानावरणादि देशघाति प्रकृतियो के सर्वघाति रसस्पर्धको मे विशुद्ध अध्यवसाय से देशघाति रूप परिणमन के द्वारा घात कर दिये जाने पर और जो देशघाति रसस्पर्धक अति स्निग्ध थे, उनको अल्प रस रूप कर दिये जाने पर उनके अन्तर्गत कतिपय रसस्पर्धक भाग का (जो उदयावलिका मे प्रविष्ट था) क्षय होने पर और शेष (जो उदयावलिका मे प्रविष्ट नही था) का विपाकोदयविष्कम्भ लक्षण वाले (व्यवधान रूप) उपशम के होने पर जीव के अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और चक्षुदर्शनादि क्षायोपशमिक गुण उत्पन्न होते है । उस समय अवधिज्ञानावरणादि प्रकृतियो के कुछ देशघाति रसस्पर्धको क क्षयोपशम से और कुछ देशघाति रसस्पर्धको के उदय से, क्षयोपशम से अनुविद्ध औदयिक भाव प्रवर्तता है और जब अवधिज्ञाना-वरणादि प्रकृतियो के सर्वघाति रसस्पर्धक विपाकोदय को प्राप्त होते है, तब तद्विषयक केवल औदयिक भाव प्रवर्तता है । मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय कर्म की प्रकृतियो के तो सदैव देशघाति रसस्पर्धको का ही उदय होता है, सर्वघाति रसस्पर्धको का नही । इसलिये इन प्रकृतियो के सदा ही औदयिक और क्षायोपशमिक भाव सम्मिलित रूप मे प्राप्त होते है, केवल औदयिक भाव कभी प्राप्त नही होता । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो के उदय मे भी क्षायोपशमिक भाव होना विरुद्ध नही है ।

मोहनीय कर्म की अनन्तानुबधी आदि प्रकृतियो के प्रदेशोदय होने पर क्षायोपशमिक भाव का होना अविरुद्ध है, विपाकोदय मे नही । क्योकि अनन्तानुबधी आदि प्रकृतिया सर्वघातिनी है और सर्वघातिनी प्रकृतियो के सभी रसस्पर्धक सर्वघाति ही होते है, इसलिये उनके विपाकोदय मे क्षयोपशम सम्भव नही है, किन्तु प्रदेशोदय मे सम्भव है ।

शका—सर्वघाति प्रकृतियो के रसस्पर्धक वाले प्रदेश भी सभी अपने घातने योग्य गुणो के घात करने रूप स्वभाव वाले होते है, इसलिये उनके प्रदेशोदय म भी क्षायोपशमिक भाव का होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शका नही करनी चाहिये । क्योकि उन सर्वघाति रसस्पर्धक वाले प्रदेशो का अध्यवसायविशेष से कुछ मद अनुभाग रूप कर विरल रूप से वेद्यमान देशघाति रसस्पर्धको के भीतर प्रवेश कर दिये जाने से उनकी यथास्थित (सर्वघाति के रूप मे स्थित) बल को अपने रूप मे प्रगट करने की सामर्थ्य नही रहती है । इसका आशय यह है कि सर्वघाति रसस्पर्धकप्रदेशो का अध्यवसाय विशेष से मद अनुभाग कर लेने पर उस मद अनुभाग को विरल रूप से वेद्यमान देशघाति रसस्पर्धको के भीतर प्रवेश करा देने पर जो सर्वघाति के रूप मे बल था, उस बल को प्रगट करने की सामर्थ्य नही रहती है, अर्थात् सर्वघात करने की सामर्थ्य नही रहती है ।

मिथ्यात्व और आदि की बारह कषायो से रहित शेष मोहनीय प्रकृतियो के प्रदेशोदय मे अथवा विपाकोदय मे क्षयोपशम अविरुद्ध है, क्योकि वे देशघातिनी है । परन्तु वे प्रकृतिया अध्रुवोदया है, इसलिये उनके विपाकोदय के अभाव मे और क्षायोपशमिक भाव के विजृम्भमाण होने पर (उत्तरोत्तर प्रवर्धमान होने पर) प्रदेशोदय वाली भी वे प्रकृतिया मनागपि (किंचिन्मात्र भी, स्वल्पमात्र भी) देशघातिनी नही है, किन्तु विपाकोदय के प्रवर्तमान होने पर और क्षायोपशमिक भाव के सम्भव होने पर मनाक् (कुछ) मालिन्यमात्र के करने मे वे देशघातिनी है ।

१७ स्वानुदयबधिनी प्रकृतिया

स्वस्यानुदय एव बधो यासा ता स्वानुदयबधिन्य —अपने अनुदय मे ही जिन प्रकृतियो का बध होता है, वे स्वानुदयबधिनी कहलाती है । ऐसी प्रकृतिया ग्यारह है—देवायु, नरकायु, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रियअगोपाग, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

देवगतित्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु) का देवगति म उदय होता है और नरकत्रिक का नरकगति मे तथा वक्रियद्विक का उभयत्र (देव और नरक गति दोनो मे) । किन्तु देव और नारक इन प्रकृतियो को बाधते नही है । क्योकि उनका ऐसा ही भवस्वभाव है । तीर्थंकरनाम भी केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर उदययोग्य होता है, किन्तु उस समय उसका बन्ध नही होता है । क्योकि अपूर्वकरण गुणस्थान (आठवे गुणस्थान) मे ही उसका बधव्यवच्छेद हो जाता है । आहारकशरीर के प्रयोग करने के काल मे लब्धि के उपयोगजनित प्रमाद से और उसके उत्तरकाल मे मद सयम वाले गुणस्थानवर्ती होने से आहारकद्विक के उदय मे उनका बन्ध नही होता है । इस प्रकार ये सभी प्रकृतिया स्वानुदयबधिनी है ।

१८. स्वोदयबधिनी प्रकृतिया

स्वोदय एव बधो यासा ता स्वोदयबधिन्य —अपने उदय मे ही जिनका बध होता है, वे प्रकृतिया स्वोदयबधिनी कहलाती है । उनके नाम इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपचक, मिथ्यात्व, निर्माणनाम, तजस, कार्मण, स्थिर, अस्थिर, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभनाम और अशुभनाम । ये सत्ताईस प्रकृतिया ध्रुवोदया है । इसलिये इनका उदयविच्छेद होने तक सर्वदा उदय पाया जाता है और उदय रहने तक इनका बध होते रहने से ये स्वोदयबधिनी कहलाती है ।[1]

१९ उभयबधिनी प्रकृतिया

उभयस्मिन्नुदयेऽनुदये वा बन्धो यासा ता उभयबधिन्य —जिन प्रकृतियो का उदय अथवा अनुदय दोनो ही अवस्थाओ मे बध होता है, वे उभयबधिनी कहलाती है । वे इस प्रकार है—

निद्रापचक, जातिपचक, सस्थानषट्क, सहननषट्क, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पराघात, उपघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, साता-असातावेदनीय, उच्चगोत्र, नीचगोत्र, मनुष्यत्रिक, तिर्यंचत्रिक,

१ प्रत्येक गुणस्थान मे उदय योग्य प्रकृतियो का विवरण परिशिष्ट मे देखिए ।

औदारिकद्विक, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, सुस्वर, सुभग, आदेय, यश कीर्ति, दुस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, ये बयासी प्रकृतिया उभयबधिनी है । क्योकि इन प्रकृतियो का तियच अथवा मनुष्यो के यथायोग्य उदय होने पर अथवा उदय नही होने पर भी बध सम्भव है ।

२०. समकव्यवच्छिद्यमानबधोदया प्रकृतिया

समकमेककाल व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासा ता समकव्यवच्छिद्यमानबधोदया—जिन प्रकृतियो का समक अर्थात् एक काल मे बध और उदय विच्छेद को प्राप्त होता है, वे समकव्य-वच्छिद्यमान बधोदया कहलाती है । उनके नाम इस प्रकार है—

सज्वलन लोभ के बिना पन्द्रह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्मत्रिक, आतप और पुरुषवेद, कुल मिलाकर ये छब्बीस प्रकृतिया है। इनमे से सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन पाच प्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थान मे, अनन्तानुबधी कषायो का सासादन गुणस्थान मे, मनुष्यानुपूर्वी और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायो का अविरत गुणस्थान मे, प्रत्याख्यानावरण कषायो का देशविरत गुणस्थान मे, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा का अपूर्वकरण मे, सज्वलनत्रिक और पुरुषवेद का अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे एक साथ ही बध और उदय विच्छेद को प्राप्त होते है । इसलिये ये सभी प्रकृतिया समकव्यवच्छिद्यमानबधोदया कहलाती है ।

२१ क्रमव्यवच्छिद्यमानबधोदया प्रकृतिया

क्रमेण पूर्व बन्ध पश्चादुदय इत्येवरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासा ता क्रमव्यवच्छि-द्यमानबधोदया'—क्रम स पहले जिनका बधविच्छेद हो और पश्चात् उदयविच्छेद हो, इसप्रकार से विच्छिन्न होने वाली प्रकृतिया क्रमव्यवच्छिद्यमानबधोदया प्रकृतिया कहलाती ह । ऐसी प्रकृतिया पूर्व मे वक्ष्यमाण प्रकृतियो से अतिरिक्त छियासी प्रकृतिया है, यथा—ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियो का सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के चरम समय मे बधविच्छेद होता है और उदयविच्छेद क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय मे होता है । निद्रा और प्रचला का बन्धविच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग म होता है और उदयविच्छेद क्षीणकषाय गुणस्थान के द्विचरम समय मे होता है । असातावेदनीय का प्रमत्तसयत गुणस्थान मे और सातावेदनीय का सयोगिकेवली के चरम समय मे बधविच्छेद होता है तथा इन दोनो ही प्रकृतियो का उदयविच्छेद सयोगिकेवली के चरम समय मे अथवा अयोगिकेवली के चरम समय मे होता है तथा अन्तिम सस्थान का मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे, मध्यम सस्थानचतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति और दुस्वर नामकर्म का सासादन गुणस्थान मे, औदारिकद्विक और प्रथम सहनन का अविरत गुणस्थान मे, अस्थिर और अशुभ नाम का प्रमत्त गुणस्थान मे, तैजस, कार्मण, समचतुरस्रसस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति और निर्माण का अपूर्वकरण के छठे भाग मे बधविच्छेद होता है, किन्तु इन उनतीस प्रकृतियो का उदयविच्छेद सयोगि जिन के प्रथम समय मे होता है तथा मनुष्यत्रिक का बधविच्छेद अविरत गुणस्थान मे, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय और तीर्थंकर नामकर्म का अपूर्वकरण के छठे भाग मे, यश कीर्ति

और उच्चगोत्र का सूक्ष्मसपराय गुणस्थान के अतिम समय मे बधविच्छेद होता है, किन्तु इन वारह प्रकृतियो का उदयविच्छेद अयोगि जिन के चरम समय मे होता हे तथा स्थावर, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकत्रिक, अन्तिम महनन और नपुसकवेद का बध-विच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे होता है, किन्तु इनका उदयविच्छद यथाक्रम से सासादन, अविरत, अप्रमत्तविरत और अनिवृत्तिवादर गुणस्थान मे होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—स्थावर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति का उदयविच्छेद सासादन गुणस्थान मे, नरकत्रिक का उदयविच्छेद अविरति गुणस्थान मे, अतिम महनन का उदयविच्छेद अप्रमत्त गुणस्थान मे और नपुसकवेद का उदयविच्छेद अनिवृत्तिवादर गुणस्थान मे होता है तथा स्त्रीवेद का बधविच्छेद सासादन गुणस्थान मे और उदयविच्छेद अनिवृत्तिवादर गुणस्थान मे होता है। तिर्यचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, तिर्यच-गति, तिर्यचायु, उद्योत, नीचगोत्र, स्त्यानर्द्धित्रिक, चतुर्थ और पचम महनन, दूसरा और तीसरा महनन, इनका बधव्यवच्छेद सासादन गुणस्थान मे होता है, किन्तु उदयव्यवच्छेद अविरत, देशविरत, प्रमत्त-विरत, अप्रमत्तविरत और उपशातमोह गुणस्थानो मे होता हे। जो इस प्रकार जानना चाहिये कि तिर्यचानुपूर्वी, दुर्भग और अनादेय का उदयव्यवच्छेद अविरत गुणस्थान मे होता है। तिर्यचगति, तिर्यचायु, उद्योत और नीचगोत्र का उदयविच्छेद देशविरत गुणस्थान मे होता है। स्त्यानर्द्धित्रिक का उदयविच्छेद प्रमत्त गुणस्थान मे होता है। चौथे एव पाचवे सहनन का अप्रमत्त गुणस्थान मे और दूसरे व तीसरे सहनन का उपशान्तमोह गुणस्थान मे उदयविच्छद होता है तथा अरति और शोक का बधविच्छेद प्रमत्त गुणस्थान मे होता हे और उदयव्यवच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान मे होता है। सज्वलन लोभ का बधविच्छेद अनिवृत्तिवादर गुणस्थान के चरम समय मे होता है और उदयव्यवच्छेद सूक्ष्मसपराय गुण-स्थान के अतिम समय मे होता है। इस प्रकार ये छियासी प्रकृतिया क्रमव्यवच्छिद्यमानबधोदया है।

२२ उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदया प्रकृतिया

पूर्वमुदय पश्चाबन्ध इत्येवमुत्क्रमेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासा ता· उत्क्रमव्यवच्छि-द्यमानबधोदया—जिन प्रकृतियो का पहले उदय विच्छेद और पीछे बध विच्छेद को प्राप्त होता है, वे उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबधोदया प्रकृति कहलाती है। ऐसी प्रकृतिया आठ है, यथा—अयश कीर्ति, सुरत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक। इनमे से अयश कीर्ति नाम का प्रमत्त गुणस्थान मे, देवायु का अप्रमत्त गुणस्थान मे, देवद्विक और वैक्रियद्विक का अपूर्वकरण गुणस्थान मे बधव्यवच्छेद होता है किन्तु इन छहो प्रकृतियो का उदयविच्छेद अविरत गुणस्थान मे होता है। आहारकद्विक का बधव्यवच्छेद अपूर्वकरण गुणस्थान मे होता है और उदयव्यवच्छेद प्रमत्तसयत गुणस्थान म होता है।[1]

---

१ उपाध्याय यशोविजयजी ने कर्मप्रकृति टीका मे आहारकद्विक का उदयविच्छेद सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे बतलाया है। जो कर्मग्रथिको के मत से अपेक्षाकृत भिन्न है। कर्मशास्त्रियो का मत है कि कोई चतुर्दशपूर्वधारी मुनि जब अपने सशय आदि के निवारणार्थ आहारकलब्धि का प्रयोग करते है, उस समय लब्धि का प्रयोग वाले होने से प्रमादी भी हो सकते है। क्योकि कुछ लब्धिया ऐसी है कि प्रयोगवर्ती उत्सुक हो सकता है और उत्सुकता हुई तो उस उत्सुकता मे कदाचित स्थिरता या एकाग्रता का भग सभव है। छठे गुणस्थान तक ही प्रमाद का सद्भाव है। उसके आगे प्रमाद का अभाव हो जाने से आहारकद्विक का उदयविच्छेद छठे गुणस्थान के चरम समय मे हो जाता है।

उपाध्यायजी ने सातवें गुणस्थान में जो आहारकद्विक का उदयविच्छेद बतलाया है, वह भी अपेक्षाविशेष से ठीक है। क्योकि कोई मुनि विशुद्ध परिणाम से आहारक शरीरवान होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते है। परन्तु ऐसा क्वचित्, कदाचित बहुत ही अल्पकाल के लिये होता है। अतएव इस क्वचित्, कदाचित् अल्प सामयिक स्थिति की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थान मे भी आहारकद्विक का उदयविच्छेद मानना ठीक है। यह एक विशेषस्थिति है। सामान्य से तो छठे गुणस्थान में ही आहारकद्विक का उदयविच्छेद हो जाता है।

२३. सान्तरबंधिनी प्रकृतियां

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः, उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतः, ताः सान्तरबन्धाः —जिन प्रकृतियों का जघन्य से एक समयमात्र बंध होता है और उत्कर्ष से एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त तक बंध होता है, उससे परे नहीं होता है, वे सान्तरबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं। अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी सान्तर अर्थात् विच्छेद रूप अन्तर सहित जिनका बंध होता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति सान्तर शब्द की है। सारांश यह है कि अन्तर्मुहूर्त के ऊपर जिनका बंधविच्छेद नियम से होता है और अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बंधविच्छेद और बंध होने रूप परिवर्तन होता रहता है, उनको सान्तरबंधिनी प्रकृतियां समझना चाहिये। ऐसी प्रकृतियां इकतालीस हैं। जो इस प्रकार हैं—असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक, आहारकद्विक, प्रथम संस्थान के बिना शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन के बिना शेष पांच संहनन, आदि की चार जातियां, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और स्थावरदशक।

ये इकतालीस प्रकृतियां जघन्य से एक समयमात्र और उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त तक बंधती हैं। इससे आगे अपने बंध के कारण का सद्भाव होने पर भी तथाजातीय स्वभाव होने से और इनके बंधने योग्य अध्यवसाय के परावर्तन के नियम से प्रतिपक्षी प्रकृतियां बंधने लगती हैं। इसलिये ये सान्तरबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं।

२४. सान्तरनिरन्तरबंधिनी प्रकृतियां

यासां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः उत्कर्षतस्तु समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्तस्योपर्यपि कालमसंख्येयं (संख्येयं) यावत्ताः सान्तरनिरन्तरबन्धाः —जिन प्रकृतियों का बंध जघन्य एक समयमात्र से लेकर उत्कर्षतः निरन्तर अन्तर्मुहूर्त तक और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर भी (संख्यात), असंख्यात काल तक बंध होता है, वे सान्तर-निरन्तरबन्धिनी कहलाती हैं।

अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी वे कभी सान्तर अर्थात् अन्तर के साथ बंधती हैं और कभी निरन्तर अर्थात् अन्तर के बिना बंधती हैं। इस कारण इनको सान्तर-निरन्तरबंधिनी कहा गया है। भावार्थ यह हुआ कि अन्तर्मुहूर्त के मध्य में भी जिनका बंध विच्छिन्न हो सकता है और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर बंध विच्छिन्न हो और न भी हो, इस प्रकार की उभयवृत्ति रूप जाति वाली प्रकृतियों को सान्तर-निरन्तरबन्धिनी कहते हैं। ऐसी प्रकृतियां सत्ताईस हैं—समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघात, उच्छ्वास, पुरुषवेद, पंचेन्द्रियजाति, सातावेदनीय, शुभविहायोगति, वैक्रियद्विक, औदारिकद्विक, सुरद्विक, मनुजद्विक, तिर्यग्द्विक, गोत्रद्विक, सुस्वरत्रिक, त्रसचतुष्क। ये सत्ताईस प्रकृतियां जघन्य से एक समयमात्र बंधती हैं और उसके पश्चात् इनका बंध रुक सकता है, इसलिये ये सान्तर और उत्कर्ष से अनुत्तरवासी देवादिकों के द्वारा असंख्यात काल तक बंधती रहती हैं, अतः अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बंधने के व्यवच्छेद का अभाव होने से निरन्तर बंधिनी कहलाती हैं। इस प्रकार सान्तर और निरन्तर बंध की युगपद् विवक्षा से इनको सान्तरनिरन्तरबंधिनी कहा गया है।

२५ निरन्तरबंधिनी प्रकृतिया

जघन्येनापि या अन्तर्मुहूर्तं यावन्नैरन्तर्येण बध्यन्ते ता निरन्तरबन्धा — जो प्रकृतिया जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर बधती रहती है, वे निरन्तरबधिनी कहलाती है। अन्तर्मुहूर्त के मध्य म बधव्यवच्छेद रूप अन्तर जिनका निकल गया है ऐसा बन्ध जिनका होता है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति होने से वे निरन्तरबधिनी है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के मध्य म जिनका बध अविच्छिन्न रूप से होता रहता है, उनको निरन्तरबधिनी जानना चाहिये। ऐसी प्रकृतिया बावन है, जो इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक दर्शनावरणनवक, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण, उपघात और वर्णचतुष्क, ये सैतालीस ध्रुवबधिनी प्रकृतिया तथा तीर्थकरनाम और आयुचतुष्क। इन बावन प्रकृतिया का बध अन्तर्मुहूर्त के मध्य मे विच्छेद को प्राप्त नही होता है। अर्थात् बध प्रारम्भ होने के बाद ये लगातार अन्तर्मुहूर्त तक बधती रहती है।

२६ उदयसक्रमोत्कृष्टा प्रकृतिया

यासा विपाकोदये प्रवर्त्तमाने सक्रमत उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म लभ्यते, न बधत, ता. उदयसक्रमोत्कृष्टा —जिन प्रकृतियो का विपाकोदय प्रवर्तमान होने पर सक्रम मे उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, बध से नही पाया जाता है, वे उदयसक्रमोत्कृष्टा प्रकृतिया कहलाती है। ऐसी प्रकृतिया तीस है—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्व, स्थिरादिषट्क, हास्यादिषट्क, वेदत्रिक, शुभविहायोगति, आदि के पाच सहनन और आदि के पाच सस्थान, उच्चगोत्र। इन उदय को प्राप्त प्रकृतियो की जो विपक्षभूत नरकगति, असातावेदनीय और मिथ्यात्व आदि प्रकृतिया है, उनकी उत्कृष्ट स्थिति को बाध कर पुन जब जीव इन्ही उदय प्राप्त प्रकृतियो का बध प्रारम्भ करता है, तब बध्यमान प्रकृतियो मे पूर्वबद्ध नरकगति आदि विपक्षभूत प्रकृतियो के दलिको का सक्रमण करता है। क्योकि शुभ प्रकृतियो की स्थिति अपने बध की अपेक्षा थोडी होती है। इसलिये सक्रम से इनकी उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।[1]

२७ अनुदयसक्रमोत्कृष्टा प्रकृतिया

यासा प्रकृतीनामनुदये सक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसक्रमोत्कृष्टा —जिन प्रकृतियो का उदय नही होने पर सक्रम से उत्कृष्ट स्थिति का लाभ होता है, अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति हो जाती है, वे अनुदयसक्रमोत्कृष्टा कहलाती है। ऐसी प्रकृतिया तेरह है—मनुष्यानुपूर्वी, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारकद्विक, देवद्विक, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और तीर्थकरनाम। इन तेरह प्रकृतियो की उत्कृष्ट

---

१ उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है—
जब इन्ही उदयप्राप्त प्रकृतियो के समय पुन नवीन प्रकृतियो का बन्ध प्रारम्भ करता है, तब इन नयी बधने वाली प्रकृतियो मे विपक्षभूत प्रकृतियो के दलिको को सक्रमित करता है। इसलिये नयी बधने वाली प्रकृतियो की स्थिति बढ जाती है। जैसे—सातावेदनीय यदि बन्धनकरण से बधती है तो वह स्वल्प स्थिति का बध करती है और यदि उस आत्मा ने विपक्षभूत असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की बाध ली हो और पुन पूर्व मे बधी हुई सातावेदनीय का बध प्राप्त करता हो तो उस समय यदि बधनकरण से ही चले तो स्वल्प स्थिति ही बाधता है। परन्तु बधनकरण से नही चलकर यदि सक्रमणकरण से चलता है तो उस नवीन बधने वाली सातावेदनीय प्रकृति मे पूर्व बधी हुई असातावेदनीय के कर्मदलिको का सक्रमण करता हुआ उस सातावेदनीय प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबध कर सकता है।

स्थिति स्वबध में प्राप्त नही होती है, किन्तु सक्रम में प्राप्त होती है। सक्रम मे उत्कृष्ट स्थिति तब पाई जाती है जब इनकी विपक्ष रूप प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थितियों को बाधकर उसके उत्तर काल मे पुन इन्ही के बाधे जाने पर उनमे पूर्वबद्ध विपक्षी प्रकृतियो के दलिको का सक्रमण होता है। उक्त तेरह प्रकृतियो की विपक्षभूत जो प्रकृतिया है, उनकी उत्कृष्ट स्थिति को बाधने वाला प्राय मिथ्यादृष्टि आदि मनुष्य होता है, किन्तु उस समय इन प्रकृतियो का उदय नही होता है। इसलिये ये अनुदयसक्रमोत्कृष्टा कहलाती है।

२८-२९. उदयबधोत्कृष्टा, अनुदयबधोत्कृष्टा प्रकृतिया

यासा प्रकृतीना विपाकोदये सति बधादुत्कृष्ट स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबधोत्कृष्टा, यासा तु विपाकोदयाभावे बधादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता' अनुदयबधोत्कृष्टा —जिन प्रकृतियो का विपाकोदय होने पर बध से उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, वे उदयबधोत्कृष्टा प्रकृतिया और जिन प्रकृतियो का विपाकोदय के अभाव म बध मे उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, वे अनुदयबधोत्कृष्टा प्रकृतिया कहलाती है।

इनमें नरकद्विक, तिर्यचद्विक, औदारिकद्विक, सेवार्तसहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और पाचो निद्राये, ये पन्द्रह प्रकृतिया अनुदयबधोत्कृष्टा है और आयुचतुष्क से रहित शेष पचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, हुण्डसस्थान, पराघात, उच्छ्वास, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, निर्माण, उपघात, वर्णचतुष्क, स्थिरषट्क, त्रसादिचतुष्क, असातावेदनीय, नीचगोत्र, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक और दर्शनावरणचतुष्क ये साठ प्रकृतिया उदयबधोत्कृष्टा है। क्योकि उदय को प्राप्त इन प्रकृतियो की स्वबन्ध से उत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है। चारो आयु कर्म का परस्पर सक्रम नही होता है और बध्यमान आयु के दलिक पूर्वबद्ध आयु के उपचय (प्रदेशवृद्धि) के लिये समर्थ नही होते है। इसलिये तिर्यच और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति किसी भी प्रकार सम्भव नही है। अत ये प्रकृतिया अनुदयबधोत्कृष्टा आदि चारो सज्ञाओं[1] से रहित है। देवायु और नरकायु को अनुदयबधोत्कृष्टा होने पर भी प्रयोजन के अभाव से पूर्वाचार्यो ने उन्हे उदयबधोत्कृष्टा आदि चारो सज्ञाओ से अतीत विवक्षित किया है।

३०-३१ अनुदयवती, उदयवती प्रकृतिया

यासा प्रकृतीना दलिक चरमसमयेऽन्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसक्रमेण सक्रमय्यान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत्, न स्वोदयेन, ता अनुदयवतीसज्ञा, यासा च दलिक चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते ता. उदयवत्य —जिन प्रकृतियो के दलिक चरम समय मे अन्य प्रकृतियो मे स्तिबुकसक्रमण[2] से सक्रमित होकर अन्य प्रकृति के रूप मे अनुभव किये जाये, स्वोदय से नही, उन प्रकृतियो की अनुदयवती सज्ञा है और जिन प्रकृतियो के दलिक चरम समय में अपने विपाक से वेदन किये जाये, उनकी उदयवती सज्ञा है।

१ उदयसक्रमोत्कृष्टा, अनुदयसक्रमोत्कृष्टा, उदयबधोत्कृष्टा, अनुदयबधोत्कृष्टा।

२ समान जातीय जिस किसी विवक्षित एक प्रकृति के उदय आने पर अनुदय प्राप्त शेष प्रकृतियो का जो उसी प्रकृति में सक्रमण होकर उदय आता है, उसे स्तिबुकसक्रमण कहते है। स्तिबुकसक्रमण को प्रदेशोदय भी कहते है। जिसका स्पष्टीकरण सक्रमकरण मे किया जा रहा है।

इनमे उदयवती प्रकृतिया चौतीस हैं। जिनके दलिक अन्तिम समय में स्वोदय से वेदन किये जाते है, उनके नाम इस प्रकार है—ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, आयुचतुष्क, दर्शनचतुष्क, साता-असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुसकवेद तथा मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, शुभ, सुस्वर, आदेय और जिननाम, ये चरमोदय सज्ञावाली[1] नामकर्म की नौ प्रकृतिया तथा उच्चगोत्र, वेदकसम्यक्त्व और सज्वलनलोभ। इनका कुल योग चौतीस है।

उपर्युक्त प्रकृतियो मे से ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क, इन चौदह प्रकृतियो का क्षीणकपाय गुणस्थान के चरम समय मे स्वोदय से विपाकवेदन होता है। नामनवक, साता-असातावेदनीय और उच्चगोत्र का अयोगिकेवली के चरम समय मे स्वोदय मे विपाक वेदन होता है। सज्वलनलोभ का सूक्ष्मसपराय के अतिम समय में स्वोदय मे विपाक वेदन होता है। वेदकसम्यक्त्व का अपने क्षपण के अतिम समय मे स्वोदय मे विपाक वेदन होता है। स्त्री और नपुसक वेद का क्षपकश्रेणि मे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के काल के सख्यात भागो के बीत जाने पर उस वेद के उदय के अतिम समय मे स्वोदय से विपाक वेदन होता है। चारो आयुकर्मो का अपने भव के चरम समय मे स्वोदय से वेदन होता है। इसलिये ये सभी प्रकृतिया उदयवती कही जाती हैं।

यद्यपि साता-असातावेदनीय और स्त्री, नपुसक वेदो का अनुदयवतित्व भी सम्भव है, तथापि **'प्राधान्येनैव व्यपदेश.'** इस न्याय के अनुसार इन प्रकृतियो को उदयवती कहा गया है, अर्थात् उदयवतीवृत्ति जातिमत्व लक्षण रूप होने मे अनुदयवतित्व उनमे नही है। क्योकि उदयवतीवृत्ति रूप जातिमत्व लक्षण की उनमे प्रधानता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये।

उक्त उदयवती प्रकृतियो से शेष रही एक सौ चौदह प्रकृतिया अनुदयवती है। क्योकि उनके दलिको का चरम समय मे अन्यत्र ध्रुव रूप से सक्रमण होने के कारण स्वविपाक से वेदन नही होता है। जैसे कि चरमोदय सज्ञावाली नामनवक, नरकद्विक, तिर्यचद्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत, इन प्रकृतियो को छोडकर नामकर्म की इकहत्तर प्रकृतिया और नीचगोत्र, ये बहत्तर प्रकृतिया उदय मे आई हुई सजातीय परप्रकृतियो मे चरम समय मे स्तिवुकसक्रमण से प्रक्षेपण करके परप्रकृति रूप से अयोगिकेवली अनुभव करते हैं। इसी प्रकार निद्रा, प्रचला को उदयगत सजातीय दर्शनावरण की अन्य प्रकृतियो मे स्तिवुकसक्रमण से सक्रमित कर क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती परप्रकृति के रूप से वेदन करता है। मिथ्यात्व को सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रमोहनीय) मे, सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्त्व मे प्रक्षेपण कर सप्तक (अनन्तानुबधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक ये सात प्रकृतिया) के क्षयकाल मे परप्रकृति रूप से यथासम्भव चौथे गुणस्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक अन्तिम समय मे वेदन किया जाता है। अनन्तानुबधी कपायो के क्षपण के समय उनके दलिक बध्यमान चारित्रमोहनीय की प्रकृतियो मे गुणसक्रमण[2] के द्वारा सक्रमित कर और उदयावलिकागत दलिको को उदयवती प्रकृतियो मे

१ दूसरे और छठे कर्मग्रथ मे शुभ और सुस्वर के बदले सुभग और यश कीर्ति के साथ ९ प्रकृतिया अयोगि के चरम समय मे उदयविच्छेद होने वाली बताई हैं।

२ जहा पर प्रति समय असख्यात गुणश्रेणी क्रम से परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणमे, वह गुणसक्रमण है।

स्तिवुकसंक्रमण से उन प्रकृतियों का संक्रमण कर यथासम्भव चतुर्थ आदि चार गुणस्थानवर्ती (चौथे, पांचवे, छट्ठे, सातवें गुणस्थानवर्ती) जीव अनुभव करते हैं। स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप उद्योत, जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति), नरकद्विक और तिर्यंचद्विक रूप नामकर्म की तेरह प्रकृतियों को बध्यमान यशःकीर्ति में यथाप्रवृत्त आदि यथायोग्य गुणसंक्रमण से संक्रमित कर और उनके उदयावलिकागत दलिकों को नामकर्म की उदय में आई हुई प्रकृतियों में स्तिवुकसंक्रमण से प्रक्षेपण करके उस प्रकृति के रूप से अनुभव करता है। इसी प्रकार स्त्यानर्द्धित्रिक को भी दर्शनावरणीय की आदि की चार प्रकृतियों में गुणसंक्रमण से संक्रमित करता है। तत्पश्चात् उदयावलिकागत दलिक को स्तिवुकसंक्रमण से संक्रमित करता है। इसी प्रकार आठ कषायों को, हास्यादिषट्क को, पुरुषवेद को, संज्वलन क्रोधादित्रिक को उत्तरोत्तर प्रकृतियों के मध्य में प्रक्षेपण करता है। इसलिये ये सभी प्रकृतियां अनुदयवती कहलाती हैं।[1]

इस प्रकार से गहन जलराशि (समुद्र) में प्रवेश करने के लिये नौका के समान कर्मसिद्धान्त रूपी महासागर का आलोडन एवं उनके गंभीर आशय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ अष्ट कर्मों के स्वरूप का संक्षेप में विवेचन किया गया है।[2]

इनके बंध, संक्रम आदि के कारणभूत वीर्यविशेष रूप करणों (भावों, अध्यवसायों) के अष्टक को करणाष्टक कहते हैं। जिनका स्वरूप आगे कहा जा रहा है और यथास्थितिबद्ध कर्मपुद्गलों का अबाधाकाल के क्षय से अथवा संक्रम, अपवर्तना आदि करणविशेष से उदय को प्राप्त होने पर अनुभव करना उदय कहलाता है—**कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयात्संक्रमापवर्तनादि करणविशेषाद्वोदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदयः**—और उन्हीं कर्मपुद्गलों का बंध और संक्रम के द्वारा आत्मलाभ करके निर्जरा एवं संक्रमजनित स्वरूप की प्रच्युति के अभाव को अर्थात् आत्मा से पृथक् नहीं होने को सत्ता कहते हैं—**तेषामेव बंधसंक्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसंक्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावः सत्ता।**

अभिधेय व प्रयोजन आदि

यहाँ पर आठ करण, उदय और सत्ता का कथन अभिधेय है। इनका परिज्ञान होना श्रोता का अनन्तर (साक्षात्) प्रयोजन है तथा अन्य का अनुग्रह करना ग्रंथकार का साक्षात् प्रयोजन है तथा मोक्ष की प्राप्ति दोनों (श्रोता और ग्रंथकार) का परम्परा प्रयोजन है। यहाँ हेतुहेतुमद्भाव रूप सम्बन्ध है। क्योंकि यह प्रकरण करणादि के ज्ञान का हेतु है और उनका ज्ञान हेतुमद्-सम्बन्ध है। इस ग्रंथ के पढ़ने का अधिकारी तत्त्वजिज्ञासु अथवा मुमुक्षु पुरुष है।

करणाष्टकों के नाम

अब उद्देश्यानुरूप निर्देश किये जाने के न्यायानुसार ग्रंथकार सर्वप्रथम आठ करणों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

१ ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार का यन्त्र परिशिष्ट में देखिए।

२ वक्ष्यमाण गंभीरार्थं, नीरराशिप्रवेशकृत्।
समष्टिकस्वरूपस्य, नौरिव प्ररूपणा ॥

बधण सकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया ।
उवसामणा निहत्ती निकायणा च त्ति करणाइ ॥२॥

शब्दार्थ—बंधण—बधन, सकमण—सक्रमण, उव्वट्टणा—उद्वर्तना, य—और, अववट्टणा—अपवर्तना, उदीरणया—उदीरणा, उवसामणा—उपशामना, निहत्ती—निधत्ति, निकायणा—निकाचना, च—और, त्ति—इस प्रकार करणाइ—करण ।

गाथार्थ—बन्धन, सक्रमण, उद्वर्तना अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना, इस प्रकार (आठ) करण है।

विशेषार्थ—बध्यते जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगतीक्रियतेऽष्टप्रकार कर्म येन वीर्यविशेषण तद्बधन—जिस वीर्यविशेष के द्वारा आठ प्रकार के कर्मों को जीवप्रदेशो के साथ अन्योन्यानुगत (एकमेव) किया जाये उसे बधनकरण कहते है ।

२ सक्रम्यन्तेऽन्यकर्मरूपतया व्यवस्थिता प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा अन्यकर्मरूपतया व्यवस्थाप्यन्ते येन तत्सक्रमण—जिस वीर्यविशेष के द्वारा अन्य कर्म रूप से अवस्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश अन्य (दूसरे) कर्म रूप से व्यवस्थापित किये जाये, उसे सक्रमण कहते है। उद्वर्तना और अपवर्तना, ये दोनो सक्रमण के ही भेद है, किन्तु ये दोनो केवल कर्मो की स्थिति और अनुभाग से आश्रित है ।

३ तत्रोद्वर्त्यते प्रभूतीक्रियते स्थित्यनुभागौ या वीर्यपरिणत्या सा उद्वर्तना—जिस वीर्य-परिणति के द्वारा कर्मो की स्थिति और अनुभाग उद्वर्तित अथवा प्रभूत किये जाये (बढ़ा दिये जाये), उसे उद्वर्तनाकरण कहते है ।

४ अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते तौ यया साऽपवर्तना—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा वे दोनो (स्थिति और अनुभाग) अपवर्तित अर्थात् ह्रस्व कर दिये जाये (कम कर दिये जाये, घटा दिये जाये), उसे अपवर्तनाकरण कहते है ।

५ उदीर्यतेऽनुदयप्राप्त कर्मदलिकमुदयावलिकाया प्रवेश्यते यया सा उदीरणा—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा अनुदयप्राप्त कर्मदलिक उदयावलिका मे उदीरित अर्थात् प्रविष्ट किये जाये, उसको उदीरणाकरण कहते है ।

६ उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म उपशमित किये जाये अर्थात् उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचनाकरण के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किये जाये, उसे उपशमनाकरण कहते है ।

७ निधीयते उद्वर्तनापवर्तनान्यशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्ति—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म निधीयते अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना के सिवाय अन्य शेष करणो के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किये जाते है, उसे निधत्तिकरण कहते है। पृषोदरादि से इस शब्द के इष्ट रूप की सिद्धि होती है ।

८ 'कच' धातु बंधन के अर्थ में है (कच् बन्धने, नितरा कच्यते) अर्थात् जो अत्यधिक रूप से स्वयं ही बंध को प्राप्त होता है, ऐसा तथाविध सक्लिष्ट अध्यवसाय रूप जीव या जो कर्म है, उसे जो प्रयोग करता है अर्थात् जीव ही तथानुकूल हो जाता है, इस प्रकार के प्रयोक्त-व्यापार में 'णिच्' प्रत्यय किया गया है, तदनुसार यह अर्थ होता है कि **निकाच्यते सकलकरणायोग्यत्वेनावश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना**—जिस वीर्यविशेष की परिणति के द्वारा कर्म निकाचित किया जाये अर्थात् सकल करणो से अयोग्य करके (यथारूप में) अवश्य वेदन करने की योग्यता रूप से स्थापित किया जाये, उसे निकाचनाकरण कहते हैं। अथवा 'कच् बन्धने' यह धातु चुरादिगणपठित भी है, उसका यह रूप (निकाचन) है।

गाथा में आगत 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में है और 'त्ति-इति' शब्द समाप्ति का बोधक है कि ये करण इतने ही है, अर्थात् आठ ही होते है, अधिक नही। यानी बंध, सक्रम आदि कार्यों के आठ प्रकार होने से उनके करण भी आठ ही होते हैं।

अभिधेय के अनुसार अब ग्रथकार आठ करणो में से पहले बधनकरण का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

१. बंधनकरण

वीर्य का स्वरूप

उपर्युक्त बंधन आदि आठो करण जीव के वीर्यविशेष रूप है, अत अब वीर्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

विरियंतरायदेसक्खएण सव्वक्खएण जा लद्धी।
अभिसंधिजमियरं वा तत्तो विरियं सलेसस्स ॥३॥

शब्दार्थ—**विरियंतरायदेसक्खएण**—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से, **सव्वक्खएण**—सर्वक्षय से, **जा**—जो, **लद्धी**—लब्धि, **अभिसंधिज**—अभिसंधिज, **इयर**—इतर (अनभिसंधिज), **वा**—अथवा, **तत्तो**—उससे, **विरियं**—वीर्य, **सलेसस्स**—लेश्या सहित जीव का।

गाथार्थ—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से और सर्वक्षय से जो वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उसमें सलेश्य-लेश्यासहित जीव की वीर्यलब्धि अभिसंधिज और इतर-अनभिसंधिज होती है।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से अथवा सर्वक्षय से प्राणियो को वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उसमें से वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से छद्मस्थो को और सर्वक्षय से केवलियो को वीर्यलब्धि प्रगट होती है। उस क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप वीर्यलब्धि के सयोग से सलेश्य (लेश्या वाले) जीव के उत्पन्न होने वाले वीर्य के दो प्रकार है—**अभिसंधिज, अनभिसंधिज**। अभिसंधिज वीर्य का बुद्धिपूर्वक दौडने-कूदने आदि क्रियाओ में उपयोग किया जाता है और इतर (अनभिसंधिज—अबुद्धिपूर्वक, स्वाभाविक) खाए हुए आहार का धातु मल आदि के रूप में परिणमन कराता है। अथवा एकेन्द्रियादिक जीवो के योग्य क्रियाओ का जो कारण होता है, वह अनभिसंधिज है। वह भी यहाँ

अधिकृत है। सलेश्य जीव के वीर्य का विचार करना यहाँ प्रयोजनीय है। इस प्रकार गाथा रूप सूत्र की सोपस्कार व्याख्या करना चाहिये।

यह वीर्य (सलेश्य वीर्य) दो प्रकार का है—छाद्मस्थिक और केवलिक। यह दोनो ही प्रकार का प्रत्येक वीर्य अकपायी और सलेश्य होता है। इनमे छाद्मस्थिक अकपायी सलेश्य वीर्य उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान वालो के और केवलिक वीर्य सयोगि केवलियो के होता है। छाद्मस्थिक काषायिक वीर्य सूक्ष्मसपराय गुणस्थान तक के जीवो के होता है और केवलिक अलेश्य वीर्य अयोगि केवलियो और सिद्धो के होता है। परन्तु यहाँ पर जो सलेश्य वीर्य है, वही ग्रहण किया गया है। क्योकि वही कर्मबधादि का कारण है। सूक्ष्म और वादर जीवो के परिस्पन्दन रूप (हलन-चलन रूप) क्रियात्मक वीर्य होता है, वह 'योग' इस नाम से कहा जाता है।[1]

योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य, ये सव योग के पर्यायवाची नाम है।[2]

अव इसी योग के कार्यभेद से सज्ञाभेद को और जीव प्रदेशो म तारतम्य से अवस्थान होने के कारण को कहते हैं।

परिणामालंबणगहणसाहणं तेण लद्धनामतिग।
कज्जब्भासन्नोन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥४॥

शब्दार्थ—**परिणामालबणगहणसाहण**—परिणाम, आलवन और ग्रहण मे साधन रूप, **तेण**—उससे, **लद्धनामतिग**—तीन नाम प्राप्त किये है, **कज्जब्भास**—कार्य की निकटता, **अन्नोन्नप्पवेस**—अन्योन्य के प्रवेश, **विसमीकय**—विषम किये है, **पएस**—जीवप्रदेश।

गाथार्थ—परिणाम, आलवन और ग्रहण मे साधन रूप होने से योग ने तीन नाम प्राप्त किये है तथा जिसके द्वारा कार्य की निकटता और अन्योन्य के प्रवेश से जीवप्रदेश विषम किये जाते है, ऐसा योग है।

विशेषार्थ—वह वीर्य परिणाम, आलवन और ग्रहण का साधन है, इस कारण उसने सार्थक तीन नाम प्राप्त किये है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उस योग सज्ञा वाले वीर्यविशेष के द्वारा जीव सर्वप्रथम औदारिक आदि शरीरो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिक आदि शरीर रूप से परिणमित करता है तथा इसी प्रकार पहले प्राणापान (श्वासोच्छ्वास), भाषा और मन के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है और फिर ग्रहण करके उन्हे प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) आदि रूप से परिणमित

---

१ जीवो की वीर्यशक्ति का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

२ जोगो विरय थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थ चिय, जोगस्स हवति पज्जाया॥

—पचसग्रह, बधनकरण गा ४

करता है। परिणमित करके उसके निसर्ग के हेतु रूप सामर्थ्य-विशेष की सिद्धि के लिये[1] उन पुद्गलो का अवलंबन करता है। जैसे—मदशक्ति वाला कोई पुरुष नगर मे परिभ्रमण करने के लिये लकडी का आलंबन लेता है, उसी प्रकार उच्छ्वास आदि पुद्गलो के ग्रहण और छोडने के लिये आलम्बन रूप प्रयत्न की आवश्यकता होती है। उस सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये (ग्रहण और छोडने क लिये) जीव उन्ही पुद्गलो का आलंबन लेता है। इसलिये उसे ग्रहण, परिणाम और आलंबन का साधन होने से वह ग्रहण आदि सज्ञावाला कहा जाता है। कहा भी है—'गहणपरिणामफंदनरूवं तं ति'—वह योग ग्रहण, परिणाम और स्पन्दन रूप है। अतएव परिणाम, आलबन, ग्रहण का साधन रूप होने से परिणामादि हेतुता प्रतिपादित की गई है। जिससे मन, वचन और काय के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले योग सज्ञावाले वीर्य द्वारा तीन नाम प्राप्त किये जाते है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि करणभूत मन के द्वारा होने वाला योग मनोयोग है। करणभूत वचन के द्वारा होने वाला योग वचनयोग है और करणभूत काय के द्वारा होने वाला योग काययोग है। इस प्रकार के अन्वयात्मक कारण से प्राचीन आचार्यो ने सज्ञाभेद का व्याख्यान किया है।[2]

शका—सभी जीवप्रदेशो मे क्षायोपशमिक लब्धि का समान रूप से सद्भाव होने पर भी कही अधिक, कही अल्प वीर्य उपलब्ध होता है और कही अल्पतर (और भी कम), तो इस विषमता का क्या कारण है?

समाधान—जीव जिस अर्थ (प्रयोजन) के प्रति चेष्टा करता है, वह कार्य और उसका अभ्यास, आसन्नता (निकटता, समीपता) कहलाती है तथा जीव के सर्व प्रदेशो मे परस्पर एक-दूसरे से जुडे हुए साकल के अवयवो के समान परस्पर-प्रवेश रूप सम्बन्धविशेष होता है। इन दोनो कारणो से विषम किये गये अर्थात् बहुत अधिक, अल्प और अल्पतर सद्भाव से जीवप्रदेश विसस्थुलीकृत अर्थात् विषम रूप से अवस्थित है। जैसे कि हस्तादि मे रहने वाले जिन आत्मप्रदेशो की उत्पाटन किये जाने वाले घट आदि कार्यों से निकटता होती है, उन प्रदेशो की चेष्टा अधिक

---

१ स्वाभाविक हेतुभूत क्रियावती शक्ति की सकारण सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये।

२ ससारी जीव का वीर्यविशेष परिस्पन्दन रूप है, जिसके द्वारा वह तीन कार्य करता है—परिणमन, ग्रहण और आलबन तथा उन्हीं तीनो का कारण रूप भी है। अत यह परिस्पन्दन किसी वस्तु को ग्रहण करने, ग्रहण करके परिणमित करने और परिणमित करने के आलम्बन रूप होता है, जैसे कि ससारी जीव योगसज्ञक उस वीर्य-विशेष के द्वारा औदारिक आदि शरीर प्रायोग्य पुद्गलो को प्रथम ग्रहण करता है और ग्रहण करके औदारिकादि शरीर रूप परिणमाता है। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनोयोग्य पुद्गलो को प्रथम ग्रहण करता है और श्वासोच्छ्वासादि रूप मे परिणमाता है और परिणमाकर उसके विसर्जन करने मे हेतुभूत सामर्थ्य को उत्पन्न करने के लिये उच्छ्वासादि पुद्गलो का आलबन लेता है और उसके बाद उन उच्छ्वासादि पुद्गलो को विसर्जित करता है। अत परिणाम, आलबन और ग्रहण इन तीनो मे योग रूप वीर्य साधन है।

किसी वस्तु को ग्रहण करने आदि के लिये ससारी जीव के पास तीन साधन है—शरीर, वचन एव मन। इन साधनो के माध्यम से उसका वस्तु ग्रहण आदि के लिये परिस्पन्दन होने से साधनो के नामानुरूप योग के भी तीन नाम है—काययोग, वचनयोग, मनोयोग। शरीर (काय) के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे काययोग, वचन के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे वचनयोग और मन के द्वारा जो योग प्रवर्तित होता है, उसे मनोयोग कहते है।

होती है और दूरवर्ती अंस (कंधा आदि) की चेष्टा अल्प होती है तथा उसमे भी अधिक दूरवर्ती पैर आदि के भीतर रहने वाले आत्मप्रदेशों की चेष्टा और भी कम होती है, यह बात अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार लोष्ट आदि के आघात होने पर सर्व आत्मप्रदेशो मे एक साथ वेदना का उदय होने पर भी जिन आत्मप्रदेशो की आघात करने वाले लोष्ट आदि द्रव्य के साथ निकटता होती है, उन प्रदेशो मे तीव्रतर वेदना और शेष प्रदेशो मे मंद और मंदतर वेदना होती है। इसी तरह कार्य-रूप द्रव्य की समीपता और दूरवर्ती विशेषता से आत्म-प्रदेशो मे वीर्य की विषमता जानना चाहिये। यह विषमता, जीवप्रदेशो के सम्बन्धविशेष होने पर होती है, अन्यथा नही, जैसे कि साकल के अवयवो की। क्योकि वे साकल के अवयव परस्पर सम्बन्धविशेष वाले है। इसलिये एक अवयव मे परिस्पन्दन (हलन-चलन) होने पर दूसरे भी अवयव परिस्पन्दन को प्राप्त होते है। केवल उसमे अन्तर यह है कि कुछ अवयव अल्प परिस्पन्दन को प्राप्त होते है और कुछ और भी कम परिस्पन्दन को। यदि आत्म-प्रदेशो मे परस्पर सम्बन्धविशेष का अभाव हो तो एक प्रदेश के चलने पर दूसरे प्रदेश का सचलन अवश्यम्भावी नही होगा। जैसे गाय और पुरुष ये दोनो सम्बन्धरहित स्वतन्त्र व्यक्ति है, अत गाय के चलायमान होने पर पुरुष का चलायमान होना आवश्यक नही है। इसलिये गाथा मे स्पष्ट कहा है कि कार्यद्रव्याभ्यास (कार्यद्रव्य की समीपता) और परस्पर प्रवेश के कारण प्रदेशो मे योगो की विषमता होती है—

कज्जब्भासन्नोन्नप्पवेसविसमीकयपएस।

शका—(उक्त समाधान के आधार पर शकाकार पुन अपना तर्क प्रस्तुत करता है कि) जिन प्रदेशो के साथ लोष्ट आदि का आघात होता है, उन प्रदेशो मे वेदना की अधिकता होना सभव है, क्योकि वह उसका कारण है। किन्तु जिन प्रदेशो के द्वारा घट आदि उत्पाटन क्रिया होती है, उन प्रदेशो मे वीर्य का उत्कर्ष भी हो, यह सभव नही है, क्योकि उस उत्पाटन क्रिया के वे प्रदेश कारण नही है, प्रत्युत घट उत्पाटन की इच्छा से उत्पन्न जो घटोत्पाटन प्रवृत्ति रूप वीर्यविशेष है, उसी के द्वारा ही घटोत्पाटन क्रिया की उत्पत्ति होती है। इसलिये कार्यद्रव्य की निकटता मे वीर्य का उत्कर्ष होता है, यह कथन अयुक्त है।

समाधान—यह कहना ठीक नही है। क्योकि औदारिक आदि वर्गणाओ के ग्रहण आदि के आश्रयभूत वीर्य का ही यहाँ अधिकार है और उस वीर्य के उत्कर्ष में कार्यद्रव्य की निकटता ही कारण है। एकप्रदेशरूपता को प्राप्त हुई वे वर्गणाएं ग्रहण आदि की विषयरूपता को प्राप्त ही है, इसलिये जिन प्रदेशो मे वे साक्षात् सन्निहित है अर्थात् सम्बद्ध या समीपवर्ती है, उनमे कार्य रूप द्रव्य के ग्रहण आदि मे वीर्य का उत्कर्ष होता है और परम्परा मे सन्निहित प्रदेशो में वीर्य का अपकर्ष। बाह्य प्रयत्न के उन अवयवो से सबद्ध उत्कर्ष मे तो उन अवयवो से सम्बद्ध क्रिया-विशेष की इच्छा आदि नियामक है और दूसरे प्रदेशो मे उनकी विषमता का कारण उनके सम्बन्ध

की विषमता है, इसलिये उसमे कोई दोष नही है । अत आगम के अनुसार इस तरह वीर्य की विषमता को जानना चाहिये ।[1]

इस प्रकार वीर्य (योग) का प्रतिपादन करके अब इसके ही जघन्यत्व, अजघन्यत्व, उत्कृष्टत्व और अनुत्कृष्टत्व[2] का बोध कराने वाली प्ररूपणा के इच्छुक ग्रंथकार वक्ष्यमाण अर्थाधिकारो का नामोल्लेख करते है ।

वीर्यप्ररूपणा के अधिकारो के नाम

अविभाग वग्ग फड्डग अन्तर ठाण अणतरोवणिहा ।
जोगे परम्परा वुड्ढि समय जीवप्पबहुग च ।।५।।

शब्दार्थ—अविभाग—अविभागप्ररूपणा, वग्ग—वर्गणाप्ररूपणा, फड्डग—स्पर्धकप्ररूपणा, अतर—अन्तरप्ररूपणा, ठाणं—स्थानप्ररूपणा, अणतरोवणिहा—अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, जोगे—जोग मे, परम्परा—परपरोपनिधाप्ररूपणा, वुड्ढि—वृद्धिप्ररूपणा, समय—समयप्ररूपणा, जीवप्पबहुग—जीव सम्बन्धी अल्पबहुत्वप्ररूपणा, च—और ।

गाथार्थ—योग के विषय मे सर्वप्रथम अविभाग-प्ररूपणा, तदनन्तर क्रमश वर्गणा-प्ररूपणा, स्पर्धक-प्ररूपणा, अन्तर-प्ररूपणा, स्थान-प्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा, परम्परोपनिधा-प्ररूपणा, वृद्धि-प्ररूपणा, समय-प्ररूपणा और अन्त मे जीवो के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा मे सलेश्य जीव की वीर्यशक्ति (योग) के विचार को सरलता से समझने के लिये क्रम को स्पष्ट किया है । उनमे पहले अधिकार का नाम अविभाग-प्ररूपणा है और अतिम अधिकार का नाम है जीवो के योग का अल्पबहुत्व । इन अधिकारो का एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस क्रम से विचार करना चाहिये, किन्तु व्युत्क्रम से विचार नही करना चाहिये ।

१ अविभाग-प्ररूपणा

एक जीवप्रदेश मे जघन्यत वीर्य के अविभाज्य अश कितने होते है ? इस बात को बतलाने के लिये सर्व प्रथम ग्रथकार अविभाग-प्ररूपणा करते है—

पण्णाछेयणछिन्ना, लोगासखेज्जगप्पएससमा ।
अविभागा एक्केक्के, होंति पएसे जहन्नेणं ।।६।।

---

१ प्रस्तुत शका-समाधान का आधार परिस्पन्दन रूप वीर्य की दृष्टि है। सलेश्यवीर्य तीन प्रकार का है—
१ आवृतवीर्य—कर्म द्वारा आच्छादित, २ लब्धिवीर्य—वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से प्रकट हुआ वीर्य, ३ परिस्पन्दनवीर्य—लब्धिवीर्य मे से जितना वीर्य मन, वचन और काय योग द्वारा प्रगट, प्रवर्तित होता है, वह। यहा वीर्य की हीनाधिकता परिस्पन्दन वीर्य की अपेक्षा समझना चाहिये । क्योकि यहा उसकी विवक्षा है और वह परिस्पन्दन वीर्य मे सम्भव है, लब्धिवीर्य तो यथास्थान सर्व आत्मप्रदेशो मे एक सरीखा ही होता है।

२ सबसे अल्पवीर्य को जघन्य, जघन्य वीर्य से एकादि अश यावत् उत्कृष्ट तक के सर्व वीर्याविभागो को अजघन्य, सर्वोत्कृष्ट वीर्य को उत्कृष्ट और वीर्य के एकादि अशहीन जघन्य तक के सर्व वीर्याविभागो को अनुत्कृष्ट कहते है। उत्कृष्ट विभाग भी अजघन्य और जघन्य वीर्य भी अनुत्कृष्ट कहलाता है।

शब्दार्थ—**पण्णाछेयणछिन्ना**—सर्वज्ञ की बुद्धि रूपी छैनी—शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये, **लोगासखेज्जगप्पएससमा**—लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण है, **अविभागा**—अविभाग, जिनका दूसरा टुकडा न हो सके, **एक्केक्के**—एक-एक, **होंति**—होते है, **पएसे**-प्रदेश पर, **जहन्नेण**—जघन्य मे।

गाथार्थ—सर्वज्ञ की प्रज्ञा (बुद्धि-केवलज्ञान) रूपी छैनी शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये ऐसे वीर्य के अविभाज्य अश जीव के एक-एक प्रदेश पर जघन्य से भी लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है ।

विशेषार्थ—जीव की वीर्य-शक्ति के केवली के प्रज्ञारूपी छेदनक (शस्त्र) के द्वारा लगातार खण्ड-खण्ड किये जाते हुए जब विभाग प्राप्त न हो, ऐसा जो उसका अतिम अश प्राप्त होता है वह वीर्याविभाग कहलाता है—**जीवस्य वीर्य केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमान यदा विभाग न दत्ते तदा योऽशो विश्राम्यति स वीर्याविभाग उच्यते।** प्रज्ञा छेदनक के द्वारा छिन्न-छिन्न किये गये वे वीर्याविभाग एक-एक जीवप्रदेश पर जघन्य से भी (अल्पातिअल्प सख्या मे) लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है और उत्कर्ष से भी उतनी ही सख्या वाले अर्थात् लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है । किन्तु वे जघन्यपदभावी वीर्याविभागो से असख्यात गुणित जानना चाहिये । गाथा मे आगत '**लोगासखेज्जगप्पएसमा** लोकासख्येक प्रदेशसमा'—इस पद की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि लोक के जो असख्य प्रदेश है, उतने ही वीर्याविभाग के भी प्रदेश है। कहा भी है—

पन्नाए अविभाग जहण्णविरियस्स वीरिय छिन्न ।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसखलोगप्पएस सम ।।

जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य को प्रज्ञा द्वारा छिन्न किये जाने अर्थात् उत्तरोत्तर खण्ड-खण्ड किये जाने पर प्राप्त अतिम अश अविभागी कहलाता है । ऐसे अविभागी अश भी जीव के एक-एक प्रदेश पर लोक के असख्यात प्रदेशो के बराबर होते है ।

इस प्रकार अविभाग—प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

२ वर्गणा-प्ररूपणा

अविभाग-प्ररूपणा करने के बाद अब वर्गणा-प्ररूपणा का कथन करते है—

जेसि पएसाण समा, अविभागा सव्वतो य थोवतमा ।
ते वग्गणा जहन्ना, अविभागहिया परंपरओ ।।७।।

शब्दार्थ—**जेसि**—जिन, **पएसाण**—प्रदेशो के, **समा**—समान, **अविभागा**—अविभाज्य अश, **सव्वतो**—सबसे, **थोवतमा**—अल्पतम, **ते**—वे, **वग्गणा**—वर्गणा, **जहन्ना**—जघन्य, **अविभागहिया**—एक-एक अश से अधिक, **परपरओ**-परम्परा से, क्रम से ।

गाथार्थ—जिन जीवप्रदेशो के वीर्याविभाग तुल्य (समान) सख्या वाले और प्रदेश मे रहे हुए वीर्याविभागो की अपेक्षा अल्पतम (थोडे) होते है, उन जीवप्रदेशो

जघन्य वर्गणा कहलाती है, तदनन्तर एक-एक वीर्याविभाग से अधिक ऐसे क्रम से दूसरी, तीसरी आदि आगे वर्गणाओ की परपरा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवप्रदेशो के तुल्य सख्या वाले समान वीर्याविभाग होते है, वे (वीर्याविभाग) सब से अर्थात् जीव प्रदेशगत अन्य वीर्याविभागो से अल्पतम है । वे जीवप्रदेश घनाकार किये गये लोक[1] के असख्यातवे भागवर्ती असख्यात प्रतरगत[2] आकाश-प्रदेशराशि के प्रमाण होते है । सब से अल्पतम इन वीर्याविभागो के समुदाय की एक वर्गणा[3] कहलाती है और यह वर्गणा सब से जघन्य है। क्योकि वह सब से कम अविभागी अशो से युक्त है। इस जघन्य अर्थात् पहली वर्गणा (इस जघन्य वर्गणा) के अनन्तर दूसरी वर्गणा होती है । उसे केवल एक अविभाग अश से अधिक कहना चाहिये और उसके बाद भी आगे एक-एक अविभाग से अधिक वर्गणाये समझना चहिये। वह इस प्रकार—

जघन्य वर्गणा से परे (आगे) जो जीव के प्रदेश एक-एक वीर्याविभाग से अधिक होते है, वे घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। तदनन्तर दो वीर्याविभागो से अधिक उक्त सख्या वाले अर्थात् घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनके समुदाय की यह तीसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बढते हुए उक्त सख्या मे रहने वाले वीर्याविभागो की समुदाय रूप असख्यात वर्गणाये जानना चाहिए।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ये वर्गणाये कितनी होती है ? यह बतलाने के लिये स्पर्धक-प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर-प्ररूपणा करते है—

सेढिअसंखिअमित्ता, फड्डगमेत्तो अणंतरा नत्थि ।
जाव असंखा लोगा, तो बीयाई य पुव्वसमा ।।८ ।।

शब्दार्थ—**सेढिअसंखिअमित्ता**—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण (वर्गणा का), **फड्डग**—स्पर्धक, **एत्तो**—यहाँ से, **अणंतरा**—अनन्तर (वर्गणा) **नत्थि**—नही है, **जाव**—तक, पर्यन्त, **असखा**—असख्यात, **लोगा**—लोकाकाश प्रदेश, **तो**—तत्पश्चात्, **बीयाई**—द्वितीयादिक, दूसरे आदि, **य**—और, **पुव्वसमा**—पूर्व की तरह (प्रथम स्पर्धक के समान)।

गाथार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। यहाँ से आगे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण—तक अनन्तर (अन्तर रहित) वर्गणाये नही है, उसके बाद द्वितीयादिक स्पर्धक की वर्गणाये पूर्व के समान (प्रथम स्पर्धक के समान) है।

---

१ लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि परिशिष्ट मे देखिये।

२ सात राजू लबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पक्ति को श्रेणी और श्रेणी के वर्ग को प्रतर कहते है। अर्थात् श्रेणी मे जितने प्रदेश हो, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, वह प्रतर है।

३ समान जातीय पुद्गलो के समूह को वर्गणा कहते है।

शब्दार्थ—**पण्णाछेयणछिन्ना**—सर्वज्ञ की बुद्धि रूपी छैनी–शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये, **लोगासखेज्जगप्पएससमा**—लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण है, **अविभागा**—अविभाग, जिनका दूसरा टुकडा न हो सके, **एक्केक्के**—एक-एक, **होंति**—होते है, **पएसे**—प्रदेश पर, **जहन्नेण**—जघन्य से।

गाथार्थ—सर्वज्ञ की प्रज्ञा (बुद्धि-केवलज्ञान) रूपी छैनी शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये ऐसे वीर्य के अविभाज्य अश जीव के एक-एक प्रदेश पर जघन्य से भी लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है ।

विशेषार्थ—जीव की वीर्य-शक्ति के केवली के प्रज्ञारूपी छेदनक (शस्त्र) के द्वारा लगातार खण्ड-खण्ड किये जाते हुए जब विभाग प्राप्त न हो, ऐसा जो उसका अतिम अश प्राप्त होता है वह वीर्याविभाग कहलाता है—**जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं यदा विभाग न दत्ते तदा योऽशो विश्राम्यति स वीर्याविभाग उच्यते।** प्रज्ञा छेदनक के द्वारा छिन्न-छिन्न किये गये वे वीर्याविभाग एक-एक जीवप्रदेश पर जघन्य से भी (अल्पातिअल्प सख्या मे) लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है और उत्कर्ष से भी उतनी ही सख्या वाले अर्थात् लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है । किन्तु वे जघन्यपदभावी वीर्याविभागो से असख्यात गुणित जानना चाहिये । गाथा मे आगत '**लोगासखेज्जगप्पएसमा लोकासख्येक प्रदेशसमा**'—इस पद की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि लोक के जो असख्य प्रदेश है, उतने ही वीर्याविभाग के भी प्रदेश है। कहा भी है—

पन्नाए अविभाग जहण्णविरियस्स वीरिय छिन्न ।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसखलोगप्पएस सम ।।

जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य को प्रज्ञा द्वारा छिन्न किये जाने अर्थात् उत्तरोत्तर खण्ड-खण्ड किये जाने पर प्राप्त अतिम अश अविभागी कहलाता है । ऐसे अविभागी अश भी जीव के एक-एक प्रदेश पर लोक के असख्यात प्रदेशो के बराबर होते है ।

इस प्रकार अविभाग–प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

२ वर्गणा-प्ररूपणा

अविभाग-प्ररूपणा करने के बाद अब वर्गणा-प्ररूपणा का कथन करते है—

जेसि पएसाण समा, अविभागा सव्वतो य थोवतमा ।
ते वग्गणा जहन्ना, अविभागहिया परपरओ ।।७।।

शब्दार्थ—**जेसि**—जिन, **पएसाण**—प्रदेशो के, **समा**—समान, **अविभागा**—अविभाज्य अश, **सव्वतो**—सबसे, **थोवतमा**—अल्पतम, **ते**—वे, **वग्गणा**—वर्गणा, **जहन्ना**—जघन्य, **अविभागहिया**—एक-एक अविभाग अश से अधिक, **परपरओ**—परम्परा से, क्रम से ।

गाथार्थ—जिन जीवप्रदेशो के वीर्याविभाग तुल्य (समान) सख्या वाले और दूसरे जीव प्रदेश मे रहे हुए वीर्याविभागो की अपेक्षा अल्पतम (थोडे) होते है, उन जीवप्रदेशो की प्रथम

जघन्य वर्गणा कहलाती है, तदनन्तर एक-एक वीर्याविभाग से अधिक ऐसे क्रम से दूसरी, तीसरी आदि आगे वर्गणाओ की परपरा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवप्रदेशो के तुल्य सख्या वाले समान वीर्याविभाग होते है, वे (वीर्याविभाग) सब से अर्थात् जीव प्रदेशगत अन्य वीर्याविभागो से अल्पतम है । वे जीवप्रदेश घनाकार किये गये लोक[1] के असख्यातवे भागवर्ती असख्यात प्रतरगत[2] आकाश-प्रदेशराशि के प्रमाण होते है । सब से अल्पतम इन वीर्याविभागो के समुदाय की एक वर्गणा[3] कहलाती है और यह वर्गणा सब से जघन्य है। क्योकि वह सब से कम अविभागी अशो से युक्त है। इस जघन्य अर्थात् पहली वर्गणा (इस जघन्य वर्गणा) के अनन्तर दूसरी वर्गणा होती है । उसे केवल एक अविभाग अश से अधिक कहना चाहिये और उसके बाद भी आगे एक-एक अविभाग से अधिक वर्गणाये समझना चाहिये। वह इस प्रकार—

जघन्य वर्गणा से परे (आगे) जो जीव के प्रदेश एक-एक वीर्याविभाग से अधिक होते है, वे घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। तदनन्तर दो वीर्याविभागो से अधिक उक्त सख्या वाले अर्थात् घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनके समुदाय की यह तीसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बढते हुए उक्त सख्या मे रहने वाले वीर्याविभागो की समुदाय रूप असख्यात वर्गणाये जानना चाहिए।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ये वर्गणाये कितनी होती है? यह बतलाने के लिये स्पर्धक-प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर-प्ररूपणा करते है—

सेढिअसंखिअमित्ता, फड्डगमेत्तो अणंतरा नत्थि ।
जाव असंखा लोगा, तो बीयाई य पुव्वसमा ।।८ ।।

शब्दार्थ—**सेढिअसखिअमित्ता**—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण (वर्गणा का), **फड्डग**—स्पर्धक, **एत्तो**—यहाँ से, **अणतरा**—अनन्तर (वर्गणा) **नत्थि**—नही है, **जाव**—तक, पर्यन्त, **असखा**—असख्यात, **लोगा**—लोकाकाश प्रदेश, **तो**—तत्पश्चात्, **बीयाई**—द्वितीयादिक, दूसरे आदि, **य**—और, **पुव्वसमा**—पूर्व की तरह (प्रथम स्पर्धक के समान)।

गाथार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। यहाँ से आगे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण—तक अनन्तर (अन्तर रहित) वर्गणाये नही है, उसके बाद द्वितीयादिक स्पर्धक की वर्गणाये पूर्व के समान (प्रथम स्पर्धक के समान) है।

---

१ लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि परिशिष्ट मे देखिये।

२ सात राजू लबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पक्ति को श्रेणी और श्रेणी के वर्ग को प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणी मे जितने प्रदेश हो, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, वह प्रतर है।

३ समान जातीय पुद्गलो के समूह को वर्गणा कहते है।

शब्दार्थ—**पण्णाछेयणछिन्ना**—सर्वज्ञ की वुद्धि रूपी छैनी—शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये, **लोगासखेज्जगप्पएससमा**—लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण है, **अविभागा**—अविभाग, जिनका दूसरा टुकडा न हो सके, **एक्केक्के**—एक-एक, **होंति**—होते है, **पएसे**—प्रदेश पर, **जहन्नेण**—जघन्य से।

गाथार्थ—सर्वज्ञ की प्रज्ञा (वुद्धि-केवलज्ञान) रूपी छैनी शस्त्र द्वारा छिन्न किये गये ऐसे वीर्य के अविभाज्य अश जीव के एक-एक प्रदेश पर जघन्य से भी लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—जीव की वीर्य-शक्ति के केवली के प्रज्ञारूपी छेदनक (शस्त्र) के द्वारा लगातार खण्ड-खण्ड किये जाते हुए जव विभाग प्राप्त न हो, ऐसा जो उसका अतिम अश प्राप्त होता है वह वीर्याविभाग कहलाता है—**जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमान यदा विभाग न दत्ते तदा योऽशो विश्राम्यति स वीर्याविभाग उच्यते।** प्रज्ञा छेदनक के द्वारा छिन्न-छिन्न किये गये वे वीर्याविभाग एक-एक जीवप्रदेश पर जघन्य से भी (अल्पातिअल्प सख्या मे) लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है और उत्कर्ष से भी उतनी ही सख्या वाले अर्थात् लोकाकाश के असख्यात प्रदेश प्रमाण होते है। किन्तु वे जघन्यपदभावी वीर्याविभागो से असख्यात गुणित जानना चाहिये। गाथा मे आगत '**लोगासखेज्जगप्पएसमा लोकासख्येक प्रदेशसमा**'—इस पद की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये कि लोक के जो असख्य प्रदेश है, उतने ही वीर्याविभाग के भी प्रदेश है। कहा भी है—

पन्नाए अविभाग जहण्णविरियस्स वीरिय छिन्न।
एक्केक्कस्स पएसस्सऽसखलोगप्पएस सम ॥

जघन्य वीर्य वाले जीव के वीर्य को प्रज्ञा द्वारा छिन्न किये जाने अर्थात् उत्तरोत्तर खण्ड-खण्ड किये जाने पर प्राप्त अतिम अश अविभागी कहलाता है। ऐसे अविभागी अश भी जीव के एक-एक प्रदेश पर लोक के असख्यात प्रदेशो के वरावर होते है।

इस प्रकार अविभाग-प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

२ वर्गणा-प्ररूपणा

अविभाग-प्ररूपणा करने के वाद अव वर्गणा-प्ररूपणा का कथन करते है—

जेसि पएसाण समा, अविभागा सव्वतो य थोवतमा।
ते वग्गणा जहन्ना, अविभागहिया परंपरओ ॥७॥

शब्दार्थ—**जेसि**—जिन, **पएसाण**—प्रदेशो के, **समा**—समान, **अविभागा**—अविभाज्य अश, **सव्वतो**—सवसे, **थोवतमा**—अल्पतम, **ते**—वे, **वग्गणा**—वर्गणा, **जहन्ना**—जघन्य, **अविभागहिया**—एक-एक अविभाग अश से अधिक, **परपरओ**—परम्परा से, क्रम से।

गाथार्थ—जिन जीवप्रदेशो के वीर्याविभाग तुल्य (समान) सख्या वाले और दूसरे जीव प्रदेश मे रहे हुए वीर्याविभागो की अपेक्षा अल्पतम (थोडे) होते है, उन जीवप्रदेशो की प्रथम

जघन्य वर्गणा कहलाती है, तदनन्तर एक-एक वीर्याविभाग से अधिक ऐसे क्रम से दूसरी, तीसरी आदि आगे वर्गणाओ की परपरा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवप्रदेशो के तुल्य सख्या वाले समान वीर्याविभाग होते है, वे (वीर्याविभाग) सब से अर्थात् जीव प्रदेशगत अन्य वीर्याविभागो से अल्पतम है । वे जीवप्रदेश घनाकार किये गये लोक[1] के असख्यातवे भागवर्ती असख्यात प्रतरगत[2] आकाश-प्रदेशराशि के प्रमाण होते है । सब से अल्पतम इन वीर्याविभागो के समुदाय की एक वर्गणा[3] कहलाती है और यह वर्गणा सब से जघन्य है। क्योकि वह सब से कम अविभागी अशो से युक्त है। इस जघन्य अर्थात् पहली वर्गणा (इस जघन्य वर्गणा) के अनन्तर दूसरी वर्गणा होती है । उसे केवल एक अविभाग अश से अधिक कहना चाहिये और उसके बाद भी आगे एक-एक अविभाग से अधिक वर्गणाये समझना चाहिये। वह इस प्रकार —

जघन्य वर्गणा से परे (आगे) जो जीव के प्रदेश एक-एक वीर्याविभाग से अधिक होते है, वे घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। तदनन्तर दो वीर्याविभागो से अधिक उक्त सख्या वाले अर्थात् घनाकार लोक के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात प्रतरगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है, उनके समुदाय की यह तीसरी वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से बढते हुए उक्त सख्या मे रहने वाले वीर्याविभागो की समुदाय रूप असख्यात वर्गणाये जानना चाहिए।

स्पर्धक और अन्तर प्ररूपणा

ये वर्गणाये कितनी होती है? यह बतलाने के लिये स्पर्धक-प्ररूपणा और उसके बाद अन्तर-प्ररूपणा करते है—

सेढिअसंखिअमित्ता, फड्डगमेत्तो अणंतरा नत्थि ।
जाव असखा लोगा, तो बीयाई य पुव्वसमा ॥८॥

शब्दार्थ—**सेढिअसंखिअमित्ता**—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण (वर्गणा का), **फड्डग**—स्पर्धक, **एत्तो**—यहाँ से, **अणतरा**—अनन्तर (वर्गणा) **नत्थि**—नही है, **जाव**—तक, पर्यन्त, **असंखा**—असख्यात, **लोगा**—लोकाकाश प्रदेश, **तो**—तत्पश्चात्, **बीयाई**—द्वितीयादिक, दूसरे आदि, **य**—और, **पुव्वसमा**—पूर्व की तरह (प्रथम स्पर्धक के समान)।

गाथार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। यहाँ से आगे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण—तक अनन्तर (अन्तर रहित) वर्गणाये नही है, उसके बाद द्वितीयादिक स्पर्धक की वर्गणाये पूर्व के समान (प्रथम स्पर्धक के समान) है।

---

१ लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि परिशिष्ट मे देखिये।

२ सात राजू लबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पक्ति को श्रेणी और श्रेणी के वर्ग को प्रतर कहते हैं। अर्थात् श्रेणी मे जितने प्रदेश हो, उनको उतने ही प्रदेशो से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, वह प्रतर है।

३ समान जातीय पुद्गलो के समूह को वर्गणा कहते है।

विशेषार्थ—श्रेणिर्घनीकृत लोकस्यैकैकप्रदेशपंक्तिरूपा तस्या असख्येयतमेभागे या आकाशप्रदेशास्तावन्मात्रा उक्तस्वरूपा वर्गणा' एक ,स्पर्धक—घनाकार लोक के एक-एक देश वाली पक्ति को श्रेणी कहते है और उसके (श्रेणी के) असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश होते है, उतने प्रमाण वाली जिनका स्वरूप ऊपर कहा गया है ऐसी वर्गणाओ के समूह को एक स्पर्धक कहते है। क्योकि जिसमे उत्तरोत्तर समान वृद्धि से वर्गणाये स्पर्धा को प्राप्त होती है, उसे स्पर्धक कहते है, यह स्पर्धक शब्द की व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार स्पर्धक-प्ररूपणा करने के पश्चात् अब अन्तर-प्ररूपणा करते है।

इस पूर्वोक्त स्पर्धकगत अतिम वर्गणा से परे (आगे) जीव-प्रदेश अनन्तर नही है, अर्थात् एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से निरन्तर वर्धमान नही पाये जाते है, किन्तु लोक के असख्यात जितने प्रदेश होते है, वहाँ तक सान्तर अर्थात् अन्तर सहित ही होते है। इसका भावार्थ यह हुआ कि पूर्वोक्त स्पर्धकगत अन्तिम वर्गणा से परे जीव-प्रदेश एक, दो तीन आदि वीर्याविभागो से अधिक नही पाये जाते है और न सख्यात वीर्याविभागो से अधिक पाये जाते है और न असख्यात वीर्याविभागो से ही अधिक पाये जाते है, किन्तु असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से अधिक पाये जाते है। इसलिये उनका समुदाय दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है।

इन द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बाद की द्वितीयादि वर्गणाये पूर्वस्पर्धक के समान कहना चाहिये। वह इस प्रकार— प्रथम वर्गणा से परे एक वीर्याविभाग से अधिक जीवप्रदेशो का समूह दूसरी वर्गणा है। दो वीर्याविभागो से अधिक जीवप्रदेशो का समूह तीसरी वर्गणा है । इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण वर्गणाये प्राप्त होती है। उन-उनका समुदाय दूसरा स्पर्धक है। तत्पश्चात फिर एक, दो, तीन आदि से या सख्यात, असख्यात वीर्याविभागो से अधिक जीवप्रदेश नही पाये जाते है किन्तु लोकाकाश के असख्यात प्रदेशप्रमाण से अधिक पाये जाते है। उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। तत्पश्चात् एक वीर्याविभाग की वृद्धि से द्वितीयादि वर्गणाये श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेश राशि प्रमाण कहना चाहिये, उनका समुदाय तीसरा स्पर्धक होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त क्रम से स्पर्धको को कहना चाहिये। इस प्रकार असख्य स्पर्धको की प्ररूपणा करना चाहिये।

इस प्रकार यह अन्तर-प्ररूपणा है।

स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा

अब स्थान और अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा करते है—

सेढिअसखिअमेत्ताइ, फड्डगाइ जहन्नयं ठाण।
फड्डगपरिवुड्ढिअओ,अगुलभागो असखतमो ॥९॥

शब्दार्थ—सेढिअसखिअमेत्ताइ—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण, **फड्डगाइ**—स्पर्धको का, **जहन्नय**—जघन्य, **ठाण**—स्थान, **फड्डगपरिवुड्ढिअओ**—स्पर्धक की वृद्धि, **अगुलभागो**—अगुल का भाग, **तमो**—असख्यातवा।

गाथार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण स्पर्धको का समुदाय जघन्य योगस्थान होता है और उसके आगे के समस्त योगस्थानो मे अगुल के असख्यातवे भाग जितने स्पर्धको की वृद्धि होती है। आगे-आगे के योगस्थानो मे अगुल के असख्यातवे भाग, असख्यातवे भाग जितने स्पर्धक अधिक-अधिक होते है।

विशेषार्थ—श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण पूर्वोक्त स्पर्धको का जघन्य योगस्थान होता है। यह योगस्थान सबसे अल्पवीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया जीव मे भव के प्रथम समय मे प्राप्त होता है। उससे अधिक वीर्यशक्ति वाले अन्य जीव के जो अल्पतर वीर्य वाले जीव-प्रदेश होते है, उनका समुदाय प्रथम वर्गणा है। उससे आगे एक-एक वीर्याविभाग की वृद्धि से श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो प्रमाण वर्गणाये कहना चाहिये। इन सब वर्गणाओ का समुदाय प्रथम स्पर्धक कहलाता है। इसके बाद पहले बताई गई रीति के अनुसार अर्थात् पूर्वदर्शित प्रकार द्वारा दूसरे, तीसरे आदि स्पर्धक भी तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे भी श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है। इन सब स्पर्धको का समुदाय दूसरा योगस्थान कहलाता है। उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के बताई गई रीति के अनुसार तीसरा योगस्थान जानना चाहिये। इस प्रकार अन्यान्य अधिक वीर्य वाले जीवो की अपेक्षा तब तक योगस्थान कहना चाहिये, जब तक कि सर्वोत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त होता है। ये सभी योगस्थान श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो प्रमाण होते है।[1]

शका—जीव अनन्त है और प्रत्येक जीव के योगस्थान सम्भव होने से पूर्वोक्त सख्या (श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रदेश प्रमाण) युक्तिसगत नही है।

समाधान—ऐसा नही समझना चाहिये, क्योकि एक-एक समान योगस्थान मे वर्तमान अनन्त स्थावर पाये जाते है। अत सब जीवो की अपेक्षा से उक्त सख्या वाले सर्व योगस्थान केवली भगवान की प्रज्ञा से देखे गये उतने ही (श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रदेश प्रमाण) प्राप्त होते है।[2]

---

१ यहा दो बातो का स्पष्टीकरण किया गया है—प्रथम यह कि उत्पत्ति के प्रथम समय मे वर्तमान अल्पतम वीर्य वाले सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के सबसे जघन्य योगस्थान होता है। इससे जघन्य योगस्थान अन्य किसी भी जीव को उत्पत्ति के प्रथम समय मे नही हो सकता है। दूसरी यह है कि सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव के उत्पत्ति के प्रथम समय मे होने वाला योग यद्यपि योगस्थान तो है, लेकिन योगस्थानो की वृद्धि का क्रम उससे अधिक वीर्य वाले अन्य जीव के जो सर्वाल्प वीर्य वाले जीवप्रदेशो का समुदाय है अथवा द्वितीय समय मे वर्तमान उसी निगोदिया अपर्याप्तक जीव के जघन्य वीर्याविभागो का समुदाय है, वहा से प्रारम्भ होता है और वह दूसरे योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। इसी प्रकार एक-एक अधिक वीर्याविभागो के समुदायरूप दूसरी, तीसरी आदि असख्य वर्गणायें प्रथम स्पर्धक की जानना चाहिये। यह वर्गणाओ का क्रम वहाँ तक कहना चाहिए कि जहाँ तक श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण वर्गणायें होती है और इन असख्य वर्गणाओ का समुदाय प्रथम स्पर्धक है। इसी तरह श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण प्रदेशो की राशि प्रमाण स्पर्धको के समुदाय का दूसरा योगस्थान होता है। ऐसे योगस्थान श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशो जितने होते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक-अधिक वीर्य वाले अर्थात् पूर्व योगस्थानगत वीर्यापेक्षा अधिक ऊर्ध्व अन्य-अन्य जीव की अपेक्षा योगस्थान वहाँ तक कहना चाहिये, जहाँ तक सर्वोत्कृष्ट (अन्तिम) योगस्थान आ जाये।

२ उक्त कथन का साराश यह है कि स्थावरप्रायोग्य असख्य योगस्थानो मे से प्रत्येक योगस्थान मे अनन्त अथवा असख्य जीव हो सकते है, अर्थात् उन जीवो के समान योगस्थान होता है। किन्तु त्रसप्रायोग्य योगस्थानो मे प्रतियोगस्थान मे असख्य अथवा सख्य जीव होते है और कदाचित् कोई त्रसप्रायोग्य योगस्थान शून्य भी होता है। इस प्रकार जीवो के अनन्त होने पर भी विसदृश योगस्थान श्रेणी के असख्यातवें भाग ही होते है।

इस प्रकार स्थान प्ररूपणा जानना चाहिये। अब अवसर प्राप्त अनन्तरोपनिधा-प्ररूपणा करते है।

उपनिधान को उपनिधा कहते है—**उपनिधानमुपनिधा**। धातुओ के अनेकार्थक होने से यहाँ उपनिधा का अर्थ मार्गण अर्थात् अन्वेषण करना है। अत अनन्तर मे उपनिधा करने, मार्गण, अन्वेषण करने को अनन्तरोपनिधा कहते है। अर्थात् अनन्तर योगस्थान मे उत्तर (आगे) के योगस्थान मे स्पर्धको की सख्या का मार्गण करना अनन्तरोपनिधा कहलाती है—**अनन्तरेणोपनिधाऽनन्तरोपनिधा, अनन्तराद्योगस्थानादुत्तरयोगस्थाने स्पर्धकसख्यामार्गणमित्यर्थ**। जिसका स्पष्टीकरण यहाँ करते है—

इस पूर्वोक्त प्रथम योगस्थान से द्वितीय आदि योगस्थानो मे से प्रत्येक योगस्थान पर स्पर्धको की वृद्धि अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण होती है। अर्थात् अगुल प्रमाण क्षेत्र सबधी असख्यातवे भाग मे जितने प्रदेश होते है, उतने स्पर्धक पूर्व-पूर्व योगस्थान सम्बन्धी स्पर्धको की अपेक्षा उत्तरोत्तर योगस्थान पर अधिक होते है।

उक्त कथन का यह भाव है कि प्रथम योगस्थान की वर्गणाओ से दूसरे योगस्थान गत वर्गणाये मूलत ही हीन प्रदेशवाली होती है। क्योकि अधिक और अधिकतर वीर्यवाले जीवप्रदेश अल्प, अल्पतर रूप मे ही पाये जाते है। अतएव यहाँ आदि से ही वर्गणाओ के अल्पप्रदेशतर अधिक अवकाश होने से और अनेक प्रकार की विचित्र वर्गणाओ की अधिकता सम्भव होने से ऊपर कहे गये रूप मे स्पर्धको की अधिकता सगत होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर योगस्थानो मे स्पर्धको की अधिकता जानना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा का विचार किया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त परपरा से मार्गण रूप परम्परोपनिधा-प्ररूपणा का कथन करते है।

परपरोपनिधा-प्ररूपणा

सेढिअसखियभाग, गंतुं गंतुं हवंति दुगुणाइं।
पल्लासखियभागो, नाणागुणहाणिठाणाणि ॥१०॥

शब्दार्थ—सेढिअसखियभाग—श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण, **गतु-गतु**—जाने-पर, **हवति**—होते है, **दुगुणाइ**—दुगुने, **पल्लासखियभागो**—पल्य के असख्यातवे भाग, **नाणागुणहानि**—नाना गुणहानि, **ठाणाणि**—स्थान।

गाथार्थ—प्रथम योगस्थान से लेकर श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानो का अतिक्रमण करके आगे जाने पर जो योगस्थान आते है, उन योगस्थानो मे द्वि-गुणित-द्वि-गुणित स्पर्धक होते है। इसी प्रकार उत्कृष्ट योगस्थान से वापस पीछे हटते हुए नाना गुणहानि रूप स्पर्धक होते है।

विशेषार्थ—प्रथम योगस्थान से लेकर श्रेणी के असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश है, उतने प्रमाण योगस्थानो के अतिक्रमण करने पर जो पर योगस्थान है, वहाँ-वहाँ पर पूर्वस्थान की अपेक्षा स्पर्धक दुगुने हो जाते है। जिसका स्पष्टीकरण यह है—

प्रथम योगस्थान मे जितने स्पर्धक होते है, उनकी अपेक्षा श्रेणी के असख्यातवे भाग मे जितने आकाशप्रदेश होते है, उतने प्रदेश राशि प्रमाण योगस्थानो का अतिक्रमण करके (आगे जा करके) अनन्तरवर्ती योगस्थान मे दुगने स्पर्धक होते है। पुन उस योगस्थान मे परे आगे उतने ही योगस्थानो का उल्लघन करके प्राप्त होने वाले उस परवर्ती योगस्थान मे दुगुने स्पर्धक प्राप्त होते है। पुन उस स्थान से (जिसमे दुगुने स्पर्धक कहे, उस योगस्थान से) भी परे उतने ही (श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेश राशि प्रमाण) योगस्थानो का उल्लघन कर उक्त ऊपर के योगस्थान मे दुगुने स्पर्धक प्राप्त होते है। इस प्रकार इसी क्रम से अतिम योगस्थान पर्यन्त जानना चाहिये। ये दुगुने-दुगुने स्पर्धक पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है। अर्थात् सूक्ष्म अद्धा पल्योपम के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने द्विगुणवृद्धि के स्थान होते है।

अब हानिस्थानो को बतलाते है—**नाणागुणहाणिठाणाणि**—नाना रूप जो गुणहानिस्थान है, (जैसे—वृद्धि के स्थान अनेक है, उसी प्रकार हानि के स्थान भी है) उन्हे द्विगुणहानिस्थान कहते है वे भी पल्योपम के असख्यातवे भागगत समय प्रमाण होते है। ऊपर की ओर आरोहण करने से जो वृद्धि के स्थान प्राप्त होते है, वे ही अवरोहण करते समय (नीचे उतरने की अपेक्षा) हानिस्थान कहलाते है। इस प्रकार वृद्धिस्थान और हानिस्थान समान होते है। वे इस प्रकार है—

उत्कृष्ट योगस्थान से नीचे उतरने पर श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रदेश प्रमाण योगस्थानो के उल्लघन करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान मे अन्तिम योगस्थान के स्पर्धको की अपेक्षा आधे स्पर्धक प्राप्त होते है। तत्पश्चात् पुन उतने ही योगस्थानो का अतिक्रमण करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान मे आधे स्पर्धक प्राप्त होते है। इस प्रकार इसी क्रम से जघन्य योगस्थान प्राप्त होने तक समझना चाहिये।

शका—द्विगुण स्पर्धको की हानि, द्विगुणहानि है, यह अर्थ अर्धहानि मे घटित नही होता है।

समाधान—उक्त कथन सत्य है। किन्तु यहाँ पर उस द्विगुण वृद्धि की अवधि समाप्ति से सबद्ध हानि को ही द्विगुणहानि रूप से विवक्षित किया गया है। यह सूचित करने के लिये ही तो गाथा मे 'नाणा' यह पद दिया गया है कि जितने द्विगुणवृद्धिस्थान है, अथवा द्विगुणहानिस्थान है, वे सबसे अल्प (स्तोक, कम) है, उनमे पुन एक द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि के अन्तराल मे जो योगस्थान है, वे असख्यात गुणित है।[1]

इस प्रकार परपरोपनिधा की प्ररूपणा है। अब वृद्धि-प्ररूपणा को करते हुए आचार्य गाथा-सूत्र कहते है।

वृद्धि-प्ररूपणा

वुड्ढीहाणिचउक्कं, तम्हा कालोत्थ अतिमिल्लाणं।
अतोमुहुत्तमावलि – असंखभागो य सेमाण ॥११॥

---

१ असत्कल्पना द्वारा योगस्थान के आशय को परिशिष्ट मे स्पष्ट किया गया है।

शब्दार्थ—वुड्ढीहाणिचउक्क—वृद्धि और हानि चार प्रकार की है, तम्हा—इसलिये, काल—काल, समय, अत्थ—यहाँ, अतिमिल्लाण—अन्तिम का, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, आवलि—आवलि, असखभागो—असख्यातवे भाग, य—और, सेसाण—शेप का, वाकी का ।

गाथार्थ—योगस्थानो की वृद्धि और हानि चार प्रकार की है (अर्थात योगस्थानो की वृद्धि चार प्रकार की है और हानि भी चार प्रकार की है)। इनमे से अतिम वृद्धि और हानि का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेप तीन वृद्धि, हानियो का उत्कृष्टकाल आवलि के असख्यातवे भाग प्रमाण है ।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम क्वचित्, कदाचित् और कथचित् (अर्थात् क्वचित्-किसी क्षेत्र मे, कही पर, कदाचित्—किसी कालविशेप मे, कथचित्-किसी भावविशेप की अपेक्षा से) होता है । अतएव उसके निमित्त से (वीर्यान्तराय कर्म के विचित्र क्षयोपशम रूप कारण से) होने वाले योगस्थान भी कदाचित् वढते है और कदाचित् घटते है । जिसमे इनमे वृद्धि के चार प्रकार होते है—१ असख्यात भागवृद्धि, २ सख्यात भागवृद्धि, ३ सख्यात गुणवृद्धि, ४ असख्यात गुणवृद्धि । इसी प्रकार हानिया भी चार प्रकार की होती है— १ असख्यात भागहानि, २ सख्यात भागहानि, ३ सख्यात गुणहानि, ४ असख्यात गुणहानि । यह वृद्धि और हानि का चतुष्क निरन्तर प्रवर्तता रहता है। अतएव इसका सोपस्कार अन्वय करते हुए अव गाथा का प्रतिज्ञात अर्थ कहते है कि—

अतिम असख्यात गुण लक्षणवाली वृद्धि और असख्यात गुण लक्षणवाली हानि अर्थात् असख्यात गुणवृद्धि और असख्यात गुणहानि इन दोनो का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेप आदि की तीनो वृद्धियो और हानियो का उत्कृष्ट काल आवलि के असख्यातवे भाग प्रमाण है ।

उक्त कथन का यह भाव है कि क्षयोपशम के प्रकर्ष से विवक्षित योगस्थान से प्रतिसमय आगे-आगे के दूसरे-दूसरे असख्येय गुणवृद्धि रूप योगस्थान मे जीव का जो आरोहण होता है, वह असख्यात गुणवृद्धि है और जव क्षयोपशम के अपकर्ष से प्रति समय दूसरे-दूसरे असख्यात गुणहीन रूप योगस्थान मे जो अवरोहण होता है, वह असख्यात गुणहानि है । ये दोनो हानि और वृद्धि उत्कर्ष से अन्तर्मुहूर्त काल तक निरतर होती है और आदि की तीनो वृद्धिया और हानिया उत्कर्ष से आवलि के असख्यातवे भाग काल तक होती है एव जघन्यापेक्षा चारो ही वृद्धिया और हानिया एक या दो समय पर्यन्त होती है ।

समय-प्ररूपणा

कितने काल तक उक्त वृद्धियो और हानियो से रहित जीव योगस्थानो पर अवस्थित पाये जाते है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रथकार अव समय की प्ररूपणा करते है—

चउराई जावट्ठग-मित्तो जाव दुग ति समयाणं ।
पज्जत्तजहन्नाओ जावुक्कोसं ति उक्कोसो ॥१२॥

शब्दार्थ—चउराई—चार समय से, जाव–तक, पर्यन्त, अट्ठग–आठ समय, इत्तो–यहां से, जाव–तक, दुग ति–दो तक, समयाण–समय, पज्जत्तजहन्नाओ–पर्याप्त (सूक्ष्म निगोदिया जीव) के, जघन्य, जावुक्कोस ति–उत्कृष्ट तक, उक्कोसो–उत्कृष्ट (काल)।

गाथार्थ—चार समय से लेकर आठ समय तक और उसके पश्चात् दो समय तक जीव अवस्थित पाये जाते हैं। यह क्रम पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया के जघन्य योगस्थान से लेकर यावत् उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिये। यह उत्कृष्ट समय-प्ररूपणा है।

विशेषार्थ—अवस्थिति के नियामक समयों की संख्या चार है आदि में जिसके, वह चतुरादि वृद्धि कहलाती है। वह तब तक कहना चाहिये, जब तक आठ की संख्या प्राप्त हो। इसमे आगे समयों की हानि यह पद भी जोडना चाहिये। यह हानि दो संख्या प्राप्त होने तक होती है। यहाँ चार की आदि रूप वृद्धि पर्याप्त जघन्य से अर्थात् पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया सम्बन्धी जघन्य योगस्थान से आरम्भ कर आठ समय तक जानना चाहिये। इसके पश्चात् हानि होती है, वह भी तब तक, जब तक उत्कृष्ट योगस्थान प्राप्त होता है। यह उत्कृष्ट अवस्थिति काल है। अर्थवशात् इस प्रकार ही अक्षर-योजना करना चाहिये।

उक्त कथन का यह भावार्थ है कि सब से अल्पवीर्य वाले पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से[1] आरम्भ करके क्रमश श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण जितने योगस्थान है, वे उत्कर्ष से चार समय तक अवस्थित पाये जाते है, उससे आगे जो उतने ही योगस्थान है वे उत्कर्ष से पाच समय तक, उससे आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से छह समय तक, उससे भी आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से सात समय तक और उससे भी आगे उतने ही योगस्थान उत्कर्ष से आठ समय तक अवस्थित पाये जाते है। इससे आगे जो क्रमश श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेशो के प्रमाण योगस्थान है, वे उत्कर्ष से सात समय तक, तदनन्तर उक्त संख्या वाले योगस्थान उत्कर्ष से छह समय तक अवस्थित पाये जाते हे। इस प्रकार प्रतिलोम क्रम से तब तक कहना चाहिये जब तक कि अतिम श्रेणी के असख्यातवे भागगत प्रदेश प्रमाण योगस्थान उत्कर्ष से दो समय तक अवस्थित[2] पाये जाते है।

इस प्रकार उत्कृष्ट अवस्थानकाल का प्रमाण है। अब जघन्य अवस्थानकाल का प्रमाण एव योगस्थान-अल्पबहुत्वप्ररूपणा करते है।

जघन्य काल और योगस्थान–अल्पबहुत्वप्ररूपणा

एगसमयं जहन्नं, ठाणाणप्पाणि अट्ठ समयाणि।
उभओ असखगुणियाणि समयसो ऊण ठाणाणि ॥१३॥

---

१ अपर्याप्त-अवस्था (करण-अपर्याप्त-अवस्था) मे सब जीवो के योग की अवश्य वृद्धि होती है। इसलिये चार आदि की समय-प्ररूपणा पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान से कही गई है।

२ अवस्थित अर्थात् एक जीव को वही योगस्थान इतने काल तक निरन्तर हो सकता है अथवा उस योगस्थान मे जीव उतने काल तक रह सकता है, तदनन्तर अवश्य ही योगान्तर हो जाता है।

शब्दार्थ—**एगसमय**–एक समय का, **जहन्न**–जघन्य, **ठाणाणप्पाणि**–(योग) स्थान अल्प, **अट्ठसमयाणि**–आठ समय वाले, **उभओ**–दोनो ओर के, **असखगुणियाणि**–असख्य गुण, **समयसो**–समय से, **ऊण**–न्यून, कम, **ठाणाणि**–स्थान ।

गाथार्थ—समस्त योगस्थानो का जघन्य अवस्थान काल एक समय मात्र का है, आठ समय वाले योगस्थान अल्प है। तत्पश्चात् दोनो ओर एक-एक समय कम करते हुए योगस्थान असख्यात गुणे है।

विशेषार्थ—उपर्युक्त समस्त योगस्थानो का जघन्यत अवस्थानकाल एक समय है। जो अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया सम्बन्धी असख्यात योगस्थान है, उनका जघन्यत और उत्कर्षत अवस्थानकाल एक समय का है ।

प्रश्न—उत्कर्ष मे भी उन योगस्थानो (अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद सम्बन्धी असख्यात योगस्थानो) का अवस्थान काल एक समय होने का क्या कारण है ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि सभी अपर्याप्त जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे रहते हुए प्रतिक्षण असख्यात गुणी योगवृद्धि होती है, ऐसा शास्त्रवचन है—'**सव्वोवि अपज्जत्तगो पइ सखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइत्ति**'। अतएव दूसरे समय मे योग की असख्यात गुणी वृद्धि होती है। इन अपर्याप्त योगस्थानो का अजघन्य, उत्कृष्ट अवस्थान काल एक समय का है ।

इस प्रकार समय–प्ररूपणा का कथन किया गया। अब ठाणाणप्पाणि इत्यादि पद से चार आदि समय वाले योगस्थानो के अल्पबहुत्व का कथन प्रारम्भ करते है—

'ठाणा समयाणि' अर्थात् आठ समय वाले योगस्थान सबसे अल्प होते है। उनकी अपेक्षा एक-एक समय से कम जो सप्त सामयिक आदि स्थान है, वे उभयत अर्थात् पूर्वोत्तर दोनो पार्श्वो मे असख्यात गुणे होते है। वे इस प्रकार कि आठ समय वाले योगस्थान चिरकाल स्थायी होने से अल्प ही प्राप्त होते है, उनसे उभयपार्श्ववर्ती सात समय वाले योगस्थान अल्प स्थिति वाले होने से असख्यातगुणे होते है,[1] किन्तु स्वस्थान मे वे दोनो ही परस्पर समान सख्या वाले होते है। उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती छह समय वाले योगस्थान असख्यात गुणे होते है, किन्तु स्वस्थान मे समान, तुल्यसख्यक होते है। उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती पाच समय वाले योगस्थान असख्यात गुणे है, किन्तु स्वस्थान मे वे समान है । उनसे भी उभयपार्श्ववर्ती चार समय वाले योगस्थान असख्यात गुणे होते है, किन्तु स्वस्थान मे वे तुल्य है। उनमे भी तीन समय वाले योगस्थान असख्यात गुणे होते है, उनसे भी दो समय वाले योगस्थान असख्यात गुणे होते है।[2]

---

१ अधिक स्थिति वाले योगस्थान अल्प होते है और न्यून स्थिति वाले योगस्थान अधिक, इस अपेक्षा उक्त कथन समझना चाहिये।

२ योगस्थानो की उत्कृष्ट स्थिति का पूर्वभाग वृद्धि की अपेक्षा चार समय से प्रारम्भ होता है और हानि की अपेक्षा उत्तरभाग दो समय तक का है। इसलिये चार समय तक की स्थितिया तो उभयपार्श्ववर्ती है, किन्तु तीन और दो समय की स्थितिया मात्र उत्तरपार्श्ववर्ती ही हैं, इसलिए इन दोनो स्थितियो मे उभयपार्श्ववर्तीपना एव स्वस्थान मे तुल्यता नही कही है।

जीवभेदापेक्षा योगविषयक अल्पबहुत्व

चतुरादि समय वाले योगस्थानो के अल्पबहुत्व का कथन करने के बाद अब उन योगस्थानो मे वर्तमान (चौदह) जीवस्थानो के जघन्य-उत्कृष्ट योगविषयक अल्पबहुत्व को कहते है—

सव्वत्थोवो जोगो साहारण सुहुम पढमसमयम्मि ।
बायर बियतियचउरमणसन्नपज्जत्तगजहन्नो ॥१४॥
आइदुगुक्कोसो सि पज्जत्तजहन्नगेयरे य कमा ।
उक्कोसजहन्नियरो, असमत्तियरे असखगुणो ॥१५॥
अमणाणुत्तरगेविज्ज--भोगभूमिगय तइयतणुगेसु ।
कमसो असखगुणिओ सेसेसु य जोगु उक्कोसा ॥१६॥

शब्दार्थ—**सव्वत्थोवो**—सबसे अल्प, **जोगो**—योग, **साहारण**—साधारण (निगोदिया), **सुहुम**—सूक्ष्म, **पढमसमयम्मि**—प्रथम समय मे, **बायर**—बादर, **बियतियचउरमण**—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पंचेन्द्रिय, **सन्न**—सज्ञी, **अपज्जत्तग**—अपर्याप्तो का, **जहन्नो**—जघन्य ।

आइदुग—आदि के दो जीवभेदो का, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट, **सि**—इन्ही दोनो के, **पज्जत्त**—पर्याप्त, **जहन्नगेयरे**—जघन्य और इतर (उत्कृष्ट), **य**—और, **कमा**—क्रम से, **उक्कोस**—उत्कृष्ट, **जहन्नियरो**—जघन्य, इतर (उत्कृष्ट), **असमत्तियरे**—अपर्याप्त और पर्याप्त मे, **असखगुणो**—असख्यात गुणा ।

अमणा—असज्ञी पचेन्द्रिय, **अणुत्तर**—अनुत्तर विमानवासी, **गेविज्ज**—ग्रैवेयक विमानवासी, **भोगभूमिगय**—भोगभूमिया जीव, **तइयतणुगेसु**—तीसरे शरीर वालो मे, **कमसो**—अनुक्रम से, **असंखगुणिओ**—असख्यातगुणा, **सेसेसु**—शेष रहे जीवो मे, **य**—और, **जोगु**—योग, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—सबसे अल्प योग साधारण (निगोदिया) सूक्ष्म जीव के प्रथम समय मे होता है और इससे आगे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो का जघन्य योग अनुक्रम से उत्तरोत्तर असख्यात गुणा होता है।

उससे आगे आदि के दो जीवभेदो का उत्कृष्ट योग तथा इन्ही दोनो के पर्याप्त का जघन्य और उत्कृष्ट योग तथा शेष रहे अपर्याप्त जीवो का उत्कृष्ट योग तथा पर्याप्त जीवो का जघन्य और उत्कृष्ट योग अनुक्रम से असख्यात गुणा है।

असज्ञी पचेन्द्रिय, अनुत्तर विमानवासी, ग्रैवेयकवासी, भोगभूमिज और तीसरे शरीर वाले जीवो का अनुक्रम से योग असख्यात गुणा होता है। उक्त जीवो से शेष रहे हुए जीवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है।

विशेषार्थ—यहा पर असख्यात गुण पद का सम्बन्ध उत्तरवर्ती गाथा १५ मे आगत **असखगुणो** पद से है। इसलिये १ साधारण सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक अवस्था मे वर्तमान जीव का प्रथम समय मे जघन्य योग सबसे कम होता है। २ उससे बादर एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान

जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। ३ उससे द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। ४ उससे त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है।५ उससे चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। ६ उससे असज्ञी पचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। ७ उससे सज्ञी पचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक के प्रथम समय मे वर्तमान जीव का जघन्य योग असख्यात गुणा है। इसके अनन्तर आदिद्विक का अर्थात् अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव का और अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का उत्कृष्ट योग क्रम से असख्यात गुणा है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—८. लब्धि-अपर्याप्तक सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के जघन्य योग से सूक्ष्म निगोदिया लब्धि-अपर्याप्तक जीवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। ९ उससे बादर एकेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। इसके बाद पुन इन्ही दोनो के पर्याप्तको का यानि पर्याप्तक सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीवो का जघन्य और उत्कृष्ट योग क्रम से असख्यातगुणा जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि १० लब्धि-अपर्याप्तक बादर एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। ११ उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। १२ उससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। १३ उससे बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म, बादर और उनके अपर्याप्त, पर्याप्त भेदो मे योग के जघन्य एव उत्कृष्ट के क्रम को स्पष्ट करने के अनन्तर अब **'उक्कोसजहन्नियरो, असमत्तियरे असखगुणो'** पद की व्याख्या करते है—

असमत्त—असमाप्त अर्थात् अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि यह पद समझना चाहिये कि उनमे उत्कृष्ट और इतर अर्थात् पर्याप्त द्वीन्द्रियादि मे जघन्य, उत्कृष्ट योग परिपाटी से—अनुक्रम से असख्यात गुणा जानना चाहिये। वह इस प्रकार—१४ पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग से द्वीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। १५ उससे त्रीन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। १६ उससे चतुरिन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। १७ उससे असज्ञी पचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। १८ उससे सज्ञी पचेन्द्रिय लब्धि-अपर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। १९ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। २० उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। २१ उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा है। २२ उससे असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। २३. उससे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य योग असख्यात गुणा होता है। २४ उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। २५ उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। २६ उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा है। तदनन्तर असणा अर्थात् असज्ञी पचेन्द्रिय जीव का यानी २७ चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट योग से असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। २८ उससे अनुत्तरोपपातिक देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। २९ उससे ग्रैवेयकवासी देवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। ३० उससे

भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। ३१ उससे तीसरे शरीरधारी अर्थात् आहारक शरीरधारी जीवो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है। ३२ उससे शेष रहे देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यो का उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है।[1] यहा सर्वत्र असख्यात का गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण एव पर्याप्तक का अर्थ सर्वत्र करण-पर्याप्त जानना चाहिये।[2]

जीव द्वारा योगो से किया ` वाला कार्य

विस्तार से योग-प्ररूपणा करने के बाद अब इससे जीव द्वारा किये जाने वाले कार्य का कथन करते है—

जोगेहि तयणुरूवं परिणमइ गिण्हिऊण पंचतणू ।
पाउग्गे वालंबइ, भासाणुमणत्तणे खंधे ।।१७।।

शब्दार्थ—**जोगेहि**–योगो द्वारा, **रूवं**–तदनुरूप (योगो के अनुरूप), **परिणमइ**–परिणमाता है, **गिण्हिऊण**–ग्रहण करके, **पचतणू**–पाच शरीर रूप, **पाउग्गे**–प्रायोग्य, **वा**–तथा, **आलबइ**–अवलवन लेता है, **भासाणुमणत्तणे**–भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन रूप परिणत, **खधे**–स्कन्धो से।

गाथार्थ—योगो के द्वारा जीव योगो के अनुरूप औदारिकादि शरीर प्रायोग्य पुद्गलस्कन्धो को ग्रहण करके औदारिकादि पाच शरीर रूप परिणमाता है तथा भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन रूप परिणमित हुए पुद्गल स्कन्धो का अवलबन लेता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त लक्षण वाले योगो के द्वारा जीव तदनुरूप अर्थात् योगो के अनुरूप पुद्गलो को ग्रहण करता है। यानी जघन्य योग मे वर्तमान जीव अल्प पुद्गलस्कन्धो को, मध्यम योग मे वर्तमान मध्यम अनुत्कृष्ट पुद्गलो को और उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव प्रभूत, अधिक पुद्गलस्कन्धो को ग्रहण करता है।[3] इस प्रकार तत्-तत् प्रायोग्य अर्थात् औदारिकादि शरीरो के योग्य स्कन्धो यानि पुद्गलस्कन्धो को ग्रहण करके उन्हें पाच शरीर रूप से परिणमाता है। गाथा मे "पचतणू" इस प्रकार का भावप्रधान निर्देश होने से उसका अर्थ हुआ कि औदारिक आदि पाच शरीर तथा भाषा, प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) और मन-के योग्य पुद्गलस्कन्धो को पहले ग्रहण करता है, ग्रहण करके भाषादि रूप से परिणत करता है और परिणत करके उनके निसर्ग की कारणभूत सामर्थ्यविशेष की सिद्धि के लिये उन पुद्गलस्कन्धो का अवलवन लेता है। पुन उनके अवलबन से सामर्थ्यविशेष वाला होता हुआ उन्हे छोडता है, उसके विना नही छोड सकता है। जैसे—विल्ली को जब ऊपर

१ अन्य जीवभेदो की तरह सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो के उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का कथन सामान्य रूप से न करके अपेक्षाकृत अन्तर वालो का तो पृथक्-पृथक् बताया है और शेष का अर्थात् जिनमे अपेक्षाकृत अल्पबहुत्व नही है, उनका सामान्य से मात्र नामोल्लेख कर दिया है।

२ योग सम्बन्धी अविभाग-प्ररूपणा आदि दस प्ररूपणाओ का सक्षिप्त विवरण परिशिष्ट मे देखिये।

३ तुलना कीजिये—
जोगाणुरूव जीवा परिणामतीह गिण्हिउ दलिय ।

—पचसग्रह, बधनकरण १३

की ओर छलाग लगाने की इच्छा होती है, तब वह पहले अपने अगो को सकुचित करके उनका अवलबन लेती है, यानी स्थिर होकर उन्हे धारण (सतुलित) करती है। पश्चात् उस अवलबन स शक्तिविशेष प्राप्त करके अपने अगो को ऊपर की ओर उछालने मे समर्थ होती है, अन्यथा वैसा करने मे सक्षम नही हो पाती है। उसी प्रकार यहा जानना चाहिये। क्योकि **'द्रव्यनिमित्त वीर्यं ससारिणामुपजायत इति'**—ससारी जीवो का वीर्य द्रव्यसयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है—इस वचन को यहा भी प्रमाण रूप मे समझना चाहिये।

पौद्गलिक वर्गणाओ का निरूपण

ऊपर जो यह कहा गया है कि जीव योगो के द्वारा तत्-तत् प्रायोग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, सो उनमे से कौनसे पुद्गल ग्रहणयोग्य है और कौनसे अग्रहणयोग्य ? शिष्य की इस जिज्ञासा के समाधानार्थ ग्रथकार ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य पुद्गलवर्गणाओ का निरूपण करते है—

परमाणुसंखऽसंखाऽणतपएसा अभव्वणतगुणा ।
सिद्धाणणंतभागो, आहारगवग्गणा तितणू ॥१८॥

अग्गहणंतरियाओ, तेयगभासामणे य कम्मे य ।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअतरेसुप्पि ॥१९॥

पत्तेगतणुसु बायर-सुहुमनिगोए तहा महाखंधे ।
गुणनिप्फन्नसनामो, असंखभागंगुलवगाहो ॥२०॥

शब्दार्थ—**परमाणु**—परमाणु रूप, **संखऽसखाऽणंतपएसा**—सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी, **अभव्वणतगुणा**—अभव्यो से अनन्त गुणे, **सिद्धाणणतभागो**—सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण, **आहारगवग्गणा**—ग्रहण योग्य वर्गणा, **तितणू**—तीन शरीर रूप।

अग्गहणंतरियाओ—अग्रहण वर्गणा के अन्तर से, **तेयगभासामणे**—तैजस, भाषा, मन, **य**—और, **कम्मे**—कार्मण, **य**—तथा, **धुवअधुवअच्चित्ता**—ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, **सुन्नाचउ**—चार शून्य वर्गणायें, **अतरेसु**—अन्तरो मे, **उप्पि**—ऊपर।

पत्तेगतणुसु—प्रत्येक शरीरी, **बायरसुहुमनिगोए**—बादर निगोद, सूक्ष्म निगोद, **तहा**—तथा, **महाखधे**—महास्कन्ध वर्गणा, **गुणनिप्फन्नसनामो**—गुणनिष्पन्न नामवाली, **असखभाग**—असख्यातवे भाग, **अगुलवगाहो**—अगुल के अवगाह वाली।

गाथार्थ—एक परमाणु रूप वर्गणा, सख्यात प्रदेशी वर्गणा, असख्यात प्रदेशी वर्गणा और अनन्त प्रदेशी वर्गणा, ये सब वर्गणायें जीव के द्वारा अग्रहणयोग्य है—ग्रहण करने योग्य नही होती है, किन्तु अभव्य जीवो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण प्रदेशो की वर्गणाये तीन शरीर रूप मे जीव द्वारा ग्रहण करने योग्य होती है।

तथा तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, प्राणापानवर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा—ये सभी वर्गणाये अग्रहण वर्गणाओ से अन्तरित हैं। तत्पश्चात् ध्रुवाचित्त और अध्रुवाचित्त वर्गणाये है, तदनन्तर चार शून्य वर्गणाये है, जो अन्तराल से युक्त है और उसके ऊपर।

प्रत्येकशरीरी, बादरनिगोद, सूक्ष्मनिगोद तथा महास्कन्ध ये चार वर्गणाये है। ये सभी वर्गणाये गुणनिष्पन्न नामवाली है तथा प्रत्येक वर्गणा का अवगाह अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—वर्गणायें एक-एक परमाणु रूप तथा संख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी भी होती हैं। इनमे एक-एक परमाणु वाली वर्गणाये परमाणुवर्गणा कहलाती है। यद्यपि वर्गणा शब्द समुदाय वाचक है, लेकिन यहाँ वर्गणा का योग्यता को लेकर अर्थ करना चाहिये। एक-एक परमाणु मे वर्गणा शब्द अनेक पर्यायो के रूप मे उपनिपात की अपेक्षा अर्थात् समाहित होने की अपेक्षा जानना चाहिये।[1] क्योकि यदि परमाणुओ की वर्गणा (समुदाय) परमाणुवर्गणा कही जाय तो जगत में जितने भी परमाणु है, उनका समुदाय परमाणुवर्गणा कहलायेगी और ऐसा अर्थ करने पर आगे कहे जाने वाले अगुल के असख्यातवे भाग अवगाहना के कथन से विरोध का प्रसग आता है। इसका कारण यह है कि एक-एक परमाणु रूप से समुदाय को प्राप्त सभी परमाणु सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। इसलिये एक-एक परमाणु ही परमाणुवर्गणा कहलाते है और ऐसी परमाणुवर्गणाये अनन्त है एव वे सपूर्ण लोक मे व्याप्त है।

दो परमाणुओ के समुदाय रूप द्वि-परमाणुवर्गणा होती है, वे भी अनन्त है और सर्वलोक मे व्याप्त है। इसी प्रकार त्रिपरमाणुवर्गणा आदि सभी वर्गणाये प्रत्येक अनन्त एव समस्त लोक में व्याप्त जानना चाहिये। तीन परमाणुओं के समुदाय रूप त्रिपरमाणुवर्गणा होती है और इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक परमाणु की वृद्धि करते हुए सख्यात परमाणुओ की समुदाय रूप सख्यात वर्गणा कहना चाहिये। असख्यात परमाणुओ की समुदाय रूप असख्यात वर्गणाये होती है। क्योकि असख्यात के असख्यात भेद होते है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि से अनन्त परमाणुओ की समुदायात्मक अनन्त वर्गणाये होती है। क्योकि अनन्त के अनन्त भेद होते है।

---

१ यहा समान जातीय पुद्गल परमाणुओ के समुदाय को वर्गणा कहते हैं, के आधार को लेकर शकाकार द्वारा प्रस्तुत इस शका का—'परमाणु स्वत एक होने से उनमे समुदायीपने का अभाव है, जिससे समुदायवाचक वर्गणा शब्द को परमाणु के साथ जोडना अनुचित है, तो फिर परमाणुवर्गणा– यह कैसे कहा जा सकता है?'—समाधान किया गया है कि परमाणु के स्वत एक होने से उसमे समुदायीपने का अभाव है। लेकिन अनेक स्कन्धादि पर्यायो के आविर्भाव होने की योग्यता का उसमे सद्भाव पाये जाने से वर्गणा शब्द को परमाणु के साथ सयुक्त करके परमाणुवर्गणा कहा है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने स्कन्ध रूप अनेक समुदायात्मक पर्यायो के आविर्भाव होने की अपेक्षा से परमाणु को परमाणुवर्गणा नही कहा है। वे सब परमाणुओ के समुदाय मे वर्गणा शब्द का प्रयोग करते है—'इह समस्त लोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिन परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदाय सजातीयत्वाद् एका वर्गणा।'

—शतक, गाथा ७५, टीका

जीव द्वारा ग्राह्यवर्गणा का परिमाण

ये सभी वर्गणाये अर्थात् मूल से एक प्रदेशी वर्गणा से लेकर अनन्त प्रदेशी वर्गणाओ तक—अल्प परमाणु एव स्थूल परिमाण वाली होने से जीवो के अग्रहणयोग्य है। अर्थात् ये सभी वर्गणाये अनन्तानन्त परमाणुओ की समुदायात्मक होने पर भी जीवो के द्वारा ग्रहण करने योग्य नही है। किन्तु जो वर्गणाये अभव्यो से अनन्त गुणे और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण परमाणुओ की समुदायात्मक है, वे 'आहारगवग्गणा' अर्थात् आहरण–ग्रहण करने के योग्य वर्गणा होती है। 'आहारगवग्गणा' इस पद का पदच्छेद इस प्रकार है—आहरण करने अर्थात् ग्रहण करने को आहार कहते है और आहार ही आहारक कहलाता है। अत आहार अर्थात् ग्रहण करने के योग्य जो वर्गणाये होती है, वे आहार अथवा आहारक वर्गणा कहलाती है। वे किस विषय को ग्रहण करने वाली है ? तो इस बात को स्पष्ट करने के लिये गाथा में 'तितणू' यह पद दिया है कि वे औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीर रूप से परिणमित होने वाले परमाणुओ को ग्रहण करने रूप विषय वाली है।

जीव ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें

ये वर्गणाये (औदारिक, वैक्रिय और आहारक वर्गणाये) तथा तैजस, भाषा, प्राणापान, मन और कर्म विषयक जो वर्गणाये होती है, वे अग्रहण–प्रायोग्य वर्गणाओ से अन्तरित होती हुई ग्रहण-प्रायोग्य होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

औदारिकशरीरवर्गणा

अभव्य जीवो से अनन्त गुणे और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण परमाणुओ की समुदाय रूप वर्गणा औदारिक शरीर के निष्पादन करने के लिये ग्रहणप्रायोग्य होती है, जो जघन्य वर्गणा है। उससे एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी ग्रहणप्रायोग्य वर्गणा होती है। उससे दो परमाणुओ से अधिक स्कन्ध रूप तीसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु से अधिक स्कन्ध रूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि औदारिकशरीर-प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। औदारिक-प्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा से उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा विशेष अधिक परमाणुओ वाली होती है। यह विशेष भी उसी वर्गणा (औदारिकप्रायोग्य) की जघन्य वर्गणा के परमाणुओ का अनन्तवा भाग जितना है।

औदारिकशरीर-प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वर्गणा अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। यह अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इसी प्रकार एक-एक परमाणु अधिक-अधिक स्कन्धो की अग्रहण वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। ये वर्गणायें जघन्य की अपेक्षा अनन्तगुणी है। यहाँ पर गुणाकार का तात्पर्य अभव्यो से अनन्तगुणा और सिद्धो के अनन्तवें भाग राशि प्रमाण जानना चाहिये।

इन वर्गणाओ को अग्रहण-प्रायोग्य औदारिक शरीर के प्रति बहुत परमाणुओ द्वारा निष्पन्न होने और सूक्ष्म परिणाम की अपेक्षा से और वैक्रिय शरीर के प्रति स्वल्प परमाणु वाली होने से और स्थूल परिणमन रूप होने की अपेक्षा जानना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

वैक्रियशरीरवर्गणा

इस पूर्वोक्त अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर ग्रहण-प्रायोग्य दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार तब तक एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वैक्रियशरीर के ग्रहण करने योग्य वर्गणाये कहना चाहिये, जब तक कि वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा आती है। ये वर्गणाये भी उसी वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा से विशेषाधिक है और यह विशेषाधिक उसी की जघन्य वर्गणा के परमाणुओ का अनन्तवा भाग जानना चाहिये।

उक्त वैक्रियशरीर की ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु [अधिक रूप जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। ये वर्गणाये जघन्य वर्गणा से अनन्तगुणी है। यहाँ पर गुणाकार अभव्य जीवो से अनन्तगुणा और सिद्धो के अनन्तवे भाग राशि प्रमाण है।

आहारकशरीरवर्गणा

इस उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणा आहारकशरीर के ग्रहणप्रायोग्य होती है और वह जघन्य है। उससे दो परमाणु अधिक स्कन्ध रूप दूसरी आहारक-शरीर ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप आहारक-शरीर की ग्रहण करने योग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा उसके अनन्तवे भाग से विशेषाधिक होती है।

आहारकशरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा तब तक जानना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इस अग्रहण-प्रायोग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा अभव्य जीवो से अनन्तगुणी और सिद्धो से अनन्तवें भाग राशि प्रमाण से अनन्तगुणी जानना चाहिये।

यहाँ चूर्णिकार आदि कुछ आचार्य औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की ग्रहणप्रायोग्य वर्गणाओ के अन्तराल मे अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाये स्वीकार नही करते है, किन्तु विशेषावश्यकभाष्य आदि मे (श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि सैद्धान्तिक आचार्यो ने) अग्रहणप्रायोग्य वर्गणाये स्वीकार की है। इसलिये उनके मत से यहाँ पर कही है।[1]

१ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ६३३-६३७ तक देखिये।

तैजसशरीरवर्गणा

आहारकशरीर की अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धो की तैजसशरीर के ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप वर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि तैजस-ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। तैजसशरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

भाषावर्गणा

उस उत्कृष्ट अग्रहणप्रायोग्य वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य भाषाप्रायोग्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्‌गलो को ग्रहण करके जीव सत्य आदि भाषा रूप से परिणमित कर और अवलवन लेकर छोडता है—प्रयोग करता है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप भाषाप्रायोग्य वर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि उत्कृष्ट भाषाप्रायोग्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक परमाणु अधिक होने पर अग्रहणप्रायोग्य जघन्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तव तक कहना चाहिये, जव तक कि अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक है और यह अधिकता उसी की जघन्य वर्गणा से अनन्तवां भाग है।

श्वासोच्छ्‌वासवर्गणा

उस अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य प्राणापान (श्वासोच्छ्‌वास)-प्रायोग्य ग्रहण वर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्‌गलो को ग्रहण करके प्राणी श्वासोच्छ्‌वास रूप से परिणमित कर और आलवन लेकर छोडता है—प्रयोग करता है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि प्राणापानप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इस प्राणापानप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

मनोवर्गणा

इस अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप मन के प्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्‌गलो को ग्रहण करके जीव सत्य आदि मनोरूप से परिणमित कर और आलवन लेकर प्रयोग करता है। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि मन प्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। इस उत्कृष्ट मन प्रायोग्य ग्रहणवर्गणा से एक परमाणु अधिक होने पर जघन्य अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है। इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तव तक कहना चाहिये, जव तक कि उत्कृष्ट अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा प्राप्त होती है।

कार्मणशरीरवर्गणा

इस (मन की) अग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप कर्मप्रायोग्य जघन्य ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है। उन पुद्गलों को ग्रहण करके जीव ज्ञानावरणादि रूप मे परिणमित करते है। उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट ग्रहणवर्गणा प्राप्त होती है।

यहाँ सर्वत्र उत्कृष्ट ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणाये अपनी जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग रूप विशेष से अपनी-अपनी जघन्य वर्गणा की अपेक्षा अधिक होती है और अग्रहणप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणाये अपनी जघन्य वर्गणा की अपेक्षा अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग राशि प्रमाण से अनन्तगुणी जानना चाहिये।

'भासामणे य' इस वाक्य मे पठित च (य) शब्द अनुक्त अर्थ का समुच्चयार्थक है। इसलिये भाषावर्गणा के अनन्तर अग्रहण-वर्गणा से अन्तरित प्राणापान-वर्गणा जानना चाहिये।[1] प्राणापान वर्गणा का कथन पूर्व मे कर दिया है। 'कम्मे य' यहाँ पठित च (य) शब्द सर्वगाथोक्त अर्थ का समुच्चय करता है।

औदारिकादि वर्गणाओ के वर्णादि

अब प्रसगवश इन औदारिक आदि वर्गणाओ के वर्ण आदि का निरूपण करते है—

उक्त वर्गणाओ मे से औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर की वर्गणाये पाचो वर्ण, दोनो गध, पाचो रस और आठो स्पर्श वाली होती है। यद्यपि एक परमाणु मे एक ही वर्ण, एक ही रस, एक ही गध और अविरोधी दो स्पर्श होते है, तथापि अनेक परमाणुओ के समुदाय रूप स्कन्ध मे कोई परमाणु किसी-भी वर्णादि से युक्त होता है और कोई किसी से, इसलिये समुदाय मे पाचो वर्ण आदि का प्रतिपादन करने मे कोई विरोध नही है। तैजसप्रायोग्य आदि वर्गणाये (कर्मवर्गणा पर्यन्त) पाचो वर्ण, पाचो रस और दोनो गध वाली जानना चाहिये, किन्तु स्पर्श विचार के प्रसग मे उनमे चार स्पर्श होते है। क्योकि उनमे मृदु और लघु रूप दो स्पर्श तो अवस्थित रूप से पाये जाते है और अन्य दो स्पर्श—स्निग्ध-उष्ण, स्निग्ध-शीत अथवा रूक्ष-उष्ण और रूक्ष-शीत—ये अनियत होते है। कहा भी है—

> पचरस पचवण्णेहिं परिणया अट्ठफास दोगधा।
> जावाहारगजोग्गा चउफासविसेसिया उवरिं ॥[2]

---

१ यद्यपि मूल गाथा मे श्वासोच्छ्वास वर्गणा के नाम का उल्लेख नही है, किन्तु पहले गाथा १७ के 'भासाणुमणत्तणे खन्धे' पद मे उल्लेख कर दिया है। इसलिये यहाँ 'य' कार पद के अनुक्त समुच्चयार्थक रूप अर्थ के द्वारा श्वासोच्छ्वास-वर्गणा का नाम सूचित किया है।

२ पचसग्रह, बधनकरण गाथा १८

जीव के द्वारा ग्रहण की जाने वाली वर्गणाओ मे से आहारक शरीर के योग्य वर्गणाओ तक सभी वर्गणाये पाच रस, पाच वर्ण, आठ स्पर्श और दो गध से परिणत होती है, किन्तु इससे ऊपर की तैजस आदि वर्गणाये चार स्पर्श से विशिष्ट होती है।

औदारिक वर्गणाये प्रदेशगणना की अपेक्षा सबसे कम है।[1] उनसे वैक्रियशरीर के योग्य वर्गणाये अनन्तगुणी[2] है। उनसे आहारक शरीर के योग्य वर्गणायें अनन्तगुणी होती है। इसी प्रकार तैजस, भाषा, प्राणापान मन और कर्म के प्रायोग्य वर्गणाये भी उत्तरोत्तर अनन्तगुणी कहना चाहिये।

ध्रुव, अध्रुव आदि वर्गणाओ का वर्णन

अब गाथोक्त ध्रुव, अध्रुव इत्यादि पदो का अर्थ कहते है कि कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के अनन्तर ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणाये होती है। तदनन्तर अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणाये प्राप्त होती है। इनके अनन्तर 'सुन्ना चउ' चार शून्य वर्गणाओ के अन्तराल मे आगे यथाक्रम से प्रत्येकशरीरवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा तथा महास्कन्धवर्गणा होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर प्रत्येकशरीरीवर्गणा होती है। द्वितीय ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर बादरनिगोदवर्गणा, तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा के ऊपर सूक्ष्मनिगोदवर्गणा और चौथी ध्रुव-शून्यवर्गणा के ऊपर महास्कन्धवर्गणा होती है।

इनमे कर्मप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणाओ के अनन्तर एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा होती है। उससे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी आदि ध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट ध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा वे कहलाती है जो लोक में सदैव पाई जाती है। जो इस प्रकार समझना चाहिए कि इन ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणाओ के मध्य मे कई अन्य वर्गणाये उत्पन्न होती है और कई अन्य वर्गणाये विनष्ट होती है, फिर भी इनकी यथास्थित सख्या की किसी एक भी वर्गणा से लोक कदाचित् भी रहित नही होता है और इन वर्गणाओं को जीव ने कभी भी ग्रहण नही किया है, इसलिये इनका अचित्तपना जानना चाहिये। जीव के द्वारा ग्रहण करने से तो औदारिकादि वर्गणाओवत् कथचित् सचित्तपना भी सम्भव हो जाता है।[3] जघन्य ध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी होती है। गुणाकार सर्व जीवो से अनन्तगुणी राशि प्रमाण जानना चाहिये।

---

१ शेष वैक्रियशरीर आदि वर्गणाओ से।

२ ग्रहण-प्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणागत प्रदेशराशि से अनन्तगुण अग्रहण वर्गणायें अन्तराल मे होने से औदारिकवर्गणा की अपेक्षा वैक्रियवर्गणा मे अनन्तगुणे प्रदेश होते हैं। इसी प्रकार अन्य वर्गणाओ के लिये उत्तरोत्तर क्रम से समझ लेना चाहिये।

३ इस कथन का आशय यह है—
जैसे औदारिक आदि शरीर को जीव के सबध से कथचित् सचित्तपना होता है, परन्तु सर्वथा सचित्तपना नही होता है। उसी प्रकार इन वर्गणाओ का भी यदि जीव के साथ सम्बन्ध हो तो कथचित् सचित्तपना कहा जा सकता है। परन्तु जब जीव का इनके साथ सम्बन्ध ही नही होता है तो कथचित् सचित्तपना भी कैसे सभव है? अर्थात् जीव के साथ इनके सम्बन्ध का अभाव होने से ये वर्गणायें सर्वदा अचित्त ही हैं।

इससे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु की अधिकता से अध्रुव-अचित्तद्रव्यवर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट अध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। जिन वर्गणाओ के मध्य मे कितनी ही वर्गणाये लोक मे कदाचित् होती है और कदाचित् नही होती है, उन्हे अध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा कहते है और इसी कारण ये सान्तर-निरन्तर वर्गणाये[1] भी कही जाती है—**अध्रुवाचित्तद्रव्यवर्गणा नाम यासां मध्ये काश्चिद् वर्गणाः कदाचिल्लोके भवन्ति, कदाचिच्च न भवन्ति। सान्तरनिरतरा अप्युच्यन्ते।** जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्गणा सर्व जीवो से अनन्तगुणी राशि प्रमाण से अनन्तगुणी होती है।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप प्रथम जघन्य ध्रुव-शून्यवर्गणा होती है। उससे आगे एक-एक परमाणु को अधिकता से प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणाये तब नक कहनी चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट प्रथम ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। ध्रुवशून्य वर्गणाये वे है जो लोक मे कभी भी नही होती है, लेकिन उपरितन वर्गणाओ का बाहुल्य जानने के लिये जिनकी प्ररूपणा की जाती है—**ध्रुवशून्यवर्गणा नाम या· कदाचनापि लोके न भवन्ति। केवलमुपरितनवर्गणाना बाहुल्य-परिज्ञानार्थं प्ररूपणामात्रमेव क्रियते।** जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनन्तगुणी होती है। गुणाकार सर्व जीवों से अनन्त गुणित राशि प्रमाण है।

· उससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है।

प्रत्येक शरीरीद्रव्यवर्गणा किसे कहते है ? तो इसका उत्तर यह है कि—**'प्रत्येकशरीरिणां यथासम्भवमौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणेसु शरीरनामकर्मसु ये प्रत्येक विश्रसापरिणामेनोपचयमापन्ना. सर्वजीवानन्तगुणाः पुद्गलास्ते प्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्गणा**—प्रत्येक शरीर वाले जीवो के यथासम्भव औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण नामक एक-एक शरीर नामकर्मो मे विश्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से उपचय (हीनाधिक सख्या वाले प्रदेशो के समुदाय) को प्राप्त सर्व जीवो से अनन्तगुणे पुद्गल प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा कहलाते है।

इसी प्रकार शतकबृहत्चूर्णि मे भी कहा है—

पत्तेयवग्गणा इह पत्तेयाणतउरलमाईण।
पचण्हसरीराण तणुकम्मपएसगा जे ऊ॥
तत्येक्केक्कपएसे वीससपरिणामउवचिया हुति।
सव्वजियाणतगुणा पत्तेया वग्गणा ताओ॥

---

१ इन वर्गणाओ मे प्राप्त होने वाला एकोत्तर रूपवृद्धि का क्रम किसी-किसी समय विच्छिन्न भी हो जाता है। जिससे वर्गणागत एकोत्तर वृद्धि के अनुक्रम मे अन्तर पड जाता है। तब ये वर्गणायें सान्तर रूप मे प्राप्त होती है।

अर्थ—औदारिक आदि पाचो शरीरो के प्रत्येक परमाणु पर जो सूक्ष्म कर्मप्रदेश पाये जाते है, उन्हे प्रत्येक (शरीरी) वर्गणा कहते है। इन शरीरो के एक-एक प्रदेश पर विश्रसा परिणाम से उपचित होने वाली सर्व जीवो के प्रमाण से अनन्तगुणी प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणाये होती है।

इससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणाये होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु की अधिकता से प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणाये तव तक कहनी चाहिये, जव तक कि उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यातगुणी होती है और यह गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग रूप है।

यह कैसे कहा कि गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातव भाग रूप है? तो वह इस प्रकार समझना चाहिये कि जघन्य कर्मप्रदेशो के सचय से जघन्य वैश्रसिकी प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा होती है। जघन्य कर्मप्रदेश-सचय जघन्य योग से और उत्कृष्ट कर्मप्रदेश-सचय उत्कृष्ट योग से होता है। जघन्य योगस्थान से उत्कृष्ट योगस्थान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग से गुणित ही प्राप्त होता है।[1] इसलिये जघन्य कर्मप्रदेश-सचय से उत्कृष्ट कर्मप्रदेश-सचय भी उतने प्रमाण रूप ही होता है। इस प्रकार जघन्य प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा से उनकी उत्कृष्ट वर्गणा भी तावत् प्रमाण सिद्ध होती है।

उस उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा के अनन्तर एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा होती है। दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा। इसी प्रकार एक-एक परमाणु की अधिकता रूप स्कन्धो की दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि उत्कृष्ट दूसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यातगुणी है। गुणाकार असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जानना चाहिये।

उससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य वादरनिगोदद्रव्यवर्गणा आती है।

वादरनिगोदद्रव्यवर्गणा किसे कहते है? तो इसका उत्तर यह है कि **बादरनिगोदजीवानामौदारिकतैजसकार्मणेसु शरीरनामकर्मसु प्रत्येकं ये सर्वजीवानन्तगुणा. पुद्‌गला विश्रसापरिणामेनोपचयमायान्ति ते बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा**—वादर निगोदजीवो के औदारिक, तैजस, कार्मण नामक शरीर नामकर्मो मे[2] जो प्रत्येक प्रदेश पर विश्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से उपचय को प्राप्त सर्व जीवो से अनन्तगुणे पुद्‌गल वे वादरनिगोदद्रव्यवर्गणा कहलाते है। यद्यपि कुछ काल तक कितने ही वादर निगोदजीवो के वैक्रिय और आहारक शरीर नामकर्म भी सम्भव है,[3] तथापि

१ यह असख्यविशेष गुणितपना वीर्यशक्तिसम्बन्धी है, स्पर्धकसम्बन्धी नही है।

२ इसका आशय यह है कि निगोदिया जीवो के औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर होते है।

३ जो जीव पहले वैक्रियशरीर नामकर्म का बध करने के बाद मरण होने पर बादर साधारण वनस्पतिकाय (बादर निगोद) रूप से उत्पन्न होते हैं, उन जीवो के बादर निगोदभव मे भी वैक्रियशरीर नामकर्म की सत्ता होती है। इसी प्रकार जिस अप्रमत्तमुनि ने अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे आहारकशरीर नामकर्म का बध किया हो और पुन प्रमादवश होकर उस गुणस्थान से गिर कर प्रथम गुणस्थान तक आकर और उसमे मरण होने पर बादर निगोद मे उत्पन्न हो तो बादर निगोद जीव मे भी (अपर्याप्त अवस्था मे) आहारकशरीर नामकर्म की सत्ता सभव है।

वे जन्म लेने के प्रथम समय से ही निरन्तर उद्‌वलना[1] किये जाने से अत्यन्त असार है, इसलिये उनकी विवक्षा नही की गई है।

उस जघन्य बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा से दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी बादरनिगोद-द्रव्यवर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग रूप गुणाकार से असख्यात गुणी है। यहाँ पर भी गुणाकार की युक्ति प्रत्येक-शरीरीद्रव्यवर्गणा के समान जानना चाहिये।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जघन्य तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है और उससे आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणाये तब तक जानना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट तीसरी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यातगुणी होती है। यहाँ गुणाकार अगुलमात्र क्षेत्र मे आवलिका के असख्यातवे भाग मे स्थित जितने समय होते है, उतने समयप्रमाण वर्गमूलो के ग्रहण करने पर,जो अतिम वर्गमूल आता है, उसके असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश होते है, उतने प्रदेश-प्रमाण वाला जानना चाहिये।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह जघन्य सूक्ष्म-निगोदवर्गणा है। उसे भी औदारिक शरीरादि आश्रित विस्रसोपचित पुद्‌गल रूप बादरनिगोदवर्गणा के समान बिना किसी विशेषता के जानना चाहिये और उसी के समान एक-एक परमाणु अधिक करते हुए उत्कृष्ट सूक्ष्मनिगोदवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यात गुणी है और गुणाकार आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, तावत् प्रमाण जानना चाहिये। क्योकि सूक्ष्मनिगोद जीवो का उत्कृष्ट योगस्थान जघन्य योगस्थान से आवलिका के असख्यातवें भाग से गुणित ही प्राप्त होता है, अधिक नही। इसका कारण यह है कि कर्मप्रदेशो के उपचय मे वृद्धि होना योगाधीन है और उसके अधीन सूक्ष्मनिगोदवर्गणा है—**योगाधीना च कर्म-प्रदेशोपचयवृद्धि, तदाधीना च सूक्ष्मनिगोदवर्गणेति।**

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह चौथी जघन्य ध्रुवशून्यवर्गणा है। उसके आगे एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप वर्गणायें तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट चौथी ध्रुवशून्यवर्गणा प्राप्त होती है। जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा असख्यातगुणी है। यहाँ गुणाकार प्रतर के असख्यातवे भागवर्ती असख्यात श्रेणीगत आकाश की प्रदेशराशि प्रमाण है।

---

१ यथार्थतया तो आहारकसप्तक की उद्‌वलना अविरतिपने के प्रथम समय से होने लगती है। उद्‌वलनकाल पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण होने से बादर निगोद मे प्रतिपक्ष भाव की अपेक्षा भव के प्रथम समय से भी कहा जा सकता है।

इससे आगे एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप जो वर्गणा प्राप्त होती है, वह जघन्य महास्कन्धवर्गणा है। जो पुद्‌गलस्कन्ध स्वाभाविक परिणमन से टक, कूट, पर्वत[1] आदि के आश्रित होते है, उन्हे महास्कन्ध-वर्गणा कहते है—महास्कन्धवर्गणा नाम ये पुद्‌गलस्कन्धा विश्रसापरिणामेन टंककूटपर्वतादिसमाश्रिताः। उससे आगे दो परमाणु अधिक स्कन्धरूप दूसरी महास्कन्धवर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु अधिक स्कन्धरूप महास्कन्धवर्गणाये तब तक कहनी चाहिये, जब तक उत्कृष्ट महास्कन्ध-वर्गणा प्राप्त होती है। यहाँ जघन्य महास्कन्धवर्गणा से उत्कृष्ट महास्कन्धवर्गणा असख्यातगुणी होती है। यहाँ गुणाकार पल्योपम का असख्यातवा भाग रूप जानना चाहिये। ये महास्कन्धवर्गणाये त्रसकायिक जीवो की अधिकता होने पर अल्प और त्रसकायिक जीवो की अल्पता होने पर बहुत पाई जाती है, ऐसा यह वस्तुस्वभाव है। शतकबृहत्‌चूर्णि मे भी इसी प्रकार कहा है—

महखधवग्गणा टककूड तह पव्वयाइठाणेसु ।
जे पोग्गला समसिया महखधा ते उ वुच्चति ।।

तत्थ तसकायरासी जम्मि य कालम्मि होति बहुगो अ ।
महखधवग्गणाओ तम्मि य काले भवे थोवा ।।

ज पुण होइ अ काले रासी तसकाइयाण थोवो उ ।
महखधवग्गणाओ तहि काले होति बहुगाओ ।।

अर्थ—जो पुद्‌गल परमाणु टक, कट तथा पर्वत आदि स्थानो के आश्रित होते है, वे महास्कन्ध या महास्कन्धवर्गणा कहलाते है। उनमें से जिस काल में त्रसकाय राशि अधिक होती है, उस काल मे महास्कन्धवर्गणायें थोडी होती है और जिस काल में त्रसकाय राशि अल्प, उस काल मे महास्कन्धवर्गणाये बहुत होती है।

परमाणुवर्गणा को आदि लेकर महास्कन्धवर्गणा पर्यन्त की ये सभी वर्गणाये गुणनिष्पन्न नामवाली—'गुणनिप्फन्नसनामत्ति' अर्थात् गुणानुरूप नामवाली है। जैसे कि एक-एक परमाणु, परमाणु-वर्गणा, दो परमाणुओ का समुदाय रूप द्वि-परमाणुवर्गणा, इस प्रकार वर्गणाओ के नामो की सार्थकता है।[2]

अब 'असखभागगुलवगाहो' इस पद को स्पष्ट करते है। इस पद का यह अर्थ है कि सभी वर्गणाओ का अवगाहक्षेत्र अगुल का असख्यातवा भाग है। यद्यपि सामस्त्यरूप से ये प्रत्येक अनन्त परिमाण वाली है और सम्पूर्ण लोक के आश्रित कही गई है, तथापि एक-एक वर्गणा अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र का अवगाहन करके ही रहती है तथा कार्मणशरीर-प्रायोग्य वर्गणा से प्रारम्भ कर पश्चाद्‌वर्ती औदारिकशरीरप्रायोग्य वर्गणा तक जितनी वर्गणाये है, उनका क्षेत्रावगाह पश्चानुपूर्वी के अनुक्रम से असख्यातगुणा जानना चाहिये।

१ टक—छोटे पहाड, टीले आदि, कूट—शिखर, पर्वत—बडे पहाड, जैसे—हिमालय आदि।
२ वर्गणाओ के विशेष वर्णन एव विशेषावश्यकभाष्य गत वर्गणाओ की व्याख्या का विचार परिशिष्ट मे देखिए।

वर्गणाओ के वर्णन (गा १८,१९,२०) का साराशदर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

अनुक्रम	वर्गणा नाम	अन्तर्गत उत्तर वर्गणाये	उत्तर वर्गणा सख्या प्रमाण	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेशो से स्वोत्कृष्ट वर्गणा मे प्रदेशो की अधिकता	ग्रहण अग्रहण प्रायोग्य	विद्यमान अविद्यमान
१	अग्रहण	अनन्त	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	विद्यमान
२	औदारिक	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग प्रमाण	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
३	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
४	वैक्रिय	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
५	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
६	आहारक	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
७	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
८	तैजस	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
९	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१०	भाषा	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
११	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१२	श्वासोच्छ्वास	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
१३	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१४	मन	,,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,,
१५.	अग्रहण	,,	अभव्य से अनन्तगुण	अभव्य से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१६	कार्मण	,	अभव्यानन्तगुण का अनन्तवा भाग	अनन्त भागाधिक	ग्रहण	,
१७	ध्रुवाचित्त	,,	सर्व जीव से अनन्तगुण	सर्वजीव से अनन्तगुण	अग्रहण	,,
१८	अध्रुवाचित्त (सान्तर-निरतरा)	,	,,	,,	,,	विद्यमान-अविद्यमान[1]
१९	ध्रुवशून्य (१)	,,	,,	,,	,	देशत अविद्यमान
२०	प्रत्येकशरीरी[2]	,,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को सूक्ष्म क्षेत्र-पल्यो के असख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असख्यातवें भाग गुण	,	विद्यमान
२१	ध्रुवशून्य (२)	,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को असख्य लोकाकाश के प्रदेश से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण	,	अविद्यमान

१ उत्तरवर्गणाओ मे से किन्ही वर्गणाओ का किसी समय अभाव होता है, उस समयापेक्षा अविद्यमान और किसी समय सर्व वर्गणायें विद्यमान रहती हैं, उस समयापेक्षा विद्यमान। किन्तु मूल वर्गणा प्रभाव की अपेक्षा तो सदैव विद्यमान हैं।

२ प्रत्येकशरीरी जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा असख्य गुण होने पर भी उत्तरवर्गणायें अनन्त ही होती हैं। क्योंकि जघन्य वर्गणागत राशि अनन्त है।

अनुक्रम	वर्गणा नाम	अन्तर्गत उत्तर वर्गणायें	उत्तर वर्गणा संख्या प्रमाण	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेशों से सर्वोत्कृष्ट वर्गणा में प्रदेशों की अधिकता	ग्रहण अग्रहण प्रायोग्य	विद्यमान अविद्यमान
२२	बादरनिगोद	अनन्त	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को सूक्ष्म क्षेत्र पल्यों के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	सूक्ष्म क्षेत्र पल्यों के असंख्यातवें भाग गुण	अग्रहण	विद्यमान
२३	ध्रुवशून्य (३)	,,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश का अंगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असंख्यातवां भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	अंगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असंख्यातवां भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग गुण	,,	अविद्यमान
२४	सूक्ष्मनिगोद	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	आवलि के असंख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान
२५	ध्रुवशून्य (४)	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को प्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती असंख्य श्रेणी के प्रदेश द्वारा गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	प्रतर असंख्य भागवर्ती असंख्य श्रेणीगत प्रदेश गुण		अविद्यमान
२६	अचित्त महास्कन्ध	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	पल्योपम के असंख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान

सलेश्य जीव की योग द्वारा पुद्गल-ग्रहण करने की प्रक्रिया

योगशक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को जीव-एकदेश से ग्रहण करता है या सर्वात्मना? ऐसा प्रश्न होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

एगमवि गहणदव्वं, सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि ।
सव्वप्पणया सव्वत्थ वावि सव्वे गहणखंधे ॥२१॥

शब्दार्थ—एगमवि गहणदव्वं—एक भी ग्रहणयोग्य द्रव्य को, सव्वप्पणयाए—सर्व प्रदेशों द्वारा, जीवदेसम्मि—जीवप्रदेशावगाहित सव्वप्पणया—सर्वप्रदेशों द्वारा, सव्वत्थ—सर्व जीवप्रदेशों में अवगाहित, वा—और, वि—भी, सव्वे—सभी, गहणखंधे—ग्रहणयोग्य स्कन्धों को ।

गाथार्थ—एक जीवप्रदेश मे अवगाहित—अवगाहना को प्राप्त—ग्रहण करने योग्य द्रव्य को भी जीव सर्वप्रदेशो से ग्रहण करता है और सर्व जीवप्रदेशो मे अवगाहित सभी ग्रहणप्रायोग्य स्कन्धो को भी सर्व आत्मप्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है।

विशेषार्थ—जीव अपने प्रदेशो मे अवगाढ-अवगाह को प्राप्त अर्थात् जिन आकाशप्रदेशो पर आत्मा के प्रदेश रहे हुए है, उन्ही आकाशप्रदेशो पर रहे हुए कर्मदलिको को ग्रहण करता है, किन्तु अनन्तर और परम्परागत प्रदेशो पर अवगाढ रहे हुए द्रव्य को ग्रहण नही करता है। इस प्रकार एक जीवप्रदेश[1] पर अवगाढ ग्रहण करने योग्य जो भी कर्म-दलिक है, उसे भी सर्वात्मना अर्थात् सभी आत्मप्रदेशो से ग्रहण करता है। क्योंकि सभी जीवप्रदेशो का साकल के अवयवो के समान परस्पर सबधविशेष पाया जाता है। इसलिए एक प्रदेश मे अपने क्षेत्र-अवगाढ ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य के ग्रहण करने के लिए व्यापार करने पर सभी आत्मप्रदेशो का अनन्तर व परम्परा से[2] उस द्रव्य को ग्रहण करने के लिये व्यापार होता है। जैसे हाथ के अग्रभाग से घट आदि के ग्रहण किये जाने पर भी मणिबध (पहुचा), कूर्पर (कोहनी), अस (कधा) आदि अवयवो का भी उस द्रव्य के ग्रहण करने हेतु अनन्तर एव परपरा से व्यापार होता है तथा 'सव्वत्थ वावि' सर्वत्र भी अर्थात् सभी जीवप्रदेशो में जो अवगाह को प्राप्त ग्रहणप्रायोग्य पुद्गल-स्कन्ध है, उन सबको भी सर्वात्मप्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है। क्योकि एक-एक प्रदेश पर स्थित स्कन्ध को ग्रहण करने मे सर्व आत्मप्रदेशो का अनन्तर व परपरा व्यापार सिद्ध होने से सर्वत्र सर्वप्रदेशो का व्यापार होना न्यायप्राप्त है।

स्नेहप्ररूपणा

इस लोक मे पुद्गल द्रव्यो का परस्पर सम्बन्ध स्नेह गुण से होता है।[3] अत स्नेहप्ररूपणा करना चाहिये। वह स्नेहप्ररूपणा तीन प्रकार की है—१ स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, २ नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, और ३ प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

१ स्नेह-निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है—**स्नेहनिमित्तस्य स्पर्धकस्य प्ररूपणा स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।**

२ शरीरबधन नामकर्म के उदय से परस्पर बधे हुए शरीरपुद्गलो के स्नेह का आश्रय लेकर जो स्पर्धकप्ररूपणा की जाती है, वह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहलाती है—**शरीरबधननामकर्मोदयत परस्पर बद्धाना शरीरपुद्गलाना स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।** इसका आशय यह है कि नामप्रत्यय अर्थात् बधननामनिमित्तक शरीरप्रदेशो के स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है।

---

१ स्वरूपत ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य असख्यात प्रदेशावगाही है, परन्तु असख्य प्रदेशो मे से किसी एक प्रदेश की विवक्षा करना चाहिए। अथवा ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य जितनी अवगाहना मे रहे हुए आत्म-प्रदेश समूह मे से भी एक प्रदेशरूप विवक्षा समझना चाहिये।

२ एक के बाद एक, इस प्रकार प्रत्येक आत्मप्रदेश का सम्बन्ध होने से।

३ स्निग्धरूक्षत्वाद् बध।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ ५

अनुक्रम	वर्गणा नाम	अन्तर्गत उत्तर वर्गणायें	उत्तर वर्गणा सख्या प्रमाण	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेशो से सर्वोत्कृष्ट वर्गणा में प्रदेशो की अधिकता	ग्रहण अग्रहण प्रायोग्य	विद्यमान अविद्यमान
२२	बादरनिगोद	अनन्त	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को सूक्ष्म क्षेत्र पल्यो के असख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	सूक्ष्म क्षेत्र पल्यो के असख्यातवें भाग गुण	अग्रहण	विद्यमान
२३	ध्रुवशून्य (३)	,,	स्वजघन्य वर्गणा के प्रदेश को अगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असख्यातवा भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असख्यातवे भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	अगुल क्षेत्र प्रदेश का आवलि का असख्यातवा भाग प्रमाण वर्गमूल करने पर प्राप्त चरम वर्गमूल के असख्यातवें भाग गुण	,,	अविद्यमान
२४	सूक्ष्मनिगोद	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को आवलि के असख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	आवलि के असख्यातवें भाग गुण	,,	विद्यमान
२५	ध्रुवशून्य (४)	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को प्रतर के असख्यातवें भागवर्ती असख्य श्रेणी के प्रदेश द्वारा गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	प्रतर असख्य भागवर्ती असख्य श्रेणीगत प्रदेश गुण		अविद्यमान
२६	अचित्त महास्कन्ध	,,	स्व जघन्य वर्गणा के प्रदेश को पल्योपम के असख्यातवें भाग से गुणा करने पर प्राप्त, उतनी	पल्योपम के असख्यातवें भाग गुण		विद्यमान

सलेश्य जीव की योग द्वारा पुद्गल-ग्रहण करने की प्रक्रिया

योगशक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो को जीव एकदेश से ग्रहण करता है या सर्वात्मना ? ऐसा प्रश्न होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते है—

> एगमवि गहणदव्वं, सव्वप्पणयाए जीवदेसम्मि ।
>
> सव्वप्पणया सव्वत्थ वावि सव्वे गहणखंधे ।।२१।।

शब्दार्थ—एगमवि गहणदव्वं—एक भी ग्रहणयोग्य द्रव्य को, सव्वप्पणयाए—सर्व प्रदेशो द्वारा, जीवदेसम्मि—जीवप्रदेशावगाहित सव्वप्पणया—सर्वप्रदेशो द्वारा, सव्वत्थ—सर्व जीवप्रदेशो मे अवगाहित, वा—और, वि—भी, सव्वे—सभी, गहणखंधे—ग्रहणयोग्य स्कन्धो को ।

गाथार्थ—एक जीवप्रदेश मे अवगाहित-अवगाहना को प्राप्त-ग्रहण करने योग्य द्रव्य को भी जीव सर्वप्रदेशो से ग्रहण करता है और सर्व जीवप्रदेशो मे अवगाहित सभी ग्रहणप्रायोग्य स्कन्धो को भी सर्व आत्मप्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है।

विशेषार्थ—जीव अपने प्रदेशो मे अवगाढ-अवगाह को प्राप्त अर्थात् जिन आकाशप्रदेशो पर आत्मा के प्रदेश रहे हुए है, उन्ही आकाशप्रदेशो पर रहे हुए कर्मदलिको को ग्रहण करता है, किन्तु अनन्तर और परम्परागत प्रदेशो पर अवगाढ रहे हुए द्रव्य को ग्रहण नही करता है। इस प्रकार एक जीवप्रदेश[1] पर अवगाढ ग्रहण करने योग्य जो भी कर्म-दलिक है, उसे भी सर्वात्मना अर्थात् सभी आत्मप्रदेशो से ग्रहण करता है। क्योंकि सभी जीवप्रदेशो का साकल के अवयवो के समान परस्पर सबधविशेष पाया जाता है। इसलिए एक प्रदेश मे अपने क्षेत्र-अवगाढ ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य के ग्रहण करने के लिए व्यापार करने पर सभी आत्मप्रदेशो का अनन्तर व परम्परा से[2] उस द्रव्य को ग्रहण करने के लिये व्यापार होता है। जैसे हाथ के अग्रभाग से घट आदि के ग्रहण किये जाने पर भी मणिबध (पहुचा), कूर्पर (कोहनी), अस (कधा) आदि अवयवो का भी उस द्रव्य के ग्रहण करने हेतु अनन्तर एव परपरा से व्यापार होता है तथा 'सव्वत्य वावि' सर्वत्र भी अर्थात् सभी जीवप्रदेशो मे जो अवगाह को प्राप्त ग्रहणप्रायोग्य पुद्गल-स्कन्ध है, उन सबको भी सर्वात्मप्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है। क्योकि एक-एक प्रदेश पर स्थित स्कन्ध को ग्रहण करने मे सर्व आत्मप्रदेशो का अनन्तर व परपरा व्यापार सिद्ध होने से सर्वत्र सर्वप्रदेशो का व्यापार होना न्यायप्राप्त है।

स्नेहप्ररूपणा

इस लोक मे पुद्गल द्रव्यो का परस्पर सम्बन्ध स्नेह गुण से होता है।[3] अत स्नेहप्ररूपणा करना चाहिये। वह स्नेहप्ररूपणा तीन प्रकार की है—१ स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, २ नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, और ३ प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा। इनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

१ स्नेह-निमित्तक स्पर्धक की प्ररूपणा को स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है—**स्नेहनिमित्तस्य स्पर्धकस्य प्ररूपणा स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।**

२ शरीरबधन नामकर्म के उदय से परस्पर बधे हुए शरीरपुद्गलो के स्नेह का आश्रय लेकर जो स्पर्धकप्ररूपणा की जाती है, वह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहलाती है—**शरीरबधननामकर्मोदयत परस्पर बद्धाना शरीरपुद्गलाना स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा।** इसका आशय यह है कि नामप्रत्यय अर्थात् बधननामनिमित्तक शरीरप्रदेशो के स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है।

---

१ स्वरूपत ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य असख्यात प्रदेशावगाही है, परन्तु असख्य प्रदेशो मे से किसी एक प्रदेश की विवक्षा करना चाहिए। अथवा ग्रहणप्रायोग्य द्रव्य जितनी अवगाहना मे रहे हुए आत्म-प्रदेश समूह मे से भी एक प्रदेशरूप विवक्षा समझना चाहिये।

२ एक के बाद एक, इस प्रकार प्रत्येक आत्मप्रदेश का सम्बन्ध होने से।

३ स्निग्धरूक्षत्वाद् बध।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ ५

३ प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं, इस प्रयोगप्रत्ययभूत, कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये जो पुद्गल हैं, उनके स्नेह का आश्रय करके जो स्पर्धकप्ररूपणा की जाती है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है—**प्रकृष्टो योग. प्रयोगस्तेन प्रत्ययभूतेन कारणभूतेन ये गृहीताः पुद्गलास्तेषा स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा ।**[1]

उक्त तीन प्ररूपणाओ मे से पहले स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करने के लिए गाथासूत्र कहते है ।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

नेहप्पच्चयफड्डगमेग अविभागवग्गणा णंता ।
हस्सेण बहू बद्धा असंखलोगे दुगुणहीणा ।।२२।।

शब्दार्थ—**नेहप्पच्चय**—स्नेहप्रत्यय, **फड्डग**—स्पर्धक, **एग**—एक, **अविभागवग्गणा**—अविभाग वर्गणा, **णता**—अनन्त, **हस्सेण**—अल्प, **बहू**—अधिक, **बद्धा**—बधे हुए (युक्त), **असंखलोगे**—असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **दुगुणहीणा**—द्विगणहीन ।

गाथार्थ—एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक मे अविभाग वर्गणाये अनन्त होती है तथा अल्प स्नेहयुक्त पुद्गल अधिक हैं और असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का अतिक्रमण करने पर जो जो वर्गणाये आती है, उनमे द्विगुणहीन, द्विगुणहीन पुद्गल होते है ।

विशेषार्थ—स्नेहप्रत्यय अर्थात् स्नेहनिमित्तक एक-एक स्नेह अविभाग अश से बढने वाली पुद्गल वर्गणाओ के समुदाय को एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं—**स्नेहप्रत्यय, स्नेहनिमित्तमेकैक-स्नेहाविभागवृद्धाना पुद्गलवर्गणाना समुदायरूप स्पर्धकम् ।**[2] उस स्पर्धक मे अविभाग वर्गणाये एक-एक स्नेह के अविभाग अश से अधिक पुद्गल परमाणुओ[3] के समुदाय रूप अनन्त होती है। उनमें ह्रस्व अर्थात् अल्प स्नेह से जो पुद्गल बद्ध है वे बहुत होते है और बहुत स्नेह से बधे हुए पुद्गल अल्प होते है तथा असख्यात लोक पर दुगुणहीन परमाणु पुद्गल होते है। इसका यह अर्थ है कि आदिवर्गणा से परे (आगे) असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ के उल्लघन करने पर जो अगली वर्गणा प्राप्त होती है, उसमे पुद्गल परमाणु आदि वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा दुगुणहीन अर्थात् आधे होते है। इससे आगे पुन असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का उल्लघन करने पर प्राप्त होने वाली अगली वर्गणा में पुद्गल परमाणु द्विगुणहीन प्राप्त होते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि आगे कही जाने वाली असख्यात भागहानि की अंतिम वर्गणा प्राप्त होती है।

---

१ स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय प्ररूपणाओ के लक्षण क्रमश इस प्रकार हैं—

१. लोकवर्ती प्रथम अग्राह्य पुद्गल द्रव्यो मे स्निग्धपने की तरतमता कहना स्नेहप्रत्ययप्ररूपणा है। २ पाच शरीर रूप परिणमते पुद्गलो मे स्निग्धपने की तरतमता बताना नामप्रत्ययप्ररूपणा है और ३ उत्कृष्ट योग से ग्रहण होने वाले पुद्गलों मे स्निग्धता की तरतमता कहना प्रयोगप्रत्ययप्ररूपणा है ।

२ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक—जिस स्पर्धकप्ररूपणा मे मात्र स्नेह यही निमित्तभूत है, उसे स्नेहप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं ।

३ यहाँ पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करने का कारण यह है कि स्नेहादि पर्याय की वक्तव्यता एक-एक प्रदेश और परमाणु मे ही हो सकती है और परमाणु ही वस्तुत पुद्गल द्रव्य है और स्कन्धादि तो परमाणु पुद्गल की पर्याय है। इसलिये स्नेहाविभागादि की विवक्षा परमाणु मे ही समव है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सर्वोत्कृष्ट स्नेहगुण को केवलिप्रज्ञारूप शस्त्र के द्वारा छेदन कर-करके जो निर्विभाग (अब और अन्य विभाग होना जिसमे शक्य न हो) अश किये जाते है, वे स्नेहाविभाग कहलाते है—**य. खलु सर्वोत्कृष्टस्नेहस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यते, छित्वा छित्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते ते स्नेहाविभागाः।** लोक में उनमें से कितने ही परमाणु एक स्नेहाविभाग से युक्त होते है उनका समुदाय प्रथम वर्गणा है। दो स्नेहाविभागो से युक्त जो परमाणु, उनका समुदाय दूसरी वर्गणा है। इस प्रकार सख्यात स्नेहाविभागो से युक्त सख्यात वर्गणाये कहना चाहिये, असख्यात स्नेहाविभागो से युक्त परमाणुओ की असख्यात वर्गणा और अनन्त स्नेहाविभागो से युक्त परमाणुओ की अनन्त वर्गणा कहना चाहिये। इन सभी वर्गणाओ का समुदाय रूप एक स्पर्धक होता है।[1] क्योकि क्रम से अविभागी अशो से बढने वाली उक्त वर्गणाओ के अन्तराल मे एक-एक अविभाग की वृद्धि का व्यवच्छेद नही है। एक-एक अविभाग वृद्धि का व्यवच्छेद स्पर्धक के अत मे होता है। कहा भी है—

रूवुत्तरवुड्ढीए छेओ फड्डगाणं।

एक-एक अश रूप की उत्तर वृद्धि से स्पर्धको का छेद अर्थात् अत प्राप्त होता है।

इन वर्गणाओ (स्नेहप्रत्ययवर्गणाओ) मे प्ररूपणा दो प्रकार से होती है—१ अनन्तरोपनिधा से और २ परपरोपनिधा से।

अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा—इनमे से पहले अनन्तरोपनिधा प्ररूपणा को प्रस्तुत करते है—एक स्नेह-अविभाग वाले परमाणुओ के समुदाय रूप पहली वर्गणा मे जितने पुद्गल होते है, उनकी अपेक्षा दूसरी वर्गणा मे **असंख्यात भागहीन** पुद्गल परमाणु होते है, उससे भी तीसरी वर्गणा में असख्यात भागहीन परमाणु होते है। इस प्रकार प्रत्येक वर्गणा मे असख्यात भागहानि से पुद्गल परमाणु तब तक कहना चाहिये, जब तक कि अनन्त वर्गणाये प्राप्त होती है। उसके अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणा मे पुद्गल परमाणु पहले वाली वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा **संख्यात भागहीन** होते है। उससे आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा में पुद्गल परमाणु सख्यात भागहीन होते है। इस प्रकार सख्यात भागहानि से अनन्त वर्गणायें कहना चाहिये। पुन. उससे उपरितन वर्गणा मे पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा **संख्यात गुणहीन** होते है, पुन उससे आगे वाली वर्गणा मे पुद्गल परमाणु सख्यात गुणहीन होते है। इस प्रकार सख्यात गुणहानि के द्वारा भी अनन्त वर्गणाये कहना चाहिये। उसके भी अनन्तर प्राप्त होने वाली वर्गणा मे पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा **असख्यात गुणहीन** होते है। उससे आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा मे पुद्गल परमाणु असख्यात गुणहीन होते है। इस प्रकार असख्यात गुणहानि से भी अनन्त वर्गणाये कहना

१ उक्त कथन का साराश यह है कि एक स्नेहप्रत्ययस्पर्धक मे अनन्त वर्गणायें होती हैं और वर्गणा का प्रारम्भ एक स्नेहाविभाग से होकर वे सख्यात, असख्यात, अनन्त स्नेहाविभाग वाली हो सकती हैं। अर्थात् एक स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओ की पहली वर्गणा, दो स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओ की दूसरी वर्गणा, इसी प्रकार तीन, चार, पाच यावत् सख्यात, असख्यात, अनन्त स्नेहाविभाग की वृद्धि करते-करते अनन्त स्नेहाविभागयुक्त अनन्त परमाणुओ की अनन्ती वर्गणा होती हैं। इन अनन्त वर्गणाओं का समुदाय एक स्नेह-प्रत्यय-स्पर्धक है।

चाहिये। इससे अनन्तरवर्ती वर्गणा मे पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा अनन्त गुणहीन होते ह। उसके आगे प्राप्त होने वाली वर्गणा मे पुद्गल परमाणु अनन्त गुणहीन कहना चाहिये। इस प्रकार अनन्त गुणहानि से अनन्त वर्गणाये तव तक कहना चाहिये, जव तक कि सर्वोत्कृष्ट[1] वर्गणा प्राप्त होती है।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा की अपेक्षा प्ररूपणा जानना चाहिये।[2] अव परपरोपनिधा की अपेक्षा प्ररूपणा करते है—

परंपरोपनिधा प्ररूपणा—आदि वर्गणा से परे (आगे) असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणाओ का अतिक्रमण करने पर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमें आद्य वर्गणागत पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा पुद्गल परमाणु द्विगुणहीन (अर्ध) पाये जाते है।[3] तत्पश्चात् फिर उतनी ही (असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण) वर्गणाओ का अतिक्रमण करने पर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमे पुद्गल परमाणु आधे होते है। इस प्रकार पुन-पुन तव तक कहना चाहिये, जव तक असख्यात भागहानिगत अन्तिम वर्गणा प्राप्त होती है।

इसके आगे सख्यात भागहानिगत सख्यात वर्गणाओ के अतिक्रमण करने के अनन्तर जो वर्गणा प्राप्त होती है, उसमे असख्यात भागहानिगत अतिम वर्गणा के पुद्गल परमाणुओ की अपेक्षा आधे पुद्गल होते है। इस प्रकार पुन-पुन तव तक कहना चाहिये, जव तक कि सख्यात भागहानि में भी अतिम वर्गणा प्राप्त होती है।

उपरितन तीनो ही हानियो में[4] यह दुगुण हानिवाली परपरोपनिधा सभव नही है, क्योकि पहली सख्यात गुणहानि वर्गणा में पुद्गल परमाणु प्राक्तन वर्गणा की अपेक्षा सख्यात गुणहीन प्राप्त होते है। सख्यात गुणहीन परमाणु जघन्य से भी त्रिगुण या चतुर्गुण हीन ग्रहण किये जाते है द्विगुणहीन नही।

---

१ यहाँ सर्वोत्कृष्टता स्नेहाविभाग की अपेक्षा है, किन्तु पुद्गलापेक्षा सर्व जघन्यपना है।

२ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनतरोपनिधा प्ररूपणा का साराश यह है कि अनुक्रम से स्थापित की हुई वर्गणाओ मे पूर्व वर्गणा के बाद की पर वर्गणा में परमाणुओं का हीनाधिकपना बताना अनतरोपनिधा कहलाती है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की आदि की अनत वर्गणायें असख्यात भागहीन,
" " तदनन्तर की " " सख्यात भागहीन,
" " तदनन्तर की " " सख्यात गुणहीन,
" " तदनन्तर की " " असख्यात गुणहीन,
" " तदनन्तर की " " अनन्त गुणहीन।

इस प्रकार स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की अनन्त वर्गणायें पाच विभागों में विभाजित हैं—१ असख्यात भागहीन विभाग, २ सख्यात भागहीन विभाग, ३ सख्यात गुणहीन विभाग, ४ असख्यात गुणहीन विभाग, ५ अनन्त गुणहीन विभाग।

३ दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से ही इसकी प्ररूपणा की है कि आदि वर्गणा से आगे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जो वर्गणायें होती हैं, उनकी अतिम वर्गणा में आद्य वर्गणा से द्विगुणहीन (आधे) पुद्गल परमाणु होते है।

४ सख्यात गुणहानि, असख्यात गुणहानि, अनन्त गुणहानि।

क्योकि—

सिद्धंते य जत्थ-जत्थ संखेज्जगगहणं तत्थ-तत्थ अजहण्णमणुक्कोसयं दट्ठव्वं।

सिद्धान्त मे जहाँ-जहाँ सख्यात का ग्रहण किया गया है, वहाँ-वहाँ अजघन्य-अनुत्कृष्ट सख्यात[1] का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा अनुयोगद्वारचूर्णि का वचन है। अत सख्यात का उल्लेख आने पर प्राय सर्वत्र ही अजघन्य-अनुत्कृष्ट सख्यात का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिए आदि से लेकर (आगे की वर्गणाओ मे) अन्य प्रकार से परपरोपनिधा की अपेक्षा अन्य प्रकार से प्ररूपणा की जाती है, अर्थात् आगे द्विगुणहानि का अभाव होने से द्विगुणहानि परपरोपनिधा सभव नही है।[2] अत आगे द्विगुणहानि का अभाव होने से द्विगुणहानि परपरोपनिधा के सिवाय दूसरे प्रकार से परपरोपनिधा कहते है। जो इस प्रकार है—

१ असख्यात भागहानि मे प्रथम और अतिम वर्गणाओ के अन्तराल मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कितनी ही वर्गणायें (१) असंख्यात भागहीन, कितनी ही (२) सख्यात भागहीन, कितनी ही (३) सख्यात गुणहीन, कितनी ही (४) असख्यात गुणहीन और कितनी ही (५) अनन्त गुणहीन पाई जाती है। इस प्रकार असख्यात भागहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा पाचो ही हानिया सभव है।[3]

२ सख्यात भागहानि मे असख्यात भागहानि को छोडकर प्रथम वर्गणा की अपेक्षा शेष चारो हानिया पाई जाती है।[4]

३ सख्यात गुणहानि मे असख्यात भागहानि और सख्यात भागहानि को छोडकर शेष तीन हानिया पाई जाती है।

४ असख्यात गुणहानि मे कितनी ही वर्गणाये असख्यात गुणहीन और कितनी ही अनन्त गुणहीन पाई जाती है। इसलिये उसमें दो ही हानि संभव हैं।

५ अनन्त गुणहानि मे तो एक अनन्त गुणहानि ही पाई जाती है।

---

१ दो को जघन्य सख्यात और एक कम समस्त सख्या को उत्कृष्ट कहते हैं। इन दोनो को छोडकर दो से ऊपर तीन आदि यावत् दो कम समस्त सख्याओ को अजघन्य-अनुत्कृष्ट सख्यात कहते हैं।

२ तात्पर्य यह है कि सख्यात भागगत अतिम वर्गणा से आगे भी प्रथम वर्गणा मे त्रिगुणादिहीन (सख्यात गुणहीन) पुद्गल परमाणु हैं, द्विगुणहीन नही हैं। जिससे द्विगुणहीन परपरोपनिधा का कथन किया जाना सभव नही है।

३ इन पाचो हानियो को जानने की रीति इस प्रकार है—

प्रथम वर्गणा की अपेक्षा द्वितीय, तृतीय आदि असख्य वर्गणायें असख्यात भागहीन हैं, उससे आगे प्रथम द्विगुणहीन वर्गणा तक की वर्गणायें सख्यात भागहीन हैं। प्रथम द्विगुणहीन वर्गणानन्तर वर्गणा से लेकर सख्याती वर्गणायें सख्यात गुणहीन, उससे आगे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वर्गणायें असंख्यात गुणहीन हैं और उससे आगे की अनन्त गुणहीन हैं।

४ आदि से ही असख्यात भागहानि का अभाव होने से आगे असख्यात भागहानि सभव नही है। इसी प्रकार आगे की हानियो के लिये भी समझना चाहिये।

इस प्रकार (मूल हानिपचक और उत्तर हानिपचक, इस तरह दो प्रकार से) परपरोपनिधा प्ररूपणा समझना चाहिये।[1] अब इनका अल्पबहुत्व बतलाते है।

पाच हानियो में वर्गणाओ का अल्पबहुत्व

१ असख्यात भागहानि मे वर्गणाये सब से कम होती है, २ उनसे सख्यात भागहानि मे वर्गणाये अनन्त गुणी होती हैं, ३ उनसे भी सख्यात गुणहानि में वर्गणायें अनन्त गुणी होती है, ४ उनसे भी असख्यात गुणहानि मे वर्गणाये अनन्त गुणी होती है, ५ उनसे भी अनन्त गुणहानि में वर्गणाये अनन्त गुणी होती हैं।

हानियो में वर्गणाओ के अल्पाधिक्य का प्रमाण तो उक्त प्रकार है और परमाणुओ का अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये कि—

(१) अनन्त गुणहानि मे पुद्गल परमाणु सबसे कम है,[2] (२) उनसे असख्यात गुणहानि मे पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते है,[3] (३) उनसे भी सख्यात गुणहानि मे पुद्गलपरमाणु अनन्तगुणे

१ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की परपरोपनिधाप्ररूपणा का साराश इस प्रकार है—
पूर्व वर्गणा की अपेक्षा बीच में कुछ वर्गणाओ को छोडकर आगे की वर्गणा मे परमाणुओ सबधी हीनाधिकपना कहना परपरोपनिधा कहलाती है। उसको इस प्रकार समझना चाहिये—
१ असख्यात भागहानि विभाग में असख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुणहानि, २ सख्यात भागहानि विभाग मे असख्यात लोकातिक्रमण होने पर द्विगुणहानि तथा ३,४,५ सख्यात गुणहानि विभाग, असख्यात गुणहानि विभाग, अनन्त गुणहानि विभाग, इन तीन विभागो में पहले से ही त्रिगुणादिहीनपना होने से द्विगुणहानि का अभाव है। यह पूर्वोक्त द्विगुणहानिरूप परपरोपनिधा सर्व विभागो में प्राप्त न होने से दूसरे प्रकार से परपरोपनिधा की प्ररूपणा इस प्रकार जानना चाहिये—
असख्यात भागहानि विभाग में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा कुछ वर्गणायें असख्यात भागहीन, सख्यात भागहीन, सख्यात गुणहीन, असख्यात गुणहीन, अनन्त गुणहीन हैं। इसी प्रकार सख्यात भागहानि, सख्यात गुणहानि, असख्यात गुणहानि और अनन्त गुणहानि विभाग मे भी अपनी प्रथम वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणायें भी हीन समझना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि यह हीनता अपने-अपने नाम के क्रम से प्रारम्भ करना चाहिये। जैसे कि सख्यात भागहीन विभाग मे हीनताक्रम सख्यात भागहीन से प्रारभ करें। साराश यह है कि असख्यात भागहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे १ कितनी ही वर्गणायें असख्यात भागहीन, २ कितनी ही सख्यात भागहीन ३ कितनी ही सख्यात गुणहीन, ४ कितनी ही असख्यात गुणहीन और ५ कितनी ही अनन्त गुणहीन, इस प्रकार पाचो हानि वाली होती हैं।
सख्यात भागहानि मे प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असख्यात भागहानि के बिना बाद की शेष चार हानियो वाली होती हैं।
सख्यात गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असख्यात भाग और सख्यात भाग, इन दो हानियों के बिना बाद की तीन हानियो वाली, असख्यात गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्व की असंख्यात भाग, सख्यात भाग और सख्यात गुण, इन तीन हानियो के बिना उत्तर की शेष दो हानियो वाली।
अनन्त गुणहानि में प्रथम वर्गणा की अपेक्षा आगे की कितनी ही वर्गणायें पूर्वोक्त चार हानियों के बिना एक हानिवाली अर्थात् अनन्त गुणहानि वाली होती है।

२ अनन्त गुणहानि में अनन्त गुण बडे-बडे भागों की हानि होने से यहा अनन्तगुण में गुण शब्द से अनन्त पुद्गल राशि प्रमाण एक भाग ऐसे अनन्त भाग समझना चाहिये। परन्तु गुण शब्द से गुणाकार जैसा भाग नही समझना चाहिये। अनन्त गुणरूप भाग तो सब भागो की अपेक्षा बृहत् प्रमाण वाला ही होता है तथा जहा-जहा हानि का प्रसग आये वहा गुण शब्द से भाग प्रमाण ही जानना चाहिये, किन्तु गुणाकार रूप नही। लेकिन वृद्धि के प्रसग मे गुण शब्द का गुणाकार आशय समझना चाहिये।

३ अनन्त पुद्गल परमाणु राशि से असख्यात पुद्गल परमाणुओं की राशि अल्प होने से हानि कम होती है, जिससे पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं।

होते है, (४) उनसे भी सख्यात भागहानि मे पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते है, (५) उनसे भी असख्यात भागहानि मे पुद्गल परमाणु अनन्तगुणे होते है।[1] कहा भी है—

थोवा उ वग्गणाओ पढमहाणीइ उवरिमासु कमा ।
होंति अणंतगुणाओ, अणंतभागो पएसाणं ।।[2]

अर्थात् प्रथम हानि मे वर्गणायें सबसे कम होती है, उससे ऊपर की हानियो में वर्गणाये क्रम से अनन्तगुणी होती है और प्रदेश अनन्तवे भाग होते है ।

इस प्रकार स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा का वर्णन जानना चाहिये ।

नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणायें

अब नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करने के लिये आगे गाथा कहते है—

नामप्पओगपच्चयगेसु वि नेया अनंतगुणणाए ।
घणिया देसगुणा सि जहन्नजेट्ठे सगे कट्टु ।।२३।।

शब्दार्थ—नामप्पओगपच्चयगेसु—नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय स्पर्धको में, वि—भी, नेया—जानना चाहिये, अनन्तगुणणाए—अनन्तगुणे, घणिया—सग्रहीत, देसगुणा—स्नेहाविभाग, सि—उनके, जहन्नजेट्ठे—जघन्य और उत्कृष्ट (वर्गणा) को, सगे—अपनी-अपनी, कट्टु—स्थापित करके ।

गाथार्थ—नामप्रत्ययस्पर्धको और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धको मे भी स्नेहप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा के समान (अविभाग, वर्गणा आदि की) प्ररूपणा जानना चाहिये। इन दोनो मे केवल अनन्त गुणित वृद्धि होती है तथा इन तीनों प्रकार के स्पर्धको की जघन्य और उत्कृष्ट अपनी-अपनी वर्गणायें पृथक्-पृथक् स्थापित करके उनमें सग्रहीत सकल पुद्गलगत स्नेहाविभाग अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण रूप से कहना चाहिये ।

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

विशेषार्थ—सर्व प्रथम नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा का विचार करते है।

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा मे छह अनुयोगद्वार होते है । (१) अविभागप्ररूपणा, (२) वर्गणा-प्ररूपणा, (३) स्पर्धकप्ररूपणा, (४) अन्तरप्ररूपणा, (५) वर्गणागत पुद्गलो के स्नेहाविभाग के सपूर्ण समुदाय की प्ररूपणा और (६) स्थानप्ररूपणा ।

१ **अविभागप्ररूपणा—औदारिकादिशरीरपचकप्रायोग्याना परमाणूना यो रस:, स केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते । छित्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते, तेऽविभागा**.—औदारिक आदि पाच शरीरो के योग्य

---

१ हानि के प्रसग मे गुण शब्द का अर्थ भाग रूप लेना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण ऊपर किया गया है ।

२ पचसग्रह, बधनकरण २४

परमाणुओ का जो रस है, उसे केवली के प्रज्ञारूप छेदनक के द्वारा छेदा जाये और उत्तरोत्तर छेद करके जो निर्विभाग भाग किये जाते है, उन्हें अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। ये गुणपरमाणु अथवा भावपरमाणु भी कहलाते है । यह अविभागप्ररूपणा है ।

२. **वर्गणाप्ररूपणा**—एक स्नेहाविभाग से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य नही होते है। अर्थात् पन्द्रह प्रकार के शरीरबधन नामकर्म के भेदो मे से किसी भी एक बधन के योग्य नही होते है ।[1] इसी प्रकार दो स्नेहाविभागो से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य नही है और न तीन, चार आदि सख्यात स्नेहाविभागो से युक्त पुद्गल परमाणु शरीरयोग्य है और न असख्यात और अनन्त स्नेहाविभागो से युक्त ही पुद्गल परमाणु किसी भी शरीर के बधनयोग्य होते है, किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणप्रमाण, अनन्तानन्त स्नेहाविभागो से युक्त पुद्गल परमाणु ही शरीरप्रायोग्य होते है । उन सब अनन्तानन्त स्नेहाविभागो का समुदाय प्रथम वर्गणा है और वह भी जघन्य वर्गणा है।[2] इसके आगे एक-एक अविभाग की वृद्धि से निरतर वृद्धि को प्राप्त होती हुई वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उनका प्रमाण अभव्यो से अनन्त गुणा और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण हो जाये ।

३. **स्पर्धकप्ररूपणा**—इन सब वर्गणाओ का समुदाय एक स्पर्धक कहलाता है। इससे आगे एक, दो आदि स्नेहाविभागो से अधिक परमाणु प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्वजीवो से अनन्तगुण प्रमाण अनन्तानन्त रसाविभागो से अधिक परमाणु प्राप्त होते है, उन सबका समुदाय दूसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा है । उसमे स्नेहाविभाग प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणागत स्नेहाविभागो से दुगने होते है। तदनन्तर एक-एक स्नेहाविभाग की वृद्धि से निरन्तर वर्गणाये तब तक कहना चाहये, जब तक कि वे अभव्यो से अनन्त गुणी और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण हो जायें । उनका समुदाय दूसरा स्पर्धक है। इसके आगे एक, दो आदि स्नेहाविभाग से बढते हुए परमाणु प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्वजीवो से अनन्तानन्त स्नेहाविभागो से वृद्धिगत परमाणु प्राप्त होते है । उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा होती है । उसमे स्नेहाविभाग प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से तिगुने होते है । इससे आगे एक-एक स्नेहाविभाग की वृद्धि से पूर्वोक्त प्रमाण अर्थात् अभव्यो से अनन्त गुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाये कहना चाहिये । उन सबका समुदाय तीसरा स्पर्धक है । इस प्रकार जितनी संख्या वाले स्पर्धक का विचार किया जाये, उसकी आदि वर्गणा मे प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणागत स्नेहाविभाग से उतनी-उतनी ही सख्या से गुणित प्राप्त होते है। ये सब स्पर्धक अभव्यो से अनन्त गुणित और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होते है ।

४. **अन्तरप्ररूपणा**—इन स्पर्धको के अन्तराल, एक कम स्पर्धक की सख्या के समान होते है । क्योकि चार वस्तुओ के अन्तराल तीन ही होते है तथा वर्गणाओ मे अनन्तर क्रम से दो

१ औदारिकादि पाचो शरीरो में से किसी भी शरीर रूप परिणमित नही होते हैं।

२ देहरूप परिणमित होने वाले पुद्गलस्कन्धो के प्रत्येक प्रदेश में कम-से-कम भी सर्व जीवराशि से अनन्त गुणे स्नेहाविभाग अवश्य होते हैं। इन जघन्य स्नेहाविभाग युक्त जितने परमाणु हैं, उन सबका समुदाय प्रथम वर्गणा है।

वृद्धिया होती है—एक-एक अविभागवृद्धि और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि। इनमे एक-एक अविभाग-वृद्धि एक स्पर्धक स्थित वर्गणाओ की यथाक्रम से होती है और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि पाश्चात्य स्पर्धकगत चरम वर्गणा की अपेक्षा अग्रिम स्पर्धक की आदि वर्गणा मे होती है एव पारपर्य की अपेक्षा तो प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा की अपेक्षा छहो वृद्धिया जानना चाहिये।[1]

इस प्रकार वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणा जानना चाहिये। अब वर्गणागत पुद्‌गल परमाणुओ के स्नेहाविभाग के समुदाय की प्ररूपणा करते है।

५ **वर्गणागत पुद्‌गल-स्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा**—प्रथम शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा मे स्नेहाविभाग सबसे कम होते है। उससे द्वितीय शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुणे,[2] उससे भी तीसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा मे अनन्तगुणे होते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनन्तगुण श्रेणी से सभी शरीरस्थान जानना चाहिये। ये शरीरस्थान आगे कहे जाने वाले स्पर्धको की सख्या प्रमाण है।

अब उनके ही बधन योग्य शरीर परमाणुओ का अल्पबहुत्व बतलाते है कि औदारिक-औदारिक-शरीरबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु सबसे अल्प होते है। उनसे औदारिक-तैजसबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनंतगुणे हैं, उनसे भी औदारिक-कार्मणबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे होते है, उनसे भी औदारिक-तैजसकार्मणबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे होते है।

इसी प्रकार वैक्रिय-वैक्रियबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु सबसे कम है। उनसे वैक्रिय-तैजसबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे है। उनसे भी वैक्रिय-कार्मणबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे है। उनसे भी वैक्रिय-तैजसकार्मणबधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे होते है।

आहारक-आहारकबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु सबसे कम है। उनसे आहारक-तैजसबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे हैं। उनसे भी आहारक-कार्मणबधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे है। उनसे भी आहारक-तैजसकार्मणबन्धनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे है। उनसे भी तैजस-तैजसबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे है, उनसे भी तैजस-कार्मणबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे और उनसे भी कार्मण-कार्मणबधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु अनन्तगुणे होते है।[3]

उक्त कथन का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

१	औदारिक-औदारिक	बधनयोग्य	स्तोक
२	,, तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,, कार्मण	,,	,,
४	,, तैजसकार्मण	,,	,,

१ अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धि।

२ प्रथम स्थान की प्रथम वर्गणा तथा दूसरे स्थान की प्रथम वर्गणा, इन दोनों के अन्तराल मे सर्वजीवो से अनन्त गुणे अविभाग युक्त अन्तरस्थान प्राप्त होने से।

३ बधनयोग्य शरीर पुद्‌गलो के उक्त अल्पबहुत्व के कथन का आशय यह है कि औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरो से बधने वाले अपने-अपने नाम वाले बधनयोग्य पुद्‌गल परमाणु तो अल्प हैं, उनसे क्रमश तैजस, कार्मण और तैजसकार्मण बधनयोग्य परमाणु अनन्तगुणे, अनन्तगुणे हैं तथा तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण बधनयोग्य परमाणु क्रमश अनन्तगुणे, अनन्तगुणे होते हैं।

१	वैक्रिय —	वैक्रिय	बघनयोग्य	स्तोक
२	,,	तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,,	कार्मण	,,	,,
४	,,	तैजसकार्मण	,,	,,
१	आहारक —	आहारक	,,	स्तोक
२	,,	तैजस	,,	अनन्तगुण
३	,,	कार्मण	,,	,,
४	,,	तैजसकार्मण	,,	,,
१	तैजस —	तैजस	,,	,,
२	,, —	कार्मण	,,	,,
३	कार्मण —	कार्मण	,,	,,

६ **स्थानप्ररूपणा**—अब स्थानप्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है। उसमे प्रथम स्पर्धक को प्रारम्भ करके अभव्यो से अनन्त गुणे और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण अनन्त स्पर्धको के द्वारा एक अर्थात् पहला शरीरप्रायोग्यस्थान होता है। उससे उतने ही अनन्तभाग अधिक स्पर्धको से दूसरा शरीरप्रायोग्यस्थान होता है। पुन उतने ही अनन्तभाग अधिक स्पर्धको से युक्त तीसरा शरीरस्थान होता है। इस प्रकार लगातार निरन्तर पूर्व-पूर्व शरीरस्थान से उत्तरोत्तर अनन्तभाग वृद्धियुक्त शरीर-स्थान अगुल मात्र क्षेत्र के असख्यातवे भागगत प्रदेशराशि प्रमाण कहना चाहिये। इन सब शरीरस्थानो का समुदाय एक कडक कहा जाता है।

इस कडक से आगे जो अन्य शरीरस्थान प्राप्त होता है, वह प्रथम कडकगत अतिम शरीरस्थान की अपेक्षा असख्यातभाग वृद्धि वाला होता है। उस कडक से ऊपर जो अन्य-अन्य शरीरस्थान प्राप्त होते है, वे अगुल मात्र क्षेत्र के असख्यातवे भागगत प्रदेशो की राशि प्रमाण प्राप्त होते है। वे सब यथोत्तर अनन्त भागवृद्धि वाले जानना चाहिये। इन सब शरीरस्थानो का समुदाय दूसरा कडक कहलाता है। इस दूसरे कडक से परे जो अन्य शरीरस्थान प्राप्त होता है, वह द्वितीय कडकगत अतिम शरीरस्थान की अपेक्षा असख्यात भाग अधिक वृद्धि वाला होता है। इससे आगे फिर जो अन्य शरीरस्थान अगुल मात्र क्षेत्र के असख्यातवे भागगत प्रदेशराशि प्रमाण प्राप्त होते है, उन सबको यथाक्रम से अनन्त भागवृद्धि वाले जानना चाहिये। इन सब शरीरस्थानो का समुदाय तीसरा कडक कहलाता है। इस प्रकार असख्यात भाग से अन्तरित् अर्थात् एक-एक शरीरस्थान के मध्य मे असख्यात भागवृद्धि से अन्तराल को प्राप्त अनन्त भागवृद्धि वाले कडक तब तक कहना चाहिये, जब तक कि असख्यात भाग से अधिक अन्तर-अन्तर वाले शरीरस्थानो का एक कंडक परिसमाप्त होता है। उससे—चरम असख्य भाग अधिकस्थान से—परे यथोत्तर अनन्त भागवृद्धि वाले कडक मात्र शरीरस्थान कहना चाहिये। उससे आगे एक सख्यात भागवृद्धि वाला शरीरस्थान प्राप्त होता है। तदनन्तर मूल से आरभ करके जितने शरीरस्थान पहले अतिक्रान्त किये जा चुके है, उतने ही स्थान उसी प्रकार कह करके फिर एक सख्यात भागवृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। ये सख्येय भागाधिक स्थान तब तक

कहना चाहिये, जब तक कडक पूर्ण होता है। उसके बाद उक्त क्रम से पुन सख्येय भागाधिक स्थान के बदले सख्येय गुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तदनन्तर पुन मूल से प्रारभ करके उतने ही शरीरस्थान कहना चाहिये। उससे पुन. एक सख्येय गुणाधिक स्थान कहे। ये सख्येय गुणाधिक स्थान भी तब तक कहना चाहिये, जब वे कडक प्रमाण हो जाते है। उसके बाद पूर्व परिपाटी के अनुसार सख्येय गुणाधिक स्थान के बदले असख्येय गुणाधिक स्थान कहे। उससे पुन मूल से आरभ करके पूर्व मे अतिक्रान्त किये गये स्थान कहना चाहिये। उससे पुन एक असख्येय गुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये असख्येय गुणाधिक स्थान कडक मात्र कहना चाहिये। उसके बाद पूर्व परिपाटी के अनुसार असख्येय गुणाधिक स्थान के बदले अनन्त गुणाधिक एक स्थान कहना चाहिये। उसके बाद पूर्व मे अतिक्रान्त आदि रूप कथनादि के क्रम से अनन्तगुणाधिक स्थान भी कडक प्रमाण कहना चाहिये। उनसे ऊपर पचवृद्धयात्मक स्थान पुन कहना चाहिये, जब तक कि अनन्तगुणवृद्ध स्थान प्राप्त नही होता है, क्योकि इसमे षड्स्थानो की समाप्ति होती है। इस प्रकार असख्यात षट्स्थान शरीरस्थानो मे होते है और ये सभी शरीरस्थान असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते है।

इस प्रकार नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा जानना चाहिये। अब प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा करते है।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

प्रयोग अर्थात् प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते है। उसके स्थान की वृद्धि द्वारा जो रस केवल योगप्रत्यय से बधने वाले कर्म परमाणुओ मे स्पर्धक रूप से बढता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते है—**प्रयोगो योग प्रकृष्टो योग इति व्युत्पत्ते· तत्स्थानवृद्धया यो रसः कर्मपरमाणुषु केवलयोगप्रत्ययतो बध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्धकरूपतया तत्प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक।** इसी प्रकार पचसग्रह (बधनकरण गाथा ३६) मे भी कहा गया है—

होई पओगो जोगो तट्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो।
परिवड्ढेई जीवे पयोगफड्ड तयं बेंति ॥

प्रकृष्ट योग की स्थानवृद्धि से जीव मे जो रस बढता है, उसे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते है।

यह प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा के समान जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—

अविभागवग्गफड्डग अतरठाणाइ एत्थ जह पुव्वि।
ठाणाइ वग्गणाओ अणंतगुणणाई गच्छति ॥[1]

इसका यह अर्थ हुआ कि अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणादि प्ररूपणाये जैसी पूर्व मे नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा मे की गई है, उसी प्रकार प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा मे भी करना चाहिये। स्थानो मे आदि वर्गणा अनन्त गुणित प्राप्त होती है। वह इस प्रकार कि प्रथम स्थान की प्रथम वर्गणा मे सपूर्ण पुद्गलपरमाणुगत स्नेहाविभाग सबसे कम होते है। उनसे द्वितीय स्थान की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे होते है। उनसे भी तृतीय स्थान सबधी प्रथम

१ पचसग्रह, बधनकरण ३७

वर्गणा मे अनन्तगुणे होते है। इस प्रकार अतिम स्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये। गाथागत "ठाणाइ" इस पद मे आगत आदि शब्द से कडकादि का ग्रहण करना चाहिये।

अब अल्पबहुत्व बतलाते है कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा मे सर्व पुद्गलपरमाणुगत स्नेहाविभाग सबसे कम होते हैं। उससे उसी स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की उत्कृष्ट वर्गणा में वे अनन्तगुणे होते है। उससे भी नामप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते है। उससे भी उसी की उत्कृष्ट वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं। उससे भी प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की जघन्य वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते है। उससे भी उसी की उत्कृष्ट वर्गणा मे स्नेहाविभाग अनन्तगुणे होते हैं।[1] कहा भी है—

तिण्हं पि फड्डगाण जहण्ण उक्कोसगा कमा ठविउ ।
णेयाणतगुणाओ उ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥

अर्थात् तीनो ही प्रकार के स्पर्धको की जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणाये क्रम से स्थापित कर उन वर्गणाओ के स्नेहस्पर्धक अनन्त गुणितक्रम से जानना चाहिये।

अब मूल गाथा के अर्थ का विवेचन करते है—नामप्रत्ययस्पर्धको मे और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धको मे अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा आदि पूर्व के समान जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की तरह यहाँ भी अर्थात् नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक इन दोनो प्ररूपणाओ मे भी अविभागवर्गणा एक-एक स्नेहाविभाग से अधिक परमाणु वाली वर्गणाये अनन्त होती है तथा अल्प स्नेह से बधे हुए पुद्गल परमाणु अधिक होते है और अधिक स्नेह से बधे हुए पुद्गल परमाणु अल्प-अल्पतर होते है तथा वहाँ असख्यात लोकाकाश प्रदेशो का उल्लघन करने पर द्विगुणहीन अर्थात् आधे होते है, ऐसा जो कहा गया है, वह क्रम यहाँ पर सभव नही होने से उस अर्थ का यहाँ सबध नही करना चाहिये। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक में भी उसकी यथासभव अल्पकाल तक ही योजना करना चाहिये, किन्तु सर्वत्र नही[2] तथा "सिं ति" इस स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय के स्पर्धको की अपनी-अपनी जघन्य और उत्कृष्ट वर्गणाओ को बुद्धि से पृथक् स्थापित करके क्रम से उन वर्गणाओ मे "वणिया देसगुणात्ति" अर्थात् निचित-सग्रह रूप से एकत्रित किये गये देशगुण निर्विभाग रूप जो सकल पुद्गलगत स्नेहाविभाग है, वे अनन्त गुणितक्रम से जानना चाहिये।[3]

इस प्रकार पुद्गल परमाणुओ के परस्पर सबध की कारणभूत स्नेहप्ररूपणा जानना चाहिये।

---

१ नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणाओ का आशय सरलता से समझने के लिये परिशिष्ट देखिये।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक मे जो द्विगुणहानि बताई, वह असख्यात भागहानिरूप प्रथम विभाग तक जानना चाहिये, उससे आगे सख्यात भागहानि आदि चार हानि रूप चार विभागो मे द्विगुणहानि नही कही है।

३ उक्त कथन का आशय यह है कि स्नेहप्रत्ययस्पर्धक आदि तीनो प्ररूपणाओं के स्नेहस्पर्धकोंगत प्रथम और अंतिम वर्गणागत स्नेहाविभागो का अल्पबहुत्व निम्न प्रकार है—स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे अल्प, उससे उसकी अतिम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे नामप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे अनन्तगुणे, उससे उसकी अन्तिम वर्गणा मे अनन्तगुणे, उससे प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक की प्रथम वर्गणा में अनन्तगुणे, उससे उसकी अन्तिम वर्गणा मे अनन्तगुणे स्नेहाविभाग जानना चाहिये।

१ प्रकृतिबंध

जीव और कर्मपुद्गलो का सम्बन्ध स्नेहप्रत्ययिक है। यह स्पष्ट हो जाने पर जिज्ञासु ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि वे सवद्ध कर्मपुद्गल एक जैसे ही रहते है या उनमे कुछ विशेषताए आ जाती है और यदि विशेषताये उत्पन्न होती हैं, तो वे कौन-सी हैं? इन जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य कहते है कि प्रकृतिभेद से उन कर्मपुद्गलो के मूल और उत्तर विभाग होते है—

मूलुत्तरपगईण अणुभागविसेसओ हवइ भेओ।
अविसेसियरसपगइओ, पगईबंधो मुणेयव्वो ।।२४।।

शब्दार्थ—**मूलुत्तरपगईणं**–कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतिया, **अणुभागविसेसओ**–अनुभाग, स्वभाव विशेष से, **हवई**–होती है, **भेओ**–भेद, **अविसेसिय**–सामान्य, **रस**–रस, **पगइओ**–प्रकृत्यादिरूप, **पगईबंधो**–प्रकृतिबध, **मुणेयव्वो**–जानना चाहिये।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियो का भेद अनुभाग (स्वभाव) विशेष से होता है। यहाँ पर रस अर्थात् अनुभाग, प्रकृत्यादि रूप की विवक्षा न करके प्रकृतिबध जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ पर प्रकृति शब्द भेद पर्याय का भी वाचक है, अर्थात् यहाँ पर प्रकृति शब्द का भेद ऐसा भी अर्थ होता है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—अहवा पयडी भेओ। इसलिए मूल और उत्तर प्रकृतियो के अर्थात् कर्म सम्बन्धी मूल और उत्तर भेद अनुभागविशेष से यानी ज्ञान को आवरण करने आदि लक्षण वाले स्वभाव की विचित्रता से होते हैं, अन्य प्रकार से नही। यहाँ पर अनुभाग शब्द स्वभाव का पर्यायवाचक जानना चाहिये। चूर्णि मे इसी प्रकार कहा है—अनुभागो त्ति सहावो।[1] इस बधनकरण मे प्रकृतिबध आदि प्रत्येक आगे विस्तारपूर्वक कहे जायेंगे।

शका—प्रत्येक कर्म मे जब प्रकृतिबध आदि सकीर्ण अर्थात् एक साथ मिले हुए होते हैं तो फिर प्रत्येक का भिन्न वर्णन कैसे हो सकता है? यदि ऐसा किया जायेगा तो कोई मनुष्य व्यामोह को प्राप्त हो सकता है।

समाधान—इस प्रकार की आशका व्यक्त करने वाले के व्यामोह को दूर करने के लिए ही तो गाथा में 'प्रकृतिबध' यह पद दिया है और 'तु' शब्द द्वारा उपलक्षण से अन्य स्थितिबध आदि विचित्रता अर्थात् विभिन्नता को स्पष्ट करते हुए 'अविसेसियरसपगइओ' यह पद कहा है।

रस, स्नेह और अनुभाग ये तीनो एकार्थवाचक है। उस रस की प्रकृति अर्थात् स्वभाव जिसमे अविशेषित अर्थात् अविवक्षित हो यानी जिसमे रस की विवक्षा न हो तथा उपलक्षण से स्थिति

---

१ स्वभावभेद से वस्तु का भेद होता है, जैसे तृण, दूध आदि। उसी प्रकार यहा पर भी समझना चाहिये कि कर्म रूप से पुद्गलदलिको की समानता होने पर भी स्वभावभेद से अन्तर, भेद हो जाता है।

और प्रदेश की भी विवक्षा न हो, उस अविशेषित रसप्रकृतिरूप प्रकृतिबध जानना चाहिये[1] तथा गाथा मे पठित 'तु' शब्द अधिकार्थसूचक है। अत अविवक्षित है रस, प्रकृति और प्रदेश जिसमे ऐसा स्थितिबध, अविवक्षित है प्रकृति, स्थिति, प्रदेश जिसमे ऐसा रसबघ और अविवक्षित है प्रकृति, स्थिति और रस जिसमे ऐसा प्रदेशबध, यह अर्थ जानना चाहिये।[2]

प्रकृतिबध मे जितनी प्रकृतियो का बध होता है और जो इनके बध के स्वामी है, यह समस्त वर्णन 'शतक' नामक ग्रथ से जानना चाहिये। प्रकृतिबध और प्रदेशबध योग से होते है। जैसा कि कहा है—जोगा पयडिपएस। इनमे से प्रकृतिबध का वर्णन किया जा चुका है।

२ प्रदेशबंध

अब प्रदेशबध के वर्णन करने का अवसर प्राप्त है, अत उसका कथन करते है कि आठ प्रकार के कर्मबध करने वाले जीव के द्वारा विचित्रतागर्भित एक ही अध्यवसाय के द्वारा जो कर्मदलिक ग्रहण किये जाते है, उनके आठ भाग होते है। सात प्रकार के कर्मों का बध करने वाले जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते दलिको के सात भाग, छह प्रकार के कर्मबध करने वाले जीव के द्वारा ग्रहीत दलिको के छह भाग होते है तथा एक प्रकार के कर्मबधक जीव के द्वारा ग्रहीत दलिको का एक ही भाग होता है।[3]

इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहीत कर्मदलिको के मूल विभाग जानना चाहिये।

अब उत्तर प्रकृतियो के भाग और विभाग को बतलाने के लिये कहते है—

जं सव्वघाइपत्तं, सगकम्मपएसणंतमो भागो ।
आवरणाण चउद्धा, तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥२५॥

शब्दार्थ—ज—जो, सव्वघाइपत्तं—सर्वघाति को प्राप्त हुआ है वह, सग—स्व-अपने, पएस—कर्मप्रदेश का, अणंतमो—अनन्तवा, भागो—भाग, आवरणाण—आवरणो मे (ज्ञानावरण, दर्शनावरण मे) चउद्धा—चार भेद, तिहा य—और तीन भेद, अह—और, पचहा—पाच भेद, विग्घे—अन्तराय मे।

---

१ ठिइबधु दलस्स ठिई पएसबधो पएसगहण ज।
तास रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगईबधो।
बद्ध दलिको की स्थिति को स्थितिबध, प्रदेशो के ग्रहण को प्रदेशबध और विपाकवेदन कराने वाले रस-शक्ति को अनुभागबध और इन सबके समुदाय को प्रकृतिबध कहते है।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि यद्यपि प्रत्येक कर्म-प्रकृति, प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश सहित है, परन्तु जब विवक्षित प्रकृति के प्रकृतिबध का वर्णन किया जाता है, तब शेष स्थिति, रस और प्रदेश इन तीन अशो की अविवक्षा (अभी तत्स्वरूप कथन न करने की इच्छा) जानना चाहिये। इसी प्रकार स्थितिबध के वर्णन के प्रसग मे प्रकृतिबध आदि शेष तीन की, रसबध के वर्णन मे शेष प्रकृत्यादि तीन अशो की और प्रदेशबध के वर्णन मे शेष प्रकृति, स्थिति, अनुभाग अशो की अविवक्षा समझना चाहिये। साराश यह कि वर्ण्य को मुख्य मानकर शेष अशो को गौण मानना चाहिये।
इन प्रकृतिबध आदि चारो अशो के स्वरूप को समझाने के लिए आचार्य मलयगिरि कृत टीका मे दिये गये दृष्टान्त का साराश परिशिष्ट मे देखिये।

३ जिस प्रकार भोजन पेट मे जाने के बाद कालक्रम से रस, रुधिर आदि रूप हो जाता है, उसी तरह विचित्रता-गर्भित एक ही अध्यवसाय के द्वारा जीव प्रतिसमय जिन कर्मदलिको को ग्रहण करता है, उसी समय वे उतने हिस्सो मे बट जाते हैं, जितने कर्मों का बध उस समय उस जीव के होता है।

गा '—सर्वघाति प्रकृतियो को प्राप्त होने वाले कर्मदलिक स्वकर्मप्रदेश के अनन्तवे भाग प्रमाण है और शेष देशघाति कर्मदलिक ज्ञानावरण मे चार भागो, दर्शनावरण मे तीन भागो और अन्तराय मे पाच भागो मे विभाजित होते है।

विशेषार्थ—जो कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृतियो को प्राप्त होता है, अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि स्वरूप वाली कर्मप्रकृतियो को प्राप्त हुआ है, वह अपने मूल कर्म को प्राप्त कर्मदलिको का अनन्तवा भाग है। अर्थात् ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति को जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवा भाग सर्वघाति प्रकृति को प्राप्त होता है।

प्रश्न—इसमे क्या युक्ति है कि सर्वघाति प्रकृतियो को अनन्तवा भाग ही प्राप्त होता है?

उत्तर—आठो ही मूल प्रकृतियो को प्राप्त भागो में से जो अति स्निग्ध परमाणु होते है, वे सबसे कम होते है और वे अपनी-अपनी मूल प्रकृति को प्राप्त परमाणुओ के अनन्तवे भाग मात्र होते है और वे ही परमाणु सर्वघाति प्रकृतिरूप से परिणमित होने योग्य होते है। इसीलिये यह कथन किया गया है कि सर्वघाति प्रकृति को प्राप्त दलिक अपनी मूल प्रकृति के प्रदेशो के अनन्तवे भाग प्रमाण है।

इस अनन्तवे भाग को मूल प्रकृति के सर्व द्रव्य मे से कम करने पर शेष रहे कर्मदलिक सर्वघाति प्रकृति से व्यतिरिक्त और उस समय बधने वाली मूल प्रकृति के अवान्तर भेदरूप उत्तर प्रकृतियो मे विभाजित हो जाते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आवरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों मे से प्रत्येक का सर्वघाति प्रकृति निमित्तक अनन्तवा भाग निकाल देने पर शेष रहे कर्मदलिकों के यथाक्रम से चार भाग और तीन भाग किये जाते है और उन्हें (कर्मदलिको को) शेष देशघाति प्रकृतियो को दिया जाता है तथा विघ्न—अन्तराय कर्म को जो मूल भाग प्राप्त होता है, वह सबका सब पाच भागो में विभाजित करके दानान्तराय आदि पाचो प्रकृतियो को दिया जाता है।

उक्त कथन का यह आशय है कि ज्ञानावरण कर्म को स्थिति के अनुसार जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवा भाग केवलज्ञानावरण को दिया जाता है और शेष द्रव्य के चार भाग किये जाकर उनमें से एक-एक भाग मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण को दिया जाता है।

दर्शनावरण कर्म को भी जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसके अनन्तवें भाग के छह भेद करके एक-एक भाग पाच निद्राओ और केवलदर्शनावरण इन छहो सर्वघाति प्रकृतियो को दिया जाता है और शेष रहे द्रव्य के तीन भाग किये जाते है और वे चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण को दिये जाते हैं। अतराय कर्म को जो मूलभाग प्राप्त होता है, उस सबके ही पाच भाग करके दानान्तराय आदि पाचो अन्तराय कर्म के भेदो को दे दिया जाता है। अन्तराय कर्म में सर्वघातिरूप अवान्तर भेद का अभाव है। अर्थात् अन्तराय देशघाति कर्म है। जिससे उसकी कोई भी उत्तरप्रकृति सर्वघाति नही है, किन्तु सभी प्रकृतियां देशघाति हैं।

मोहे दुहा चउद्धा य, पंचहा वा वि बज्झमाणीणं ।
वेयणियाउयगोएसु, बज्झमाणीण भागो सिं ।।२६।।

शब्दार्थ—मोहे—मोहनीय कर्म मे, दुहा—दो विभाग मे, चउद्धा—चार विभाग मे, य—और, पंचहा—पाच विभाग मे, वा—और, वि—भी, बज्झमाणीण—बधती हुई (वध्यमान), वेयणियाउयगोएसु—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म मे, बज्झमाणीण—वध्यमान, भागो—भाग सिं—इनकी।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म मे वध्यमान प्रकृतियो को दो, चार और पाच भागो मे मिलता है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म मे उनका भाग वध्यमान प्रकृतियो को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म को स्थिति के अनुसार जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग जो सर्वघाति प्रकृतियो के योग्य है, उसके दो भाग किये जाते है। उसमें से एक अर्धभाग दर्शनमोहनीय को और दूसरा अर्धभाग चारित्रमोहनीय को दिया जाता है। दर्शनमोहनीय का जो यह भाग है, वह सपूर्ण मिथ्यात्व मोहनीय को मिलता है तथा चारित्रमोहनीय को प्राप्त भाग के बारह विभाग किये जाते है और वे वारह भाग वारह कषायो को दिये जाते है।

अव शेष रहे दलिको की अर्थात् सर्वघाति के अनन्तवे भाग से अवशिष्ट रहे भाग की विभाग-विधि वतलाते है— 'मोहे दुहा इत्यादि' कि शेष मूल भाग के दो विभाग किये जाते हैं। उनमे से एक भाग कषायमोहनीय का है और दूसरा भाग नोकषायमोहनीय का। इनमे से कषायमोहनीय को प्राप्त भाग के पुन चार भाग किये जाते है और वे चारो ही भाग सज्वलन क्रोधादि चतुष्क को दिये जाते है। नोकषायमोहनीय को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पाच भाग किये जाते है और वे पाचो ही भाग यथाक्रम से तीन वेदो मे से बधने वाले किसी एक वेद को तथा हास्य-रति युगल और अरति-शोक युगल इन दोनो मे से बधने वाले किसी एक युगल के लिये तथा भय एव जुगुप्सा के लिये दिये जाते है, अन्य के लिये भाग नही दिया जाता है। क्योकि उस समय उनका बध नही हो रहा है। इसका कारण यह है कि नव नोकषाये एक साथ बध को प्राप्त नही होती है, किन्तु यथोक्त क्रम से पाच ही नोकषाये एक साथ बध को प्राप्त होती है।[1]

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो मूलभाग प्राप्त होता है, वह उन्हीकी वध्यमान एक-एक प्रकृति को प्राप्त होता है, क्योकि इन कर्मो की दो प्रकृतियो का एक साथ बध नही होता है।[2]

पिंडपगईसु बज्झंतिगाण, वण्ण-रस-गंध-फासाणं ।
सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ।।२७।।

---

१ उक्त कथन का यह आशय है कि नव नोकषायो को प्राप्त द्रव्य के जो पाच भाग किये गये हैं, वह सामान्य और स्थूल दृष्टि से समझना चाहिये। उसका मतलब यह नही कि शेष नोकषायो को भाग नही मिलता है।

२ इसका यह अर्थ है कि बधते समय जिस प्रकृति की मुख्यता है, उस समय उसको अधिक भाग मिलेगा और अबध्यमान प्रकृतियो को स्वल्प मात्रा मे मिलेगा, परन्तु भाग सभी प्रकृतियों को मिलेगा अवश्य। इसी प्रकार जहा-जहा भी सामान्य रूप से बध्यमानता की अपेक्षा जिन प्रकृतियो का उल्लेख आये, वहाँ यही समझना चाहिये कि बध्यमान प्रकृति की अपेक्षा अबध्यमान प्रकृति को भाग अल्प मिलता है।

शब्दार्थ—पिंडपगईसु–पिंड प्रकृतियों में, बज्झंतिगाण–बध्यमान में, वण्णरसगंधफासाण–वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में, सव्वासिं–सर्वभेदों में, संघाए–संघात में, तणुम्मि–शरीर में, य–और, तिगे–तीन भाग में, चउक्के–चार भाग में, वा–अथवा।

गाथार्थ—नामकर्म को प्राप्त मूल भाग बध्यमान पिंड प्रकृतियों में, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में, सभी संघातनों में तथा तीन या चार शरीरों में विभाजित होता है।

विशेषार्थ—पिंडप्रकृतियां वाली नामकर्म की प्रकृतियां। जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है–**पिंड-पगईओ नामपगइओ**। उनके मध्य में बंधने वाली किसी एक गति, जाति, शरीर, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, अंगोपांग और आनुपूर्वी का तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्‌वास, निर्माण और तीर्थंकर का तथा आतप, उद्योत, प्रशस्त–अप्रशस्त विहायोगति, त्रस–स्थावर, बादर–सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, सुभग–दुर्भग, आदेय–अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति, इन युगलों में से किसी एक-एक में प्राप्त मूलभाग का विभाग करके देना चाहिये। लेकिन यहाँ जो विशेष है, उसे स्पष्ट करते हैं कि "वण्णेत्यादि" वर्ण, गंध, रस, स्पर्शों में से प्रत्येक को जो भाग प्राप्त होता है, वह सब उनके अवान्तर भेदों को विभाग कर-करके दिया जाता है। जैसे कि वर्ण नामकर्म को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पांच भाग करके शुक्ल आदि पांचों अवान्तर भेदों को विभाग करके दिया जाता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्शों के भी जिसके जितने अवान्तर भेद हैं, उसके उतने विभाग करके अवान्तर भेदों को देना चाहिये तथा संघातन और शरीर नामकर्म में प्रत्येक को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके तीन या चार विभाग करके तीन या चार संघातनों और शरीरों को दिया जाता है। अर्थात् औदारिक, तैजस, कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस, कार्मण इन तीन शरीरों और संघातनों को एक साथ बांधते हुए तीन भाग किये जाते हैं और वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण रूप चार शरीर और चार संघातनों को बांधते हुए चार भाग किये जाते हैं।

सत्तेक्कारविगप्पा, बंधण नामाण मूलपगईणं।
उत्तरसगपगईण य, अप्पबहुत्ता विसेसो सिं ॥२८॥

शब्दार्थ—सत्तेक्कारविगप्पा–सात अथवा ग्यारह विकल्प, बंधणनामाण–बंधन नामकर्म की, मूलपगईणं–मूल प्रकृति के दलिकों के, उत्तरसगपगईण–स्व-उत्तर प्रकृतियों का, य–और, अप्पबहुत्ता–अल्पबहुत्व की, विसेसो–विशेषता, सिं–इनमें (मूलप्रकृतियों में)।

गाथार्थ—बंधननामकर्म की मूल प्रकृति को प्राप्त दलिकों के सात अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते हैं। अब इन मूल प्रकृतियों में अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों का अल्पबहुत्व संबंधी जो विशेष भेद है, उसको कहते हैं।

विशेषार्थ—बंधननामकर्म को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके सात विकल्प अर्थात् सात भेद अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते हैं। उनमें से १ औदारिक-औदारिक २ औदारिक-तैजस, ३ औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजसकार्मण, ५ तैजस-तैजस, ६ तैजस-कार्मण ७ कार्मण-

मोहे दुहा चउद्धा य, पंचहा वा वि बज्झमाणीणं ।
वेयणियाउयगोएसु, बज्झमाणीण भागो सि ।।२६।।

शब्दार्थ—मोहे—मोहनीय कर्म में, दुहा—दो विभाग मे, चउद्धा—चार विभाग मे, य—और, पंचहा—पांच विभाग मे, वा—और वि—भी, बज्झमाणीणं—बधती हुई (बध्यमान), वेयणियाउयगोएसु—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में, बज्झमाणीण—बध्यमान, भागो—भाग सि—इनकी।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म मे बध्यमान प्रकृतियो को दो, चार और पांच भागो मे मिलता है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म मे उनका भाग बध्यमान प्रकृतियो को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म को स्थिति के अनुसार जो मूल भाग प्राप्त होता है, उसका अनन्तवां भाग जो सर्वघाति प्रकृतियो के योग्य है, उनके दो भाग किये जाते हैं। उसमें से एक अर्धभाग दर्शनमोहनीय को और दूसरा अर्धभाग चारित्रमोहनीय को दिया जाता है। दर्शनमोहनीय का जो यह भाग है वह संपूर्ण मिथ्यात्व मोहनीय को मिलता है तथा चारित्रमोहनीय को प्राप्त भाग के बारह विभाग किये जाते हैं और वे बारह भाग बारह कषायो को दिये जाते है।

अब शेष रहे दलिको की अर्थात् सर्वघाति के अनन्तवे भाग से अवशिष्ट रहे भाग की विभाग-विधि बतलाते है— मोहे दुहा इत्यादि कि शेष मूल भाग के दो विभाग किये जाते हैं। उनमे से एक भाग कषायमोहनीय का है और दूसरा भाग नोकषायमोहनीय का। इनमे से कषायमोहनीय को प्राप्त भाग के पुन चार भाग किये जाते हैं और वे चारों ही भाग संज्वलन क्रोधादि चतुष्क को दिये जाते हैं। नोकषायमोहनीय को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पाच भाग किये जाते हैं और वे पाचो ही भाग यथाक्रम से तीन वेदो मे से बधने वाले किसी एक वेद को तथा हास्य-रति युगल और अरति-शोक युगल इन दोनो में से बंधने वाले किसी एक युगल के लिये तथा भय एवं जुगुप्सा के लिये दिये जाते हैं, अन्य के लिये भाग नही दिया जाता है। क्योकि उस समय उनका बध नही हो रहा है। इसका कारण यह है कि नव नोकषायें एक साथ बध को प्राप्त नही होती हैं, किन्तु यथोक्त क्रम से पांच ही नोकषायें एक साथ बध को प्राप्त होती हैं।[1]

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म को जो मूलभाग प्राप्त होता है, वह उन्हीकी बध्यमान एक-एक प्रकृति को प्राप्त होता है, क्योंकि इन कर्मों की दो प्रकृतियो का एक साथ बध नही होता है।[2]

पिंडपगईसु बज्झंतिगाण, वण्ण-रस-गंध-फासाणं ।
सव्वासि संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ।।२७।।

---

१ उक्त कथन का यह आशय है कि नव नोकषायो को प्राप्त द्रव्य के जो पाच भाग किये गये हैं, वह सामान्य और स्थूल दृष्टि से समझना चाहिये। उसका मतलब यह नहीं कि शेष नोकषायो को भाग नही मिलता है।

२ इसका यह अर्थ है कि बंधते समय जिस प्रकृति की मुख्यता है, उस समय उसको अधिक भाग मिलेगा और अबध्यमान प्रकृतियों को स्वल्प मात्रा में मिलेगा, परन्तु भाग सभी प्रकृतियो को मिलेगा अवश्य। इसी प्रकार जहां-जहां भी सामान्य रूप से बध्यमानता की अपेक्षा जिन प्रकृतियों का उल्लेख आये, वहां यही समझना चाहिये कि बध्यमान प्रकृति की अपेक्षा अबध्यमान प्रकृति को भाग अल्प मिलता है।

शब्दार्थ—पिंडपगईसु—पिंड प्रकृतियो मे, बज्झंतिगाण—बध्यमान मे, वण्णरसगंधफासाण—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श मे, सव्वासिं—सर्वभेदो मे, संघाए—संघात मे, तणुम्मि—शरीर मे, य—और, तिगे—तीन भाग मे, चउक्के—चार भाग मे, वा—अथवा।

गाथार्थ—नामकर्म को प्राप्त मूल भाग बध्यमान पिंड प्रकृतियों मे, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श मे, सभी संघातनो मे तथा तीन या चार शरीरो मे विभाजित होता है।

विशेषार्थ—पिंडप्रकृतियां यानी नामकर्म की प्रकृतियां। जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है—पिंड-पगईओ नामपगइओ। उनके मध्य मे बंधने वाली किसी एक गति, जाति, शरीर, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, अंगोपांग और आनुपूर्वी का तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, निर्माण और तीर्थंकर का तथा आतप, उद्योत, प्रशस्त–अप्रशस्त विहायोगति, त्रस–स्थावर, बादर–सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, सुभग–दुर्भग, आदेय–अनादेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति, इन युगलो मे से किसी एक-एक मे प्राप्त मूलभाग का विभाग करके देना चाहिये। लेकिन यहाँ जो विशेष है, उसे स्पष्ट करते है कि "वण्णेत्यादि" वर्ण, गंध, रस, स्पर्शो में से प्रत्येक को जो भाग प्राप्त होता है, वह सब उनके अवान्तर भेदो को विभाग कर-करके दिया जाता है। जैसे कि वर्ण नामकर्म को जो भाग प्राप्त होता है, उसके पांच भाग करके शुक्ल आदि पांचो अवान्तर भेदो को विभाग करके दिया जाता है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्शो के भी जिसके जितने अवान्तर भेद है, उसके उतने विभाग करके अवान्तर भेदो को देना चाहिये तथा संघातन और शरीर नामकर्म मे प्रत्येक को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके तीन या चार विभाग करके तीन या चार संघातनो और शरीरो को दिया जाता है। अर्थात् औदारिक, तैजस, कार्मण अथवा वैक्रिय, तैजस, कार्मण इन तीन शरीरो और संघातनो को एक साथ बांधते हुए तीन भाग किये जाते है और वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण रूप चार शरीर और चार संघातनो को बांधते हुए चार भाग किये जाते है।

सत्तेक्कारविगप्पा, बंधणनामाण मूलपगईणं।
उत्तरसगपगईण य, अप्पबहुत्ता विसेसो सिं ॥२८॥

शब्दार्थ—सत्तेक्कारविगप्पा—सात अथवा ग्यारह विकल्प, बंधणनामाण—बंधन नामकर्म की, मूलपगईण—मूल प्रकृति के दलिको के, उत्तरसगपगईण—स्व-उत्तर प्रकृतियो का, य—और, अप्पबहुत्ता—अल्पबहुत्व की, विसेसो—विशेषता, सिं—इनमें (मूलप्रकृतियो मे)।

गाथार्थ—बंधननामकर्म की मूल प्रकृति को प्राप्त दलिको के सात अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते है। अब इन मूल प्रकृतियो मे अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियो का अल्पबहुत्व संबंधी जो विशेष भेद है, उसको कहते है।

विशेषार्थ—बंधननामकर्म को जो दलिकभाग प्राप्त होता है, उसके सात विकल्प अर्थात् सात भेद अथवा ग्यारह विकल्प किये जाते है। उनमें से १ औदारिक-औदारिक २ औदारिक-तैजस, ३ औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजसकार्मण, ५ तैजस-तैजस, ६ तैजस-कार्मण ७ कार्मण-

कार्मण रूप अथवा वैक्रियचतुष्क एव तैजसत्रिक रूप सात वधनो को बाधते हुए सात भाग किये जाते है और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क और तैजसत्रिक[1] लक्षण वाले ग्यारह वधनो को वाधने पर ग्यारह भाग किये जाते है।

पूर्वोक्त प्रकृतियो के अतिरिक्त शेष प्रकृतियो को जो-जो दलिकभाग प्राप्त होता है, वह पुन विभाजित नही किया जाता है। क्योकि उनके जो अवान्तर भेद है, उनमे से दो, तीन आदि भेदो का एक साथ बध नही होता है, एक का ही बध होता है। इसलिए उनको वह पूरा का पूरा दलिकभाग प्राप्त होता है।

प्राप्त दलिको के अल्पबहुत्व का कथन

यहाँ एक अध्यवसाय की मुख्यता से गृहीत कर्मदलिक के स्कन्धो का विभाग करके उसे मूल प्रकृतियो और उत्तर प्रकृतियो मे देना बताया गया है। परन्तु यह नही वताया गया है कि किस प्रकृति को उत्कृष्ट या जघन्य पद मे कितना भाग दिया गया है? इसलिये इस विशेषता को बताने के लिये गाथा म 'मूलपगईण' इत्यादि पद कहा है। उसका यह अर्थ है कि इन मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियो का परस्पर भागसम्वन्धी जो विशेष भेद है, उसे शास्त्रान्तरो म कहे गये अल्पबहुत्व से जानना चाहिये। उनमे से पहले मूलप्रकृतियों का अल्पवहुत्व वतलाते हैं—

मूल कर्मों को उनकी स्थिति के अनुसार भाग प्राप्त होता है। अर्थात् जिस कर्म की स्थिति वडी होती है, उसे वडा भाग मिलता है और जिसकी स्थिति थोडी होती है, उसे थोडा (अल्प) भाग मिलता है।[2] इस दृष्टि से आयुकर्म को सबसे कम भाग प्राप्त होता है, क्योकि उसकी सब कर्मों से थोडी स्थिति है। आयुकर्म की स्थिति उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म की अपेक्षा नाम और गोत्र कर्म को अधिक वडा भाग प्राप्त होता है। क्योकि इन दोनो कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु इन दोनो कर्मो का भाग स्वस्थान मे परस्पर तुल्य होता है। क्योकि ये दोनो कर्म समानस्थिति वाले है। इन दोनो कर्मो से भी अधिक वडा भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को प्राप्त होता है। क्योकि

---

१ वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण और वैक्रिय-तैजसकार्मण को वैक्रिय-चतुष्क तथा तैजस-तैजस, तैजसकार्मण और कार्मण-कार्मण को तैजस-त्रिक कहते हैं। आहारक-चतुष्क भी वैक्रिय-चतुष्कवत् समझना चाहिये।

२ स्थिति के अनुसार अल्पाधिक भाग मिलने के प्रसग मे यह विचारणीय है कि यह कथन स्थूल दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है, परन्तु वस्तुस्थिति की अपेक्षा अध्यवसायो से भागो का मिलना अधिक सवधित है। क्योकि कार्यमात्र के प्रति अध्यवसायो की मुख्यता है। किसी स्थल पर अध्यवसायो को गौण कर काल-मर्यादा को मुख्यता दी गई हो तो यह मुख्यता ज्ञान कराने की दृष्टि से समझना चाहिये। क्योकि अध्यवसायो की धारा अनुस्यूत रूप से निरन्तर चलती रहती है। इस दृष्टि से कर्मदलिको मे भागो का विभाजन भी निर्भर करता है। इससे अध्यवसायो की मुख्यता ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होती है। इसीलिये पूर्व मे (गाथा २४ की टीका मे) एक अध्यवसाय की विचित्रता का सकेत किया गया है। तदनुसार सर्वत्र अध्यवसाय की दृष्टि मुख्य रूप से गृहीत होती है। जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि अध्यवसायो के अनुपात से कर्म-दलिको का मिलना सभावित है, विना अध्यवसाय के सिर्फ स्थिति के अनुसार ही प्रकृतियो को उनका भाग प्राप्त हो, यह उपयुक्त प्रतीत नही होता है। इस विषय मे विद्वज्जनो के विचार आमन्त्रित हैं।

इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु ये तीनो समान स्थिति वाले होने से स्वस्थान मे इन तीनो कर्मो को भाग समान ही प्राप्त होता है। इनसे भी मोहनीय का भाग अधिक बडा होता है। क्योंकि उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। वेदनीय कर्म यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मो के साथ समान स्थिति वाला है, तथापि उसका भाग सर्वोत्कृष्ट ही जानना चाहिये, अन्यथा वह अपने सुख-दुःख रूप फल को स्पष्टता के साथ अनुभव नही करा सकता है।[1]

उत्कृष्टपद में उत्तरप्रकृतियो के प्रदेशाग्रो का अल्पबहुत्व

अव (इन मूल प्रकृतियो की) अपनी-अपनी उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्टपद और जघन्यपद मे अल्पबहुत्व बतलाते है। उत्कृष्टपद में इस प्रकार जानना चाहिये—

१ **ज्ञानावरणकर्म**—केवलज्ञानावरण का प्रदेशाग्र (प्रदेशों का समूह) सबसे कम है। उससे[2] मन पर्ययज्ञानावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा, उससे अवधिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे श्रुतज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे मतिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

२ **दर्शनावरणकर्म**—उत्कृष्टपद मे प्रचला का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे निद्रा का विशेषाधिक है, उससे भी प्रचला-प्रचला का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी निद्रा-निद्रा का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी स्त्यानर्द्धि का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी केवलदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी अवधिदर्शनावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे अचक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे भी चक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

३ **वेदनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद मे असातावेदनीय का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे सातावेदनीय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

४ **मोहनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद मे अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अनन्तानुबधी मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधी क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधी माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबधी लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे

---

१ वेदनीय कर्म को अधिक भाग मिलने का कारण यह है कि सुख और दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दुःख का वेदन करता रहता है, अत वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी से उसका द्रव्य सबसे अधिक बताया गया है।

२ उससे पूर्व में बताई गई प्रकृति की अपेक्षा। इसी प्रकार आगे भी 'उससे' का अर्थ समझना चाहिये।

कार्मण रूप अथवा वैक्रियचतुष्क एव तैजसत्रिक रूप सात बधनो को बाधते हुए सात भाग किये जाते है और वैक्रियचतुष्क, आहारकचतुष्क और तैजसत्रिक[१] लक्षण वाले ग्यारह बधनो को बाधने पर ग्यारह भाग किये जाते है।

पूर्वोक्त प्रकृतियो के अतिरिक्त शेष प्रकृतियो को जो-जो दलिकभाग प्राप्त होता है, वह पुन विभाजित नही किया जाता है। क्योकि उनके जो अवान्तर भेद है, उनमे से दो, तीन आदि भेदो का एक साथ बध नही होता है, एक का ही बध होता है। इसलिए उनको वह पूरा का पूरा दलिकभाग प्राप्त होता है।

प्राप्त दलिको के अल्पबहुत्व का कथन

यहाँ एक अध्यवसाय की मुख्यता से गृहीत कर्मदलिक के स्कन्धो का विभाग करके उसे मूल प्रकृतियो और उत्तर प्रकृतियो मे देना बताया गया है। परन्तु यह नही बताया गया है कि किस प्रकृति को उत्कृष्ट या जघन्य पद मे कितना भाग दिया गया है ? इसलिये इस विशेषता को बताने के लिये गाथा म 'मूलपगईण' इत्यादि पद कहा है। उसका यह अर्थ है कि इन मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियो का परस्पर भागसम्बन्धी जो विशेष भेद है, उसे शास्त्रान्तरो म कहे गये अल्पबहुत्व से जानना चाहिये। उनमें से पहले मूलप्रकृतियो का अल्पबहुत्व बतलाते है—

मूल कर्मो को उनकी स्थिति के अनुसार भाग प्राप्त होता है। अर्थात् जिस कर्म की स्थिति बडी होती है, उसे बडा भाग मिलता है और जिसकी स्थिति थोडी होती है, उसे थोडा (अल्प) भाग मिलता है।[२] इस दृष्टि से आयुकर्म को सबसे कम भाग प्राप्त होता है, क्योकि उसकी सब कर्मो से थोडी स्थिति है। आयुकर्म की स्थिति उत्कर्ष से तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म की अपेक्षा नाम और गोत्र कर्म को अधिक बडा भाग प्राप्त होता है। क्योकि इन दोनो कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु इन दोनो कर्मो का भाग स्वस्थान मे परस्पर तुल्य होता है। क्योकि ये दोनो कर्म समानस्थिति वाले है। इन दोनो कर्मो से भी अधिक बडा भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को प्राप्त होता है। क्योकि

१ वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण और वैक्रिय-तैजसकार्मण को वैक्रिय-चतुष्क तथा तैजस-तैजस, तैजसकार्मण और कार्मण-कार्मण को तैजस-त्रिक कहते हैं। आहारक-चतुष्क भी वैक्रिय-चतुष्कवत् समझना चाहिये।

२ स्थिति के अनुसार अल्पाधिक भाग मिलने के प्रसग में यह विचारणीय है कि यह कथन स्थूल दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है, परन्तु वस्तुस्थिति की अपेक्षा अध्यवसायो से भागों का मिलना अधिक सबधित है। क्योकि कार्यमात्र के प्रति अध्यवसायो की मुख्यता है। किसी स्थल पर अध्यवसायो को गौण कर काल-मर्यादा को मुख्यता दी गई हो तो यह मुख्यता ज्ञान कराने की दृष्टि से समझना चाहिये। क्योकि अध्यवसायो की धारा अनुस्यूत रूप से निरन्तर चलती रहती है। इस दृष्टि से कर्मदलिको में भागो का विभाजन भी निर्भर करता है। इससे अध्यवसायो की मुख्यता ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होती है। इसीलिये पूर्व मे (गाथा २४ की टीका में) एक अध्यवसाय की विचित्रता का सकेत किया गया है। तदनुसार सर्वत्र अध्यवसाय की दृष्टि मुख्य रूप से गृहीत होती है। जिसका फलितार्थ यह निकलता है कि अध्यवसायो के अनुपात से कर्म-दलिको का मिलना सभावित है, बिना अध्यवसाय के सिर्फ स्थिति के अनुसार ही प्रकृतियो को उनका भाग प्राप्त हो, यह उपयुक्त प्रतीत नही होता है। इस विषय में विद्वज्जनो के विचार आमन्त्रित हैं।

इनकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। किन्तु ये तीनो समान स्थिति वाले होने से स्वस्थान मे इन तीनो कर्मो को भाग समान ही प्राप्त होता है। इनसे भी मोहनीय का भाग अधिक बडा होता है। क्योकि उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है। वेदनीय कर्म यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मो के साथ समान स्थिति वाला है, तथापि उसका भाग सर्वोत्कृष्ट ही जानना चाहिये, अन्यथा वह अपने सुख-दुःख रूप फल को स्पष्टता के साथ अनुभव नही करा सकता है।[1]

उत्कृष्टपद में उत्तरप्रकृतियो के प्रदेशाग्रो का अल्पबहुत्व

अब (इन मूल प्रकृतियो की) अपनी-अपनी उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्टपद और जघन्यपद मे अल्पबहुत्व बतलाते है। उत्कृष्टपद मे इस प्रकार जानना चाहिये—

१ **ज्ञानावरणकर्म**—केवलज्ञानावरण का प्रदेशाग्र (प्रदेशो का समूह) सबसे कम है। उससे[2] मनःपर्यायज्ञानावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा, उससे अवधिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे श्रुतज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे मतिज्ञानावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

२ **दर्शनावरणकर्म**—उत्कृष्टपद मे प्रचला का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे निद्रा का विशेषाधिक है, उससे भी प्रचला-प्रचला का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी निद्रा-निद्रा का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी स्त्यानर्द्धि का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी केवलदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी अवधिदर्शनावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे अचक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे भी चक्षुदर्शनावरण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

३ **वेदनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद मे असातावेदनीय का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे सातावेदनीय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

४ **मोहनीयकर्म**—उत्कृष्ट पद मे अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र सबसे कम है। उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे प्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अनन्तानुबंधी मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे अनन्तानुबंधी लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक, उससे मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे

---

१ वेदनीय कर्म को अधिक भाग मिलने का कारण यह है कि सुख और दुःख के निमित्त से वेदनीय कर्म की निर्जरा बहुत होती है। अर्थात् प्रत्येक जीव प्रति समय सुख या दुःख का वेदन करता रहता है, अतः वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी से उसका द्रव्य सबसे अधिक बताया गया है।

२ उससे पूर्व में बताई गई प्रकृति की अपेक्षा। इसी प्रकार आगे भी 'उससे' का अर्थ समझना चाहिये।

जुगुप्सा का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे भय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे हास्य और शोक का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो का ही प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है, उससे रति-अरति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो का परस्पर तुल्य है, उससे स्त्री-वेद और नपुसकवेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो का ही परस्पर तुल्य है, उससे सज्वलन क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे सज्वलन मान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे पुरुषवेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे सज्वलन माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे सज्वलन लोभ का प्रदेशाग्र असख्यात गुणा है।

५ **आयुकर्म**—उत्कृष्ट पद मे चारो आयुओ का प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है।

६ **नामकर्म**—उत्कृष्ट पद की अपेक्षा गति मे देवगति और नरकगति का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तिर्यंचगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

जातिनामकर्म मे द्वीन्द्रियादि चारो जातिनामकर्मों का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान मे उनके प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है। उनसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म में उत्कृष्ट पद मे आहारकशरीर का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिकशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तैजसशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी कार्मणशरीर नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

इसी प्रकार (शरीरनामकर्म के समान) सघातननामकर्म का भी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

बधननामकर्म के उत्कृष्ट पद में आहारक-आहारक बधननामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे आहारक-तैजस बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आहारक-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आहारक-तैजस-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-वैक्रिय बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रिय-तैजस-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-औदारिक बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे औदारिक-तैजस-कार्मण बंधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। उससे तैजस-तैजस बधन-नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तैजस-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कार्मण-कार्मण बधननामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

सस्थाननामकर्म में आदि (समचतुरस्रसंस्थान) और अंतिम हुंडसंस्थान, इन दो सस्थानो को छोडकर मध्य के चार सस्थानो का उत्कृष्ट पद मे प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में

उनका प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है। उससे समचतुरस्रसंस्थान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उसमे भी हुंडसंस्थान का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

अंगोपांगनामकर्म के उत्कृष्ट पद में आहारकअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी औदारिकअंगोपांगनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

संहनननामकर्म मे आदि के पांच संहननो का उत्कृष्ट पद मे प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान मे उनका प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उससे सेवार्तसंहनन का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

वर्णनामकर्म मे कृष्णवर्ण का उत्कृष्ट पद मे प्रदेशाग्र सब से कम है, उससे नीलवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे लोहितवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे हारिद्रवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे शुक्लवर्ण का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

गंधनामकर्म मे सुरभिगंध का उत्कृष्ट पद मे प्रदेशाग्र सब से कम है, उससे दुरभिगंध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

रसनामकर्म में कटुकरसनामकर्म का उत्कृष्ट पद मे प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे तिक्त-रसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कषायरसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे आम्लरसनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे मधुररस का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

स्पर्शनामकर्म मे कर्कश और गुरु स्पर्श नामकर्म का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो का ही प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उनसे मृदु और लघु स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे दोनो का परस्पर तुल्य है, उनसे रूक्ष और शीत स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान में तो उन दोनो का भी प्रदेशाग्र परस्पर समान है, उनसे भी स्निग्ध और उष्ण स्पर्श नामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे तो इन दोनो का प्रदेशाग्र परस्पर तुल्य है।

आनुपूर्वीनामकर्म मे देवगति और नरकगति आनुपूर्वी का प्रदेशाग्र उत्कृष्ट पद में सबसे कम है, किन्तु स्वस्थान में तो दोनो का परस्पर समान है। उससे मनुष्यगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे तिर्यंचगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

त्रसनामकर्म का उत्कृष्ट पद में प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे स्थावरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। पर्याप्तनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है और उससे अपर्याप्तनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, सूक्ष्म-बादर और प्रत्येक-साधारण नामकर्म के प्रदेशाग्र का कथन करना चाहिये।

अयश कीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे यश कीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र सख्यातगुणा है। इनके अतिरिक्त शेष रही आतप, उद्योत, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, सुस्वर और दु स्वर प्रकृतियो का प्रदेशाग्र उत्कृष्ट पद मे परस्पर समान है।[1]

निर्माण, उच्छ्वास, पराघात, उपघात, अगुरुलघु और तीर्थंकर नाम का अल्पबहुत्व नही है। क्योकि यहाँ जो अल्पबहुत्व बतलाया है, वह सजातीय प्रकृति की अपेक्षा से होता है। जैसे कि कृष्ण आदि वर्णनामकर्मों का शेष वर्णों की अपेक्षा अथवा जैसे सुभग-दुर्भग का प्रतिपक्षी प्रकृति की अपेक्षा से होता है। किन्तु ये प्रकृतिया परस्पर सजातीय नही है। क्योकि इनमे एक मूल पिंडप्रकृतित्व का अभाव है और न ये प्रकृतिया परस्पर विरोधिनी भी है। क्योकि इनका एक साथ बध सभव है।

७. **गोत्रकर्म**--उत्कृष्ट पद मे नीचगोत्र का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे उच्चगोत्र का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

८. **अन्तरायकर्म**—उत्कृष्ट पद मे दानान्तराय का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे लाभान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भोगान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे उपभोगान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है और उससे वीर्यान्तराय का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

इस प्रकार उत्कृष्टपद मे उत्तरप्रकृतियो का प्रदेशाग्र सबधी अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

जघन्यपद में उत्तर प्रकृतियो के प्रदेशाग्रो का अल्पबहुत्व

अब जघन्यपद मे सभी उत्तरप्रकृतियो के प्रदेशाग्र सबधी अल्पबहुत्व का निरूपण करते हैं—

१. **ज्ञानावरणकर्म**—केवलज्ञानावरण का जघन्यपद मे प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मन पर्यायज्ञानावरण का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे अवधिज्ञानावरण का विशेषाधिक है, उससे श्रुतज्ञानावरण का विशेषाधिक है और उससे भी मतिज्ञानावरण का विशेषाधिक है।

२ **दर्शनावरणकर्म**—जघन्यपद में निद्रा का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे प्रचला का विशेषाधिक है, उससे निद्रा-निद्रा का विशेषाधिक है, उससे प्रचला-प्रचला का विशेषाधिक है, उससे स्त्यानर्द्धि का विशेषाधिक है, उससे केवलदर्शनावरण का विशेषाधिक है, उससे अवधिदर्शनावरण का अनन्तगुणा है, उससे अचक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक है, उससे चक्षुदर्शनावरण का विशेषाधिक है।

१ नामकर्म की कतिपय उत्तर प्रकृतियो का उत्कृष्टपद मे अल्पबहुत्व भिन्न प्रकार से कहा है। वह इस प्रकार है—

१ शुभ विहायोगति का प्रदेशाग्र सबसे अल्प है, उससे अशुभ विहायोगति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।
२ बादरनाम का प्रदेशाग्र अल्प, उससे सूक्ष्मनाम का विशेषाधिक।
३ सुस्वरनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प, उससे दु स्वरनाम का विशेषाधिक।
४ यश कीर्तिनामकर्म का प्रदेशाग्र अल्प, उससे अयश कीर्तिनाम का विशेषाधिक।
५ आतप-उद्योत का प्रदेशाग्र अल्प, किन्तु स्वस्थान मे तुल्य।
(यहा अल्पबहुत्व किसकी अपेक्षा है ? यह विचारणीय है)।
यहा टीकाकार आचार्य ने आतप आदि प्रकृतियो में युगल विवक्षा प्रगट नही की है, किन्तु श्रीमद् देवेन्द्रसूरि कृत शतक टीका के अनुसार युगलपूर्वक भिन्न विवक्षा करने मे कोई विरोध प्रतीत नही होता है।

३. **मोहनीयकर्म**—जघन्यपद मे अप्रत्याख्यानावरण मान का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण माया का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे अप्रत्याख्यानावरण लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार उससे उत्तरोत्तर के क्रम से प्रत्याख्यानावरण मान, क्रोध, माया, लोभ और अनन्तानुबधी मान, क्रोध, माया, लोभ का प्रदेशाग्र विशेषाधिक कहना चाहिये। अनन्तानुबधी लोभ से मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे जुगुप्सा का प्रदेशाग्र अनन्तगुणा है, उससे भय का विशेषाधिक है, उससे हास्य-शोक का विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे उन दोनो का परस्पर समान है, उससे रति-अरति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, किन्तु स्वस्थान मे उन दोनो का भी परस्पर मे तुल्य है। उनसे अन्यतर एक वेद का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे सज्वलन मान, क्रोध, माया और लोभ का प्रदेशाग्र उत्तरोत्तर विशेषाधिक है।

४. **आयुकर्म**—जघन्यपद मे तिर्यंच और मनुष्यायु का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे देव और नरकायु का प्रदेशाग्र असख्यगुणा है।

५ **नामकर्म**—इसके गति भेद मे जघन्यपद मे तिर्यंचगति का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगति का प्रदशाग्र विशेषाधिक है, उससे देवगति का प्रदेशाग्र असख्यगुणा है, उससे नरकगति का प्रदेशाग्र असख्यगुणा है।

जातिनामकर्म मे द्वीन्द्रियादि चार जातिनामकर्मो का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे एकेन्द्रियजाति का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है।

शरीरनामकर्म मे औदारिकशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे तैजसशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे कार्मणशरीरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे वैक्रियशरीरनामकर्म का असख्यात गुणा है, उससे आहारकशरीर का असख्यात गुणा है। इसी प्रकार सघातननामकर्म में भी समझना चाहिये।

अगोपागनामकर्म मे जघन्यपद में औदारिकअगोपागनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे वैक्रियअगोपागनामकर्म का प्रदेशाग्र असख्यात गुणा है, उससे आहारकअगोपागनामकर्म का असख्यात गुणा है तथा जघन्यपद मे नरकगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे मनुष्यगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है, उससे भी तिर्यंचगत्यानुपूर्वी का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है तथा त्रसनामकर्म का प्रदेशाग्र सबसे कम है, उससे स्थावरनामकर्म का प्रदेशाग्र विशेषाधिक है। इसी प्रकार बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण नामकर्मो का अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

उक्त प्रकृतियो के अतिरिक्त नामकर्म की शेष प्रकृतियो का अल्पबहुत्व नही है।[१]

---

१ [illegible] प्रकृतियो के अतिरिक्त शेष प्रकृतियो का जघन्यपद सबधी अल्पबहुत्व नही है।

६, ७. वेदनीय और गोत्र कर्म—इसी प्रकार सातावेदनीय, असातावेदनीय का तथा उच्चगोत्र, नीचगोत्र का भी अल्पबहुत्व नही है ।

८ अन्तरायकर्म—अन्तराय कर्म मे जैसा अल्पबहुत्व उत्कृष्टपद मे कहा है, वैसा ही जघन्यपद मे भी जानना चाहिये ।

उत्कृष्ट, जघन्य प्रदे होना कब संभव है ?

यहाँ यह जानना चाहिये कि जब जीव उत्कृष्ट योगस्थान मे प्रवर्तता है और जब मूलप्रकृतियो तथा उत्तरप्रकृतियो का अल्पतर बघ करता है तथा जब सक्रमणकाल मे अन्य प्रकृतियो के दलिको का उत्कृष्ट प्रदेशसक्रमण होता है[1] तब उत्कृष्ट प्रदेशाग्र सभव है। जिसका आशय यह है कि (१) उत्कृष्ट योग मे वर्तमान जीव उत्कृष्ट प्रदेश ग्रहण करता है तथा (२) जब अल्पतर मूल प्रकृतियो का और उत्तर प्रकृतियो का बघ होता है तब शेष अवध्यमान प्रकृतियो से प्राप्त होने योग्य भाग भी उन बध्यमान प्रकृतियो को प्राप्त होता है तथा (३) जब अन्य प्रकृतियो के उत्कृष्ट प्रदेशसक्रमण के समय मे विवक्षित बध्यमान प्रकृतियो मे बहुत कर्मपुद्गल प्रवेश करते है । अत इतने कारणो के होने पर उत्कृष्ट प्रदेशाग्र होना सभव है और इससे विपरीत दशा मे जघन्य प्रदेशाग्र होता है ।[2]

इस प्रकार प्रकृतिबघ और प्रदेशबघ का कथन समाप्त हुआ । अब स्थितिबघ और अनुभागबघ के विवेचन का अवसर प्राप्त है। इनमे भी बहुवक्तव्य होने से सर्वप्रथम अनुभागबघ की प्ररूपणा करते है।

३. अनुभागबंध

अनुभागबघ की प्ररूपणा के चौदह अनुयोगद्वार है, यथा— (१) अविभागप्ररूपणा, (२) वर्गणाप्ररूपणा, (३) स्पर्घकप्ररूपणा, (४) अन्तरप्ररूपणा, (५)स्थानप्ररूपणा, (६) कडकप्ररूपणा, (७) षट्स्थानप्ररूपणा, (८) अधस्तनस्थानप्ररूपणा, (९) वृद्धिप्ररूपणा, (१०) समयप्ररूपणा, (११) यवमध्यप्ररूपणा, (१२) ओजोयुग्मप्ररूपणा, (१३) पर्यवसानप्ररूपणा, (१४) अल्पबहुत्व-प्ररूपणा । इनमें से पहले अविभागप्ररूपणा का कथन करते है।

१. अविभागप्ररूपणा

गहण म्मि जीवो, उप्पाएई गुणं सपच्चयओ ।
सव्वजियाणतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ।।२९।।

---

१ विवक्षित प्रकृति मे अन्य प्रकृति के दलिको के सक्रमण के समय ।

२ मूल और उत्तर प्रकृतियो मे प्रदेशाग्र अल्पबहुत्व दर्शक सारिणी परिशिष्ट में देखिये ।

स्थिति के अनुसार भाग की प्राप्ति मूल प्रकृतियो मे सम्भव है और उत्तर प्रकृतियो मे हीनाधिक भाग की प्राप्ति मे क्वचित् स्नेह, क्वचित् उत्कृष्टपदरूपता, क्वचित् जघन्यपद की वक्तव्यता जिन प्रकृतियो मे भिन्न-भिन्न दिखती है, वहाँ उत्कृष्टपद और जघन्यपद रूप सयोगो की प्राप्ति और जहा सभव वक्तव्यता है, वहा स्नेह की विषमता रूप हेतु सभव है। परन्तु मात्र रस या स्थिति की विषमता से उत्तर प्रकृतियो की भाग प्राप्ति की विषमता संभव नहीं है ।

शब्दार्थ—गहणसमयम्मि–ग्रहण के समय, जीवो–जीव, उप्पाएई–उत्पन्न करता है, गुण–रसाणुओ को, सपच्चयओ–स्वप्रत्यय से, सव्वजियाणंतगुणे–सब जीवो से अनन्तगुणे, कम्मपएसेसु–कर्मप्रदेशो मे, सव्वेसुं–सर्व ।

गाथार्थ—कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करते समय जीव अपने प्रत्यय से सर्व कर्मप्रदेशो मे सब जीवो से अनन्तगुणे रसाणुओ (रस सबधी अविभाग अशो) को उत्पन्न करता है ।

विशेषार्थ—अनुभागबध के कारण काषायिक अध्यवसाय हे,[1] क्योकि 'ठिइअणुभाग कसायाओ कुणइ' स्थिति और अनुभाग बध को जीव कषाय से करता है, ऐसा शास्त्रवचन है । वे काषायिक अध्यवसाय दो प्रकार के होते है–शुभ और अशुभ ।[2] इनमे से शुभ अध्यवसायो द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलो में दूध, खाड के रस के समान आनन्दजनक अनुभाग प्राप्त होता है और अशुभ अध्यवसायो द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलो मे नीम, घोषातिकी आदि के रस के समान दु खजनक कटुक रस उत्पन्न होता है ।

ये शुभ और अशुभ काषायिक अध्यवसाय प्रत्येक असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है, केवल शुभ अध्यवसाय विशेषाधिक जानना चाहिये । जो इस प्रकार है—क्रम से स्थापित जिन अनुभागबधाध्यवसायस्थानो को सक्लिश्यमान जीव क्रम से नीचे-नीचे प्राप्त करता है, उन्ही अध्यवसायो को विशुद्धयमान जीव क्रम से ऊपर-ऊपर चढता हुआ प्राप्त करता है। जैसे प्रासाद से नीचे उतरते हुए जितने सोपानस्थान (सीढिया) होते है, चढते हुए भी उतने ही सोपान होते है । उसी प्रकार यहाँ पर भी सक्लिश्यमान जीव के जितने अशुभ अध्यवसाय होते है, उतने ही विशुद्धयमान जीव के शुभ अध्यवसाय होते है ।[3] कहा भी है—

क्रमश· स्थितासु काषायिकीषु जीवस्य भावपरिणतिषु ।
अवपतनोत्पतनाद्धे सक्लेशाद्धा विशोध्यद्धे ।।

क्रम से स्थित काषायिकी भावपरिणतियो मे जीव के पतनकाल मे सक्लेश-अद्धा होता है और उत्थानकाल मे विशुद्धि–अद्धा होता है ।

लेकिन क्षपक जीव जिन अध्यवसायो मे रहता हुआ क्षपकश्रेणी पर चढता है, उनसे पुन लौटता नही है । क्योकि क्षपकश्रेणि से प्रतिपात (पतन) नही होता है । इस अपेक्षा से शुभ अध्यवसाय विशेषाधिक होते है ।

इनमे से शुभ या अशुभ किसी एक अध्यवसाय से, स्वप्रत्यय से अर्थात् अपनी आत्मा सबधी अनुभागबध के प्रति जो कारणभूत है, ऐसे स्वप्रत्यय से जीव ग्रहण समय मे अर्थात् योग्य

---

१ अकाषायिक अध्यवसाय रस के कारण नही होने से यहा उनकी अविवक्षा है।

२ अशुभ अध्यवसाय तो प्रगट रूप से कषायजन्य हैं और शुभ अध्यवसायो मे कषाय की हीनता है, तो भी कषायानुगत होने से काषायिक हैं। यहाँ कषाय शब्द से कषाय का उदय जानना चाहिये, परन्तु सत्ता नही।

३ अशुभ से शुभ अध्यवसाय कोई पृथक्-पृथक् नही हैं। सक्लेशवर्ती जीव की अपेक्षा जो अध्यवसाय अशुभ हैं, वही अध्यवसाय विशुद्धयमान जीव की अपेक्षा शुभ हैं। जैसे—मिथ्यात्वी को जो मति-अज्ञान है, वही सम्यक्त्व प्राप्त करने
तिज्ञान रूप हो जाता है।

पुद्गलो के आदानकाल में सर्व कर्मप्रदेशो में अर्थात् एक-एक कर्मपरमाणु पर गुणो अर्थात् रस के निर्विभाग पूर्वोक्त स्वरूप वाले अविभागी अशो को सर्व जीवो से अनन्तगुणे उत्पन्न करता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किये जाने से पहले कर्मवर्गणा-अन्तर्वर्ती परमाणु उस प्रकार के विशिष्ट रस से युक्त नही होते है, किन्तु प्राय[1] नीरस और एकस्वरूप वाले होते है, लेकिन जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते है, तब उस ग्रहणकाल मे ही उन कर्मपरमाणुओ मे काषायिक अध्यवसाय के द्वारा सर्व जीवो से भी अनन्तगुणे रसाविभाग[2] उत्पन्न हो जाते है और उसी समय उनका अमुक भाग ज्ञानावरण, अमुक भाग दर्शनावरण आदि रूप विचित्र स्वभावरूपता को प्राप्त हो जाता है। क्योकि जीवो की और पुद्गलो की शक्ति अचिन्त्य है और यह बात असगत भी नही है, क्योकि वैसा देखा जाता है। जैसे कि शुष्क तृण आदि के परमाणु अत्यन्त नीरस होते हुए भी गाय आदि के द्वारा ग्रहण किये जाने पर विशिष्ट दूध आदि रस रूप और सप्त धातु रूप से परिणत हो जाते हैं।

शका—जीव क्या सभी कर्मपरमाणुओ मे उन रस के अविभागो को समान रूप से उत्पन्न करता है या विषम रूप से ?

समाधान—विषम रूप से उत्पन्न करता है। अर्थात् कितने ही परमाणुओ मे अल्प रसाविभागो को उत्पन्न करता है, कितनो मे ही उनसे अधिक रसाविभागो को और कितनो मे और भी अधिक रसाविभागो को उत्पन्न करता है। जिन परमाणुओ मे सबसे कम रसाविभागो को उत्पन्न करता है, वे भी सर्वजीवो से अनन्तगुणे होते है।[3] लेकिन उससे यह ज्ञात नही होता है कि किन परमाणुओ मे कितने रसाविभागो को उत्पन्न करता है ? अत इसका स्पष्ट आशय प्रगट करने के लिये वर्गणा आदि प्ररूपणाओ का कथन करते हैं। वर्गणाप्ररूपणा इस प्रकार है—

वर्गणाप्ररूपणा

सव्वप्पगुणा ते पढम वग्गणा सेसिया विसेसूणा।
अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभागसमा ॥३०॥

शब्दार्थ—सव्वप्पगुणा—सबसे अल्प रसाणु वाले, ते—उनकी (कर्म परमाणुओ की), पढम—प्रथम, वग्गणा-वर्गणा, सेसिया—शेष, विसेसूणा—विशेषहीन-विशेषहीन, अविभागुत्तरियाओ—एक-एक रसाणु से बढती हुई, सिद्धाण—सिद्धो के, अणतभागसमा—अनन्तवे भाग जितनी।

---

१ उत्तर समय में जो रस उत्पन्न होने वाला है, पूर्व समय मे उस रस की योग्यता का अस्तित्व बतलाने के लिये यहा 'प्राय' शब्द का प्रयोग किया गया है।

२ रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अन्तर का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

३ उक्त कथन का आशय यह है कि कर्मपरमाणु मे कषायजनित रस के (विपाकशक्ति के) निर्विभाज्य अश को रसाविभाग कहते हैं और एक-एक कर्मपरमाणु मे चाहे वह सर्व जघन्य रसयुक्त हो अथवा सर्वोत्कृष्ट रसयुक्त हो, समस्त जीव राशि से अनन्त गुण रसाविभाग वाले होते है। अविभागप्ररूपणा द्वारा यही बात स्पष्ट की है।

गाथार्थ---सबसे अल्प रसाणु वाले कर्म परमाणुओ की प्रथम वर्गणा होती है। उससे शेष वर्गणाये एक-एक रसाणु से बढती हुई सिद्धो के अनन्तवे भाग जितनी विशेषहीन-विशेषहीन परमाणु वाली जानना चाहिये ।

विशेषार्थ---जो परमाणु अन्य समस्त परमाणुओ की अपेक्षा सबसे कम रसाविभाग (रसाणु) युक्त होते है, उन सर्वाल्प गुण वाले परमाणुओ का समुदाय रूप प्रथम वर्गणा कहलाती है। इस प्रथम वर्गणा मे कर्मपरमाणु सब से अधिक होते है। किन्तु इसके बाद की शेष वर्गणाये कर्मपरमाणुओ की अपेक्षा विशेषहीन, विशेषहीन होती है। जिसको इस प्रकार समझना चाहिये---प्रथम वर्गणा मे जितने कर्मपरमाणु होते है, उसकी अपेक्षा द्वितीय वर्गणा मे कर्मपरमाणु विशेषहीन होते है, उससे भी तृतीय वर्गणा मे विशेषहीन होते है।[1] इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होने तक जानना चाहिये ।

ये वर्गणाये किस प्रकार की होती है ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये गाथा में--'अविभागुत्तरियाओ' यह पद दिया गया है कि वर्गणाये एक-एक रसाविभाग से अधिक होती है। जैसे---प्रथम वर्गणा के परमाणुओ की अपेक्षा एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओ का जो समुदाय है, वह दूसरी वर्गणा कहलाती है, उनसे भी एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओ का समुदाय तीसरी वर्गणा कहलाती है। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होती है। इस प्रकार वर्गणाप्ररूपणा जानना चाहिये।[2] अब क्रमप्राप्त स्पर्धक आदि प्ररूपणाओ का कथन करते है।

स्पर्धक, अन्तर और स्थान प्ररूपणा

फड्डगमणंतगुणियं, सव्वजिएहि पि अंतरं एवं ।
सेसाणि वग्गणाणं, समाणि ठाणं पढमित्तो ।।३१।।

शब्दार्थ---फड्डग--स्पर्धक, अणतगुणिय--अनन्तगुणी, सव्वजिएहि पि--सर्व जीवो से, अतर--अन्तर, एव--इस प्रकार, सेसाणि--शेष, वग्गणाण--वर्गणाओ का, समाणि--समान, ठाणं--स्थान, पढम--प्रथम, इत्तो--इससे (प्रथम स्पर्धक से) ।

गाथार्थ---(अभव्यो से) अनन्तगुणी वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। प्रथम स्पर्धक के पश्चात सर्व जीवो से अनन्तगुणी वर्गणाओ का अन्तर पडता है। इस प्रकार से वर्गणाओ के समान शेष स्पर्धक और अन्तर होते है, तब प्रथम (अनुभागबध) स्थान होता है।

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणा मे कर्मपरमाणु हीन-हीनतर होते जाते हैं, लेकिन परमाणुओ की हीनता से रसाविभागो की भी हीनता होती जाये, ऐसा नही समझना चाहिये। रसाविभागो की तो उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

२ वर्गणाप्ररूपणा के कथन का साराश यह है कि समान रसाविभाग युक्त कर्मपरमाणु का समुदाय वर्गणा है, सर्वजघन्य रसाविभाग युक्त कर्मप्रदेशो का समुदाय यह प्रथम वर्गणा है, उसमे कर्मपरमाणु सर्वाधिक किन्तु रसाणु अल्प होते है। उससे एक रसाणु अधिक कर्मप्रदेशो का समुदाय द्वितीय वर्गणा, उसमे पूर्व वर्गणा की अपेक्षा कर्मपरमाणु हीन। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढती-बढती और परमाणुओ से घटती-घटती वर्गणायें जानना चाहिये।

पुद्गलो के आदानकाल में सर्व कर्मप्रदेशो में अर्थात् एक-एक कर्मपरमाणु पर गुणो अर्थात् रस के निर्विभाग पूर्वोक्त स्वरूप वाले अविभागी अशो को सर्व जीवो से अनन्तगुणे उत्पन्न करता है।

उक्त कथन का आशय यह है कि जीव द्वारा ग्रहण किये जाने से पहले कर्मवर्गणा-अन्तर्वर्ती परमाणु उस प्रकार के विशिष्ट रस से युक्त नही होते है, किन्तु प्राय[1] नीरस और एकस्वरूप वाले होते है, लेकिन जव वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते है, तव उस ग्रहणकाल मे ही उन कर्मपरमाणुओ मे काषायिक अध्यवसाय के द्वारा सर्व जीवो से भी अनन्तगुणे रसाविभाग[2] उत्पन्न हो जाते है और उसी समय उनका अमुक भाग ज्ञानावरण, अमुक भाग दर्शनावरण आदि रूप विचित्र स्वभावरूपता को प्राप्त हो जाता है। क्योकि जीवो की और पुदगलो की शक्ति अचिन्त्य है और यह वात असगत भी नही है, क्योकि वैसा देखा जाता है। जैसे कि शुष्क तृण आदि के परमाणु अत्यन्त नीरस होते हुए भी गाय आदि के द्वारा ग्रहण किये जाने पर विशिष्ट दूध आदि रस रूप और सप्त धातु रूप से परिणत हो जाते है।

शका—जीव क्या सभी कर्मपरमाणुओ मे उन रस के अविभागो को समान रूप से उत्पन्न करता है या विषम रूप से ?

समाधान—विषम रूप से उत्पन्न करता है। अर्थात् कितने ही परमाणुओ मे अल्प रसाविभागो को उत्पन्न करता है, कितनो मे ही उनसे अधिक रसाविभागो को और कितनो मे और भी अधिक रसाविभागो को उत्पन्न करता है। जिन परमाणुओ मे सवसे कम रसाविभागो को उत्पन्न करता है, वे भी सर्वजीवो से अनन्तगुणे होते है।[3] लेकिन उससे यह ज्ञात नही होता है कि किन परमाणुओ मे कितने रसाविभागो को उत्पन्न करता है ? अत इसका स्पष्ट आशय प्रगट करने के लिये वर्गणा आदि प्ररूपणाओ का कथन करते है। वर्गणाप्ररूपणा इस प्रकार है—

वर्गणाप्ररूपणा

सव्वप्पगुणा ते पढम वग्गणा सेसिया विसेसूणा।
अविभागुत्तरियाओ सिद्धाणमणंतभागसमा ॥३०॥

शब्दार्थ—सव्वप्पगुणा—सवसे अल्प रसाणु वाले, ते—उनकी (कर्म परमाणुओ की), पढम—प्रथम, वग्गणा—वर्गणा, सेसिया—शेष, विसेसूणा—विशेषहीन-विशेषहीन, अविभागुत्तरियाओ—एक-एक रसाणु से वढती हुई, सिद्धाण—सिद्धो के, अणतभागसमा—अनन्तवे भाग जितनी।

---

१ उत्तर समय में जो रस उत्पन्न होने वाला है, पूर्व समय में उस रस की योग्यता का अस्तित्व वतलाने के लिये यहा 'प्राय' शब्द का प्रयोग किया गया है।

२ रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अन्तर का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

३ उक्त कथन का आशय यह है कि कर्मपरमाणु मे कषायजनित रस के (विपाकशक्ति के) निर्विभाज्य अश को रसाविभाग कहते है और एक-एक कर्मपरमाणु मे चाहे वह सर्व जघन्य रसयुक्त हो अथवा सर्वोत्कृष्ट रसयुक्त हो, समस्त जीव राशि मे अनन्त गुण रसाविभाग वाले होते है। अविभागप्ररूपणा द्वारा यही वात स्पष्ट की है।

गाथार्थ—सबसे अल्प रसाणु वाले कर्म परमाणुओ की प्रथम वर्गणा होती है। उससे शेष वर्गणाये एक-एक रसाणु से बढती हुई सिद्धो के अनन्तवे भाग जितनी विशेषहीन-विशेषहीन परमाणु वाली जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—जो परमाणु अन्य समस्त परमाणुओ की अपेक्षा सबसे कम रसाविभाग (रसाणु) युक्त होते है, उन सर्वाल्प गुण वाले परमाणुओ का समुदाय रूप प्रथम वर्गणा कहलाती है। इस प्रथम वर्गणा मे कर्मपरमाणु सब से अधिक होते है। किन्तु इसके बाद की शेष वर्गणाये कर्मपरमाणुओ की अपेक्षा विशेषहीन, विशेषहीन होती है। जिसको इस प्रकार समझना चाहिये—प्रथम वर्गणा मे जितने कर्मपरमाणु होते है, उसकी अपेक्षा द्वितीय वर्गणा मे कर्मपरमाणु विशेषहीन होते है, उससे भी तृतीय वर्गणा मे विशेषहीन होते है।[1] इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होने तक जानना चाहिये ।

ये वर्गणाये किस प्रकार की होती है ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये गाथा मे-'अविभागुत्तरियाओ' यह पद दिया गया है कि वर्गणाये एक-एक रसाविभाग से अधिक होती है। जैसे—प्रथम वर्गणा के परमाणुओ की अपेक्षा एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओ का जो समुदाय है, वह दूसरी वर्गणा कहलाती है, उनसे भी एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओ का समुदाय तीसरी वर्गणा कहलाती है। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होती है। इस प्रकार वर्गणाप्ररूपणा जानना चाहिये।[2] अब क्रमप्राप्त स्पर्धक आदि प्ररूपणाओ का कथन करते है।

स्पर्धक, अन्तर और स्थान प्ररूपणा

फड्डगमणतगुणियं, सव्वजिएहि पि अंतरं एव ।
सेसाणि वग्गणाणं, समाणि ठाणं पढममित्तो ॥३१॥

शब्दार्थ—फड्डग-स्पर्धक, अणतगुणिय-अनन्तगुणी, सव्वजिएहि पि-सर्व जीवो से, अतर-अन्तर, एव-इस प्रकार, सेसाणि-शेष, वग्गणाण-वर्गणाओ का, समाणि-समान, ठाणं-स्थान, पढम-प्रथम, इत्तो-इससे (प्रथम स्पर्धक से) ।

गाथार्थ—(अभव्यो से) अनन्तगुणी वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। प्रथम स्पर्धक के पश्चात सर्व जीवो से अनन्तगुणी वर्गणाओ का अन्तर पडता है। इस प्रकार से वर्गणाओ के समान शेष स्पर्धक और अन्तर होते है, तब प्रथम (अनुभागबध) स्थान होता है।

१ उक्त कथन का आशय यह है कि पूर्व वर्गणा की अपेक्षा उत्तर वर्गणा मे कर्मपरमाणु हीन-हीनतर होते जाते हैं, लेकिन परमाणुओ की हीनता से रसाविभागो की भी हीनता होती जाये, ऐसा नही समझना चाहिये। रसाविभागो की तो उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

२ वर्गणाप्ररूपणा के कथन का साराश यह है कि समान रसाविभाग युक्त कर्मपरमाणु का समुदाय वर्गणा है, सर्वजघन्य रसाविभाग युक्त कर्मप्रदेशो का समुदाय यह प्रथम वर्गणा है, उसमे कर्मपरमाणु सर्वाधिक किन्तु रसाणु अल्प होते है। उससे एक रसाणु अधिक कर्मप्रदेशो का समुदाय द्वितीय वर्गणा, उसमे पूर्व वर्गणा की अपेक्षा कर्मपरमाणु हीन। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढती-बढती और परमाणुओ से घटती-घटती वर्गणायें जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग सदृश अनन्त वर्गणाओ के समुदाय का एक स्पर्धक होता है। यह स्पर्धकप्ररूपणा है।

अब अन्तर और स्थान प्ररूपणा का कथन करते है—

इस प्रथम स्पर्धक के ऊपर (आगे)[1] एक रसाविभाग से अधिक परमाणु प्राप्त नही होते है, न दो से, न तीन से, न सख्यात से, न असख्यात से और न अनन्त रसाविभागो से अधिक ही परमाणु प्राप्त होते है। किन्तु अनन्तानन्त अर्थात् सर्व जीवो से अनन्तगुणित रसाविभागो से अधिक परमाणु प्राप्त होते है। उनका समुदाय द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा होती है। तदनन्तर एक रसाविभाग से अधिक परमाणुओ के समुदाय रूप दूसरी वर्गणा होती है, पुन दो रसाविभागो से अधिक परमाणुओ का समुदाय तीसरी वर्गणा। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से वर्गणाये तब तक कहनी चाहिये, जब तक कि वे अभव्यो से अनन्त गुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण होती है। इन वर्गणाओ का समुदाय द्वितीय स्पर्धक कहलाता है। पुन उससे भी आगे एक रसाविभाग से अधिक परमाणु प्राप्त नही होते है, न दो से, न तीन से, न सख्यात से, न असख्यात से और न अनन्त रसाविभागो से युक्त परमाणु प्राप्त होते है। किन्तु अनन्तानन्त से अर्थात् सर्व जीवो से अनन्त गुणे रसाविभागो से युक्त परमाणु प्राप्त होते है। उनका समुदाय तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है। इससे आगे फिर यथाक्रम से एक-एक रसाविभाग की वृद्धि से द्वितीय आदि वर्गणाये तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उनका प्रमाण अभव्यो से अनन्त गुणा और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण प्राप्त होता है। सबका समुदाय तीसरा स्पर्धक कहलाता है। साराश यह कि अभव्यो से अनन्तगुणी और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार के स्पर्धक तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अभव्यो से अनतगुणे और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण होते है।

इतने स्पर्धको का समुदाय एक अनुभागबधस्थान[2] कहलाता है। जैसा कि गाथा मे कहा है—'अणतगुणिय सव्वजिएहि पि।' अर्थात् सर्व जीवो से अनन्तगुणित स्पर्धको का समुदाय रूप एक अनुभागबधस्थान होता है, इत्यादि। प्रथम स्पर्धक की अतिम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का अतर भी सर्व जीवो से अनन्त गुणित[3] जानना चाहिये। यह अन्तरप्ररूपणा है।[4] इसी प्रकार शेष स्पर्धक-अन्तर पूर्वोक्त प्रमाण जानना चाहिये।

उन स्पर्धको को एक-एक स्पर्धक मे विद्यमान वर्गणाओ के समान अर्थात् अभव्यो से अनन्त गुणित और सिद्धो के अनन्तवे भाग सदृश समझना चाहिये। यह एक, प्रथम सर्वजघन्य अनुभाग-बधस्थान है और (मुख्य) काषायिक अध्यवसाय के द्वारा ग्रहण किये गये कर्मपरमाणुओ के रस-

१ प्रथम स्पर्धकगत अतिम वर्गणा के रसाविभागो से ऊपर।

२ एक समय मे जीव द्वारा ग्रहण किये कर्मस्कन्ध के रस के समुदाय को अनुभागबधस्थान कहते है।

३ यहा अनन्तगुणितपना इस प्रकार से जानना चाहिये—पूर्व स्पर्धक की अतिम वर्गणा मे जितने रसाविभाग है, उनसे पर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे सर्व जीवो से अनन्तगुण अधिक रसाविभाग हैं।

४ वस्तुत यहा अन्तरप्ररूपणा समाप्त नही होती है और आगे भी सर्व स्पर्धको मे प्राप्त होती है। किन्तु अन्तर जानने की विधि समाप्त होने की अपेक्षा यह अन्तरप्ररूपणा है, कहा जाता है।

स्पर्धको के समुदाय रूप परिमाण को अनुभागबघस्थान कहते है—अनुभागबंधस्थान नामैकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपरमाणूना रसस्पर्धकसमुदायपरिमाण ।[1]

इस प्रकार स्थानप्ररूपणा जानना चाहिये । अब आगे की गाथाओ मे कडक आदि की प्ररूपणा करते है ।

कंडक और षट्स्थान प्ररूपणा

एत्तो अंतरतुल्लं अंतरमणंतभागुत्तरं बिइयमेव ।
अंगुलअसखभागो अणंतभागुत्तरं कंडं ॥३२॥

शब्दार्थ—**एत्तो**-इससे (प्रथम स्थान के बाद), **अंतरतुल्लं**—(स्पर्धक) अन्तर समान है, **अतर**-अन्तर, **अणतभागुत्तर**-अनन्त भाग से अधिक, **बिइय**-दूसरा स्थान, **एव**-इस प्रकार, **अगुलअसखभागो**-अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण, **अणतभागुत्तर**-अनन्तवे भाग से वढता हुआ, **कंडं**-कडक ।

गाथार्थ—इस प्रथम स्थान से दूसरे स्थान के अन्तराल मे अन्तर, स्पर्धक-जितना होता है तथा दूसरा अनुभागबघस्थान प्रथम अनुभागबघस्थान की अपेक्षा अनन्तवे भाग से अधिक होता है । इस प्रकार अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागस्थानो का प्रथम कडक होता है ।

विशेषार्थ—इस प्रथम स्थान से प्रारभ करके द्वितीय स्थान से पहले जो अन्तर होता है, वह अन्तर तुल्य अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाण वाले अतर के समान जानना चाहिये । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम स्पर्धक की अतिम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की आदि वर्गणा का अतर सर्व जीवो से अनन्तगुणा कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रथम स्थान के अतिम स्पर्धक की अतिम वर्गणा से द्वितीय स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का अतर भी सर्व जीवो से अनतगुणा जानना चाहिये । यह द्वितीय अनुभागबघस्थान स्पर्धको की अपेक्षा अनन्तभागोत्तर अर्थात् अनन्तवे भाग से अधिक होता है । अर्थात् प्रथम अनुभागबघस्थान में जितने स्पर्धक होते है उनसे अनन्तवे भाग अधिक स्पर्धक द्वितीय अनुभागबघस्थान मे जानना चाहिये । इस प्रकार पूर्व मे दिखाये गये प्रकार से अनन्तवें भाग से अधिक वृद्धि वाले स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे अगुल के असख्यातवे भाग गत आकाश प्रदेशो की राशि प्रमाण होते हैं । इन सबका समुदाय एक कडक कहलाता है। 'अणतभागुत्तर' अर्थात् अनन्तभागोत्तर अनुभागबघ-स्थानो का समुदाय रूप होने से कडक को भी अनन्तभागोत्तर कहा जाता है ।

इस प्रकार कडकप्ररूपणा समझना चाहिये। अब षट्स्थानप्ररूपणा करते है—

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि किसी भी जीव को एक समय मे एक वर्गणा या एक स्पर्धक रूप रस की प्राप्ति नही होती है, किन्तु अनेक वर्गणा और स्पर्धक रूप एक स्थान जितने रस की प्राप्ति होती है। उन जीवप्रदेशो से सवद्ध होने वाले सभी कर्मस्कन्ध समरसाविभाग युक्त नही होते हैं। उनमे हीनाधिकपना पाया जाता है। ऐसे इन सब रसाविभाग के समुदाय को एक अनुभागबघस्थान जानना चाहिये।

उस प्रथम कडक से आगे जो अन्य अनुभागबघस्थान प्राप्त होता है, वह पूर्व स्थान के स्पर्धको की अपेक्षा असख्यातवे भाग से अधिक होता है, उससे आगे कडक प्रमाण स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तवे भाग वृद्धि वाले होते है, उससे आगे फिर एक अन्य अनुभागबघस्थान असख्यातवे भाग से अधिक होता है। तदनन्तर फिर कडक मात्र स्थान यथोत्तर अनन्तभाग वृद्धि वाले होते हे। तत्पश्चात् फिर एक अन्य अनुभागबघस्थान असख्यातभाग से अधिक होता है। तत्पश्चात् फिर कडक मात्र स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि वाले होते है। तदनन्तर फिर असख्यातवे भाग से अधिक एक अन्य स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्तभागाधिक कडक प्रमाण स्थानो से व्यवधान को प्राप्त असख्यभागवृद्धि वाले स्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे भी कडक प्रमाण हो जाते है और आगम की परिभाषा के अनुसार अगुल मात्र क्षेत्र के असख्यातवे भाग गत प्रदेशो की राशि की सख्या के प्रमाण को कडक कहते है—**कडक च (समय-परिभाषया) अगुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिसख्याप्रमाणमभिधीयते।**

उस पूर्वोक्त असख्यात भागाधिक अन्तिम अनुभागबघस्थान से आगे यथाक्रम से अनन्तभाग-वृद्धि वाले कडक प्रमाण अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। तव (उसके आगे) सख्यातभाग अधिक एक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर मूल से प्रारभ करके जितने अनुभाग-बघस्थान पहले अतिक्रात हो चुके है, उतने ही फिर से उसी प्रकार से कहकर एक सख्यातभाग अधिक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये सख्यातभाग वृद्धि वाले अनुभागबघस्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे कडक प्रमाण होते है। तत्पश्चात् उक्त क्रम से फिर सख्यात-भाग अधिक स्थान के वदले सख्यात गुणाधिक एक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। इसके वाद फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबघस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने उसी प्रकार से कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर सख्यातगुणाधिक एक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। इसके वाद फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबघस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने ही अनुभागबघस्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। तव पुन एक सख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार से सख्यातगुणाधिक स्थान तब तक कहना चाहिये, जव तक कि वे कडक प्रमाण होते है।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पुन सख्यातगुणाधिक स्थान के वदले असख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागवघस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने ही उसी प्रकार फिर से कहना चाहिये। तदनन्तर फिर एक असख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरभ करके उतने ही अनुभागवघस्थान कहना चाहिये। तव पुन एक असख्यातगुणाधिक अनुभागवघस्थान कहना चाहिये, इस प्रकार ये असख्यातगुणाधिक अनुभागवघस्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे कडक प्रमाण होते है।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से फिर असख्यातगुणाधिक स्थान के वदले अनन्तगुणाधिक अनुभाग-वघस्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागवघस्थान पहले कहे गये है, उतने ही उसी प्रकार से फिर कहना चाहिये। तव पुन अनन्तगुणाधिक अनुभाग-वघस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरभ करके उतने ही स्थान उसी प्रकार

कहना चाहिये । तत्पश्चात् फिर एक अनतगुणाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये । इस प्रकार अनतगुणाधिक अनुभागबधस्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कडक प्रमाण होते हैं ।[1]

अब इसी सूत्र का अनुसरण करके आगे कहते हैं—

एगं असंखभागे - णणंतभागुत्तरं पुणो कंडं ।
एवं असंखभागु - त्तराणि जा पुव्वतुल्लाणि ॥३३॥

एगं संखेज्जुत्तरमेत्तो तीयाण तित्थिया बीयं ।
ताण वि पढमसमाइ, संखेज्जगुणोत्तरं एक्कं ॥३४॥

एत्तो तीयाणि अइत्थियाणि बिइयमवि ताणि पढमस्स ।
तुल्लाणसंखगुणियं, एक्कं तीयाण एक्कस्स ॥३५॥

बिइयं ताणि समाइं पढमस्साणतगुणियमेग तो ।
तीयाण इत्थियाणं ताण वि पढमस्स तुल्लाइ ॥३६॥

शब्दार्थ—**एगं**—एक (प्रथम कडक से आगे), **असखभागेण**— असख्येयभागाधिक स्थान, **अणत-भागुत्तर**—अनतभागाधिक स्थान का, **पुणो**—पुन, फिर, **कडं**—कडक, **एव**—इसी प्रकार, **असंखभा-गुत्तराणि**—असख्यभागाधिक स्थान, **जा**—यावत्, तक, **पुव्वतुल्लाणि**—पूर्व के तुल्य (कडक प्रमाण) ।

एग—एक, **सखेज्जुत्तर**—सख्यातभाग वृद्धि का स्थान, **एत्तो**—तत्पश्चात्, **तीयाण**—अतिक्रमण करने के, **तित्थिया**— उतने का अतिक्रमण कर चुके तब, **बीय**—दूसरा, **ताण वि**— वे भी (सख्यात-भाग वृद्धि के स्थान भी), **पढमसमाइं**—पहले के समान, **संखेज्जगुणोत्तर**—संख्येयगुणाधिक, **एक्क**— एक ।

एत्तो—उससे आगे, **तीयाणि**—पहले से अतिक्रमण कर चुके उतने, **अइत्थियाणि**—अतिक्रमण करके, **बिइयमवि**—दूसरा भी स्थान (सख्येयगुणाधिक का दूसरा स्थान), **ताणि**—वह, **पढमस्स**—प्रथम, **तुल्लाण**—तुल्य, **असखगुणियं**—असख्यात गुणाधिक, **एक्क**—एक, **तीयाण**—पूर्व स्थानो का अति-क्रमण करके, **एक्कस्स**—एक ।

बिइयं—दूसरा, **ताणि**—वे, **समाइ**—समान, **पढमस्स**—प्रथम के, **अणतगुणियं**—अनन्त गुणाधिक, **एगं**—एक, **तो**—उससे आगे, **तीयाण**—पूर्वातीत स्थानो के बराबर, **इत्थियाणं**—उल्लघन करके, **ताण वि**—वे भी, **पढमस्स**—पहले के, **तुल्लाइ**—तुल्य समान ।

गाथार्थ—प्रथम कडक से आगे असख्यभागाधिक एक अनुभागबधस्थान आता है । उससे आगे पुन अनन्तभागाधिक स्थान का कडक आता है । इस प्रकार असख्यभागाधिक स्थान पूर्व तुल्य अर्थात् कडक प्रमाण हो, वहाँ तक कहना चाहिये ।

१ एक षट्स्थान मे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं और ऐसे षट्स्थान भी असख्यात हैं ।

उस प्रथम कडक से आगे जो अन्य अनुभागबधस्थान प्राप्त होता है, वह पूर्व स्थान के स्पर्धको की अपेक्षा असख्यातवे भाग से अधिक होता है, उससे आगे कडक प्रमाण स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तवे भाग वृद्धि वाले होते है, उससे आगे फिर एक अन्य अनुभागवधस्थान असख्यातवे भाग से अधिक होता है। तदनन्तर फिर कडक मात्र स्थान यथोत्तर अनन्तभाग वृद्धि वाले होते है। तत्पश्चात् फिर एक अन्य अनुभागबधस्थान असख्यातभाग से अधिक होता है। तत्पश्चात् फिर कडक मात्र स्थान यथोत्तर क्रम से अनन्तभाग वृद्धि वाले होते है। तदनन्तर फिर असख्यातवे भाग से अधिक एक अन्य स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्तभागाधिक कडक प्रमाण स्थानो से व्यवधान को प्राप्त असख्यभागवृद्धि वाले स्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे भी कडक प्रमाण हो जाते है और आगम की परिभाषा के अनुसार अगुल मात्र क्षेत्र के असख्यातवे भाग गत प्रदेशो की राशि की सख्या के प्रमाण को कडक कहते है—कडक च (समयपरिभाषया) अगुलमात्रक्षेत्रासख्येयभागगतप्रदेशराशिसख्याप्रमाणमभिधीयते।

उस पूर्वोक्त असख्यात भागाधिक अन्तिम अनुभागबधस्थान से आगे यथाक्रम से अनन्तभागवृद्धि वाले कडक प्रमाण अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। तव (उसके आगे) सख्यातभाग अधिक एक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर मूल से प्रारभ करके जितने अनुभागबधस्थान पहले अतिक्रात हो चुके है, उतने ही फिर से उसी प्रकार से कहकर एक सख्यातभाग अधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये सख्यातभाग वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे कडक प्रमाण होते है। तत्पश्चात् उक्त क्रम से फिर सख्यातभाग अधिक स्थान के वदले सख्यात गुणाधिक एक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। इसके वाद फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने उसी प्रकार से कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर सख्यातगुणाधिक एक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। इसके वाद फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने ही अनुभागबधस्थान उसी प्रकार कहना चाहिये। तब पुन एक सख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार से सख्यातगुणाधिक स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कडक प्रमाण होते है।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पुन सख्यातगुणाधिक स्थान के वदले असख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबधस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने ही उसी प्रकार फिर से कहना चाहिये। तदनन्तर फिर एक असख्यातगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरभ करके उतने ही अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। तव पुन एक असख्यातगुणाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये, इस प्रकार ये असख्यातगुणाधिक अनुभागबधस्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे कडक प्रमाण होते है।

तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से फिर असख्यातगुणाधिक स्थान के वदले अनन्तगुणाधिक अनुभागबंधस्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबधस्थान पहले कहे गये है, उतने ही उसी प्रकार से फिर कहना चाहिये। तव पुन अनन्तगुणाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर फिर मूल से आरभ करके उतने ही स्थान उसी प्रकार

कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर एक अनतगुणाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार अनतगुणाधिक अनुभागबधस्थान तव तक कहना चाहिये, जब तक कि वे कडक प्रमाण होते हैं।[1]

अब इसी सूत्र का अनुसरण करके आगे कहते हैं—

एगं असंखभागे - णणंतभागुत्तरं पुणो कंडं।
एव असंखभागु - त्तराणि जा पुव्वतुल्लाणि ॥३३॥

एगं संखेज्जुत्तरमेत्तो तीयाण तित्थिया बीयं।
ताण वि पढमसमाइ, संखेज्जगुणोत्तरं एक्कं ॥३४॥

एत्तो तीयाणि अइत्थियाणि बिइयमवि ताणि पढमस्स।
तुल्लाणसंखगुणियं, एक्कं तीयाण एक्कस्स ॥३५॥

बिइयं ताणि समाइं पढमस्साणंतगुणियमेग तो।
तीयाण इत्थियाणं ताण वि पढमस्स तुल्लाइं ॥३६॥

शब्दार्थ—**एगं**—एक (प्रथम कडक से आगे), **असखभागेण**— असख्येयभागाधिक स्थान, **अणंतभागुत्तर**—अनतभागाधिक स्थान का, **पुणो**—पुन, फिर, **कडं**—कडक, **एव**—इसी प्रकार, **असंखभागुत्तराणि**—असख्यभागाधिक स्थान, **जा**—यावत्, तक, **पुव्वतुल्लाणि**—पूर्व के तुल्य (कडक प्रमाण)।

एग—एक, **सखेज्जुत्तर**—सख्यातभाग वृद्धि का स्थान, **एत्तो**—तत्पश्चात्, **तीयाण**—अतिक्रमण करने के, **तित्थिया**— उतने का अतिक्रमण कर चुके तव, **बीय**—दूसरा, **ताण वि**— वे भी (सख्यातभाग वृद्धि के स्थान भी), **पढमसमाइ**—पहले के समान, **सखेज्जगुणोत्तर**—संख्येयगुणाधिक, **एक्क**— एक।

एत्तो—उससे आगे, **तीयाणि**—पहले से अतिक्रमण कर चुके उतने, **अइत्थियाणि**—अतिक्रमण करके, **बिइयमवि**—दूसरा भी स्थान (सख्येयगुणाधिक का दूसरा स्थान), **ताणि**—वह, **पढमस्स**—प्रथम, **तुल्लाण**—तुल्य, **असंखगुणियं**—असख्यात गुणाधिक, **एक्क**—एक, **तीयाण**—पूर्व स्थानो का अतिक्रमण करके, **एक्कस्स**—एक।

बिइयं—दूसरा, **ताणि**—वे, **समाइ**—समान, **पढमस्स**—प्रथम के, **अणतगुणिय**—अनन्त गुणाधिक, **एगं**—एक, **तो**—उससे आगे, **तीयाण**—पूर्वातीत स्थानो के बराबर, **इत्थियाण**—उल्लघन करके, **ताण वि**—वे भी, **पढमस्स**—पहले के, **तुल्लाइ**—तुल्य समान।

गाथार्थ—प्रथम कडक से आगे असख्यभागाधिक एक अनुभागबधस्थान आता है। उससे आगे पुन अनन्तभागाधिक स्थान का कडक आता है। इस प्रकार असख्यभागाधिक स्थान पूर्व तुल्य अर्थात् कडक प्रमाण हो, वहाँ तक कहना चाहिये।

[1] एक षट्स्थान मे असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान होते हैं और ऐसे षट्स्थान भी असख्यात हैं।

प्रथम सख्यातभागाधिक स्थान के आगे मूल से लेकर जितने अनुभागबघस्थान पूर्व मे अतिक्रमण कर चुके है, उतने ही अनुभागबघस्थान उसी प्रकार से अतिक्रमण कर दूसरा सख्यातभागाधिक वृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। यह सख्यातभागाधिक स्थान भी पहले वतलाये गये प्रकार से कडक प्रमाण होने तक कहना चाहिये। इसके आगे पूर्वोक्त क्रम से अनुभागबघस्थान की वृद्धि करने पर एक सख्यातगुणवृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये।

इससे (सख्यातगुणाधिक अनुभागबघस्थान से) आगे मूल से आरभ करके जितने अनुभागबघस्थान पहले उल्लघन कर चुके है, उतने ही अनुभागबघस्थानो का उल्लघन करके दूसरा सख्येयगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। पुन सख्यातगुणाधिक स्थान से आगे उतने ही प्रमाण स्थानो की वृद्धि के आगे एक असख्यातगुणाधिक वृद्धि वाला अनुभागबघस्थान कहना चाहिये, पुन उससे आगे पूर्वोक्त वृद्धि क्रम से एक असख्यात गुण से अधिक कहना चाहिये।

दूसरा असख्यातगुणाधिक स्थान प्रथम कडक के समान कहना चाहिये। उससे आगे एक अनन्तगुणाधिक स्थान कहना चाहिये, उससे आगे पूर्वातीत स्थानो का उल्लघन कर पुन अनन्तगुणाधिक स्थान कहना चाहिये। इनको भी प्रथम कडक के वरावर कहना चाहिये।

विशेषार्थ—उस प्रथम कडक से ऊपर एक अनुभागबघस्थान होता है, जिसे 'असखभागेण' असख्येय भाग से अधिक जानना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्व अनुभागबघस्थानगत स्पर्धक की अपेक्षा असंख्यातभागाधिक स्पर्धको से यह अनुभागबघस्थान अधिक होता है। तदनन्तर पुन 'अणतभागुत्तर कड'—यथाक्रम से अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबघस्थानो का कडक प्राप्त होता है। तत्पश्चात् पुन एक असख्यातभागाधिक अनुभागबघस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्तभाग वृद्धि वाले कडक के व्यवधान को प्राप्त असख्यातभागाधिक अनुभागबघस्थान तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे पूर्वतुल्य अर्थात् कडक प्रमाण होते है। तदनन्तर पुन अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबघस्थानो का कडक कह कर तत्पश्चात् एक संख्येय भागोत्तर अर्थात् सख्येयभागाधिक एक अनुभागबघस्थान जानना चाहिये।

तत्पश्चात् इस सख्यातभागाधिक स्थान से आगे मूल से लेकर जितने अनुभागबघस्थान पहले बीत चुके है, उनका उल्लघन करके आगे जाकर दूसरा सख्यातभाग से अधिक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये। उन सख्यातभाग से अधिक स्थानो को भी ऊपर दिखाये गये प्रकार से तव तक कहना चाहिये, जव तक कि वे प्रथम समान अर्थात् प्रथम कडक के वरावर प्रमाण होते है। इससे भी आगे अनुभागबघस्थानो की वृद्धि पूर्व परिपाटी के अनुसार कहना चाहिये, किन्तु सख्यातभागाधिक अनुभागबघस्थान के वदले सख्येयगुणोत्तर अर्थात् सख्यात गुणी वृद्धि से अधिक अनुभागबघस्थान कहना चाहिये।

इस सख्येयगुणोत्तर अनुभागबघस्थान से आगे मूल से प्रारभ करके जितने अनुभागबघस्थान पहले अतिक्रान्त हो चुके है, उतने ही अनुभागबघस्थानो का उल्लंघन करके दूसरा

सख्यातगुणाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। ये सख्यातगुण वृद्धि वाले अनुभागबध-स्थान भी तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे प्रथम अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभाग-बधस्थान कडक के तुल्य होते है। तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पुन सख्यातगुणाधिक स्थान के बदले असख्यातगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाला एक स्थान कहना चाहिये। इसके पश्चात् मूल से प्रारभ करके जितने स्थान व्यतीत हुए, उतने ही स्थानो का पुन अतिक्रमण करके दूसरा असख्येयगुणाधिक वृद्धि वाला अनुभागबधस्थान कहना चाहिये।

ये असख्येयगुणाधिक अनुभागबधस्थान प्रथम मूलभूत अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभाग-कडक के समान होते हैं। तदनन्तर पूर्व परिपाटी से अनुभाग वृद्धि करते हुए फिर असख्येय-गुणाधिक अनुभागवृद्धि वाले बधस्थान के स्थान पर अनन्त गुणित अर्थात् अनन्त गुणी अनुभाग-वृद्धि से अधिक एक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये। तदनन्तर मूल से आरभ करके जितने अनुभागबधस्थान व्यतीत हुए है, उतने ही स्थान उल्लघन करके दूसरा अनन्तगुणाधिक वृद्धि वाला स्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये अनन्तगुणाधिक वृद्धि वाले स्थान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे प्रथम अनन्तभाग वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान कडक के समान होते है।[1]

प्रश्न—तत्पश्चात् पूर्व परिपाटी से पाच वृद्धि के अनन्तर फिर अनन्तगुणाधिक अनुभाग-वृद्धि वाला स्थान उत्पन्न होता है या नही ?

उत्तर—षट्स्थानक की वृद्धि समाप्त हो चुकने से अनन्तगुणाधिक अनुभागवृद्धि वाला स्थान उत्पन्न नही होता है। यह प्रथम षट्स्थानक समाप्त हुआ।[2]

अब इस षट्स्थानक मे (१) अनन्तभाग वृद्धि, (२) असख्येयभाग वृद्धि, (३) सख्येय-भाग वृद्धि, (४) सख्येयगुण वृद्धि, (५) असख्येयगुण वृद्धि और (६) अनन्तगुण वृद्धि, किस प्रमाण वाले अनन्तवे भाग से या असख्यातवे भाग से या सख्यातवे भाग से अधिक होती है अथवा किस प्रमाण वाले अनन्त, असख्येय और सख्येय गुणाकार से वृद्धि होती है? इस जिज्ञासा का समाधान आगे की गाथा मे करते है।

सव्वजियाणमसंखेज्जलोग संखेज्जगस्स जेट्ठस्स।
भागो तिसु गुणणा तिसु छट्ठाणमसंखिया लोगा ॥३७॥

शब्दार्थ—सव्वजियाण—सर्व जीव प्रमाण से, असखेज्जलोग—असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से, सखेज्जगस्स—सख्यात से, जेट्ठस्स—उत्कृष्ट, भागो—भागाकार, तिसु—प्रथम तीन वृद्धि में, गुणणा—गुणाकार, तिसु—(अतिम) तीन वृद्धि मे, छट्ठाण—षट्स्थान, असखिया—असख्यात, लोगा—लोकाकाश प्रदेश।

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि अनन्तगुण वृद्धि रूप जो स्थान प्राप्त होता है, उसको अनन्तभाग वृद्धि की राशि प्रमाण जानना चाहिये।

२ उक्त कथन का यह आशय है कि पूर्वोक्त षट्स्थानक की परिपाटी में अनन्तभाग वृद्धि, असख्यातभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि और असख्यातगुण वृद्धि, ये पाच वृद्धिया तब तक कहना चाहिये, जब तक कडक से ऊपर अनन्तगुण वृद्धि कहने का स्थान आता है। किन्तु उस स्थान मे अनन्त-गुण वृद्धि नही कहना चाहिये।

गाथार्थ—सर्व जीव प्रमाण से, असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण से और उत्कृष्ट सख्यात से प्रथम तीन वृद्धियो मे भागाकार एव अतिम तीन वृद्धियो मे भी गुणाकार उक्त प्रमाण रूप जानना चाहिये तथा ये षट्वृद्धि वाले स्थान असख्य लोकप्रदेश प्रमाण है ।

विशेषार्थ—आदि की तीन वृद्धियो मे (अनन्तभागवृद्धि, असख्येयभागवृद्धि, सख्येयभागवृद्धि म) अनन्त, असख्यात और सख्यात राशियो को यथाक्रम से सर्व जीवो के, असख्यात लोकाकाश प्रदेशो के और उत्कृष्ट सख्यात के प्रमाण जानना चाहिये और उत्तर तीन वृद्धियो मे अर्थात् अनन्तगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और सख्यातगुणवृद्धि मे गुणाकार भी यथाक्रम से उन्ही सर्व जीवराशि आदि राशियो के प्रमाण का जानना चाहिये ।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि प्रथम अनुभागबधस्थान के प्रमाण मे सर्व जीवो की सख्या के प्रमाण वाली राशि से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, वह अनन्तवा भाग यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये । उस अनन्तवे भाग से अधिक दूसरा अनुभागबधस्थान होता है । पुन उस दूसरे अनुभागबधस्थान की राशि मे भी सर्व जीवो की सख्या प्रमाण राशि से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतने से अधिक तीसरा अनुभागबधस्थान होता है। इस प्रकार उत्तर-उत्तर जो-जो अनुभागबधस्थान अनन्तभाग वृद्धि वाला उपलब्ध होता है, वह-वह पूर्व-पूर्व के अनुभागबधस्थान के प्रमाण मे सर्व जीव सख्या प्रमाण वाली राशि से भाग देने पर जो लब्धराशि प्राप्त होती है, उस-उस अनन्तवे भाग से अधिक-अधिक प्रमाण वाला जानना चाहिये ।

असख्यातभागाधिक वृद्धि वाला स्थान वह है जो पिछले अनुभागबधस्थान के प्रमाण मे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण राशि वाले असख्यात से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने असख्यातवे भाग से अधिक को प्रकृत मे ग्रहण करना चाहिये ।

सख्यातभागाधिक का अर्थ है पिछले अनुभागबधस्थान के प्रमाण मे उत्कृष्ट सख्यात का भाग देने पर जो भाग प्राप्त होता है, उतना सख्यातवा भाग प्रकृत मे इष्ट है, अर्थात् उस सख्यातवे भाग से अधिक वृद्धि वाले स्थान को सख्यातभाग वृद्धि वाला अनुभागबधस्थान जानना चाहिये ।

सख्यातगुण वृद्धि का अर्थ है पिछले अनुभागबधस्थान के प्रमाण को उत्कृष्ट सख्यात प्रमाण वाली राशि से गुणा किया जाये और गुणा करने पर जितनी राशि होती है, उतनी राशिप्रमाण सख्यातगुण वृद्धि वाला अनुभागबधस्थान जानना चाहिये ।

असख्यातगुण वृद्धि का अर्थ है पिछले अनुभागबधस्थान के प्रमाण को असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या प्रमाण राशि से गुणा किया जाये और गुणा करने पर जितनी राशि होती है, उतना प्रमाण असख्यगुणाधिक अनुभागबधस्थान का जानना चाहिये ।

इसी प्रकार अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान का भी अर्थ जानना चाहिये ।

प्रथम षट्स्थानक की परिसमाप्ति होने पर ऊपर अर्थात् आगे जो दूसरा अनुभागबधस्थान अनन्तभागवृद्धि वाला प्राप्त होता है, वह द्वितीय षट्स्थानक का प्रथम अनुभागबधस्थान जानना

चाहिये । इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए पूर्वोक्त क्रम से दूसरा षट्स्थानक भी पूरा कहना चाहिये। इसी प्रकार शेष षट्स्थानक भी कहना चाहिये और उन्हे तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वे असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशिप्रमाण होते है । इसी आशय को प्रगट करने के लिये गाथा मे 'छट्ठाणमसखिया लोगा' पद दिया है । अर्थात् षट्स्थानवृद्धि वाले अनुभाग-बधस्थान, असख्यात लोकाकाश प्रदेशो का जितना प्रमाण है, तत्प्रमाण होते है ।

प्रश्न—आपने जो प्रथम अनुभागबंधस्थान के प्रमाण को सर्व जीवराशि के प्रमाण वाली राशि से भाग दिया है, सो वह यहाँ पर रसाविभाग की अपेक्षा से अथवा परमाणुओ की अपेक्षा से अथवा स्पर्धको की अपेक्षा से दिया है ? इनमे से रसाविभाग की अपेक्षा का भाग सभव नही है । क्योकि प्रथम स्थान से, द्वितीय स्थान मे भी रसाविभाग सख्यात आदि के गुणाकार से प्राप्त होते है । वह इस प्रकार—

प्रथम स्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे रसाविभाग अनन्त होते है । फिर भी असत्-कल्पना से चार वर्गणा का एक स्पर्धक माना जाये और पहली वर्गणा में रसाविभाग का प्रमाण यदि सात (७) माना जाये तो दूसरी वर्गणा मे रसाविभाग आठ (८), तीसरी वर्गणा मे नौ (९) और चौथी वर्गणा मे दस (१०) होगे ।[1] इस प्रकार एक स्पर्धक (७+८+९+१०=३४) चौतीस सख्या प्रमाण रसाविभाग वाला होता है । उससे ऊपर एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणित अधिक प्राप्त होते है ।

उनको असत्कल्पना से सत्रह (१७) सख्या माना जाये तो उतने रसाविभाग दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे सिद्ध होते है । उससे आगे उसी दूसरे स्पर्धक की दूसरी वर्गणा मे अठारह (१८), तीसरी वर्गणा मे उन्नीस (१९) और चौथी वर्गणा में बीस (२०) रसाविभाग प्राप्त होते है । यह दूसरा स्पर्धक है अर्थात् दूसरे स्पर्धक मे रसाविभागो का प्रमाण (१७+१८+१९+२०=७४) चौहत्तर होता है । पुन इससे भी आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्वजीवो के प्रमाण से अनन्तगुणित अधिक प्राप्त होते है ।

उनको यहाँ असत्कल्पना से सत्ताईस (२७) जानना चाहिये । ये सत्ताईस (२७) सख्या प्रमाण रसाविभाग तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे है । तदनन्तर दूसरी वर्गणा मे अट्ठाईस (२८), तीसरी वर्गणा में उनतीस (२९) और चौथी वर्गणा में तीस (३०) रसाविभाग प्राप्त होते है । इस प्रकार इस तीसरे स्पर्धक में (२७+२८+२९+३०=११४) एक सौ चौदह रसाविभाग प्राप्त होते है । इससे आगे फिर एक-एक रसाविभाग आदि की अधिक वृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणित अधिक होते है ।

---

१ समान जातीय समसख्यक पुद्गलो का समूह वर्गणा का लक्षण होने से तथा एक के अनन्तर दूसरी होने के क्रम से यहाँ पहली, दूसरी आदि वर्गणाओ में क्रमश एक-एक सख्यावृद्धि का सकेत किया है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

उनको यदि असत्कल्पना से सैंतीस (३७) माना जाये तो ये चौथे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के है। दूसरी वर्गणा मे अडतीस (३८), तीसरी वर्गणा मे उनतालीस (३९) और चौथी वर्गणा मे चालीस (४०) प्राप्त होते है, इस प्रकार इस चौथे स्पर्धक मे (३७+३८+३९+४०=१५४) एक सौ चउपन रसाविभाग प्राप्त होते है।

इस प्रकार असत्कल्पना की अपेक्षा उपर्युक्त चार (४) स्पर्धको वाला प्रथम अनुभागबधस्थान हुआ।[1] इस प्रथम स्थान के रसाविभागो की सर्व सख्या का योग (३४+७४+११४+१५४=३७६) तीन सौ छिहत्तर होता है।

इससे (प्रथम अनुभागबधस्थान से) आगे एक रसाविभाग की अधिक वृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्व जीवो से अनन्त गुणे अधिक ही प्राप्त होते है।

उन्हे यदि असत्कल्पना से सैंतालीस (४७) माने तो ये दूसरे अनुभागबधस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा में होते है। इससे आगे दूसरी वर्गणा मे अडतालीस (४८), तीसरी वर्गणा मे उनन्चास (४९) और चौथी वर्गणा मे पचास (५०) रसाविभाग प्राप्त होते है। इस प्रकार इस द्वितीय स्थान के प्रथम स्पर्धक मे (४७+४८+४९+५०=१९४) एक सौ चौरानवै रसाविभाग प्राप्त होते है। इससे आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणे अधिक रसाविभाग प्राप्त होते है।

उनको असत्कल्पना से सत्तावन (५७) मानें तो ये दूसरे अनुभागबधस्थान के दूसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग है। इससे आगे दूसरी वर्गणा मे अट्ठावन (५८), तीसरी वर्गणा मे उनसठ (५९) और चौथी वर्गणा में साठ (६०) रसाविभाग होते है। इस प्रकार इस द्वितीय स्थान के दूसरे स्पर्धक मे (५७+५८+५९+६०=२३४) दो सौ चौतीस रसाविभाग प्राप्त होते है। इससे आगे एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है, किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणे अधिक प्राप्त होते है।

उन्हे असत्कल्पना से सडसठ (६७) मान लिया जाये। ये सडसठ दूसरे अनुभागबधस्थान के तीसरे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग है। इससे आगे दूसरी वर्गणा मे अडसठ (६८), तीसरी वर्गणा में उनहत्तर (६९) और चौथी वर्गणा मे सत्तर (७०) रसाविभाग होते है। इस प्रकार इस दूसरे अनुभागबधस्थान के तीसरे स्पर्धक में (६७+६८+६९+७०=२७४) दो सौ चौहत्तर रसाविभाग प्राप्त होते है। उससे आगे फिर एक-एक की उत्तरवृद्धि से रसाविभाग प्राप्त नही होते है। किन्तु सर्व जीवो से अनन्तगुणे अधिक प्राप्त होते है।

उनको असत्कल्पना से सतत्तर (७७) मान लें। ये दूसरे अनुभागबधस्थान के चौथे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के रसाविभाग है। इससे आगे दूसरी वर्गणा में अठत्तर (७८), तीसरी

---

१ असत्कल्पना से चार वर्गणा का एक स्पर्धक और चार स्पर्धको का एक स्थान, इस तरह वर्गणा और स्पर्धक की समसख्या रखने का कारण यह है कि वास्तविक अनुभागस्थानो में भी जितनी वर्गणाओ का स्पर्धक होता है, उतने स्पर्धको का एक अनुभागस्थान होता है। अत वर्गणा और स्पर्धक की समसख्या कही है।

वर्गणा मे उन्यासी (७९) और चौथी वर्गणा मे अस्सी (८०) रसाविभाग होते है। इस प्रकार इस दूसरे अनुभागबधस्थान के चौथे स्पर्धक मे (७७+७८+७९+८०=३१४) तीन सौ चौदह रसाविभाग प्राप्त होते हैं। असत्कल्पना से दूसरे अनुभागवधस्थान के इन चारो स्पर्धको के रसाविभाग (१९४+२३४+२७४+३१४=१०१६) एक हजार सोलह सिद्ध होते है।

इस प्रकार प्रथम अनुभागबधस्थान के रसाविभागो की अपेक्षा दूसरे अनुभागबधस्थान मे रसाविभाग सख्यातगुणित ही प्राप्त होते है। उत्तर-उत्तर के अनुभागबधस्थान मे पूर्व-पूर्व अनुभागबधस्थान की अपेक्षा अधिक और अधिकतम ही सिद्ध होते है, किन्तु कही पर भी पूर्व-स्थान के रसाविभाग की अपेक्षा उत्तरस्थान के रसाविभाग अनन्तभाग से अधिक प्राप्त नही होते हैं।

इसी प्रकार परमाणुओ की अपेक्षा भी अनन्तभाग की अधिकता सभव नही है, क्योकि जैसे-जैसे अनुभाग बढता जाता है, वैसे-वैसे ही पुद्गल परमाणु भी अल्प और अल्पतर होते जाते है। इसलिए प्रथम अनुभागबधस्थानगत परमाणुओ की अपेक्षा दूसरे अनुभागबधस्थान मे परमाणु कुछ कम ही प्राप्त होते है, अनन्तभाग से अधिक प्राप्त नही होते है। इस प्रकार आगे-आगे के अनुभागबधस्थानो मे पूर्व-पूर्व के अनुभागबधस्थानो की अपेक्षा अल्प-अल्पतर परमाणु जानना चाहिये।

स्पर्धको की अपेक्षा भी प्रथम अनुभागबधस्थान आदि मे सर्व जीवो की राशि के प्रमाण से भागाहार सभव नही है। क्योकि प्रथम स्थानादिगत स्पर्धक अभव्यो से अनन्तगुणित और सिद्धो के अनन्तवे भाग की कल्पना से अत्यन्त अल्प होते है।

उत्तर—यह षट्स्थानकप्ररूपणा सयमश्रेणी आदि सबधी सभी षट्स्थानको में व्यापक लक्षण के रूप से कही जाती है।[1] इससे यद्यपि अनन्तगुणी वृद्धि वाले स्थानो से पूर्ववर्ती स्थानो मे सर्व जीव प्रमाण वाली अनन्तराशि से स्पर्धको की अपेक्षा भागाहार सभव नही है, तो भी आगे-आगे के स्थानो में तथा अन्य भी द्वितीय आदि षट्स्थानको मे और सभी सयमश्रेणी आदि के स्थानो में उक्त भागाहार का होना सभव है। इसलिये प्रश्नकर्ता के कथन से प्रकृत मे कोई विरोध नही आता है, क्योकि बहुलता से उक्त कथन सर्वत्र सभव है तथा—**सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते**—अर्थात् सर्व जीवो प्रमाण वाली राशि के द्वारा भागाहार किया जाता है, इस वचन से भी अनन्तगुणित वृद्धि वाले स्थान से पूर्व-पूर्व के स्थानो की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थानो की सख्या सबसे कम अनन्तभाग से अधिक जानना चाहिये। यद्यपि पूर्व-पूर्व स्थानो की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थानो मे कुछ हीन, हीनतर ही परमाणु प्राप्त होते है, तथापि अल्प, अल्पतर परमाणुओ वाली वर्गणा का होना सभव है। इसलिये ऊपर कहे हुए स्वरूप वाले स्पर्धको की बहुलता विरुद्ध नही है।

इस प्रकार षट्स्थानप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।[2] अब अधस्तनस्थानप्ररूपणा का कथन करते है।

---

१ सयमश्रेणी आदि स्थानो में जिस पद्धति से सर्व षट्स्थानक की प्ररूपणा की गई है, उसी पद्धति का अनुसरण करके यह अनुभाग की षट्स्थानरूपणा भी की है।

२ षट्स्थानप्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में किया गया है।

अधस्तनस्थानप्ररूपणा[1]

प्रश्न—प्रथम असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से नीचे कितने अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभाग-बधस्थान होते है ?

उत्तर—कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते है ?

उत्तर—कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम सख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते है ?

उत्तर—कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने सख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान होते है ?

उत्तर—कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने असख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान होते है ?

उत्तर—कडकप्रमाण होते है ।

यह उत्तरोत्तर स्थान से नीचे-नीचे के स्थानो की अवस्तनस्थानमार्गणारूप प्ररूपणा है । अब एकान्तरितमार्गणा का कथन करते है—

प्रश्न—प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान होते है ?

उत्तर—कडकवर्ग और कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम सख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते है ?

उत्तर—कडकवर्ग और कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने सख्यातभाग-वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान होते है ?

उत्तर—कडकवर्ग और कडकप्रमाण होते है ।

प्रश्न—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से नीचे कितने सख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान होते है ?

---

१ रसस्थानो मे विवक्षित वृद्धि के स्थानो की अपेक्षा नीचे आने पर अनन्तर वृद्धि के अथवा एकान्तरादिक वृद्धि स्थानो की जो विचारणा की जाती है, उसे अधस्तनस्थानप्ररूपणा कहते हैं।

उत्तर—कडकवर्ग और कडकप्रमाण होते है ।

इसी तरह पूर्वोक्त प्रकार से दो अन्तरित, तीन अन्तरित और चार अन्तरित अनुभागबंध-स्थानो की मार्गणा भी अपनी बुद्धि से कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार अधस्तनस्थानो की प्ररूपणा जानना चाहिये ।[1] अब क्रमप्राप्त वृद्धिप्ररूपणा की जाती है—

वृद्धिप्ररूपणा

वुड्ढी हाणी छक्कं, तम्हा दोण्ण पि अंतमिल्लाणं ।
अंतोमुहुत्तमावलि असंखभागो उ सेसाणं ।।३८।।

शब्दार्थ—**वुड्ढी हाणी छक्क**—छह प्रकार की वृद्धि और हानि होती है, **तम्हा**—इसलिये, **दोण्ह पि**—दोनो (हानि और वृद्धि) भी, **अतमिल्लाण**—अन्त की, **अतोमुहुत्त**—अन्तर्मुहूर्त की, **आवलि**—आवलि के, **असखभागो**—असख्यातवे भाग प्रमाण, **उ**—और, **सेसाण**—शेष की ।

गाथार्थ—छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि अनुभागबंधस्थान मे होती है। इसलिये उनके समय का कथन करते है कि इनमे से अतिम दोनो अर्थात् अतिम वृद्धि और अतिम हानि का (उत्कृष्ट) काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष पाचो वृद्धि और हानियो का (उत्कृष्ट) काल आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण है ।

विशेषार्थ—इस ससार में जीव अपनी परिणतिविशेष से कर्म परमाणुओ मे अनुभाग की उपर्युक्त स्वरूप वाली छह प्रकार की वृद्धि और हानि को करते रहते है । इसलिये कौनसी वृद्धि और हानि को जीव कितने काल तक करते रहते है ? यह जानने के लिये अवश्य ही काल का प्रमाण कहना चाहिये । उन छह वृद्धि और हानियो मे अतिम दो का अर्थात् अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि का काल अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव निरतर अपने परिणामविशेष से प्रतिसमय पूर्व-पूर्व अनुभागबंधस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर अनुभागबंधस्थानो को अनन्तगुणी वृद्धि रूप से अथवा अनन्तगुणी हानि रूप से बाधते है[2] तथा शेष अर्थात् आदि की पाच वृद्धियो[3] का और पाच हानियो[4] का काल आवलिका का

---

१ अधस्तनस्थानप्ररूपणा का विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये ।

२ विवक्षित समय मे जीव जिस अनुभागाध्यवसायस्थान मे है उससे दूसरे समय में अनन्त गुणाधिक अध्यवसायस्थान मे, उससे तीसरे समय मे अनन्तगुणाधिक अध्यवसायस्थान मे हो, इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर अनन्तगुणाधिक रूप से बढते-बढते हुए अध्यवसाय मे रहे, वह अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण की अनन्तगुणवृद्धि जानना चाहिये । इसी प्रकार अनन्तगुणहानि भी समझ लेना चाहिये ।

३. आदि की पाच वृद्धिया इस प्रकार है—(१) अनन्तभाग वृद्धि (२) असख्यभाग वृद्धि (३) सख्यभाग वृद्धि, (४) सख्यगुण वृद्धि, (५) असख्यगुण वृद्धि ।

४ आदि की पाच हानियो के नाम इस प्रकार हैं—(१) अनन्तभागहानि, (२) असख्यातभागहानि, (३) सख्य-भागहानि, (४) सख्यगुणहानि, (५) असख्यगुणहानि ।

असख्यातवा भाग मात्र जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आदि की पाच वृद्धि और पाच हानि को जीव निरन्तर अपने परिणामविशेष से प्रतिसमय आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र काल तक बाधते है।[1]

यह हानि और वृद्धि के काल का निरूपण उत्कृष्ट की अपेक्षा जानना चाहिये और जघन्य से समस्त वृद्धि और हानियो का काल एक या दो समय प्रमाण समझना चाहिये।

अब इन अनुभागस्थानो मे बध का आश्रय करके अवस्थान का काल प्रमाण कहते है—

समयप्ररूपणा

चउराई जावट्ठग-मेत्तो जावं दुगंतिसमयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो जहण्णओ सव्वहि समओ ।।३९।।

शब्दार्थ—चउराई–चार समय से लेकर, जाव–यावत्, तक, अट्ठगं–आठ समय, एत्तो–यहा से आगे, जाव–यावत्, दुगंति–दो, समयाणं–समय प्रमाण, ठाणाण–स्थानो का, उक्कोसो–उत्कृष्ट, जहण्णओ–जघन्य से, सव्वहि–सबका, समओ–एक समय।

गाथार्थ—अनुभागस्थानो का चार समय से लेकर आठ समय तक और यहाँ से (आठ समय से) लेकर दो समय प्रमाण उत्कृष्ट काल है और जघन्य से सभी अनुभागस्थान एक समय की स्थिति वाले है।

विशेषार्थ—चार (चार की सख्या) जिस वृद्धि की आदि मे हो उसे चतुरादि वृद्धि कहते है। वह चतुरादि समय वाली वृद्धि अवस्थित काल की नियामक रूप से आठ समय तक जानना चाहिये। पुन इससे आगे समयो की हानि कहना चाहिये और वह हानि दो समय तक कहना चाहिये। यह चतुरादि समय वाली वृद्धि और हानि[2] अनुभागबंधस्थानो की उत्कृष्ट रूप से जानना चाहिये। जघन्य रूप से तो सभी हानियो और वृद्धियो का काल एक समय मात्र है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जिन अनुभागबधस्थानो को जीव पुन-पुन उन्हे ही चार समय तक बाधते है, वे अनुभागबधस्थान चतु सामयिक कहलाते है। ऐसे चतु सामयिक अनुभाग-बधस्थान मूल से आरभ करके असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है। उनसे भी उपरितन अनुभागबधस्थान पचसामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश

---

१ जीव जिस तरह के अनुभागाध्यवसाय मे रहता है, तदनुरूप रस वाले कर्मप्रदेशो का बध करता है। इस बात को बताने के लिए यहाँ 'बाँधते हैं' शब्द का प्रयोग किया है।

२ यहा चतुरादि विशेषण सिर्फ वृद्धि मे आयोजित करना चाहिये अर्थात् वृद्धि तो चतुरादि समय वाली जानना चाहिये और हानि तो अष्टादि विशेषण युक्त स्वय समझ लेना चाहिये।

राशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते है । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्त-सामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान अष्टसामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते है, उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्तसामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते है । उनसे उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते है । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त हो ।[1]

इस प्रकार समयप्ररूपणा की गई । अब जिस वृद्धि अथवा हानि मे जो अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते है, उनको कहते है—

यवमध्यप्ररूपणा

दुसु जवमज्झं थोवा-णि अट्ठसमयाणि दोसु पासेसु ।
समऊणियाणि कमसो असंखगुणियाणि उप्पिं च ॥४०॥

शब्दार्थ—दुसु—दो मे (अनन्तगुण वृद्धि और अनन्तगुण हानि मे), जवमज्झ—यवमध्यरूप, थोवाणि—अल्प है, अट्ठसमयाणि—अष्टसामयिक, दोसु—दोनो मे, पासेसु—पार्श्वो (बाजुओ) मे, समऊणियाणि—समय-समय अल्प स्थिति वाले, कमसो—क्रमश , असखगुणियाणि—असख्यातगुण, उप्पिं—ऊपर के, च—और ।

गाथार्थ—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि—इन दोनो मे यवमध्यरूप अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान अल्प है, उनसे (अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थानो से) यवमध्य के दोनो पार्श्ववर्ती सप्त-सामयिक आदि एक-एक समयहीन अनुभागबंधस्थान क्रमश असख्यात गुणित होते हैं । यह ऊपर के त्रि और द्वि सामयिक अनुभागबंधस्थानो मे भी जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यवमध्य मे अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि रूप दो विकल्प होते है । यव के मध्य के समान को यवमध्य कहते हैं यानी अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान, जिसमें अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि होती है ।[2] वह इस प्रकार समझना चाहिये कि—जैसे यव (जौ) का मध्य बीच मे मोटा होता है और दोनो बाजुओ मे हीन-हीनतर होता जाता है, वैसे

1 समयप्ररूपणा का साराश यह है कि सर्व स्थानो का जघन्य काल एक समय का है और उत्कृष्ट काल निम्न प्रकार है—जघन्य स्थान से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण पाच समय की स्थिति वाले हैं । इसी प्रकार असख्य, असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से छह, सात, आठ समय की स्थिति वाले हैं । उससे आगे समय की हानि का कथन करना चाहिये । अर्थात् तदनन्तर के हानिगत असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से सात, छह, पाच, चार, तीन और अतिम स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये ।

2 उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि अष्टसामयिक अनुभागस्थान आरोह का चरम स्थान और अवरोह के प्रारम्भ होने का प्रथम स्थान है ।

असख्यातवा भाग मात्र जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आदि की पाच वृद्धि और पाच हानि को जीव निरन्तर अपने परिणामविशेष से प्रतिसमय आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र काल तक बाधते है।[1]

यह हानि और वृद्धि के काल का निरूपण उत्कृष्ट की अपेक्षा जानना चाहिये और जघन्य से समस्त वृद्धि और हानियो का काल एक या दो समय प्रमाण समझना चाहिये।

अब इन अनुभागस्थानो में बध का आश्रय करके अवस्थान का काल प्रमाण कहते हैं—

समयप्ररूपणा

चउराई जावट्ठग-मेत्तो जावं दुगंतिसमयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो जहण्णओ सव्वहिं समओ ।।३९।।

शब्दार्थ—चउराई–चार समय से लेकर, जाव–यावत्, तक, अट्ठग–आठ समय, एत्तो–यहा से आगे, जाव–यावत्, दुगति–दो, समयाण–समय प्रमाण, ठाणाण–स्थानो का, उक्कोसो–उत्कृष्ट, जहण्णओ–जघन्य से, सव्वहिं–सबका, समओ–एक समय।

गाथार्थ—अनुभागस्थानो का चार समय से लेकर आठ समय तक और यहाँ से (आठ समय से) लेकर दो समय प्रमाण उत्कृष्ट काल है और जघन्य से सभी अनुभागस्थान एक समय की स्थिति वाले है।

विशेषार्थ—चार (चार की सख्या) जिस वृद्धि की आदि मे हो उसे चतुरादि वृद्धि कहते है। वह चतुरादि समय वाली वृद्धि अवस्थित काल की नियामक रूप से आठ समय तक जानना चाहिये। पुन इससे आगे समयो की हानि कहना चाहिये और वह हानि दो समय तक कहना चाहिये। यह चतुरादि समय वाली वृद्धि और हानि[2] अनुभागबंधस्थानो की उत्कृष्ट रूप से जानना चाहिये। जघन्य रूप से तो सभी हानियो और वृद्धियो का काल एक समय मात्र है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जिन अनुभागबधस्थानो को जीव पुन-पुन उन्हे ही चार समय तक बाधते है, वे अनुभागबधस्थान चतु सामयिक कहलाते है। ऐसे चतु सामयिक अनुभागबधस्थान मूल से आरभ करके असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशि प्रमाण होते है। उनसे भी उपरितन अनुभागबधस्थान पचसामयिक होते है, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेश

१ जीव जिस तरह के अनुभागाध्यवसाय मे रहता है, तदनुरूप रस वाले कर्मप्रदेशो का बध करता है। इस बात को बताने के लिए यहाँ 'बाँधते हैं' शब्द का प्रयोग किया है।

२ यहा चतुरादि विशेषण सिर्फ वृद्धि मे आयोजित करना चाहिये अर्थात् वृद्धि तो चतुरादि समय वाली जानना चाहिये और हानि तो अष्टादि विशेषण युक्त स्वय समझ लेना चाहिये।

राशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते हैं, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्त-सामयिक होते हैं, वे भी असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशि प्रमाण होते हैं । उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान अष्टसामयिक होते हैं, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं, उनसे भी उपरितन अनुभागबंधस्थान सप्तसामयिक होते हैं, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । उनसे उपरितन अनुभागबंधस्थान षट्सामयिक होते हैं, वे भी असख्यात लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त हो ।[1]

इस प्रकार समयप्ररूपणा की गई । अब जिस वृद्धि अथवा हानि मे जो अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त होते हैं, उनको कहते हैं—

यवमध्यप्ररूपणा

दुसु जवमज्झं थोवा-णि अट्ठसमयाणि दोसु पासेसु ।
समऊणियाणि कमसो असंखगुणियाणि उप्पि च ।।४०।।

शब्दार्थ—दुसु—दो मे (अनन्तगुण वृद्धि और अनन्तगुण हानि मे), **जवमज्झ**—यवमध्यरूप, **थोवाणि**—अल्प हैं, **अट्ठसमयाणि**—अष्टसामयिक, **दोसु**—दोनो मे, **पासेसु**—पार्श्वों (बाजुओ) मे, **समऊणियाणि**—समय-समय अल्प स्थिति वाले, **कमसो**—क्रमश, **असखगुणियाणि**—असख्यातगुण, **उप्पि**—ऊपर के, **च**—और ।

गाथार्थ—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि—इन दोनो मे यवमध्यरूप अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान अल्प हैं, उनसे (अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थानो से) यवमध्य के दोनो पार्श्ववर्ती सप्त-सामयिक आदि एक-एक समयहीन अनुभागबंधस्थान क्रमश असख्यात गुणित होते हैं । यह ऊपर के त्रि और द्वि सामयिक अनुभागबंधस्थानो मे भी जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यवमध्य मे अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि रूप दो विकल्प होते हैं । यव के मध्य के समान को यवमध्य कहते हैं यानी अष्टसामयिक अनुभागबंधस्थान, जिसमें अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि होती है ।[2] वह इस प्रकार समझना चाहिये कि—जैसे यव (जौ) का मध्य बीच में मोटा होता है और दोनो बाजुओ मे हीन-हीनतर होता जाता है, वैसे

---

१ समयप्ररूपणा का साराश यह है कि सर्व स्थानो का जघन्य काल एक समय का है और उत्कृष्ट काल निम्न प्रकार है—जघन्य स्थान से असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण पाच समय की स्थिति वाले हैं । इसी प्रकार असख्य, असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से छह, सात, आठ समय की स्थिति वाले हैं । उससे आगे समय की हानि का कथन करना चाहिये । अर्थात् तदनन्तर के हानिगत असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, असख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण स्थान अनुक्रम से सात, छह, पाच, चार, तीन और अतिम स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये ।

२ उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि अष्टसामयिक अनुभागस्थान आरोह का चरम स्थान और अवरोह के प्रारम्भ होने का प्रथम स्थान है ।

ही यहाँ पर (अनुभागबघस्थान मे) अष्टसामयिक अनुभागवघस्थान काल की अपेक्षा पृथुल (मोटे) है और उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक आदि अनुभागवघस्थान काल की अपेक्षा हीन-हीनतर होते है । इसलिये अष्टसामयिक अनुभागवघस्थान यव के मध्यभाग के समान काल की अपेक्षा पृथुल होने से उनकी यवमध्य सज्ञा है । उन अष्टसामयिक प्रथम अनुभागवघस्थान से आरभ करके सभी असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की राशि प्रमाण अनुभागवघस्थान अनन्तगुणवृद्धि मे और अनन्तगुणहानि मे पाये जाते है। सप्तसामयिक अन्तिम अनुभाग-बघस्थान से प्रथम अष्टसामयिक अनुभागबघस्थान अनन्तगुणवृद्धि वाला होता है, उससे आगे के शेष सभी सप्तसामयिक अनुभागबघस्थान उसकी अपेक्षा अनन्तगुणवृद्धि वाले होते है तथा अष्टसामयिक अन्तिम अनुभागबघस्थान से उपरितन सप्तसामयिक अनुभागवघस्थान भी अनन्तगुणवृद्धि वाला होता है । इसलिये उसकी अपेक्षा से पीछे के सभी अष्टसामयिक अनुभागबघस्थान अनन्तगुण हानि वाले भी होते है। इस प्रकार अष्टसामयिक अनुभागवघ-स्थान, अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि दोनो मे पाये जाते है । अष्टसामयिक यह पद उपलक्षण रूप है । इसलिये आदि के चतु सामयिक अनुभागवघस्थान और सर्व अन्तिम द्वि-सामयिक अनुभागबघस्थानो को छोडकर शेष सभी उभय पार्श्ववर्ती पचसामयिक आदि अनुभाग-बघस्थान प्रत्येक उक्त प्रकार से अनन्तगुणवृद्धि मे और अनन्तगुणहानि मे जानना चाहिये ।

आदि के चतु सामयिक अनुभागवघस्थान अनन्तगुणहानि मे ही होते है । वह इस प्रकार—पचसामयिक आद्य अनुभागबघस्थान चतु सामयिक अन्तिम अनुभागबघस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणी वृद्धि वाला होता है और उसकी अपेक्षा पीछे के चतु सामयिक सभी अनुभागबघ-स्थान अनन्तगुणहानि मे ही पाये जाते है । द्विसामयिक अनुभागबघस्थान तो अनन्तगुण वृद्धि मे ही होते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि त्रिसामयिक अन्तिम अनुभागबघ-स्थान से आदि का द्विसामयिक अनुभागबघस्थान अनन्तगुणवृद्धि वाले ही होते है ।

इस प्रकार यह यवमध्यप्ररूपणा जानना चाहिये ।[1] अव चतु सामयिक आदि अनुभागबघ-स्थानो का अल्पबहुत्व कहते है—

'थोवाणि'—इत्यादि अर्थात् यवमध्य वाले अष्टसामयिक अनुभागबघस्थान सबसे अल्प होते है। क्योकि अति चिरकाल तक बघ के योग्य स्थान अल्प ही पाये जाते है । उससे उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक अनुभागबघस्थान असख्यात गुणित होते है । क्योकि वे अल्पतर बघकाल विषय वाले है, किन्तु उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक अनुभागबघस्थान परस्पर मे समान होते है। उनसे भी उभय पार्श्ववर्ती षट्सामयिक अनुभागबघस्थान असख्यात गुणित होते है, किन्तु वे दोनो उभय पार्श्व मे परस्पर समान होते है । उससे भी उभय पार्श्ववर्ती पचसामयिक अनुभागबघस्थान असंख्यात गुणित होते है, किन्तु वे दोनो ही परस्पर में समान ही है । उनसे भी असख्यात गुणित उभय पार्श्ववर्ती चतु सामयिक अनुभागबघस्थान होते है, किन्तु स्वस्थान में वे दोनो ही परस्पर समान होते है ।

१ यवमध्यप्ररूपणा को सरलता से समझने के लिए परिशिष्ट मे दिये गये अनुभागबघ विवेचन सबधी १४ अनुयोगद्वारो के सक्षिप्त साराश को देखिये।

उनसे भी असख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले त्रिसामयिक अनुभागबघस्थान होते है, उनसे भी असख्यात गुणित वृद्धि वाले द्विसामयिक अनुभागबघस्थान होते है ।

'दोसु पासेसु' इति—अर्थात् अष्टसामयिक अनुभागबघस्थानो से अनन्तरवर्ती दोनो पार्श्व वाले क्रम से एक-एक समय हीन वाले सप्तसामयिक आदि अनुभागबघस्थान असख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले तब तक कहना चाहिये, जब तक कि चतु सामयिक अनुभागबघस्थान प्राप्त होते हैं। उनसे ऊपर त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुभागबघस्थान क्रम से असख्यात गुणित अनुभागवृद्धि वाले कहना चाहिये ।[1]

अब सभी अनुभागबघस्थानो के समुदाय का आश्रय करके उनकी विशेष सख्या का निरूपण करते है—

सुहुमगणि पवेसणया, अगणिक्काया य तेसि कायठिई ।
कमसो असंखगुणियाण (अ) ज्झवसाणाणि चणुभागे ।।४१।।

शब्दार्थ—**सुहुम**—सूक्ष्म, **अगणि**—अग्निकाय मे, **पवेसणया**—प्रवेश करने वाले, **अगणिक्काया**—अग्निकाय रूप, **य**—और, **तेसि**—उनकी, **कायठिई**—कायस्थिति, **कमसो**—अनुक्रम से, **असखगुणियाण**—असख्यात गुणित, **अज्झवसाणाणि**—अध्यवसाय, **च**—और, **अणुभागे**—अनुभाग मे ।

गाथार्थ—सूक्ष्म अग्निकाय मे प्रवेश करने वाले तथा अग्निकाय रूप से स्थित जीव एव अग्निकाय की कायस्थिति, ये तीनो अनुक्रम से असख्यगुणित है और उनसे भी अनुभागबघस्थान असख्यात-गुणित होते है ।

विशेषार्थ—सूक्ष्म अग्नि मे अर्थात् सूक्ष्म अग्निकायिक जीवो मे प्रवेशन (उत्पत्ति) जिनका हो रहा है, वे सूक्ष्म अग्निप्रवेशक जीव कहलाते है तथा जो जीव अग्निकाय रूप से अवस्थित है, वे अग्निकायिक कहलाते है तथा उन अग्निकाय वाले जीवो की कायस्थिति को अग्निकाय-स्थिति-काल कहते है । ये तीनो अनुक्रम से असख्यात गुणित है । इसी प्रकार जो अध्यवसाय अनुभागबघ के विषय मे होते है, वे तथा कार्य मे कारण के उपचार रूप से व्यवस्थित है, वैसे अध्यवसाय के द्वारा निवर्त्यमान अर्थात् आगे अनुभागबघस्थान रूप से परिणमित होने वाले है, ऐसे अनुभाग-बघस्थान क्रम से असख्यात गुणित है । कहा भी है—

---

१ चतु सामयिक आदि अनुभागबघस्थानो का अल्पबहुत्व डमरुक के आकार के समान समझना चाहिये। डमरुक का आकार परिशिष्ट मे देखिये । उस आकार मे अष्टसामयिक विभाग के अनन्तर उभय पार्श्ववर्ती सप्तसामयिक आदि चतु सामयिक विभाग पर्यन्त तो परस्पर तुल्य है, लेकिन उसके बाद के उत्तरपार्श्ववर्ती चतु सामयिक के अनन्तर के त्रि और द्वि सामयिक मे अपने से पूर्व की अपेक्षा अल्पबहुत्व जानना चाहिये ।

सुहुमगणिपविसंता चिट्ठंता तेसि कायठिइकालो ।
कमसो असखगुणिओ तत्तो अणुभागठाणाइ ॥[1]

सूक्ष्म अग्नि मे प्रवेश करने वाले, अग्निकाय मे अवस्थित और उनका कायस्थितकाल क्रम से असख्यात गुणित प्रमाण वाला होता है और उनसे भी अनुभागस्थान असख्यात गुणित है।

इस कथन का यह भाव है कि जो जीव एक समय मे सूक्ष्म अग्निकाय के मध्य मे प्रवेश कर उत्पन्न होते है, वे सबसे कम है, फिर भी वे असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है । उनसे भी वे जीव असख्यात गुणित है जो अग्निकाय रूप से अवस्थित है और उनसे भी अग्निकाय की स्थिति का काल असख्यात गुणित होता है और उससे भी अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है ।

अब ओजोयुग्मप्ररूपणा करते है ।

ओजोयुग्मप्ररूपणा

ओज विषमसख्या को और युग्म समसख्या को कहते है। उनकी प्ररूपणा इस प्रकार है कि यहाँ पर किसी एक विवक्षित राशि को स्थापित करना चाहिये और उसमे कलि, द्वापर, त्रेता और कृत युग सज्ञा वाले चार से भाग देना चाहिये । भाग देने पर यदि एक शेप रहता है तो वह राशि पूर्व पुरुषो की परिभाषा के अनुसार 'कल्योज' कहलाती है, यथा—तेरह (१३) । यदि भाग देने पर दो शेष रहते है तो वह राशि 'द्वापरयुग्म' कहलाती है, जैसे—चौदह (१४) और यदि भाग देने पर तीन शेष रहते है तो वह राशि 'त्रेतौज' कहलाती है, जैसे—पन्द्रह (१५) और जब भाग देने पर कुछ भी शेष नही रहता है, किन्तु सपूर्ण राशि से वह राशि नि शेष हो जाती है, तब 'कृतयुग्म' कहलाती है, जैसे—सोलह (१६)।[2]

कहा भी है—

चउदस दावरजुम्मा, तेरस कलिओज तह य [illegible]म्मा ।
सोलस तेओजो खलु, पन्नरसेवं खु विन्नेया ॥

अर्थ—चौदह—यह द्वापरयुग्म राशि है, तेरह—यह कल्योज राशि है, सोलह—कृतयुग्म राशि और पन्द्रह—इस राशि को त्रेतौज जानना चाहिये ।

अब इनमे अविभाग आदि जिस प्रकार की राशि रूप मे है, उस प्रकार की राशिप्रमाण को बतलाने के लिये पर्यवसानप्ररूपणा करते है ।

---

१ पचसग्रह, बधनकरण गाथा ५७

२ विषमसख्या (१, ३, ५ आदि) को ओज और समसख्या (२, ४, ६ आदि) को युग्म कहते हैं। जिस सख्या को चार से भाग देने पर १ शेष रहे, उसे कल्योज, २ शेष रहे उसे द्वापरयुग्म, ३ शेष रहे उसे त्रेतौज और कुछ भी शेष न रहे उसे कृतयुग्म कहते हैं । जैसे कि—

४) १३ (३	४) १४ (३	४) १५ (३	४) १६ (४
१२	१२	१२	१६
१ कल्योज	२ द्वापरयुग्म	३ त्रेतौज	० कृतयुग्म

पर्यवसानप्ररूपणा

कडजुम्मा अविभागा, ठाणाणि य कंडगाणि अणुभागे।
पज्जवसाणमणंत-गुणाओ उप्पि न (अ) णंतगुणं ॥४२॥

शब्दार्थ—कडजुम्मा—कृतयुग्म सख्या, अविभागा—अविभाग, ठाणाणि—स्थान, य—और, कडगाणि—कडक, अणुभागे—अनुभाग मे, पज्जवसाण—पर्यवसान (अत), अणतगुणाओ—अनन्तगुणवृद्धि से, उप्पि—ऊपर, न—नही, अणतगुण—अनन्तगुणवृद्धि।

गाथार्थ—इस अनुभाग के विषय मे अविभाग, स्थान और कडक यह कृतयुग्म राशिरूप है। अनन्तगुणवृद्धि के कडक से ऊपर अनन्तगुणवृद्धि का स्थान नही है। इसलिये अनन्तगुणवृद्धि रूप स्थान षट्स्थानकवृद्धि का पर्यवसान अर्थात् अतिम स्थान है।

विशेषार्थ—अनुभाग मे अर्थात् अनुभाग के विषय मे अविभाग, स्थान और कडक कृतयुग्म राशि रूप जानना चाहिये।[1] इस प्रकार ओजोयुग्मप्ररूपणा जानना चाहिये।

अव पर्यवसानप्ररूपणा करते है कि—

अनन्तगुण से अर्थात् अनन्तगुणी वृद्धि वाले कडक से ऊपर पचवृद्धयात्मक सभी अनुभागबघस्थान उल्लघन करके पुन अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागबधस्थान प्राप्त नही होता है, क्योकि वहाँ पर षट्-स्थान की समाप्ति हो जाती है। इसलिये वही षट्स्थानक का पर्यवसान—सव से अतिम स्थान है।[2]

अव आगे की गाथा मे अल्पवहुत्वप्ररूपणा करते है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा

अप्पवहुमणंतरओ, असंखगुणियाणणंतगुणमाई।
तव्विवरीयमियरओ, संखेज्जवखेसु संखगुणं ॥४३॥

शब्दार्थ—अप्पवहु—अल्पवहुत्व, अणतरओ—अनन्तरोपनिघा में, असखगुणियाण—असख्यात गुणित, णतगुणं—अनन्तगुणवृद्धि स्थानो को, आई—आदि मे, तव्विवरीयं—उससे विपरीत, इयरओ—इतर मे (परपरोपनिघा मे), सखेज्जवखेसु—सख्यातगुण और सख्यातभाग वृद्धि मे, सखगुणं—सख्यातगुण।

गाथार्थ—अनन्तगुणवृद्धि स्थानको को आदि मे करके पश्चानुपूर्वी से अनन्तर-अनन्तर वृद्धि मे (अर्थात् अनन्तरोपनिघा मे) असख्यात गुणा अल्पवहुत्व कहना चाहिये और इतर अर्थात् अनन्तरोपनिघा से दूसरी परपरोपनिघा मे विपरीत क्रम जानना चाहिये तथा सख्यातगुणवृद्धि एव सख्यातभागवृद्धि मे सख्यातगुण रूप अल्पवहुत्व कहना चाहिये।

---

१ इसका आशय यह है कि अनुभाग के सर्व अविभागो मे से समस्त अन्तर वर्गणाओ की सख्या को कम करने के पश्चात् जो अविभाग शेप रहते हैं, उस अनन्तराशि मे चार से भाग दें तो शेष मे शून्य ही रहता है। इसी प्रकार सभी षट्स्थानो के कडक भी कृतयुग्मराशिरूप हैं।

२ अनन्तगुणवृद्धि के कथन की विवक्षा छह मूल वृद्धि की अपेक्षा है और यह स्थान उसके कडक मे का अतिम स्थान जानना चाहिये, अन्यथा उत्तरवृद्धि की अपेक्षा तो सर्वांतिम स्थान अनन्तभागाधिक है।

विशेषार्थ—यह अल्पबहुत्वप्ररूपणा दो प्रकार से होती है—१ अनन्तरोपनिधा और २ परपरोपनिधा रूप से। इनमे से पहले एक षट्स्थानक मे अन्तिम स्थान[1] से प्रारभ करके पश्चानुपूर्वी से अनन्तरोपनिधा द्वारा प्ररूपणा करते है—

अनन्तगुणवृद्धि रूप स्थानो को आदि मे करके शेष स्थानो को असख्यात गुणित कहना चाहिये। जैसे अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान सबसे कम है, क्योकि उनका प्रमाण एक कडक मात्र है। उनसे असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है।

प्रश्न—यहाँ गुणाकार क्या है ?

उत्तर—कडक और एक कडकप्रक्षेप।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—यहाँ क्योकि एक-एक अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान कडक प्रमाण प्राप्त होते है, इसलिये कडक का गुणाकार कहा गया है तथा अनन्तगुणीवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से कडक के ऊपर कडक मात्र असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान प्राप्त होते है, किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागबधस्थान प्राप्त नही होता है, इसलिये उपरितन कडक का अधिक प्रक्षेप किया गया है।[2]

उससे भी असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो से सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी सख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी असख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। गुणाकार सर्वत्र ही कडक और उसके ऊपर एक कडक-प्रक्षेप है। वह इस प्रकार कि एक-एक असख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे पूर्व सख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान कडक मात्र प्राप्त होते है। इसलिये कडक गुणाकार है। असख्यातगुणीवृद्धि वाले कडक से ऊपर कडक प्रमाण सख्यातगुणीवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान प्राप्त होते है। तदनन्तर असख्येयगुणाधिक नही किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला ही अनुभागबधस्थान होता है। प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान से नीचे असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो की अपेक्षा सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो का विचार किया जाता है, उससे ऊपर वाले स्थानो का नही। इसलिये ऊपर एक ही अधिक कडक का प्रक्षेप किया गया है। इसी प्रकार सख्यातभागवृद्धि आदि अनुभागबधस्थानो का भी असख्यात गुणित करने मे गुणाकार की भावना जानना चाहिये।

---

१ यहा पर मूल छह वृद्धि की अपेक्षा होने से अन्तिम स्थान छठा अनन्तगुणवृद्धिरूप स्थान जानना चाहिये, परन्तु सर्वातिम जो अनन्तभागाधिक स्थान है, वह नही। इसीलिये पश्चानुपूर्वी के क्रम का यहा सकेत दिया है।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि कडक से गुणा करने पर प्राप्त राशि मे एक कडक को जोडना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से अनुभागबधस्थानों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये ।[1] अब परपरोपनिधा से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हैं—

'तव्विवरीयमियरओ-इति'—अर्थात् जिस क्रम से अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा की गई, उसके विपरीत क्रम से परपरोपनिधा की प्ररूपणा करना चाहिये । यानि यहाँ आदि से ही प्रारभ करके अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये । वह इस प्रकार—

अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान सबसे कम है । क्योंकि उन्ही अनुभागबधस्थान से आरभ करके अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान एक कडक प्रमाण ही प्राप्त होते हैं, अधिक नही । उनसे भी असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है । यह कैसे ? तो इसका उत्तर यह है कि अनन्तभागवृद्धि कडक प्रमाण अनुभागबधस्थान के ऊपर प्रथम असख्यातभागवृद्धि वाला स्थान प्राप्त होता है, जो कि पिछले कडक रूप अन्तिम स्थान की अपेक्षा असख्यातभाग अधिक होता है । इसलिये उपरितन अनन्तभागवृद्धि वाला उसकी अपेक्षा अपने आप असख्यातभागवृद्धि वाला होता है । अनन्तभागवृद्धि वाला अनुभाग-बधस्थान उससे प्रथम होने वाले असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान की अपेक्षा होता है, किन्तु अनन्तभागवृद्धि वाले कडक सबधी अन्तिम अनुभागबधस्थान की अपेक्षा तो असख्यात-भाग से अधिक ही होता है । इससे उपरितन अनुभागबधस्थान विशेष-विशेषतर रूप से अर्थात् अधिक-अधिकतर रूप से असख्यातभाग अधिक तब तक जानना चाहिये, जब तक कि सख्यात-भाग से अधिक वृद्धि वाला अनुभागबधस्थान प्राप्त नही होता है । इस प्रकार जिस प्रथम असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से आरभ करके प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान के पूर्व अपान्तराल में जितने अनुभागबधस्थान प्राप्त होते है, वे सभी असख्यातभागवृद्धि वाले ही प्राप्त होते है । उससे अनन्तभागवृद्धि वाले स्थानो से असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है ।

उन सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थानो से सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान सख्यात गुणित है । यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान मे पिछले अनन्तर स्थान की अपेक्षा सख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है । तब यदि पहले भी सख्यात-भागवृद्धि वाले स्थान मे सख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है तो उस प्रथम स्थान से उत्तरवर्ती अनन्तभागवृद्धि वाले और असख्यातभागवृद्धि वाले स्थानो की अपने आप ही सख्यातभाग वृद्धि होती है । क्योंकि अनन्तभागवृद्धि अथवा असख्यातभागवृद्धि पूर्व-पूर्व के अनन्तरवर्ती स्थान की अपेक्षा से होती है । प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से पुन, पूर्ववर्ती अनन्तर स्थान का आश्रय करके सभी अनन्तभागवृद्धि वाले और असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान उत्तरोत्तर अधिक

---

१ अनन्तरोपनिधा से अल्पबहुत्वप्ररूपणा का साराश इस प्रकार है कि अनन्तगुणवृद्धि के स्थान सबसे अल्प (कडकमात्र) है । उससे असख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे असख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे अनन्तभागवृद्धि के असख्यातगुण । गुणाकार कडक गुण और एक कडक प्रमाण है ।

विशेषार्थ—यह अल्पबहुत्वप्ररूपणा दो प्रकार से होती है—१ अनन्तरोपनिधा और २ परपरोपनिधा रूप से। इनमे से पहले एक षट्स्थानक मे अन्तिम स्थान[1] से प्रारभ करके पश्चानुपूर्वी से अनन्तरोपनिधा द्वारा प्ररूपणा करते हैं—

अनन्तगुणवृद्धि रूप स्थानो को आदि मे करके शेष स्थानो को असख्यात गुणित कहना चाहिये। जैसे अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान सबसे कम है, क्योकि उनका प्रमाण एक कडक मात्र है। उनसे असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है।

प्रश्न—यहाँ गुणाकार क्या है ?

उत्तर—कडक और एक कडकप्रक्षेप।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर—यहाँ क्योकि एक-एक अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान कडक प्रमाण प्राप्त होते है, इसलिये कडक का गुणाकार कहा गया है तथा अनन्तगुणीवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान से कडक के ऊपर कडक मात्र असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान प्राप्त होते है, किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागबधस्थान प्राप्त नही होता है, इसलिये उपरितन कडक का अधिक प्रक्षेप किया गया है।[2]

उससे भी असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो से सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी सख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी असख्यातभाग अधिक वृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। गुणाकार सर्वत्र ही कडक और उसके ऊपर एक कडक-प्रक्षेप है। वह इस प्रकार कि एक-एक असख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान के नीचे पूर्व सख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान कडक मात्र प्राप्त होते है। इसलिये कडक गुणाकार है। असख्यातगुणीवृद्धि वाले कडक से ऊपर कडक प्रमाण सख्यातगुणीवृद्धि वाले अनुभागबधस्थान प्राप्त होते है। तदनन्तर असख्येयगुणाधिक नही किन्तु अनन्तगुणीवृद्धि वाला ही अनुभागबधस्थान होता है। प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान से नीचे असख्यात-गुणीवृद्धि वाले स्थानो की अपेक्षा सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो का विचार किया जाता है, उससे ऊपर वाले स्थानो का नही। इसलिये ऊपर एक ही अधिक कडक का प्रक्षेप किया गया है। इसी प्रकार सख्यातभागवृद्धि आदि अनुभागबधस्थानो का भी असख्यात गुणित करने म गुणाकार की भावना जानना चाहिये।

---

१ यहा पर मूल छह वृद्धि की अपेक्षा होने से अन्तिम स्थान छठा अनन्तगुणवृद्धिरूप स्थान जानना चाहिये, परन्तु सर्वातिम जो अनन्तभागाधिक स्थान है, वह नही। इसीलिये पश्चानुपूर्वी के क्रम का यहा सकेत दिया है।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि कडक से गुणा करने पर प्राप्त राशि मे एक कडक को जोडना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिघा से अनुभागबघस्थानो के अल्पवहुत्व की प्ररूपणा जानना चाहिये ।[1] अब परपरोपनिघा से अल्पवहुत्व की प्ररूपणा करते है—

'तव्विवरीयमियरओ-इति'—अर्थात् जिस क्रम से अनन्तरोपनिघा की प्ररूपणा की गई, उसके विपरीत क्रम से परपरोपनिघा की प्ररूपणा करना चाहिये । यानि यहाँ आदि से ही प्रारभ करके अल्पवहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिये । वह इस प्रकार—

अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान सवसे कम है । क्योकि उन्ही अनुभागबघस्थान से आरभ करके अनन्तभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान एक कडक प्रमाण ही प्राप्त होते है, अधिक नही । उनसे भी असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान असख्यात गुणित होते है । यह कैसे ? तो इसका उत्तर यह है कि अनन्तभागवृद्धि कडक प्रमाण अनुभागबघस्थान के ऊपर प्रथम असख्यातभागवृद्धि वाला स्थान प्राप्त होता है, जो कि पिछले कडक रूप अन्तिम स्थान की अपेक्षा असख्यातभाग अधिक होता है । इसलिये उपरितन अनन्तभागवृद्धि वाला उसकी अपेक्षा अपने आप असख्यातभागवृद्धि वाला होता है । अनन्तभागवृद्धि वाला अनुभाग-बघस्थान उससे प्रथम होने वाले असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान की अपेक्षा होता है, किन्तु अनन्तभागवृद्धि वाले कडक सबघी अन्तिम अनुभागबघस्थान की अपेक्षा तो असख्यात-भाग से अधिक ही होता है । इससे उपरितन अनुभागबघस्थान विशेष-विशेषतर रूप से अर्थात् अधिक-अधिकतर रूप से असख्यातभाग अधिक तब तक जानना चाहिये, जब तक कि सख्यात-भाग से अधिक वृद्धि वाला अनुभागबघस्थान प्राप्त नही होता है । इस प्रकार जिस प्रथम असख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से आरभ करके प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान के पूर्व अपान्तराल मे जितने अनुभागबघस्थान प्राप्त होते है, वे सभी असख्यातभागवृद्धि वाले ही प्राप्त होते है । उससे अनन्तभागवृद्धि वाले स्थानो से असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान असख्यात गुणित होते हैं ।

उन सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थानो से सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान सख्यात गुणित है । यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम संख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान मे पिछले अनन्तर स्थान की ,अपेक्षा सख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है । तब यदि पहले भी सख्यात-भागवृद्धि वाले स्थान मे सख्यातभागवृद्धि प्राप्त होती है तो उस प्रथम स्थान से उत्तरवर्ती अनन्तभागवृद्धि वाले और असख्यातभागवृद्धि वाले स्थानो की अपने आप ही सख्यातभाग वृद्धि होती है । क्योकि अनन्तभागवृद्धि अथवा असख्यातभागवृद्धि पूर्व-पूर्व के अनन्तरवर्ती स्थान की अपेक्षा से होती है । प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान से पुन, पूर्ववर्ती अनन्तर स्थान का आश्रय करके सभी अनन्तभागवृद्धि वाले और असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागबघस्थान उत्तरोत्तर अधिक

---

१ अनन्तरोपनिघा से अल्पवहुत्वप्ररूपणा का साराश इस प्रकार है कि अनन्तगुणवृद्धि के स्थान सवसे अल्प (कडकमात्र) है । उससे असख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे असख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे अनन्तभागवृद्धि के असख्यातगुण । गुणाकार कडक गुण और एक कडक प्रमाण है ।

और अधिकतर सख्यातभागवृद्धि वाले होते है। यह अधिकतर सख्यातभागवृद्धि तव तक कहना चाहिये, जब तक कि मूल द्वितीय सख्यातभाग अधिक अनुभागबधस्थान प्राप्त नही होता है।

द्वितीय मूल सख्यातभाग अधिक अनुभागस्थान दो सातिरेक सख्यातभाग से अधिक जानना चाहिये। तीसरा मूल सख्यातभाग अधिक अनुभागस्थान तीन सातिरेक सख्यातभागो से अधिक और चौथा चार सातिरेक सख्यातभागो से अधिक जानना चाहिये। इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट सख्यात के समान अन्तरालो मे होने वाले मूल सख्यातभागवृद्धि वाले स्थान होते है। अन्तराल मे ये जितने स्थान है वे सभी सख्यात वृद्धि वाले स्थान है किन्तु एक सर्व अन्तिम स्थान से कम जानना चाहिये। क्योकि उत्कृष्ट सख्यातवा असख्यभागवृद्धि वाला स्थान सख्यात गुणित होता है अर्थात दुगना होता है। इस कारण अन्तिम स्थान सख्यातभागवृद्धि की गणना मे छोड दिया जाता है तथा यहाँ जितने असख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान पहले कहे है, वे सब अन्तर-अन्तर मे होने वाले सख्यातभागवृद्धि वाले स्थानो के अन्तराल मे प्राप्त होते है। ये एक-एक के अन्तर मे होने वाले मूल सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान प्रस्तुत अनुभागस्थानो की विचारणा मे उत्कृष्ट सख्यात के समान प्रमाण वाले ग्रहण किये जाते है। केवल वही एक सर्व अन्तिम सख्यातभागवृद्धि वाला अनुभागस्थान छोडा जाता है। इसलिये असख्यातभागवृद्धि वाले स्थानो से सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभाग बध स्थान सख्यात गुणित ही होते है ।

उनसे भी सख्यातगुणीवृद्धि वाले अनुभागस्थान सख्यात गुणित होते है। वे कैसे ? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रथम सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभागस्थान से पूर्ववर्ती जो अनन्तर स्थान है, उसकी अपेक्षा आगे अन्तर-अन्तर मे होने वाले मूल सख्यातभागवृद्धि वाले अनुभाग स्थान उत्कृष्ट सख्यात के तुल्य उल्लघन करके आगे जाने पर अन्तिम अनुभागस्थान कुछ अधिक दुगुना पाया जाता है, तत्पश्चात् फिर उतने ही स्थान जाकर के अन्तिम अनुभागस्थान सातिरेक तिगुना प्राप्त होता है। इसी प्रकार चतुर्गुण स्थान भी जानना चाहिये। इस प्रकार उत्कृष्ट सख्यातगुणीवृद्धि प्राप्त होने तक कहना चाहिये। तत्पश्चात् फिर उत्कृष्ट सख्याततुल्य स्थान आगे जाकर जो अन्तिम अनुभागस्थान एक गुण अधिक होता है, वह जघन्य असख्यातगुण वाला स्थान कहलाता है। उससे आगे सख्यातभागवृद्धि वाले स्थानो से सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान सख्यात गुणित ही होते है। इसीलिये गाथा मे कहा है—सखेज्जक्खेसु सखगुण—अर्थात् सख्यात में यानी सख्यात-भागवृद्धि वाले सख्यातगुण रूप अनुभागस्थानो मे सख्येयगुण अर्थात् अनुभाग सख्यातगुणित कहना चाहिये।

उन सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो से भी असख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थान असख्यात गुणित होते है। यह कैसे कहा ? तो उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पूर्वोक्त अनन्तरवर्ती जघन्य असख्यात गुणित अनुभागस्थान से परे सभी अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यात-भागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागस्थान असख्यात गुणित प्राप्त होते है। इसलिये सख्यातगुणीवृद्धि वाले स्थानो से असख्यातगुणवृद्धि वाले अनुभागस्थान असख्यात

गुणित होते है । उनसे भी अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान असख्यात गुणित होते है । यह कैसे ? तो इसका उत्तर है कि यहाँ प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाले स्थान से आरभ करके षट्स्थानक की समाप्ति पर्यन्त जितने स्थान होते है, वे सभी अनन्तगुणवृद्धि वाले होते है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि प्रथम अनन्तगुणीवृद्धि वाला अनुभागस्थान पिछले अन्तरवर्ती स्थान की अपेक्षा अनन्त गुणो से अधिक होता है तो उससे उत्तरवर्ती अनन्तभागवृद्धि आदि वाले अनुभाग-स्थान उसकी अपेक्षा स्वत अनन्तगुणवृद्धि वाले होते है। जितने अनुभागस्थान पहले उल्लघन किये जा चुके है, उतने ही स्थान एक-एक अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थानो के अन्तर-अन्तर मे होने वाले स्थानो के अन्तराल मे होते है । वे अन्तरस्थान कडक प्रमाण होते है। इसलिये पहले कहे गये असख्यातगुणवृद्धि वाले स्थानो से अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान असख्यात गुणित होते है।

इस प्रकार परपरोपनिधा से अल्पवहुत्व प्ररूपणा का कथन जानना चाहिये[1] और अल्पवहुत्व-प्ररूपणा करने के साथ ही अनुभागबधस्थानो का विवेचन भी पूर्ण होता है।[2]

अब इन अनुभागबधस्थानो मे निष्पादक रूप से जीव जिस रीति से रहते है, उसकी प्ररूपणा करने का अवसर प्राप्त है । इस विषय में निम्नलिखित आठ अनुयोगद्वार है—

(१) प्रत्येक स्थान मे जीव प्रमाण–प्ररूपणा, (२) अन्तरस्थान-प्ररूपणा, (३) निरतरस्थान-प्ररूपणा, (४) नाना जीव-कालप्रमाण–प्ररूपणा, (५) वृद्धि–प्ररूपणा, (६) यवमध्य–प्ररूपणा, (७) स्पर्शना–प्ररूपणा, (८) अल्पबहुत्व–प्ररूपणा । इन आठ अनुयोगो मे से प्रथम एक-एक स्थान में नाना जीवो के प्रमाण व अन्तर का निरूपण करते है ।

प्रत्येक स्थान में जीवप्रमाण और अन्तर प्ररूपणा

थावरजीवाणंता, एक्केक्के तसजिया असंखेज्जा ।
लोगासिमसंखेज्जा, अंतरमह थावरे नत्थि ।।४४।।

शब्दार्थ—**थावरजीवा**–स्थावरजीव, **अणता**–अनन्त, **एक्केक्के**–एक-एक अध्यवसायस्थान मे, **तसजिया**–त्रसजीव, **असखेज्जा**–असख्यात, **लोगासिमसखेज्जा**–असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण, **अंतर**–अन्तर, **अह**–तथा, **थावरे**–स्थावरयोग्य अध्यवसायो में, **नत्थि**–(अतर) नही है ।

गाथार्थ—अनुभागबध के योग्य एक-एक अध्यवसायस्थान पर बधक रूप से स्थावर जीव अनन्त और त्रसजीव असख्य पाये जाते है। पुन त्रसजीवप्रायोग्य अध्यवसायस्थानो मे असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण का अन्तर रहता है तथा स्थावरप्रायोग्य अध्यवसायस्थानो में अन्तर नही रहता है ।

---

१ परपरोपनिधा से अल्पवहुत्वप्ररूपणा का साराश यह है कि अनन्तभागवृद्धि के स्थान सबसे कम, उससे असख्यातभागवृद्धि के स्थान असख्यातगुण, उससे सख्यातभागवृद्धि के स्थान सख्यातगुण, उससे सख्यात-गुणवृद्धि वाले स्थान सख्यातगुण, उससे असख्यातगुणवृद्धि वाले स्थान असख्यातगुण, उससे अनन्तगुणवृद्धि वाले स्थान असख्यातगुण।

२ अनुभागवध-विवेचन सवधी १४ अनुयोगद्वारो का साराश परिशिष्ट मे देखिये।

विशेषार्थ—स्थावर जीवो के अनुभागबध के योग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर अनन्त स्थावर जीव बधक के रूप मे पाये जाते है, किन्तु त्रस जीवो के बधयोग्य एक-एक अनुभागबध-स्थान पर जघन्य से एक-दो और उत्कृष्ट से असख्यात अर्थात् एक आवलिका के असख्यातवे भाग के जितने समय होते है, उनके प्रमाण असख्यात त्रस जीव प्राप्त होते है ।

इस प्रकार यह एक-एक स्थान मे जीवो के प्रमाण की प्ररूपणा है।[1] अब दूसरी अतरस्थान प्ररूपणा करते है ।

अन्तरस्थान की प्ररूपणा[2] के लिए गाथा मे 'लोगासिमित्यादि' पद कहा है । जिसका अर्थ यह है कि इन त्रस जीवो के असख्यात लोक अर्थात् असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अनुभाग-बधस्थानो का अन्तर होता है, अर्थात् इतने अनुभागबधस्थान त्रस जीवो के बध को प्राप्त नही होते है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि त्रसयोग्य अर्थात् त्रस जीवो के बधयोग्य जितने अनुभाग-बधस्थान है, वे सभी बध को प्राप्त नही होते है । वे अनुभागस्थान जघन्यपद की अपेक्षा एक या दो और उत्कृष्टपद की अपेक्षा असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते है और स्थावर जीवो के बधने योग्य अनुभागस्थानो मे अन्तर नही है । क्योकि सभी स्थान स्थावरो के योग्य है, अर्थात् स्थावर जीवो के द्वारा सदा ही अपने योग्य सभी अनुभागस्थान बाधे जाते हुए प्राप्त होते है । यह कैसे जाना ? तो इसका उत्तर यह है कि ससार में स्थावर जीव अनन्त है किन्तु स्थावरो के बधयोग्य अनुभागस्थान असख्यात ही है । इसलिये उनमे अन्तर प्राप्त नही होता है । यह अन्तरप्ररूपणा का अभिधेय है ।[3]

इस तरह प्रतिस्थान जीवो के प्रमाण और अन्तरस्थान की प्ररूपणा करने के बाद आगे की गाथा मे निरन्तरस्थान और नानाजीवकाल प्ररूपणा का विवेचन करते है ।

निरन्तरस्थान एव नानाजीवकाल प्ररूपणा

आवलि असंखभागो, तसा निरंतरं अहेगठाणम्मि ।
नाणा जीवा एवइ-कालं एगिंदिया निच्चं ।।४५।।

---

१ उक्त जीवप्रमाणप्ररूपणा का साराश यह है कि स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान मे अनन्त स्थावर जीव पाये जाते हैं । उनमे जघन्य, उत्कृष्ट का भेद नही है और त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभाग-बधस्थान मे जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण त्रस जीव पाये जाते है।

२ पक्ति रूप मे स्थापित अध्यवसायो के मध्य मे जो बधरहित स्थानो का अन्तर पडता है उस पक्तिगत अन्तर की प्ररूपणा करने को अन्तरप्ररूपणा कहते हैं। जैसे ○○○○ ●●● इस स्थापना में जो खुले हुए गोलाकार शून्य हैं वे बधरहित स्थान के दर्शक यानी अन्तर रूप हैं। अन्तरप्ररूपणा मे पक्तिबद्ध अन्तर को ग्रहण किया जाता है, किन्तु जुदे-जुदे बिखरे हुए बधशून्यस्थान के समुदाय की अपेक्षा अन्तरप्ररूपणा नही समझना चाहिये ।

३ उक्त कथन का साराश यह है कि स्थावरप्रायोग्य अनु स्थानो मे अन्तर नही होता है और त्रसप्रायोग्य अनु स्थानो मे जघन्य से १, २ और उत्कृष्ट से असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानो का अन्तर होता है, अर्थात् उतने स्थान बधशून्य होते हैं ।

शब्दार्थ—आवलिअसखभागो–आवलिका का असख्यातवा भाग, तसा–त्रस जीव, निरतर–निरतर, अह्–तथा, एगठाणम्मि–एक स्थान मे, नाणा–अनेक, जीवा–त्रस जीव, एवइ–इतने ही, काल–समय, एगिंदिया–एकेन्द्रिय जीव, निच्चं–नित्य बधक ।

गाथार्थ—त्रस जीवो द्वारा निरन्तर वध्यमान स्थान आवलिका के असख्यात भाग प्रमाण है तथा अनेक त्रस जीवो की अपेक्षा भी एक स्थान का बधकाल इतना ही है और स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागस्थान मे एकेन्द्रिय जीव नित्य यानी सर्वकाल बधक रूप मे पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ गाथा मे आगत 'तसा' यह प्रथमान्त पद ततीया विभक्ति के अर्थ मे है। अर्थात् बध का आश्रय करके त्रसजीवो के द्वारा निरन्तर वध्यमान स्थान आवलिका के असख्यातवे भाग काल प्रमाण होते है। इसका अभिप्राय यह है कि त्रस जीवो के द्वारा निरन्तर वाधे जाने वाले अनुभागबधस्थान जघन्य रूप से दो या तीन पाये जाते है और उत्कृष्ट रूप से आवलिका के असख्यातवे भागप्रमाण काल तक पाये जाते हैं। यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि त्रस जीव अल्प है और त्रसप्रायोग्य अनुभागबधस्थान असख्यात हैं । इसलिये त्रस जीवो के द्वारा सभी स्थान क्रम से निरतर वाधे जाने वाले के रूप मे प्राप्त नही होते है । किन्तु उत्कर्ष से भी यथोक्त प्रमाण ही अर्थात् आवलिका के असख्यातवें भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण ही पाये जाते है । यह निरन्तरस्थानप्ररूपणा का आशय है ।[1]

अब नाना जीवो की अपेक्षा कालप्ररूपणा करते है । इसके लिये गाथा में 'अहेगठाणम्मि' इत्यादि पद कहा है । अर्थात् एक-एक अनुभागबधस्थान नाना जीवो के द्वारा बाधा जाता हुआ कितने काल तक उनसे अविरहित पाया जाता है, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है कि त्रस-प्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर नाना प्रकार के त्रस जीव जघन्य से एक समय तक और उत्कर्ष से 'एवइकाल' अर्थात् इतने काल तक जिसका कि स्वरूप पहले कहा गया है, उस आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र काल तक निरतर बधक रूप से पाये जाते है । उससे परे अवश्य ही वह अनुभागबधस्थान बधशून्य हो जाता है। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि एक-एक त्रसप्रायोग्य अनुभागबधस्थान अन्य-अन्य त्रस जीवो के द्वारा निरतर बाधा जाता हुआ जघन्य से एक समय या दो समय तक पाया जाता है और उत्कर्ष से आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण काल तक पाया जाता है ।

'एगिंदिया निच्च' स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर नाना प्रकार के एकेन्द्रिय जीव नित्य अर्थात् सर्वकाल अविरहित रूप से बध करने वाले पाये जाते है अर्थात् स्थावरप्रायोग्य कोई भी अनुभागस्थान कदाचित् भी स्थावर जीवो के द्वारा बधशून्य नही होता है । इस कथन का

१ यहा 'निरतर' शब्द वध्यमान स्थानो के अनन्तरानन्तरत्व का दर्शक है कि त्रस जीव द्वारा निरतर बाधे जाने वाले अनु० स्थान कितने हो सकते है ? किन्तु कालबोधक नही है। त्रस जीव द्वारा निरन्तर वध्यमान अनु स्थान जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। ।म.स.टी.।
प्ररूपणा का विचार त्रस जीवो मे सभव है। स्थावर जीव तो सदैव एक जैसा वध करते रहते हैं।

विशेषार्थ—स्थावर जीवो के अनुभागबध के योग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर अनन्त स्थावर जीव बधक क रूप मे पाये जाते है, किन्तु त्रस जीवो के बधयोग्य एक-एक अनुभागबध-स्थान पर जघन्य से एक-दो और उत्कृष्ट से असख्यात अर्थात् एक आवलिका के असख्यातवे भाग के जितने समय होते है, उनके प्रमाण असख्यात त्रस जीव प्राप्त होते है ।

इस प्रकार यह एक-एक स्थान मे जीवो के प्रमाण की प्ररूपणा है।[1] अव दूसरी अतरस्थान प्ररूपणा करते है ।

अन्तरस्थान की प्ररूपणा[2] के लिए गाथा मे 'लोगासिमित्यादि' पद कहा है । जिसका अर्थ यह है कि इन त्रस जीवो के असख्यात लोक अर्थात् असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अनुभाग-बधस्थानो का अन्तर होता है, अर्थात् इतने अनुभागबधस्थान त्रस जीवो के बध को प्राप्त नही होते है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि त्रसयोग्य अर्थात् त्रस जीवो के बधयोग्य जितने अनुभाग-बधस्थान है, वे सभी बध को प्राप्त नही होते है । वे अनुभागस्थान जघन्यपद की अपेक्षा एक या दो और उत्कृष्टपद की अपेक्षा असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण होते है और स्थावर जीवो के बधने योग्य अनुभागस्थानो मे अन्तर नही है । क्योकि सभी स्थान स्थावरो के योग्य है, अर्थात् स्थावर जीवो के द्वारा सदा ही अपने योग्य सभी अनुभागस्थान बाधे जाते हुए प्राप्त होते है । यह कैसे जाना ? तो इसका उत्तर यह है कि ससार में स्थावर जीव अनन्त है किन्तु स्थावरो के बधयोग्य अनुभागस्थान असख्यात ही है । इसलिये उनमे अन्तर प्राप्त नही होता है । यह अन्तरप्ररूपणा का अभिधेय है।[3]

इस तरह प्रतिस्थान जीवो के प्रमाण और अन्तरस्थान की प्ररूपणा करने के बाद आगे की गाथा मे निरन्तरस्थान और नानाजीवकाल प्ररूपणा का विवेचन करते है ।

निरन्तरस्थान एव नानाजीवकाल प्ररूपणा

आवलि असंखभागो, तसा निरंतरं अहेगठाणम्मि ।
नाणा जीवा एवइ-काल एगिंदिया निच्चं ।।४५।।

---

१ उक्त जीवप्रमाणप्ररूपणा का साराश यह है कि स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान में अनन्त स्थावर जीव पाये जाते है। उनमे जघन्य, उत्कृष्ट का भेद नही है और त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभाग-बधस्थान मे जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण त्रस जीव पाये जाते हैं।

२ पक्ति रूप मे स्थापित अध्यवसायो के मध्य मे जो बधरहित स्थानो का अन्तर पडता है उस पक्तिगत अन्तर की प्ररूपणा करने को अन्तरप्ररूपणा कहते हैं। जैसे ○○○○ ●●● इस स्थापना मे जो खुले हुए गोलाकार शून्य हैं वे बधरहित स्थान के दर्शक यानी अन्तर रूप हैं। अन्तरप्ररूपणा मे पक्तिबद्ध अन्तर को ग्रहण किया जाता है, किन्तु जुदे-जुदे बिखरे हुए बधशून्यस्थान के समुदाय की अपेक्षा अन्तरप्ररूपणा नही समझना चाहिये।

३ उक्त कथन का साराश यह है कि स्थावरप्रायोग्य अनु स्थानो मे अन्तर नही होता है और त्रसप्रायोग्य अनु स्थानो मे जघन्य से १, २ और उत्कृष्ट से असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानो का अन्तर होता है, अर्थात् उतने स्थान बधशून्य होते हैं।

शब्दार्थ—आवलिअसंखभागो–आवलिका का असख्यातवा भाग, तसा–त्रस जीव, निरतर–निरतर, अह–तथा, एगठाणम्मि–एक स्थान मे, नाणा–अनेक, जीवा–त्रस जीव, एवइ–इतने ही, काल–समय, एगिंदिया–एकेन्द्रिय जीव, निच्च–नित्य बधक।

गाथार्थ—त्रस जीवो द्वारा निरन्तर बध्यमान स्थान आवलिका के असख्यात भाग प्रमाण है तथा अनेक त्रस जीवो की अपेक्षा भी एक स्थान का बधकाल इतना ही है और स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागस्थान मे एकेन्द्रिय जीव नित्य यानी सर्वकाल बधक रूप से पाये जाते है।

विशेषार्थ—यहाँ गाथा मे आगत 'तसा' यह प्रथमान्त पद तृतीया विभक्ति के अर्थ मे है। अर्थात् बध का आश्रय करके त्रसजीवो के द्वारा निरन्तर बध्यमान स्थान आवलिका के असख्यातवें भाग काल प्रमाण होते है। इसका अभिप्राय यह है कि त्रस जीवो के द्वारा निरन्तर बाधे जाने वाले अनुभागबधस्थान जघन्य रूप से दो या तीन पाये जाते है और उत्कृष्ट रूप से आवलिका के असख्यातवे भागप्रमाण काल तक पाये जाते है। यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि त्रस जीव अल्प है और त्रसप्रायोग्य अनुभागबधस्थान असख्यात है। इसलिये त्रस जीवो के द्वारा सभी स्थान क्रम से निरतर बाधे जाने वाले के रूप मे प्राप्त नही होते है। किन्तु उत्कर्ष से भी यथोक्त प्रमाण ही अर्थात् आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण ही पाये जाते है। यह निरन्तरस्थानप्ररूपणा का आशय है।[1]

अब नाना जीवो की अपेक्षा कालप्ररूपणा करते है। इसके लिये गाथा मे 'अहेगठाणम्मि' इत्यादि पद कहा है। अर्थात् एक-एक अनुभागबधस्थान नाना जीवो के द्वारा बाधा जाता हुआ कितने काल तक उनसे अविरहित पाया जाता है, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है कि त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर नाना प्रकार के त्रस जीव जघन्य से एक समय तक और उत्कर्ष से 'एवइकाल' अर्थात् इतने काल तक जिसका कि स्वरूप पहले कहा गया है, उस आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र काल तक निरतर बधक रूप से पाये जाते है। उससे परे अवश्य ही वह अनुभागबधस्थान बधशून्य हो जाता है। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि एक-एक त्रसप्रायोग्य अनुभागबधस्थान अन्य-अन्य त्रस जीवो के द्वारा निरतर बाधा जाता हुआ जघन्य से एक समय या दो समय तक पाया जाता है और उत्कर्ष से आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण काल तक पाया जाता है।

'एगिंदिया निच्च' स्थावरप्रायोग्य एक-एक अनुभागबधस्थान पर नाना प्रकार के एकेन्द्रिय जीव नित्य अर्थात् सर्वकाल अविरहित रूप से बध करने वाले पाये जाते है अर्थात् स्थावरप्रायोग्य कोई भी अनुभागस्थान कदाचित् भी स्थावर जीवो के द्वारा बधशून्य नही होता है। इस कथन का

१. यहा 'निरतर' शब्द बध्यमान स्थानो के अनन्तरानन्तरत्व का दर्शक है कि त्रस जीव द्वारा निरतर बाधे जाने वाले अनु० स्थान कितने हो सकते है ? किन्तु कालबोधक नही है। त्रस जीव द्वारा निरन्तर बध्यमान अनु० स्थान जघन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। निरतरस्थान-प्ररूपणा का विचार त्रस जीवो मे सभव है। स्थावर जीव तो सदैव एक जैसा बध करते रहते हैं।

अभिप्राय यह है कि एक-एक स्थावरप्रायोग्य अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य स्थावर जीवो के द्वारा निरतर बाधा जाता हुआ सर्वकाल मे पाया जाता है, कदाचित् भी बंधरहित नही होता है ।

इस प्रकार नाना जीवो का आश्रय करके कालप्ररूपणा की गई।[1] अब वृद्धिप्ररूपणा का अवसर है।

वृद्धिप्ररूपणा

इस प्ररूपणा के दो अनुयोगद्वार है, यथा—१ अनन्तरोपनिधा और २ परपरोपनिधा । इसमे से पहले अनन्तरोपनिधा के माध्यम से वृद्धिप्ररूपणा करते है—

थोवा जहन्नठाणे, जा जवमज्झं विसेसओ अहिआ ।
एत्तो हीणा उक्कोसगं ति जीवा अणंतरओ ।।४६।।

शब्दार्थ—**थोवा**—अल्प, थोडे, **जहन्नठाणे**—जघन्य अनुभागस्थान में वर्तमान जीव, **जा**—यावत्, पर्यन्त, तक, **जवमज्झं**—यवमध्य, **विसेसओ**—विशेष, **अहिया**—अधिक, **एत्तो**—यहाँ से, **हीणा**—हीन, **उक्कोसगं ति**—उत्कृष्ट स्थान तक, **जीवा**—जीव, **अणंतरओ**—अनन्तरपने से ।

गाथार्थ—जघन्य अनुभागबंधस्थान पर जीव सबसे कम होते है और उससे आगे यवमध्य तक के स्थानो मे अनन्तर रूप से विशेष-विशेष अधिक होते है । यहाँ से आगे उत्कृष्ट स्थान तक हीन-हीनतर होते है ।

विशेषार्थ—जघन्य अनुभागबंधस्थान पर बंधक रूप से वर्तमान जीव सबसे थोडे होते है, उससे द्वितीय अनुभागबंधस्थान पर जीव विशेषाधिक होते है, उससे भी तृतीय अनुभागबंधस्थान पर विशेषाधिक होते है। इस प्रकार यह क्रम तब तक कहना चाहिये, जब तक कि 'जवमज्झ' अर्थात् यवमध्य रूप सर्व अनुभागस्थानो का अष्टसामयिक मध्यभाग प्राप्त होता है। उससे ऊपर पुन जीव अनन्तर-अनन्तर क्रम से विशेषहीन-विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक (हानि की अपेक्षा) उत्कृष्ट द्विसामयिक अनुभागबंधस्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की गई, अब परपरोपनिधा से प्ररूपणा करते है—

गं ़ मसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव जवमज्झं ।
एत्तो य दुगुणहीणा, एवं उक्कोसग जाव ।।४७।।

शब्दार्थ—**गंतूण**—उल्लघन, अतिक्रमण कर, **असखेज्जे**—असख्यात, **लोगे**—लोकप्रमाण, **दुगुणाणि**—दुगुने, **जाव**—यावत्, तक के, **जवमज्झ**—यवमध्य, **एत्तो**—इसके बाद, **य**—और **दुगुणहीणा**—द्विगुण-द्विगुणहीन, **एव**—इस प्रकार, **उक्कोसग**—उत्कृष्टस्थान, —तक।

१ नाना जीवापेक्षा कालप्रमाणप्ररूपणा का यह आशय है कि त्रसप्रायोग्य एक-एक अनुभागबंधस्थान अन्य-अन्य त्रस जीवो द्वारा जघन्य से निरन्तर एक या दो समय और उत्कृष्ट से आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण काल तक निरन्तर रूप से बधते हैं और स्थावरप्रायोग्य अनु० स्थान अन्य-अन्य स्थावर जीव निरन्तर सदैव बाधते रहते हैं।

गाथार्थ—असख्यात लोकप्रमाण स्थानो का उल्लघन कर जीव दुगुने पाये जाते है। यह अनन्तर-अनन्तर का क्रम यवमध्य तक जानना चाहिये। उसके आगे दुगुणहीन जीव प्राप्त होते है। इस प्रकार यह क्रम उत्कृष्ट अनुभागबधस्थान तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—जघन्य अनुभागबधस्थान का बध करने वाले से आगे अर्थात् जघन्य अनुभाग-बधस्थान से आरभ करके असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानो का उल्लघन करके जो आगे का अनुभागबधस्थान प्राप्त होता है, उसके बध करने वाले जीव 'द्विगुणवृद्धा' द्विगुणवृद्धि वाले यानी दुगुने (द्विगुण जितने अधिक) होते है। तदनन्तर फिर उतने ही अनुभागबधस्थानो का अतिक्रमण करके जो अग्रिम अनुभागबधस्थान प्राप्त होता है, उसके बधक भी द्विगुणवृद्धि वाले होते है। इस प्रकार यह द्विगुणवृद्धि तब तक कहना चाहिये, जब तक यवमध्य प्राप्त होता है। उससे आगे असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थानो का उल्लघन करके जो आगे का अनुभाग-बधस्थान प्राप्त होता है, उसके बधक जीव पिछले कहे गये जीवो से द्विगुणहीन, अर्थात् आधे होते है। तदनन्तर, फिर उतने ही स्थानो का उल्लघन करके प्राप्त होने वाले ऊपर के अनुभाग-बधस्थान के बधक जीव द्विगुणहीन अर्थात् आधे होते है। इस प्रकार यह द्विगुणहानि अपने-अपने योग्य सर्वोत्कृष्ट अनुभागबधस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

अब द्विगुण वृद्धि-हानिरूप स्थान कितने है, इसको स्पष्ट करते है—

नाणंतराणि आवलिय असंखभागो तसेसु इयरेसु ।
एगंतरा असंखि गुणाइं ठाणंतराइं तु ।।४८।।

शब्दार्थ—**नाणतराणि**—नाना प्रकार के अन्तरस्थान, **आवलिय**—आवलिका के, **असंखभागो**—असख्यातवे भाग प्रमाण, **तसेसु**—त्रसजीवो मे, **इयरेसु**—इतर (स्थावर) जीवो मे, **एगंतरा**—एक अन्तर के स्थानो से, **असखियगुणाइ**—असख्यातगुण, **ठाणंतराइं**—अन्तर वाले स्थान, **तु**—और।

गाथार्थ—त्रसकाय जीवो में आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण अन्तर (वृद्धि और हानि के अपान्तराल मे विद्यमान) प्राप्त होते है और स्थावर जीवो मे एक अन्तर के स्थानो से असख्यात-गुण अन्तर प्राप्त होते है।

विशेषार्थ—नाना अन्तर अर्थात् नाना प्रकार के द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले अपान्तराल रूप जो स्थान है, वे त्रसकाय जीवो मे आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण होते है।[1]

प्रश्न—आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र ही अनुभागबधस्थान त्रस जीवो के द्वारा निरन्तर बध्यमान प्राप्त होते है, यह पहले कहा गया है,[2] तब फिर त्रस जीवो मे द्विगुणवृद्धि और द्विगुण-

१ दो द्विगुणवृद्धि और दो द्विगुणहानि के जो अन्तराल होते है, उनमे असख्यलोकप्रमाण अनुभागबधस्थान हैं, वैसे आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण अन्तरालो मे जितने अनुभागबधस्थान हैं, वे सब त्रस-जीवप्रायोग्य है।

२ गाथा ४५ मे।

हानि वाले स्थान यथोक्त प्रमाण अर्थात् आवलिका के असख्यातवे भागप्रमाण कैसे हो सकते है? इस प्रकार तो एक भी द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि प्राप्त नही होती है।[1]

उत्तर—इसमे कोई दोष नही है। क्योकि पहले आवलिका के असख्यातवें भागमात्र स्थान त्रस जीवो के द्वारा निरन्तर बध्यमान रूप से प्राप्त होते है, यह कहा गया है, किन्तु यहा पर तो आवलिका के असख्यातवें भाग मात्र स्थानो से परवर्ती बध्यमान स्थान वर्तमान मे प्राप्त नही होते है, तथापि कदाचित् प्राप्त होते है और उन स्थानो मे जीव उत्कृष्टपद मे क्रम से विशेषाधिक पाये जाते है। इसलिए यथोक्त प्रमाण वाले द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान विरोध को प्राप्त नही होते है।

इतर अर्थात् स्थावर जीवो में त्रसकायिक सबघी एक अन्तर से असख्यात गुणित नाना रूप अन्तर अर्थात् द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान होते है। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि *त्रसकायिक जीवो के दो द्विगुणवृद्धि अथवा दो द्विगुणहानि के एक अपान्तराल मे जितने स्थान* होते है, उनसे असख्यात गुणित द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान स्थावर जीवो के होते है।[2]

त्रस जीवो मे द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान अल्प होते है। एक द्विगुणवृद्धि अथवा द्विगुणहानि के अपान्तराल से जो स्थान होते है, वे उनसे असख्यातगुणित होते है। स्थावर जीवो के तो दो द्विगुणवृद्धि अथवा दो द्विगुणहानि इन दोनो के ही अपान्तराल मे जो स्थान होते है, वे अल्प है और द्विगुणवृद्धि तथा द्विगुणहानि वाले अन्तराल स्थान उनसे असख्यात गुणित होते है, यह वृद्धिप्ररूपणा की परपरोपनिधा का अभिप्राय है।[3]

इस प्रकार वृद्धिप्ररूपणा का विवेचन किया गया। अब यवमध्यप्ररूपणा करते है।

ध्यप्ररूपणा

यवमध्य के अष्टसामयिक अनुभागबघस्थान शेष स्थानो की अपेक्षा असख्यातवे भाग मात्र होते है तथा यवमध्य के अघोवर्ती स्थान अल्प है और उनसे यवमध्य के उपरिवर्ती स्थान असख्यात गुणित होते है। कहा भी है—

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि यदि ४५वी गाथा के अनुसार त्रस जीवो मे अनुभागस्थानो की प्राप्ति मानें तो एक भी अन्तराल प्राप्त नही होगा। क्योकि एक अन्तराल में अनुभागस्थान तो असख्यातलोक प्रमाण कहे है और पूर्व मे त्रसजीव मे आवलिका के असख्यातभागप्रमाण अनुभागस्थान कहे है।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि त्रसकायिक जीवो के दो द्विगुणवद्धि अथवा दो द्विगुणहानि के एक अन्तर मे जितने अनुभागस्थान है, उनसे असख्यातगुण अन्तर स्थावरकाय जीवो मे प्राप्त होते है।

३ उक्त परपरोपनिधा के विवेचन का साराश यह है कि जघन्य अनुभागस्थानबधक जीवो की अपेक्षा उस स्थान से असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थान का उल्लघन करने के अनन्तर प्राप्त स्थान मे बधक रूप से पाये जाने वाले जीव दुगने, उससे आगे उतने स्थानो का अतिक्रमण करने के बाद दुगने, इस प्रकार यवमध्य (अष्टसामयिकस्थानो) तक कहना चाहिये और उससे आगे उतने-उतने स्थानो के अतिक्रमण से द्विगुणहीन, द्विगुणहीन करते हुए उत्कृष्ट स्थान तक जानना। त्रस जीवो मे द्विगुण हानि और वृद्धि के स्थान आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण और स्थावर जीवो मे असख्यात लोकाकाशप्रदेश से असख्यात गुण है।

जवमज्झे ठाणाइं, असंखभागो उ सेसठाणाणं।
हेठम्मि होंति थोवा, उवरिम्मि असखगुणियाणि ॥[1]

अर्थ—यवमध्य मे अनुभागस्थान शेष स्थानो के असख्यातवे भाग होते है तथा यवमध्य से नीचे के स्थान अल्प होते है और ऊपर असख्यातगुणित होते है।

इस प्रकार यवमध्यप्ररूपणा करने के अनन्तर अब स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा करते हैं।

स्पर्शना और अल्पबहुत्व प्ररूपणा

फासणकाला तीए, थोवो उक्कोसगे जहन्ने उ।
होइ असंखेज्जगुणो, य उ कंडगे तत्तिओ चेव ॥४९॥
जवमज्झ कंडगोवरि, हेट्ठो जवमज्झओ असंखगुणो।
कमसो जवमज्झुवरिं, कंडगहेट्ठा य तावइओ ॥५०॥
जवमज्झुवरि विसेसो, कंडगहेट्ठा य सव्वहिं चेव।
जीवप्पाबहुमेवं, अज्झवसाणेसु जाणेज्जा ॥५१॥

शब्दार्थ—फासणकालो—स्पर्शनाकाल, तीए—अतीतकाल मे, थोवो—सबसे कम, उक्कोसगे—उत्कृष्ट स्थान मे, जहन्ने उ—और जघन्य स्थान में तो, होइ—होता है, असखेज्जगुणो—असख्यात गुणा, य—और, उ—तो, कडगे—कंडक मे, तत्तिओ—उतना, चेव—ही।

जवमज्झ—यवमध्य स्थान का, कडगोवरि—कडक के ऊपर, हेट्ठो—नीचे के, जवमज्झओ—यवमध्य से, असखगुणो— असख्यात गुण, कमसो—क्रमश, जवमज्झुवरिं—यवमध्य से ऊपर, कंडगहेट्ठा—कडक से नीचे के, य—और, तावइओ—उतने ही।

जवमज्झुवरि—यवमध्य से ऊपर के, विसेसो—विशेषाधिक, कडगहेट्ठा—कडक के अधोवर्ती, य—और, सव्वहिं—समस्त स्थानो का, चेव—और इस प्रकार, जीवप्पाबहु—जीवो का अल्पबहुत्व, एव—इस तरह, अज्झवसाणेसु—अध्यवसायो मे, जाणेज्जा—जानना चाहिये।

गाथार्थ—(एक जीव की अपेक्षा) अतीतकाल में उत्कृष्ट (द्विसामयिक स्थानो का) स्पर्शनाकाल सबसे कम है, उससे जघन्य (अर्थात् आद्य चतु सामयिक) स्थान का स्पर्शनाकाल असख्यात गुणा है। उससे कडक में (उत्तरवर्ती चतु सामयिक) स्थानो का स्पर्शनाकाल उतना ही अर्थात् तुल्य है।

उस यवमध्य रूप अष्टसामयिक स्थान का तथा कडक के उपरिवर्ती त्रिसामयिक स्थान का तथा यवमध्य के पूर्ववर्ती सप्त, षट् और पच सामयिक स्थानो का स्पर्शनाकाल अनुक्रम से असख्यात गुणा है। उससे कडक के पूर्ववर्ती और यवमध्य के उत्तरवर्ती सप्त, षट् और पच सामयिक स्थानो का स्पर्शनाकाल तुल्य है।

---

१ पचसग्रह, बधनकरण गाथा ६७

उससे यवमध्य के उत्तरवर्ती (सप्तसामयिक आदि सर्व) स्थानो का स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है। उससे कडक के पूर्ववर्ती सभी अर्थात् उत्तर त्रिसामयिक से पूर्व चतु सामयिक तक के स्थानो का एक जीव सबधी स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है । इसी प्रकार अध्यवसायस्थानो मे जीवो का अल्पवहुत्व भी जानना चाहिये।

विशेषार्थ—अतीत काल मे एक जीव के उत्कृष्ट अर्थात् द्विसामयिक अनुभागबधस्थान में स्पर्शनाकाल अल्प है। इसका आशय यह है कि भूतकाल मे परिभ्रमण करते हुए जीव के द्वारा द्विसामयिक अनुभागबधस्थान अल्प ही स्पर्श किये गये है । जघन्य अनुभागबधस्थान मे अर्थात् प्राथमिक चतु सामयिक स्थानो मे अतीतकाल मे स्पर्शनाकाल असख्यात गुणा है और 'कडगे तत्तिओ चेव'—कडक मे भी उतना ही है, अर्थात् उपरितन चतु सामयिक अनुभागबधस्थान मे भी उतना ही है, जितना कि आद्य चतु सामयिक स्थानो का है । इससे यवमध्य मे अर्थात् अष्टसामयिक अनुभागस्थानो मे स्पर्शनाकाल असख्यात गुणित है। उससे कडक के अर्थात् उपरिवर्ती चतु सामयिक स्थानो के समुदाय रूप स्थान के उपरिवर्ती स्थानो मे अर्थात् त्रिसामयिक अनुभागबधस्थानो मे स्पर्शनाकाल असख्यात गुणित है । उससे यवमध्य के अधोवर्ती पचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबधस्थानो मे स्पर्शनाकाल असख्यात गुणा है, किन्तु स्वस्थान मे स्पर्शनाकाल परस्पर समान है । इससे आगे क्रमश यवमध्य के उपरिवर्ती चतु सामयिक स्थान के समुदाय रूप कडक के अधोवर्ती सभी अनुभागबधस्थानो मे जघन्य चतु सामयिक पर्यन्त स्पर्शनाकाल समुदित रूप से विशेषाधिक है । उससे सभी अनुभागबधस्थानो मे स्पर्शनाकाल विशेषाधिक है ।

इस प्रकार स्पर्शनाप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप मे किया है—

एक जीव भी अपेक्षा अनुभागस्थानो का स्प ˙ ल

क्रम	स्थान का नाम	समय	क्रम	स्थान का नाम	समय
१	द्विसामयिक स्थानो का	सर्वाल्प	८	यवमध्य से पूर्व सप्तसामयिक का	पूर्वतुल्य
२	प्रथम चतु सामयिक का	असख्यात गुण	९	कडक से पूर्व के पचसामयिक का	"
३	कडक (उत्तर चतु सामयिक) का	पूर्वतुल्य	१०	" षट्सामयिक का	"
४	अष्टसामयिक का	असख्य गुण	११	" सप्तसामयिक का	"
५	त्रिसामयिक का	"	१२	यवमध्य से उत्तर के सर्वस्थानो का	विशेषाधिक
६	यवमध्य से पूर्व पचसामयिक का	"	१३	कडक से पूर्व के सर्वस्थानो का	"
७	यवमध्य से पूर्व षट्सामयिक का	पूर्वतुल्य	१४	सर्वस्थानो का	"

अब अल्पवहुत्वप्ररूपणा करते है—जीवप्पाबहु इत्यादि। अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शनाकाल का अल्पवहुत्व कहा है, उसी प्रकार अनुभागबधस्थानो के निमित्तभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीवो का भी अल्पवहुत्व जानना चाहिये । वह इस प्रकार है—

द्विसामयिक अनुभागबध के कारणभूत उत्कृष्ट अध्यवसायो म वर्तमान जीव अल्प होते हैं । उनसे चतु सामयिक अनुभागबध के कारणभूत जघन्य अर्थात् आदि के अध्यवसायो मे जीव असख्यात गुणित होते है और इतने ही जीव उपरिवर्ती चतु सामयिक अनुभागबधस्थान के कारणभूत अध्यवसायो मे होते है । उससे भी यवमध्य कल्प अनुभागबधस्थानो के कारणभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव असख्यात गुणित होते है । उनसे भी त्रिसामयिक अनुभागबध-स्थानो के निमित्तभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव असख्यात गुणित होते है । उनसे भी आदि के पचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबधस्थानो के कारणभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव असख्यात गुणित होते है और इतने ही उपरिवर्ती पचसामयिक, षट्सामयिक और सप्तसामयिक अनुभागबधस्थानो के निमित्तभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव पाये जाते हैं । इससे यवमध्य के उपरिवर्ती समस्त अनुभागबधस्थानो के निमित्तभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं । इनसे भी उपरिवर्ती पचसामयिक पर्यन्त प्राथमिक चतु सामयिक आदि समस्त अनुभागबधस्थानो के कारणभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव विशेषाधिक होते है । इनसे भी सभी अनुभागबधस्थानो के कारणभूत अध्यवसायो मे वर्तमान जीव विशेषाधिक होते हैं ।[1]

इस प्रकार अनुभागबधस्थानो मे और उनके कारणभूत अध्यवसायों मे जिस प्रकार से जीव पाये जाते है, उसकी प्ररूपणा करने के बाद अब एक-एक स्थितिबधस्थान के अध्यवसाय मे नाना जीवो की अपेक्षा कितने अनुभागबधाध्यवसाय प्राप्त होते है, इसका निरूपण करते है—

एक्केक्कम्मि क ो-दयम्मि लोगा असंखिया होंति ।
ठिइबंधट्ठाणेसु वि, अज्झवसाणाण ठाणाणि ।।५२।।

शब्दार्थ—**एक्केक्कम्मि**—एक-एक, **कसायोदयम्मि**—कषायोदय मे, **लोगा**—लोक, **असंखिया**—असख्यात, **होंति**—होते है, **ठिइबंधट्ठाणेसु**—स्थितिबधस्थानो मे, **वि**—भी, **अज्झ णाण**—अध्यवसायो के, **ठाणाणि**—स्थान ।

गाथार्थ—(स्थितिस्थान हेतुभूत) एक-एक कषायोदय मे असख्यात लोक प्रमाण अनुभागबध के अध्यवसायस्थान होते है और सर्व स्थितिबधस्थानो में भी प्रत्येक के ऊपर असख्यात लोकप्रमाण अध्यवसायस्थान प्राप्त होते है ।

विशेषार्थ—स्थितिस्थान के कारणभूत एक-एक कषायोदय मे नाना जीवो की अपेक्षा कृष्णादि लेश्याजनित परिणामविशेषरूप अनुभागबधाध्यवसाय असख्यात लोकप्रमाण होते है । अर्थात्

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि किस प्रकार के अनुभागबध मे वर्तमान जीव अल्पाधिक होते हैं, उसकी विचारणा इस अल्पबहुत्वप्ररूपणा में की गई है । यह अल्पबहुत्व स्पर्शनाकाल के अल्पबहुत्व के समान समझना चाहिये । अर्थात् द्विसामयिक अध्यवसायो मे वर्तमान जीव अल्प होते हैं, उससे प्रथम चतु सामयिक अध्यवसायो मे वर्तमान असख्यातगुणे । इसी प्रकार क्रमश उत्तरोतर अंतिम चौदहवें स्थान तक कथन करना चाहिये ।

असख्यात लोकाकाशप्रदेशो का जितना प्रमाण होता है, उतने ही होते है, क्योकि शास्त्रो मे ऐसा कहा है कि—

'सकषायोदया हि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषा अनुभागवधहेतव'—कषायोदय मे होने वाले कृष्णादि लेश्याओ के परिणामविशेष अनुभागबध के कारण है तथा जघन्यस्थिति से प्रारभ करके उत्कृष्टस्थिति तक जितने समय होते है, उतने ही स्थिति के स्थान होते है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि किसी भी कर्म की जो सर्व जघन्यस्थिति होती है, वह एक स्थितिस्थान कहलाता है। वही एक समय अधिक होने पर दूसरा स्थितिस्थान कहलाता है। वही दो समय अधिक होने पर तीसरा स्थितिस्थान कहलाता है। इस प्रकार एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्टस्थिति प्राप्त होने तक स्थितिस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये स्थितिस्थान असख्यात होते है। उन असख्य स्थितिस्थानो मे प्रत्येक एक-एक स्थितिबधस्थान मे तीव्र, तीव्रतर और मद, मदतर आदि कषायोदयविशेषरूप अध्यवसायस्थान असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते है।

अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा

अब अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा का विचार करते है। वह दो प्रकार की है—अनन्तरोपनिधा रूप और परपरोपनिधा रूप। इनमे से पहले अनन्तरोपनिधा की रीति से आगे की गाथा मे वृद्धिमार्गणा का कथन करते है—

थोवाणि कसाउदये, अज्झवसाणाणि सव्वडहरम्मि।

बिइयाइ विसेसहिया–णि जाव उक्कोसगं ठाणं ॥५३॥

शब्दार्थ—**थोवाणि**—अल्प, **कसाउदये**—कषायोदय मे, **अज्झवसाणाणि**—अध्यवसाय, **सव्वडहरम्मि**—सर्व जघन्य, **बिइयाइ**—दूसरे, **विसेसहियाणि**—विशेषाधिक, **जाव**—तक, **उक्कोसग**—उत्कृष्ट, **ठाणं**—स्थान।

गाथार्थ—सर्व जघन्य कषायोदय मे (अनुभागबध) अध्यवसायस्थान अल्प होते है। उससे आगे दूसरे आदिक कषायोदयस्थानो पर विशेषाधिक-विशेषाधिक उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—'सव्वडहरम्मि'—अर्थात् सर्व जघन्य कषायोदय मे जो कि स्थितिबध का कारण है, उसमे कृष्णादि लेश्याओ के परिणामविशेषरूप अनुभागबधाध्यवसायस्थान अल्प प्राप्त होते है, उससे दूसरे, तीसरे आदि कषायोदयस्थान पर उत्तरोत्तर विशेषाधिक-विशेषाधिक तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थितिबध का अध्यवसायस्थान प्राप्त होता है। इसका आशय यह है कि सर्व जघन्य प्रथम कषायोदयस्थान की अपेक्षा दूसरे कषायोदयस्थान पर अनुभागबधाध्यवसाय-स्थान विशेषाधिक होते है, उससे भी तीसरे पर विशेषाधिक होते है, उससे भी चौथे पर विशेषाधिक होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदय रूप स्थितिबधाध्यवसायस्थान तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करने के वाद अब परपरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करते है—

गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव उक्कोस।
आवलिअसंखभागो, नाणागुणवुड्ढिठाणाणि ॥५४॥

शब्दार्थ—गतूण–अतिक्रमण करने के वाद, असखेज्जे–असख्यात, लोगे–लोक प्रमाण स्थान, दुगुणाणि–दुगुने, जाव–पर्यन्त, तक, उक्कोस–उत्कृष्ट, आवलिअसखभागो—आवलि के असख्यातवे भाग, नाणागुणवुड्ढि–नाना गुणवृद्धि वाले, ठाणाणि–स्थान ।

गाथार्थ—प्रथम कषायोदय से असख्यात लोक प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण करने के वाद जो आगे का कषायोदयस्थान आता है, उसमे अनुभागबधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते है । इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदयस्थान तक कहना चाहिये । इस प्रकार ये नाना गुणवृद्धि वाले स्थान आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है ।

विशेषार्थ—जघन्य कषायोदय से आरभ करके असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण कषायोदयस्थानो का अतिक्रमण करके जो स्थितिबंधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, उस पर अनुभागबधाध्यवसायस्थान जघन्य कषायोदयस्थान सबंधी अनुभागबधाध्यवसायस्थानों की अपेक्षा दुगुने हो जाते है । इससे आगे फिर उतने ही कषायोदयस्थानो का उल्लघन करके जो ऊपर स्थितिबधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, वहाँ पर अनुभागबधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते है । इस प्रकार पुन-पुन वहाँ तक कहना चाहियें, जहाँ उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होता है ।

इन स्थानो के अन्तर-अन्तर मे जो नाना रूप द्विगुण-द्विगुण वृद्धि वाले स्थान होते है, वे कितने होते है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते है कि 'आवलिअसखभागो' आवलिका के असख्यातवे भाग अर्थात् आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण ये द्विगुणवृद्धि वाले स्थान होते है ।

अब पूर्वोक्त वृद्धिमार्गणा को प्रकृतियो मे घटित करते है—

सव्वासुभपगईणं, सुभपगईण विवज्जयं जाण ।
ठिइबंधट्ठाणेसु वि, आउगवज्जाण पगडीणं ॥५५॥
पल्लासंखियभागं, गंतुं दुगुणाणि आउगाणं तु ।
थोवाणि पढमबंधे, ठिइयाइ[1] असंखगुणियाणि ॥५६॥

शब्दार्थ—सव्वासुभपगईण–समस्त अशुभ प्रकृतियो की, सुभपगईण–शुभ प्रकृतियो की, विवज्जयं–विपरीत, जाण–जानना चाहिये, ठिइबधट्ठाणेसु–स्थितिबधस्थानो मे, वि–भी, आउगवज्जाण–आयुकर्म के सिवाय, पगडीण–प्रकृतियो की ।

---

१ 'विइयाइ' इति, पाठान्तर । यह पाठान्तर उपयुक्त ज्ञात होता है।

असख्यात लोकाकाशप्रदेशो का जितना प्रमाण होता है, उतने ही होते है, क्योकि शास्त्रो मे ऐसा कहा है कि—

'सकषायोदया हि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषा अनुभागबधहेतव'—कषायोदय मे होने वाले कृष्णादि लेश्याओ के परिणामविशेष अनुभागबध के कारण है तथा जघन्यस्थिति से प्रारभ करके उत्कृष्टस्थिति तक जितने समय होते है, उतने ही स्थिति के स्थान होते है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि किसी भी कर्म की जो सर्व जघन्यस्थिति होती है, वह एक स्थितिस्थान कहलाता है। वही एक समय अधिक होने पर दूसरा स्थितिस्थान कहलाता है। वही दो समय अधिक होने पर तीसरा स्थितिस्थान कहलाता है। इस प्रकार एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्टस्थिति प्राप्त होने तक स्थितिस्थान कहना चाहिये। इस प्रकार ये स्थितिस्थान असख्यात होते है। उन असख्य स्थितिस्थानो मे प्रत्येक एक-एक स्थितिबधस्थान मे तीव्र, तीव्रतर और मद, मदतर आदि कषायोदयविशेषरूप अध्यवसायस्थान असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते है।

अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा

अब अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा का विचार करते है। वह दो प्रकार की है—अनन्तरोपनिधा रूप और परपरोपनिधा रूप। इनमे से पहले अनन्तरोपनिधा की रीति से आगे की गाथा मे वृद्धिमार्गणा का कथन करते है—

थोवाणि कसाउदये, अज्झवसाणाणि सव्वडहरम्मि।
बिइयाइ विसेसहिया—णि जाव उक्कोसगं ठाणं ॥५३॥

शब्दार्थ—थोवाणि—अल्प, **कसाउदये**—कषायोदय मे, **अज्झवसाणाणि**—अध्यवसाय, **सव्वडहरम्मि**—सर्व जघन्य, **बिइयाइ**—दूसरे, **विसेसहियाणि**—विशेषाधिक, **जाव**—तक, **उक्कोसग**—उत्कृष्ट, **ठाणं**—स्थान।

गाथार्थ—सर्व जघन्य कषायोदय मे (अनुभागबध) अध्यवसायस्थान अल्प होते है। उससे आगे दूसरे आदिक कषायोदयस्थानो पर विशेषाधिक-विशेषाधिक उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—'सव्वडहरम्मि'—अर्थात् सर्व जघन्य कषायोदय मे जो कि स्थितिबध का कारण है, उसमे कृष्णादि लेश्याओ के परिणामविशेषरूप अनुभागबधाध्यवसायस्थान अल्प प्राप्त होते है, उससे दूसरे, तीसरे आदि कषायोदयस्थान पर उत्तरोत्तर विशेषाधिक-विशेषाधिक तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थितिबध का अध्यवसायस्थान प्राप्त होता है। इसका आशय यह है कि सर्व जघन्य प्रथम कषायोदयस्थान की अपेक्षा दूसरे कषायोदयस्थान पर अनुभागबधाध्यवसायस्थान विशेषाधिक होते है, उससे भी तीसरे पर विशेषाधिक होते है, उससे भी चौथे पर विशेषाधिक होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदय रूप स्थितिबधाध्यवसायस्थान तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करने के बाद अब परपरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा का कथन करते है—

गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव उक्कोस।
आवलिअसंखभागो, नाणागुणवुड्ढिठाणाणि ॥५४॥

शब्दार्थ—गतूणं–अतिक्रमण करने के बाद, असखेज्जे–असख्यात, लोगे–लोक प्रमाण स्थान, दुगुणाणि–दुगुने, जाव–पर्यन्त, तक, उक्कोस–उत्कृष्ट, आवलिअसखभागो—आवलि के असख्यातवे भाग, नाणागुणवुड्ढि–नाना गुणवृद्धि वाले, ठाणाणि–स्थान ।

गाथार्थ—प्रथम कषायोदय से असख्यात लोक प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण करने के बाद जो आगे का कषायोदयस्थान आता है, उसमे अनुभागबधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते है । इस प्रकार उत्कृष्ट कषायोदयस्थान तक कहना चाहिये । इस प्रकार ये नाना गुणवृद्धि वाले स्थान आवलिका के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है ।

विशेषार्थ—जघन्य कषायोदय से आरभ करके असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण कपायोदय-स्थानो का अतिक्रमण करके जो स्थितिबंधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, उस पर अनुभाग-बधाध्यवसायस्थान जघन्य कषायोदयस्थान सबधी अनुभागबधाध्यवसायस्थानों की अपेक्षा दुगुने हो जाते हैं। इससे आगे फिर उतने ही कषायोदयस्थानो का उल्लघन करके जो ऊपर स्थिति-बधाध्यवसायस्थान प्राप्त होता है, वहाँ पर अनुभागबधाध्यवसायस्थान दुगुने हो जाते है । इस प्रकार पुन-पुन वहाँ तक कहना चाहिये, जहाँ उत्कृष्ट कषायोदयस्थान प्राप्त होता है ।

इन स्थानो के अन्तर-अन्तर मे जो नाना रूप द्विगुण-द्विगुण वृद्धि वाले स्थान होते है, वे कितने होते है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते है कि 'आवलिअसखभागो' आवलिका के असख्यातवे भाग अर्थात् आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण ये द्विगुणवृद्धि वाले स्थान होते है ।

अब पूर्वोक्त वृद्धिमार्गणा को प्रकृतियो मे घटित करते है—

सव्वासुभपगईणं, सुभपगईणं विवज्जयं जाण ।
ठिइबंधट्ठाणेसु वि, आउगवज्जाण पगडीणं ॥५५॥
पल्लासंखियभागं, गंतुं दुगुणाणि आउगाणं तु ।
थोवाणि पढमबंधे, ठिइयाइ[1] असंखगुणियाणि ॥५६॥

शब्दार्थ—सव्वासुभपगईण–समस्त अशुभ प्रकृतियो की, सुभपगईण–शुभ प्रकृतियो की, विवज्जयं–विपरीत, जाण–जानना चाहिये, ठिइबधट्ठाणेसु–स्थितिबधस्थानो मे, वि–भी, आउगवज्जाण–आयु-कर्म के सिवाय, पगडीण–प्रकृतियो की ।

१ 'विइयाइ' इति, पाठान्तर । यह पाठान्तर उपयुक्त ज्ञात होता है।

पल्लासखियभागं—पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण, गतु—उल्लघन करने के बाद, दुगुणाणि—दुगुने, आउगाण—आयुकर्म के, तु—तो, थोवाणि—अल्प, पढमबधे—प्रथम स्थितिबध मे, ठिइयाइ—द्वितीय आदि स्थितिबध में, असखगुणियाणि—असख्यात गुण ।

गाथार्थ—(पूर्वोक्त वृद्धि) अशुभ प्रकृतियो की अपेक्षा कही गई है और शुभ प्रकृतियो की वृद्धि-प्ररूपणा उससे विपरीत जानना चाहिये तथा आयुकर्म के सिवाय सभी शुभाशुभ प्रकृतियो के स्थितिबधस्थानो मे भी वृद्धिप्ररूपणा कषायोदयवत् जानना चाहिये ।

पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिबधस्थानो का उल्लघन करने के अनन्तर जो-जो स्थितिबधस्थान प्राप्त होते हैं, उनमे दुगुने, दुगुने अनुभागबधस्थान होते है तथा आयुकर्म के प्रथम स्थितिबध मे अनुभागबधस्थान अल्प होते है और द्वितीय आदि स्थानो मे असख्यात गुणित, असख्यात गुणित अनुभागबधस्थान होते है ।

विशेषार्थ—सभी अशुभ प्रकृतियो मे अर्थात् ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, नरकायु, पचेन्द्रियजाति को छोडकर शेष चार जाति, समचतुरस्र को छोडकर शेष पाच सस्थान, वज्रऋषभनाराच को छोडकर शेष पाच सहनन, कृष्ण, नील वर्ण, दुरभिगध, तिक्त, कटु रस, कर्कश, गुरु, रूक्ष, शीत स्पर्श रूप अशुभवर्णादि नवक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयशकीर्ति, नीचगोत्र और अतरायपचक, इन सतासी (८७) पाप प्रकृतियो के अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा पूर्वोक्त अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा के समान जानना चाहिये । तथा—

'सुभपगईण' इत्यादि, शुभ प्रकृतियो की अर्थात् सातावेदनीय, तिर्यंचायु मनुष्यायु, देवायु, देवगति, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, शरीरपचक, सघातपचक, बधनपचदशक, समचतुरस्र-सस्थान, अगोपागत्रय, वज्रऋषभनाराचसहनन, शुभवर्णादि एकादश,[1] देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, पराघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, इन उनहत्तर (६९) प्रकृतियो की वृद्धिमार्गणा विपरीत जानना चाहिये । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उत्कृष्ट कषायोदय होने पर अनुभागबधाध्यवसायस्थान सबसे कम होते है । द्विचरम कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते है, त्रिचरम कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते है, चतु चरम

१ शुभ वर्णादि एकादश के नाम इस प्रकार हैं—
वर्ण—श्वेत, पीत, लोहित,
गध—सुरभिगध,
रस—कषाय, आम्ल, मधुर,
स्पर्श—लघु, मृदु, स्निग्ध, उष्ण ।

कषायोदयस्थान पर विशेषाधिक होते है । इस प्रकार सव जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये

यह अनन्तरोपनिधा से अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की वृद्धिमार्गणा का कथन जानना चाहिये । अव परपरोपनिधा से वृद्धिमार्गणा को स्पष्ट करते है—

उत्कृष्ट कषायोदयस्थान से आरभ करके असख्यात लोकाकाशप्रदेश राशि प्रमाण कपायोदयस्थानो का अधोभाग में अतिक्रमण करने के अनन्तर अधोभाग मे जो दूसरा कषायोदयस्थान आता है, उसमे अनुभागबधाध्यवसायस्थान उत्कृष्ट कषायोदयस्थान सबधी अनुभागबधाध्यवसायस्थान की अपेक्षा दुगुने हो जाते है । फिर उतने ही कषायोदयस्थानो का अतिक्रमण करने के अनन्तर जो दूसरा अधोवर्ती कषायोदयस्थान प्राप्त होता है, उसमे अनुभागबधाध्यसायस्थान दुगुने होते है । इस प्रकार पुन-पुन जघन्य कषायोदयस्थान प्राप्त होने तक कहना चाहिये। जो अतर-अतर मे नाना प्रकार के द्विगुणवृद्धि स्थान है वे आवलिका के असख्येयभाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण होते है। ये आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र शुभ प्रकृतियो के और अशुभ प्रकृतियो के प्रत्येक द्विगुणवृद्धि स्थान अल्प है और इनसे भी एक द्विगुणवृद्धि के अपान्तराल मे रहे हुए कषायोदयस्थान असख्यात गुणित होते है ।

इस प्रकार स्थितिबध के कारणभूत अध्यवसायो मे अनुभागबध के कारणभूत अध्यवसायो का निरूपण किया गया । अब स्थितिबधस्थानो में अनुभागबध की प्ररूपणा करते है—

'ठिइबधे' इत्यादि अर्थात् स्थितिबधस्थानो मे भी आयुकर्म की प्रकृतियो को छोडकर शेष सभी प्रकृतियो के कषायोदयस्थानो मे अनुभागबधाध्यवसायस्थानो के समान अनुभागबधस्थान जानना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण यह है कि—

आयुर्वजित (नरकायु को छोडकर) पूर्वोक्त छियासी (८६) अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति मे अनुभागबधस्थान असख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं । वे वक्ष्यमाण स्थानो की अपेक्षा सवसे कम हैं । उससे द्वितीय स्थिति मे अनुभागबधस्थान विशेषाधिक है । उससे भी तृतीय स्थिति मे अनुभागबधस्थान विशेषाधिक है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर विशेषाधिक अनुभागबधस्थान कहना चाहिये तथा पूर्वोक्त उनहत्तर (६९) शुभ प्रकृतियो मे से आयुत्रिक (तिर्यंच, मनुष्य, देव आयु) को छोडकर शेष ६६ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति मे अनुभागबधस्थान यद्यपि असख्यात लोकाकाशप्रदेश राशि प्रमाण है तथापि वे वक्ष्यमाण स्थानो की अपेक्षा सव से कम है । उनसे एक समय कम उत्कृष्टस्थिति मे अनुभागबधस्थान विशेषाधिक होते हैं । उनसे भी दो समय कम उत्कृष्टस्थिति मे अनुभागबधस्थान विशेषाधिक होते है । इस प्रकार इस विशेषाधिक क्रम से जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये ।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से स्थितिबधस्थानो मे अनुभागबध की वृद्धिमार्गणा का कथन किया गया । अव परपरोपनिधा से उसकी वृद्धिमार्गणा का कथन करते है—

पूर्वोक्त आयुर्वजित छियासी (८६) अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति से आरभ करके पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र स्थितिस्थानो का अतिक्रमण करके जो दूसरा स्थिति-स्थान प्राप्त होता है, उसमे अनुभागबधस्थान जघन्यस्थिति सबधी अनुभागबधस्थानो से दुगुने होते है, उससे फिर उतने ही स्थितिस्थान अतिक्रमण करके जो नया स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमे अनुभाग-बधस्थान दुगुने होते है। इस प्रकार पुन -पुन उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये, तथा—

पूर्वोक्त आयुर्वजित छियासठ (६६) शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति से आरभ करके पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र स्थितिस्थानो का उल्लघन करके जो नया अधोवर्ती स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसम अनुभागबधस्थान उत्कृष्ट स्थितिस्थान सबधी अनुभागबधस्थानो से दुगुन होते है। तदनन्तर पुन उतने ही स्थितिस्थान नीचे उतर कर जो अधोवर्ती नया स्थिति-स्थान प्राप्त होता है, उसमे अनुभागबधस्थान दुगुने होते है। इसी प्रकार इसी क्रम से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

ये शुभ प्रकृतियो के और अशुभ प्रकृतियो के प्रत्येक के द्विगुणवृद्धिस्थान आवलिका के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने प्रमाण होते है तथा ये द्विगुणवृद्धिस्थान अल्प है। क्योकि उनका प्रमाण आवलिका के असख्यातवे भाग मात्र है। उनसे एक द्विगुणवृद्धि के अपान्तराल मे स्थितिस्थान असख्यात गुणित होते है। क्योकि उनका प्रमाण पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र होता है, तथा—

चारो आयुकर्मो की जघन्य स्थिति मे अनुभागबधस्थान सब से कम होते है। उससे एक समय अधिक जघन्यस्थिति मे अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। उससे भी द्विसमय अधिक जघन्यस्थिति मे अनुभागबधस्थान असख्यात गुणित होते है। इसी प्रकार इसी क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक असख्यात गुणित अनुभागबधस्थान कहना चाहिये।

इस प्रकार परपरोपनिधा से स्थितिबधस्थानो मे अनुभागबध की वृद्धिमार्गणा का कथन जानना चाहिये।

अब अनुभागबधस्थानो की तीव्रता और मदता का ज्ञान कराने के लिये अनुभागबधाध्यवसाय-स्थानो की अनुकृष्टि का निरूपण करते है।

अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि

घाईणमसुभवण्णरसगधफासे जहन्न ठिइबंधे।
जाणज्झवसाणाइं तदेगदेसो य अन्नाणि ॥५७॥

पल्लासखियभागो जाव बिइयस्स होइ बिइयम्मि।
आ उक्कस्सा एवं उवघाए वा वि अणुकड्ढी ॥५८॥

शब्दार्थ—**घाईण**—घाति प्रकृतियो के, **असुभवण्णरसगधफासे**—अशुभ वर्ण, गध, रस और स्पर्श, **जहन्न**—जघन्य, **ठिइबधे**—स्थितिबध म, **जाण**—जानो, **अज्झवसाणाइं**—अनुभागबधाध्यवसायस्थान, **तदेगदेसो**—उनका एक देश, **य**—और, **अन्नाणि**—अन्य (अनुभागबधाध्यवसायस्थान)।

पल्लासखियभागो–पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण जाव–तक, बिइयस्स–दूसरे स्थित-स्थान के, होई–होती है, बिइयम्मि–दूसरे स्थान मे, आ उक्कस्सा–इस तरह उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक, एवं–इस प्रकार, उवघाए–उपघात नामकर्म में, वा–और, वि–भी, अणुकड्ढी–अनुकृष्टि ।

गाथार्थ—घातिप्रकृतियो तथा अशुभ वर्ण, रस, गध और स्पर्श, इन प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान है, उनका एक देश तथा अन्य भी अनुभागबधा-ध्यवसायस्थान द्वितीय स्थितिबध मे जानना चाहिये ।

इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो का उल्लघन करने पर प्रथम स्थितिस्थान के अध्यवसायो की अनुकृष्टि समाप्त होती है । तदनन्तर (प्रथम स्थितिस्थान की अनुकृष्टि पूर्ण होने के बाद) दूसरे स्थितिबध के अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि दूसरे स्थान में समाप्त होती है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक कहना चाहिये । उपघात नामकर्म मे भी इसी प्रकार अनुकृष्टि जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहाँ पर प्राय [1] ग्रथिदेश मे वर्तमान अभव्य जीव के जो जघन्य स्थितिबध होता है, वहाँ से स्थिति की वृद्धि होने पर कही जाने वाली अनुकृष्टि [2] का अनुसरण करना चाहिये। अर्थात् यहाँ जो स्थिति की वृद्धि मे अनुकृष्टि कही जायगी, वह प्राय ग्रथिदेश मे वर्तमान अभव्य जीव के जघन्य स्थितिबध से प्रारम्भ करके कहना चाहिये । परन्तु निम्नलिखित प्रकृतियो के विषय में यह विशेषता है कि—

सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, तिर्यचद्विक, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र, और नीचगोत्र इन तेईस प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से नीचे भी अनुकृष्टि का अनुसरण करना चाहिये ।

---

१ कुछ एक प्रकृतियो की अनुकृष्टि अभव्य के जघन्य स्थितिबध से भी पहले (हीनतर स्थितिबध से) प्रारम्भ होती है, इसी बात को स्पष्ट करने के लिये यहा 'प्राय' शब्द रखा है।

२ प्रकृतियोको चार वर्गों मे विभाजित करके प्रत्येक वर्ग मे अनुकृष्टि, तीव्रमदत्व और स्वस्थान मे तुल्यता का विचार किया है—१ अपरावर्तमान अशुभप्रकृति वर्ग, २ अपरावर्तमान शुभप्रकृति वर्ग, ३ परावर्तमान शुभप्रकृति वर्ग, ४ परावर्तमान अशुभप्रकृति वर्ग। इन वर्गों मे गृहीत प्रकृतियो के नाम इस प्रकार हैं—

१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृति—पैतालीस घाति प्रकृतिया, अशुभ वर्णादि नवक, उपघातनाम। कुल पचवन प्रकृतिया।

२ अपरावर्तमान शुभ प्रकृति—पराघात, पन्द्रह बधन, पाच शरीर, पाच सघातन, तीन अगोपाग, शुभवर्णादि ग्यारह, तीर्थंकर, निर्माण, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत। कुल छियालीस प्रकृतिया।

३ परावर्तमान शुभ प्रकृति—सातावेदनीय, स्थिरादि षट्क, उच्चगोत्र, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पचेन्द्रिय-जाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, प्रशस्तविहायोगति। कुल सोलह प्रकृतिया।

४ परावर्तमान अशुभ प्रकृति—असातावेदनीय, स्थावरदशक, नरकद्विक, अप्रशस्तविहायोगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातिया, प्रथम सस्थान और सहनन को छोडकर शेष पाच सस्थान और पाच सहनन। कुल अट्ठाईस प्रकृतिया।

ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, अन्तरायपचक ये घातिकर्म की (४५) प्रकृतिया तथा अशुभ गध, वर्ण, रस और स्पर्श अर्थात् कृष्ण, नील ये दो अशुभ वर्ण, दुरभिगध, तिक्त, कटुक ये दो अशुभ रस, गुरु, कर्कश, रुक्ष, शीत, ये चार अशुभ स्पर्श रूप अशुभ वर्णादिनवक, उपघातु कुल पचवन (५५) प्रकृतियो[1] के जघन्य स्थिति-बध मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका एकदेश दूसरे स्थितिबध मे भी रहता है तथा अन्य भी अनुभागबधाध्यवसायस्थान रहते है ।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिबध के प्रारम्भ मे जो अनुभागबधाध्य-वसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी अनुभागबधाध्यवसायस्थान दूसरे स्थितिबध के प्रारम्भ मे पाये जाते है तथा अन्य[2] भी होते है । इसी प्रकार दूसरे स्थितिबध के प्रारम्भ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी अनुभागबधाध्यवसायस्थान तृतीय स्थितिबध के प्रारम्भ मे पाये जाते है तथा अन्य भी होते है। तृतीय स्थितिबध के प्रारभ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी चतुर्थ स्थितिबध के आरम्भ मे पाये जाते है तथा अन्य भी होते है । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। यहाँ पर अर्थात् पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियो का अन्त होता है, वहाँ जघन्य स्थितिबध के प्रारम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसाय स्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। (और जहाँ पर जघन्य स्थितिबध के प्रारभ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है—)

उसक अनन्तर उपरितन स्थितिबध में द्वितीय स्थितिबध के प्रारम्भ मे होने वाले अनुभाग-बधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिये गाथा में कहा गया है कि–**'बिइयस्स होइ बिइयम्मि'** यानी द्वितीय स्थितिबध सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसाय-स्थानो की अनुकृष्टि दूसरे स्थान पर अर्थात् जहाँ जघन्य स्थितिबध के प्रारम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है, उसके अनन्तरवर्ती स्थान पर समाप्त हो जाती है। तीसरे स्थितिबध के प्रारम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनु-कृष्टि उसके अनन्तरवर्ती स्थान पर समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कि ऊपर कही गई प्रकृतियो की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति[3] प्राप्त होती है । इसी बात को बतलाने के लिये गाथा मे **'आ उक्कसा एव'** यह पद कहा है। अर्थात इसी प्रकार से उक्त प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि जानना चाहिये तथा जिस प्रकार से घातिकर्मों की प्रकृतियो की अनुकृष्टि कही है, उसी प्रकार उपघात नामकर्म में भी अनुकृष्टि जानना चाहिये ।

---

१ ये सभी प्रकृतिया अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतिवर्ग की हैं ।

२ 'अन्य' का आशय यह है कि प्रथम स्थितिबधगत सर्व अनुभागबधाध्यवसायस्थानो मे का कोई भी अनुभाग-बधाध्यवसायस्थान न हो किन्तु उनसे व्यतिरिक्त दूसरे अनुभागबधाध्यवसायस्थान हो ।

३ कर्म प्रकृतियो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति आगे स्थितिबध प्रकरण मे बताई जा रही है।

अनुकर्षण या अनुवर्तन को अनुकृष्टि कहते हैं। अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थानों का उत्तरसमयवर्ती स्थितिस्थानों में अनुवर्तन प्रापण (पाये जाने) के सम्बन्ध में विचार करना अनुकृष्टि कहलाता है।

घातिकर्म और उपघात नामकर्म प्रकृतियों में अनुकृष्टि का विचार करने के बाद अब आगे की गाथाओं में अन्य प्रकृतियों की अनुकृष्टि का क्रम बतलाते हैं—

परघाउज्जोउस्सासायवधुवनाम तणुउवंगाणं ।
पडिलोमं सायस्स उ उक्कोसे जाणि समऊणे ।।५९।।
ताणि य अन्नाणेवं ठिइबंधो जा जहन्नगमसाए ।
हेट्ठुज्जोयसमेवं परित्तमाणीण उ सुभाणं ।।६०।।

शब्दार्थ—**परघाउज्जोउस्सासायव**–पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप, **धुवनाम**–नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, **तणु**–पांच शरीर आदि, **उवंगाण**–अंगोपांगत्रिक, **पडिलोम**–प्रतिलोम (पश्चानुपूर्वी) से, **सायस्स**–सातावेदनीय की, **उ**–तथा, **उक्कोसे**–उत्कृष्ट स्थितिस्थान में, **जाणि**–जितने, **समऊणे**–समयोन (एक समय कम)।

ताणि–वे, **य**–और, **अन्नाणि**–अन्य, **एव**–इस प्रकार, **ठिइबंधो**–स्थितिबंध, **जा**–तक, **जहन्नग**–जघन्य स्थितिस्थान, **असाए**–असाता वेदनीय की, **हेट्ठुज्जोयसम**–नीचे के स्थितिस्थानों में उद्योत के समान, **एवं**–इस तरह, **परित्तमाणीण**– परावर्तमान, **उ**–और, **सुभाण**–शुभ प्रकृतियों को।

गाथार्थ—पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप तथा नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नौ प्रकृतियों की और पांच शरीर आदि, तीन अंगोपांग प्रकृतियों की अनुकृष्टि प्रतिलोमक्रम (पश्चानुपूर्वीक्रम) से जानना चाहिये तथा सातावेदनीय की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थिति से पाश्चात्य स्थितियों में 'वे सब और अन्य अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते हैं' इस प्रकार कहना चाहिये।

इसी प्रकार असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबंध तक 'वे सब और अन्य स्थान'[1] इस प्रकार कह कर उससे पूर्व स्थितियों में उद्योतवत् अनुकृष्टि कहना चाहिये तथा परावर्तमान सभी शुभ

१ असत्कल्पना से प्रकृतियों में अनुकृष्टि की स्थापना इस प्रकार जानना चाहिये—
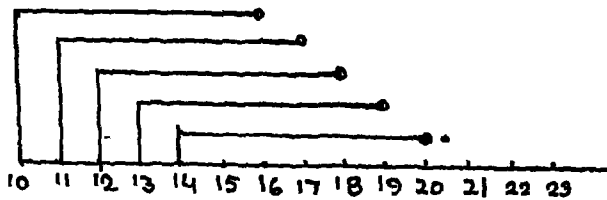
इस स्थापना में १० समयात्मक स्थान अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान हैं, ११ से लेकर आगे १५ तक के अंक पल्य के असंख्यातभाग प्रमाण स्थितियों के तथा यही ११,१२,१३ आदि अंक द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि स्थितिस्थान के भी दर्शक हैं और १० समयात्मक प्रथम स्थितिस्थान से उठी रेखा रूप अनुकृष्टि १५ समयात्मक स्थितिस्थान तक आकर बिन्दु रूप में समाप्त हुई। अर्थात् वहाँ दस समय से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त हो गई। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

प्रकृतियो की अनुकृष्टि सातावेदनीय के अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि के समान जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पराघात, उद्योत, उच्छ्वास, आतप, शुभवर्णादि एकादश(११) एव अगुरुलघु, निर्माण आदि रूप नामकर्म की ध्रुवबधिनी प्रकृतिया और 'तणु उवगाण' इस पद मे आये हुए तनु (शरीर) पद से शरीर, सघातन और बधन भी ग्रहण किये गये हैं, इसलिये पाच शरीर, पाच सघातन और पन्द्रह बन्धन, इन पच्चीस और अगोपागत्रिक कुल मिलाकर इन पैंतालीस प्रकृतियो की अनुकृष्टि प्रतिलोमक्रम से कहना चाहिये।[1] जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

उपर्युक्त पैंतालीस प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान के प्रारम्भ मे जो अनुभाग-बधाध्यवसायस्थान होते है, उनके असख्यातवे भाग को छोडकर शेष सभी स्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रारम्भ मे पाये जाते है तथा और भी अन्य स्थान प्राप्त होते हैं। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रारम्भ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी स्थान दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे पाये जाते है एव अन्य भी स्थान होते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया अधो-अधो भाग मे अतिक्रान्त होती है। यहाँ पर उत्कृष्ट स्थितिबध के आरभ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की प्रत्येक स्थितिस्थान पर असख्यातवा-असख्यातवा भाग छोडने से अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है।[2] इसके अनन्तर अधोवर्ती स्थितिस्थान मे एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान में दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पूर्वोक्त सभी (४५) प्रकृतियो की अपनी-अपनी जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

'सायस्स उ उक्कोसे' इत्यादि अर्थात् सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति को बाधने वाले जीव के जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रारम्भ में भी होते है और अन्य भी होते है। जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ में होते है, वे दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रारम्भ मे भी होते है तथा अन्य भी होते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक असातावेदनीय का जघन्य स्थितिबध प्राप्त होता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि जितने प्रमाण वाली

---

१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर नीचे जघन्य स्थितिस्थानो मे समाप्त होती है, यह प्रतिलोम का आशय है।

२ अर्थात् पल्योपम के असख्यातवें भागप्रमाण की स्थितियो में से अन्तिम स्थितिबध में।

३ असातावेदनीय के अभव्य सम्बन्धी जघन्य अनुभागबधप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थितिबध से सातावेदनीय की अनुकृष्टि का प्रारम्भ करके असाता के जघन्य अनुभागबधप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध तक कहकर अनुकृष्टि का अनुक्रम बदलना चाहिये।

स्थितिया असातावेदनीय के जघन्य अनुभागबध के योग्य है[1] और सातावेदनीय के साथ परिवर्तित परिवर्तित[2] होकर बधती है, उतने प्रमाण वाली सातावेदनीय की स्थितियो मे 'वे और अन्य भी अनुभागबधाध्यवसायस्थान' होते है, इस क्रम का अनुसरण करना चाहिये तथा 'हेट्ठुज्जोयसम' अर्थात् इसके नीचे[3] उद्योतनामकर्म के समान कहना चाहिये। इसका आशय यह हुआ कि जैसा पहले उद्योत के अनुभागबधाध्यवसायस्थानो का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ पर भी कहना चाहिये और वह इस प्रकार—असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध से अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे कुछ तो उपरितन स्थिति-स्थान सम्बन्धी ही होते है और कुछ अन्य होते है। उसमे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे कुछ तो पूर्ववर्ती स्थितिस्थान सम्बन्धी होते है और कुछ अन्य होते है। इस क्रम से नीचे-नीचे अधोमुख रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। वहाँ पर असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध के तुल्य[4] स्थितिस्थानो सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है।

इस समग्र कथन का साराश यह है कि असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध के समान स्थिति-स्थान वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो के अधो-अधोवर्ती एक-एक स्थितिस्थान मे असख्यातवा भाग विच्छिन्न करने पर पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो के व्यतीत होने पर पूर्ण रूप से अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर असातावेदनीय के जघन्य बध के तुल्य स्थिति-स्थान से अधोवर्ती स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि पल्योपम के अस-ख्यातवे भाग मात्र स्थान से अधोवर्ती स्थितिस्थान पर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक सातावेदनीय की जघन्यस्थिति प्राप्त होती है तथा—

'एव परित्तमाणीण उ सुभाण' अर्थात् जैसे सातावेदनीय की अनुकृष्टि का कथन किया है, उसी प्रकार मनुष्यद्विक, देवद्विक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, प्रशस्त-विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और उच्चगोत्र रूप इन सभी परावर्तमान पन्द्रह शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि एक-एक प्रकृति का नामोच्चारण करके कहना चाहिये।

अब असातावेदनीय की अनुकृष्टि का कथन करते है—

जाणि असायजहन्ने, उदहिपुहुत्तं ति ताणि अण्णाणि।
आवरणसमुप्पेवं, परित्तमाणोणमसुभाणं ॥६१॥

शब्दार्थ—जाणि—जो, असाय—असातावेदनीय, जहन्ने—जघन्य मे, उदहिपुहुत्त ति—सागरोपम पृथक्त्व स्थितिस्थान तक, ताणि—वे, अन्नाणि—अन्य, आवरणसमुप्प—ऊपर ज्ञानावरण के समान, एव—इस प्रकार, परित्तमाणीण—परावर्तमान असुभाणं—अशुभ प्रकृतियो की।

---

१ शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण।

२ साता और असाता वेदनीय ये दोनो प्रकृतिया परावर्तमान हैं। अत साता का बध करके असाता का और असाता का बध करके साता का, इस प्रकार इनका बधक्रम चलता रहता है।

३ असातावेदनीय के जघन्य अनुभागप्रायोग्य स्थितिबध के पश्चात।

४. अर्थात् जघन्य अनुभागप्रायोग्य जितने स्थितिस्थान है, उतने प्रमाण।

गाथार्थ—असातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध से शतपृथक्त्वसागरोपम प्रमाण स्थितिबधस्थान तक 'वे सब और अन्य' इस क्रम से और उससे ऊपर ज्ञानावरण के समान अनुकृष्टि जानना तथा जैसे असातावेदनीय की अनुकृष्टि है, उसी तरह समस्त परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की भी अनुकृष्टि जानना चाहिये।

विशेषार्थ—असातावेदनीय की जघन्य स्थितिबध के प्रारम्भ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे एक समय अधिक जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे भी होते है और अन्य भी होते है। जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान एक समय अधिक जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे होते है, वे दो समय अधिक जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे भी होते है और अन्य भी होते है। इस प्रकार इसी क्रम से सागरोपमशतपृथक्त्व[1] प्रमाण स्थितिबध प्राप्त होने तक कहना चाहिये। जितनी सातावेदनीय की स्थितियो मे 'वे ही और अन्य' अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि का क्रम कहा है, उसी क्रम से उतने ही प्रमाण वाली असातावेदनीय की स्थितियो मे भी जघन्य स्थिति से आरम्भ करके 'वे ही और अन्य' अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि कहना चाहिये। इतनी ही स्थितिया सर्व जघन्य अनुभागबध के योग्य होती है। क्योकि इतनी स्थितिया सातावेदनीय से परिवर्तित हो-होकर बधती है। परावर्तमान परिणाम प्राय मद होता है, इसलिये स्थितियो में जघन्य अनुभागबध सभव है। इसके ऊपर तो जीव केवल असातावेदनीय को ही बाधता है और वह भी तीव्रतर परिणाम से। अतएव वहाँ पर जघन्य अनुभागबध सम्भव नही है।

अब जघन्य अनुभागबध से ऊपर की स्थितियो की अनुकृष्टि को स्पष्ट करते है कि 'आवरणसमॅण्णि त्ति' अर्थात् इससे आगे की स्थितियो का जैसा क्रम ज्ञानावरणादि का कहा है, उसी प्रकार 'तदेकदेश[2] और अन्य' इस प्रकार से ही कहना चाहिये। वह इस प्रकार—असातावेदनीय की जघन्य अनुभागबध के योग्य स्थितियो की जो चरम स्थिति है, उसके बध के आरम्भ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका एकदेश उससे उपरिवर्ती स्थितिबध के आरम्भ मे रहता है एव अन्य भी अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है। पुन उससे भी उपरितन स्थितिबध के आरम्भ मे प्राक्तन स्थितिस्थान सबधी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो का एकदेश रहता है और अन्य भी अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। यहाँ पर जघन्य अनुभागबध के योग्य अन्तिम स्थिति सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर उससे भी उपरितन स्थितिबध मे जघन्य अनुभागबध के योग्य दूसरी स्थिति सबधी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

---

१ पृथक्त्व शब्द का आशय बहुत्ववाचक मानकर सैकडो सागरोपम यह अर्थ करना चाहिये—ऐसा उपयुक्त प्रतीत होता है। यहा पृथक्त्व शब्द किस प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट नही है। क्योकि पृथक्त्व शब्द २ से ९ तक की सख्या के लिये प्रयोग किया जाता है। विशेष स्पष्टीकरण विज्ञजन करने की कृपा करें।

२ तदेकदेश अर्थात् उन अनुभागाध्यवसायस्थानो मे से एक असख्यातवा भाग छोडकर शेष सर्व अनुभागाध्यवसायस्थान।

अब शेष परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि के बारे मे सकेत करते है—

'एव परित्तमाणीणमसुभाण' अर्थात् जिस प्रकार असातावेदनीय के अनुभागाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि कही, उसी प्रकार शेष नरकद्विक, पचेन्द्रियजाति को छोडकर शेष एकेन्द्रिय आदि चार जाति, प्रथम सस्थान को छोडकर शेष पाच सस्थान, प्रथम सहनन को छोडकर शेष पाच सहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति—इन सत्ताईस (२७) परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की एक-एक का नामोच्चारण करके अनुकृष्टि कहना चाहिये ।

अब तिर्यचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का कथन करते है—

सेकाले सम्मत्तं, पडिवज्जंतस्स सत्तमखिईए ।
जो ठिइबधो हस्सो, इत्तो आवरणतुल्लो य ॥६२॥
जा अभवियपाउग्गा, उप्पिमसायसमया उ आजेट्ठा ।
एसा तिरियगतिदुगे, नीयागोए य अनुकड्ढी ॥६३॥

शब्दार्थ—**सेकाले**—उस अनन्तर समय मे, **सम्मत्त**—सम्यक्त्व, **पडिवज्जंतस्स**—प्राप्त करनेवाले, **सत्तमखिईए**—सप्तम पृथ्वी के नारक का, **जो ठिइबधो**—जो स्थितिबध, **हस्सो**—ह्रस्व, जघन्य, **इत्तो**—उससे, **आवरणतुल्लो**—ज्ञानावरण के समान, **य**—और ।

जा—तक, **अभवियपाउग्गा**—अभव्यप्रायोग्य, **उप्पि**—ऊपर, **असायसमया**—असातावेदनीय के समान, **उ**—और, **आ जेट्ठा**—उत्कृष्ट पर्यन्त, **एसा**—यह, **तिरियगतिदुगे**—तिर्यचगतिद्विक, **नीयागोए**—नीचगोत्र की, **य**—और, **अनुकड्ढी**—अनुकृष्टि ।

गाथार्थ—अनन्तर समय मे सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले सप्तम नरक पृथ्वी के जीव के जो जघन्य स्थितिबध होता है, उस स्थितिबंध से प्रारम्भ करके अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध तक तो तिर्यचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि ज्ञानावरणादिवत् और उससे ऊपर उत्कृष्ट स्थितिबध तक की अनुकृष्टि असातावेदनीयवत् कहना चाहिये ।

विशेषार्थ—सप्तम पृथ्वी मे वर्तमान नारक जीव जो अनन्तर समय मे सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला है, उसके जो जघन्य स्थितिबध होता है, उससे ऊपर का स्थितिबध अनुकृष्टि की अपेक्षा आवरण अर्थात् ज्ञानावरण के समान जानना चाहिये[1] और वह तब तक, जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध हो । इनमे पहले तिर्यचगति की अनुकृष्टि का विचार करते है—

सप्तम पृथ्वी मे वर्तमान और सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख नारकी के तिर्यचगति की जघन्य स्थिति को बाधते हुए जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर अन्य सभी स्थान द्वितीय स्थितिबंध के आरम्भ मे होते है तथा अन्य भी होते है ।

---

१ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध तक के सब स्थितिबध अनुकृष्टि की अपेक्षा आवरणतुल्य है, अर्थात् उतने स्थितिस्थानो की अनुकृष्टि आवरणवत् समझना चाहिये ।

द्वितीय स्थिति को बाधते हुए जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर अन्य सभी स्थान तृतीय स्थितिबध के आरम्भ मे होते है और अन्य भी होते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। यहाँ पर जघन्य स्थिति सबधी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इससे उपरितन स्थितिबध के आरम्भ मे द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है, इससे भी उपरितन स्थितिबध के आरम्भ में तृतीय स्थिति सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से अभव्य जीवो के योग्य जघन्य स्थितिबध प्राप्त होने तक कहना चाहिये। तदनन्तर—

'उप्पिमसायसमया उ आ जेट्ठा' अर्थात् इससे ऊपर अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध से आरम्भ करके उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक असातावेदनीय के समान अनुकृष्टि जानना चाहिये। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अभव्य जीवो के योग्य जघन्य स्थितिबध मे जो अनुभागबधाध्यवसाय-स्थान होते है, वे सब और दूसरे भी उससे उपरितन स्थिति में होते है। इस ऊपर की स्थिति मे जो अनुभागाध्यवसायस्थान है वे सब और अन्य भी अनुभागाध्यवसायस्थान उससे ऊपर की स्थिति में होते है। इस प्रकार इसी क्रम से सागरोपम शतपृथक्त्व तक कहना चाहिये। ये प्राय अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध विषयक स्थितिया है। ये स्थितिया मनुष्यगति रूप प्रतिपक्षी प्रकृति के साथ परावर्तित, परावर्तित होकर बधती है, परावर्तित होकर बधते समय प्राय. परिणाम मद होते है। इसलिये ये स्थितिया जघन्य अनुभागबध विषयक है।

इन स्थितियो की चरम स्थिति मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी अनुभागबधाध्यवसायस्थान उससे उपरितन स्थितिबध के प्रारम्भ मे होते है तथा अन्य भी होते है। वहाँ पर भी जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष सभी स्थान उससे उपरितन स्थितिबध के आरम्भ मे पाये जाते है और अन्य भी पाये जाते है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। यहाँ पर जघन्य अनुभागबध विषयक-चरम स्थिति सम्बन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इससे उपरितन स्थितिबध में जघन्य अनुभागबध विषयक चरम स्थिति के अनन्तर की स्थिति वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

'एसा तिरिय ' इति' अर्थात् यह कही गई अनुकृष्टि तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी रूप तिर्यग्गतिद्विक और नीचगोत्र में जानना चाहिये। यानी जैसे तिर्यंचगति मे अनुकृष्टि का विचार किया, उसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र में स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

अब त्रसादिचतुष्क की अनुकृष्टि का कथन करते है—

तसबायरपज्जत्तगप ` ण परघायतुल्लाउ ।
जाव ट्ठारसकोडाकोडी हेट्ठा य साएणं ॥६४॥

शब्दार्थ—तसबायरपज्ज `यगाण—त्रस, वादर, पर्याप्त और प्रत्येक की, परघायतुल्लाउ—पराघात के तुल्य, जाव—तक, ट्ठारसकोडाकोडी—अठारह कोडाकोडी, हेट्ठा—नीचे की, य—और, साएणं—सातावेदनीय के तुल्य।

गाथार्थ—त्रस, वादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की उत्कृष्ट से अठारह कोडाकोडी सागरोपम तक पराघात नामकर्म के तुल्य और उससे नीचे की स्थितियो की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि के समान कहना चाहिए।

वि ` र्थ—त्रस, वादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म की अनुकृष्टि पराघात नामकर्म के समान जानना चाहिये। वह अनुकृष्टि उपरितन स्थितिस्थान से आरम्भ करके नीचे-नीचे उतरते हुए अठारह कोडाकोडी सागरोपम स्थिति प्राप्त होने तक जानना और उसके नीचे सातावेदनीय के समान अनुकृष्टि कहना चाहिये। इस प्रकार सामान्य से कथन करने के पश्चात् त्रसनामकर्म की अनुकृष्टि का विचार करते हैं—

त्रसनामकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोड कर शेष सभी स्थान एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे पाये जाते है तथा अन्य भी होते है। एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे भी जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, उनका असख्यातवा भाग छोड कर शेष सभी स्थान दो समय कम उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ मे भी पाये जाते है तथा अन्य भी होते है। इस प्रकार इसी क्रम से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होने तक कहना चाहिये। यहा पर उत्कृष्ट स्थिति सम्वन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उसमे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान मे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति सम्वन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे भी अधोवर्ती स्थितिस्थान मे दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति सम्वन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तव तक कहना चाहिये, जव तक कि नीचे अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति रहती है।[1]

उससे आगे अठारह कोडाकोडी सागरोपम की चरम स्थिति मे जो अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे सव उससे अधोवर्ती स्थितिबध के आरम्भ मे होते है और अन्य भी होते है और जो अधोवर्ती स्थितिबध के आरम्भ में अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है, वे सभी उससे भी अधोवर्ती स्थितिबध के आरम्भ मे होते है एव अन्य भी होते है। इस प्रकार इसी क्रम से तव तक कहना चाहिये, जव तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध विषयक स्थावर नामकर्म सम्वन्धी स्थिति के प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। इसके अनन्तर अधस्तन स्थितिस्थान मे प्राक्तन अनन्तर स्थितिस्थानसम्वन्धी अनुभागबधाध्यवसायस्थानो का असख्यातवा भाग

१ अर्थात् १८ सागरोपम तक सातावेदनीयवत् अनुकृष्टि कहना चाहिये।

छोड कर शेष सभी स्थान होते है और अन्य भी होते है। उससे भी अधस्तनतर स्थितिबंध मे प्राक्तन अनन्तर स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानो का असख्यातवा भाग छोड कर शेष सभी स्थान होते है, अन्य भी होते है। इसे तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातव भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है।

यहा पर जघन्य अनुभागबंधविषयक स्थावरनामकर्म सम्बन्धी स्थिति के प्रमाणरूप से अवस्थित-स्थितियो की प्रथम स्थिति के जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान है, उनकी अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान मे द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनुभाग-बंधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार इसी क्रम से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

इसी प्रकार बादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्मो की अनुकृष्टि की विवेचना करना चाहिये। अब तीर्थंकर नामकर्म की अनुकृष्टि एव अनुभागबंध सम्बन्धी तीव्रमदता बतलाते है।

अनुभागबंध सम्बन्धी तीव्रमदता

तणुतुल्ला तित्थयरे, अणुकड्ढी तिव्वमंदया एत्तो ।
सव्वपगईण नेया, जहन्नयाई अणतगुणा ॥६५॥

शब्दार्थ—तणुतुल्ला—शरीर नामकर्म के समान, तित्थयरे—तीर्थंकर नामकर्म मे, अणुकड्ढी—अनुकृष्टि, तिव्वमंदया—तीव्रमदता, एत्तो—अब, सव्वपगईण—सर्व प्रकृतियो की, नेया—जानना चाहिये, जहन्नयाई—जघन्यादि स्थितियो मे, अणतगुणा—अनन्तगुण।

गाथार्थ—तीर्थंकर नामकर्म के अनुभागबंधाध्यवसायस्थानो मे शरीरनामकर्म के समान अनुकृष्टि जानना चाहिये। अब सर्व प्रकृतियो के अनुभाग की तीव्रता-मदता कहते है। जो जघन्य से लेकर उत्तरोत्तर स्थितियो मे अनन्तगुण होता है।

विशेषार्थ—पूर्व मे जैसे शरीर नामकर्म मे अनुकृष्टि कही है, उसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म मे अनुकृष्टि जानना चाहिये।[1]

अब अनुभाग की तीव्रमदता का कथन करते है कि—

सभी प्रकृतियो की अपने-अपने जघन्य अनुभागबंध से आरम्भ करके उत्कृष्ट अनुभागबंध तक प्रत्येक स्थितिबंध मे अनन्तगुणी तीव्रता-मदता कहनी चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण यह है—उत्तरोत्तर स्थितिबंध मे अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इसमे अशुभ प्रकृतियो का अनुभाग जघन्य स्थिति से आरम्भ करके ऊर्ध्वमुखी क्रम से अनन्तगुणा कहना चाहिये तथा शुभ प्रकृतियो का अनुभाग उत्कृष्ट स्थिति से आरम्भ करके अधोमुख रूप से जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक अनन्तगुणा

१ सुगमता से समझने के लिये अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे देखिये।

कहना चाहिये। यह सामान्य रूप से तीव्रता-मदता का कथन किया। अव विस्तार से उसका विवेचन करते हैं—

घातिकर्मो और अप्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श तथा उपघात नाम, इन पचपन प्रकृतियो की स्थिति मे जघन्य अनुभाग सवसे अल्प होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे भी तीसरी स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार निवर्तनकडक प्राप्त होने तक कहना चाहिये। जहा पर जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे होने वाले अनुभागबधाध्यवसायस्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है, वहा तक के मूल से आरम्भ करके पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो को निवर्तनकडक कहते हैं—**निवर्तनकंडक नाम यत्र जघन्यस्थितिबंधारम्भभाविनामनुभागबधाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टि परिसमाप्ता तत्पर्यन्ता मूलत आरभ्य स्थितय पल्योपमासख्येयभागमात्रप्रमाणा उच्यन्ते।** अर्थात् इन स्थितियो के समुदाय को निवर्तनकडक जानना चाहिये।

निव्वत्तणा उ एक्किक्कस्स, हेट्ठोवरि तु जेट्ठियरे।
चरमठिईणुक्कोसो, परित्तमाणीण उ विसेसा ॥६६॥

शब्दार्थ—**निव्वत्तणा**—निवर्तनकडक से, **एक्किक्कस्स**—एक-एक, **हेट्ठोवरि**—नीचे ऊपर की, **तु**—और, **जेट्ठियरे**—उत्कृष्ट और इतर (जघन्य), **चरमठिईणुक्कोसो**—अतिम स्थितियो मे चरम उत्कृष्ट, **परित्तमाणीण**—परावर्तमान, **उ**—और, **विसेसा**—विशेष।

गाथार्थ—निवर्तनकडक से एक नीचे की और एक ऊपर की स्थिति मे उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये और अतिम निवर्तनकडक की स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणित ही कहना चाहिये। परावर्तमान प्रकृतियो मे कुछ विशेषता है।

विशेषार्थ—निवर्तनकडक की चरम स्थिति मे जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे कडक के ऊपर की प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनत गुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे नीचे की तृतीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे कडक के ऊपर की तृतीय स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार एक नीचे की स्थिति और एक ऊपर की स्थिति मे यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्तगुण रूप से तव तक कहना चाहिये, जव तक उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा प्राप्त होता है।

कंडक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, शेष सभी कह दिया गया है। अव कडक प्रमाण स्थितियो के उत्कृष्ट अनुभाग को वतलाते है कि उस सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कंडक प्रमाण स्थितियो की प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा कहना चाहिये। उससे भी अनन्तरवर्ती उपरितन स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार निरन्तर क्रम से उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी वात को वतलाने के लिए गाथा मे 'चरमठिईणुक्कोसो' यह पद दिया है। जिसका अर्थ

यह है कि कडक प्रमाण जो चरम स्थितिया है और जिनका प्रमाण पल्योपम के असख्यातवे भाग मात्र है, उनका उत्कृष्ट अनुभाग निरन्तर अनन्त गुण रूप से जानना चाहिये।

शुभ प्रकृतियो के अनुभाग की तीव्रमदता

अब शुभ प्रकृतियो के अनुभाग की तीव्रमदता कहने का अवसर प्राप्त है। जिसे पराघात प्रकृति को अधिकृत करके बतलाते है।

पराघात प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद मे जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता, उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है, अर्थात् निवर्तनकडक अतिक्रात होता है। उससे उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। उससे निवर्तन-कडक के नीचे की प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे अनुभाग अनन्त गुणा होता है, उससे निवर्तनकडक से नीचे की द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक पराघात की जघन्य स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा प्राप्त होता है।

कडक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, जिसे अब बतलाते है—

उससे—जघन्य स्थिति से—आरम्भ करके ऊपर कडक प्रमाण स्थितियो का अतिक्रमण करके चरम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये। उससे अधस्तन स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पाच शरीर, पाच सघात, पन्द्रह बन्धन, तीन अगोपाग, प्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि ग्यारह, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण और तीर्थंकर, इन पैंतालीस प्रकृतियो के अनुभाग की भी तीव्र-मदता जानना चाहिये।

अब परावर्तमान प्रकृतियो के अनुभाग की तीव्रता-मदता मे जो विशेषता है, उसे बतलाते हैं— परित्तमाणीण उ विसेसो। वह इस प्रकार—

जितनी स्थितियो के अनुभागबधाध्यवसायस्थान 'वे ही होते है और अन्य भी होते हैं,' इस प्रकार से जो अनुकृष्टि कही जाती है, उतनी सभी स्थितियो का भी जघन्य अनुभाग उतना ही जानना चाहिये और उससे आगे 'वह तथा अन्य', इस प्रकार के अनुकृष्टि विषयक अनुभाग से परे जघन्य अनुभाग यथोत्तर क्रम से अनन्तगुणा-अनन्तगुणा तब तक कहना चाहिये, जब तक कि कडक के असख्यात बहुभाग व्यतीत होते है और एक भाग शेष रहता है।[1] इसी बात को ग्रथकार आगे की गाथा मे स्पष्ट करते है—

१ असत्कल्पना के साथ तुलनात्मक स्पष्टीकरण यथास्थान आगे देखिये।

ताणन्नणि त्ति परं, असंखभागाहिं कंडगेक्काण ।
उक्कोति रा ा, जा तक्कंडकोवरि समत्ती ॥६७॥

शब्दार्थ—ताणन्नाणि त्ति—वे सव और अन्य इस अनुकृष्टि से, पर—आगे, असंखभागाहिं—असंख्यात भाग जाने के वाद, कडगे ण—एक कडक का, उक्कोसियरा—उत्कृष्ट और जघन्य, नेया—जानना चाहिये, जा—तक, तक्कडकोवरि—उस ऊपर के कडक की, समत्ती—पूर्णता, समाप्ति होती है।

गाथार्थ—'वे सव और अन्य अनुभाग होते हैं' इस प्रकार की अनुकृष्टि से आगे एक कडक के असख्यात भाग व्यतीत हो जाने तक कडक प्रमाण स्थितियो की एक-एक स्थिति का यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनतगुणा जानना चाहिये, जहाँ तक ऊपर के कडक की पूर्णता होती है ।

विशेषार्थ—'वे सव और अन्य अनुभाग होते हैं'—इस प्रकार की अनुकृष्टि से आगे कडक के असख्यात भागो से ऊपर कडक प्रमाण स्थितियो की एक-एक स्थिति का यथाक्रम से उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा जानना चाहिये। इस कथन का तात्पर्य यह है कि—

वे सब और अन्य अनुभाग रूप अनुकृष्टि से आगे जघन्य अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा तव तक कहना चाहिये, जव तक कडक प्रमाण स्थितियो के असख्यात बहुभाग व्यतीत होते हैं और एक भाग शेष रहता है। तत्पश्चात् जिस स्थिति से आरम्भ करके 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि आरम्भ हुई है, वहाँ से लेकर कडक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुण रूप से कहना चाहिये, तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कह कर निवृत्त हुए, उससे उपरिवर्ती स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण जानना चाहिये। इस प्रकार एक-एक स्थिति के जघन्य अनुभाग और उत्कृष्ट अनुभाग की तीव्रता-मदता को एक-एक कडक के प्रति तव तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग विपयक स्थितियो की 'वे सव और अन्य' अनुभाग रूप अनुकृष्टि से परे कडक पूर्ण होता है ।

उत्कृष्ट अनुभाग सागरोपमशतपृथक्त्व तुल्य होते हैं । उससे ऊपर जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उसके पश्चात् एक उत्कृष्ट अनुभाग, उसके पश्चात् एक जघन्य अनुभाग, उसके वाद एक उत्कृष्ट अनुभाग, इस क्रम से तव तक कहना चाहिये, जव तक जघन्य अनुभाग विषयक सभी स्थितिया समाप्त होती हैं।

उत्कृष्ट अनुभाग विषयक कडक प्रमाण स्थितिया अभी अनुक्त हैं, शेष सभी कह दी गई हैं । इसलिये उनका उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुण कहना चाहिये । इस बात को बतलाने के लिये 'जा तक्कडकोवरि समत्ती' यह पद दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि तव तक उन जघन्य अनुभागो को जो कडक के उपरिवर्ती हैं, उनकी समाप्ति तक इसी क्रम से कहना चाहिये । जिसका स्पष्टीकरण यह है—

अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण रूप से कही गई जघन्य अनुभाग विषयक स्थितियो के कडक से ऊपर एक-एक उत्कृष्ट अनुभाग से अन्तरित जघन्य अनुभाग तव तक कहना चाहिये,

जब तक उन सबकी समाप्ति होती है ।-तब जो कडक प्रमाण उत्कृष्ट अनुभाग केवल अवशिष्ट रहते है, वे भी उत्तरोत्तर अनन्त गुणित क्रम से तब तक कहना चाहिये, जब तक उन सबकी समाप्ति होती है ।

इस प्रकार यह गाथा का अर्थ सम्पूर्ण हुआ । अब साता और असाता वेदनीय के अनुभाग की तीव्रता और मदता का विचार करते है—

सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग सबसे अल्प है । उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही है, दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अनुभाग उतना ही है । इस प्रकार नीचे-नीचे उतर कर तब तक पूर्व तुल्य जघन्यानुभाग कहना चाहिये, जब तक सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है । उससे अधोवर्ती स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी अधोवर्ती स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कडक के असख्यात बहुभाग व्यतीत होते है और एक भाग शेष रहता है । ये सब असख्यात भागहीन कडकप्रमाण स्थितिया साकारोपयोग इस सज्ञा से व्यवहृत की जाती है, क्योकि इनका बध साकारोपयोग से ही होता है । इससे आगे उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना चाहिये । उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा तब तक कहना चाहिये, जब तक कडकप्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है ।

तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । तत्पश्चात् पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितियो के नीचे कडकप्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग क्रम से अनन्तगुणा कहना चाहिये। तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कह कर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये । तत्पश्चात् फिर कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार एक-एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग विषयक एक-एक स्थितियो की 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि से परे कडक पूर्ण होता है और उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितिया सागरोपमशतपृथकत्वप्रमाण होती है । उससे आगे की[1] एक स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । उस सागरोपमशतपृथक्त्व से अधोवर्ती स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है । तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त स्थितिस्थान से अधोवर्ती स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है । उस सागरोपमशतपृथक्त्व से अधोवर्ती द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार एक-एक जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग को अनन्त गुणित रूप से कहते हुए सर्व जघन्य स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये ।

---

१ अर्थात् जिस स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे नीचे।

कडकप्रमाण स्थितियो के उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त हैं, शेष सबका कथन कर दिया गया है। उनके लिये भी यह समझ लेना चाहिये कि नीचे-नीचे के क्रम से उनको अनन्त गुणित तब तक कहना चाहिये, जब तक सर्व जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनारोचसहनन, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति और उच्चगोत्र, इन पन्द्रह प्रकृतियो की तीव्रमदता भी समझ लेना चाहिये ।

अब असातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मदता का कथन करते हैं—

असातावेदनीय की जघन्य स्थिति में जघन्य अनुभाग सबसे कम है। द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। तृतीय स्थिति मे भी जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार सागरोपमशतपृथक्त्व तक कहना चाहिये। उससे उपरितन स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कडक के असख्यात बहुभाग व्यतीत होते है और एक शेष रहता है। उससे असातावेदनीय की जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट पद में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी तृतीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कडकप्रमाण स्थितिया व्यतीत होती हैं। तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए उससे उपरितन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्त गुणा होता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग विषयक कडक से ऊपर प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा उससे भी तृतीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक फिर कडकप्रमाण स्थितिया व्यतीत होती हैं। तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उसके उपरितन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त दो कण्डको से ऊपर कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कहना चाहिये। इस प्रकार एक-एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कडक-प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कि जघन्य अनुभाग विषयक एक-एक स्थिति का 'वे सब और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि से परे कडक पूर्ण होता है।

यहाँ उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितिया सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण हैं। उनसे ऊपर एक स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण कहना चाहिये, उसके पश्चात् सागरोपमशतपृथक्त्व से उपरितन स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण होता है। तत्पश्चात् फिर पूर्वोक्त स्थितिस्थान से उपरितन स्थितिस्थान में जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। तदनन्तर सागरोपमशत-पृथक्त्व से ऊपर द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण होता है। इस प्रकार एक-एक जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग को अनन्तगुण तब तक कहते जाना चाहिये, जब तक कि असाता-वेदनीय की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। कडक प्रमाण स्थितियो के उत्कृष्ट अनुभाग अभी

भी अनुक्त है और शेष का कथन किया जा चुका है। अतएव वे भी उत्तरोत्तर अनन्त गुणित क्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

इसी प्रकार (असातावेदनीय के अनुभाग की तीव्रता-मदता के अनुरूप) नरकगति, नरकानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति को छोड कर शेष चार जाति, प्रथम सस्थान और प्रथम सहनन को छोडकर शेष पाच सस्थान और पाच सहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति, इन सत्ताईस प्रकृतियो की तीव्रता-मदता कहना चाहिये।

अव तिर्यंचगति के अनुभाग की तीव्रता-मदता का कथन करते हैं—

सप्तम पृथ्वी मे वर्तमान नारकी के सर्व जघन्य स्थितिस्थान के जघन्य पद मे जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे तृतीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, इस प्रकार निवर्तनकडक व्यतीत होने तक कहना चाहिये। उससे जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे निवर्तनकडक के ऊपर प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे कडक के ऊपर द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे तृतीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के नीचे चरम स्थिति प्राप्त होती है।

अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के नीचे कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है और शेष कह दिया गया है। अब उस अनुक्त अनुभाग का कथन करते हैं—

उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, तृतीय स्थिति मे भी जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है। इन स्थितियो का पूर्व पुरुषो ने 'परावर्तमानजघन्यअनुभागबध-प्रायोग्य' यह नाम दिया है। इन स्थितियो के ऊपर प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे भी तृतीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक निवर्तनकडक के असख्यात बहुभाग व्यतीत होते है और एक भाग शेष रहता है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से उत्कृष्ट अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी, उपरितन द्वितीय स्थितिस्थान में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी तृतीय स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के नीचे की चरम स्थिति प्राप्त होती है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थिति-स्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध विषयक प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे भी द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक कडकप्रमाण स्थितिया व्यतीत होती है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थिति-स्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है, उससे भी अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय मे कडक से ऊपर फिर कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा कहना चाहिये। इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग कहते हुए तब तक कथन करना चाहिये, जब तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय मे चरम स्थिति प्राप्त होती है। तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के ऊपर प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे ऊपर पूर्वोक्त जघन्य अनुभागबंध सम्बन्धी स्थितियो से उपरितन द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे पूर्वोक्त उत्कृष्ट अनुभाग से उपरितन स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य और एक स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग को तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्त-गुणा प्राप्त होता है। कडक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है और शेष सब कह दिया। अत उस उत्कृष्ट अनुभाग को जानने के लिये तदनन्तर वे अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्त गुणित तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी और नीचगोत्र के अनुभाग की तीव्रता-मंदता का भी कथन करना चाहिये।

अब त्रसनामकर्म के अनुभाग की तीव्रता-मंदता कहते है—

त्रसनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्यपद में जघन्य अनुभाग सबसे कम होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए जघन्य अनुभाग गुणित रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कडकप्रमाण स्थितिया व्यतीत हो जाती है। उससे उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है।

तत्पश्चात् कडक से नीचे प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे कडक के अधोवर्ती द्वितीय स्थिति में जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार अठारह कोडाकोडी सागरोपम की उपरितन

स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। अठारह कोडाकोडी सागरोपम के ऊपर कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अभी भी अनुक्त है, शेप सव कह दिया। अव उसको भी यहाँ स्पष्ट करते है।

तत्पश्चात् उससे अठारह कोडाकोडी सागरोपम सम्वन्धी उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है, दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति मे जघन्य अनुभाग उतना ही होता है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तव तक कहना चाहिये, जव तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबंध प्राप्त होता है। उससे अधोवर्ती प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक कडक के असख्यात वहुभाग व्यतीत होते है और एक भाग शेप रहता है।

तदनन्तर अठारह कोडाकोडी सागरोपमो से ऊपर कडकप्रमाण स्थितियो की चरम स्थिति में उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे द्वि-चरम समयस्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे त्रि-चरम समयस्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार नीचे-नीचे उतरते हुए तव तक कहना चाहिये, जव तक कडक व्यतीत होता है। अर्थात् अठारह कोडाकोडी सागरोपमो के ऊपर अनन्तरवर्ती स्थिति व्यतीत होती है।

तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधस्तन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् फिर अठारह कोडाकोडी सागरोपम सम्वन्धी अन्तिम स्थिति से आरम्भ करके नीचे कडकप्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा कहना चाहिये। तत्पश्चात् जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए, उससे अधोवर्ती स्थिति-स्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तदनन्तर फिर पूर्वोक्त कडक से नीचे कडकप्रमाण स्थितियो का नीचे-नीचे उत्कृष्ट अनुभाग क्रम से अनन्तगुणा कहना चाहिये। इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य अनुभाग को और कडकप्रमाण स्थितियो के उत्कृष्ट अनुभागो को तव तक कहना चाहिये, जव तक अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंध के विषय मे जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

तदनन्तर जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनभाग कहकर निवत्त हुए थे, उससे अधस्तन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है। उससे अभव्यप्रायोग्य अनुभागबंध सम्वन्धी स्थान मे नीचे प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। तत्पश्चात् पूर्वोक्त जघन्य अनुभाग से नीचे की स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा होता है, उससे भी अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबंधस्थिति से नीचे द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार एक स्थिति के जघन्य अनुभाग और एक स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग को कहते हुए तव तक नीचे-नीचे उतरना चाहिये, जव तक जघन्य स्थिति प्राप्त होती है। कडकप्रमाण स्थितियो के उत्कृष्ट अनुभाग अभी अनुक्त है, शेष सवका कथन किया जा चुका है। इसलिये वे भी नीचे-नीचे क्रम से अनन्तगुणित रूप से तव तक कहना चाहिये, जव तक जघन्य स्थिति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार वादर, पर्याप्त और प्रत्येक नामकर्म के अनुभाग की भी तीव्रता-मदता कहना चाहिये।[1]

इस प्रकरण मे (शुभाशुभ प्रकृतियो के अनुभागो मे) सादि-अनादिप्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसज्ञा, स्थानसज्ञा, शुभाशुभप्ररूपणा, प्रत्ययप्ररूपणा और विपाकप्ररूपणा जिस प्रकार शतक मे कही गई है, तदनुरूप यहाँ कहना चाहिये।

इस प्रकार अनुभागबंध का कथन समाप्त होता है। अव स्थितिबंध के निरूपण का अवसर प्राप्त होने से उसका विचार प्रारम्भ करते है।

४ स्थितिबंध

इसमे चार अनुयोगद्वार है—(१) स्थितिस्थानप्ररूपणा, (२) निषेकप्ररूपणा, (३) अबाधाकंडकप्ररूपणा, (४) अल्पबहुत्वप्ररूपणा। इनमे से पहले स्थितिस्थानप्ररूपणा करते है—

ठिइबंधट्ठाणाइं, सुहुमअपज्जत्तगस्स थोवाइं।
बायरसुहुमेयरबिति-चउरिंदिय असणसन्नीणं ॥६८॥
संखेज्जगुणाणि कमा, असमत्तियरे य बिदियाइम्मि।
नवरमसंखेज्जगुणाइं संकिलेसाइं (य) सव्वत्थ ॥६९॥

शब्दार्थ—ठिइबंधट्ठाणाइं—स्थितिबंधस्थान, सुहुम—सूक्ष्म, अपज्जत्तगस्स—अपर्याप्त के, थोवाइं—अल्प, बायरसुहुमेयर—वादर, सूक्ष्म और इतर, बितिचउरिंदिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, असणसन्नीण—असज्ञी और सज्ञी।

संखेज्जगुणाणि—सख्यातगुण, कमा—अनुक्रम से, असमत्तियरे—अपर्याप्त और पर्याप्त, य—और, बिदियाइम्मि—द्वीन्द्रिय मे, नवर—परन्तु, असंखेज्जगुणाइं—असख्यात गुण, संकिलेसाइं—सक्लेशस्थान, सव्वत्थ—सर्वत्र।

गाथार्थ—सूक्ष्म अपर्याप्तक जीव के स्थितिस्थानक सबसे अल्प होते है, उससे वादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, वादर पर्याप्त, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त, त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त—के स्थितिस्थान क्रम से सख्यात गुणित होते है। परन्तु वादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान असख्यात गुणित होते है तथा उक्त सब भेदो (जीवसमासो) मे सक्लेशस्थान सर्वत्र उत्तरोत्तर असख्यात गुणित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इस प्रकरण मे जघन्य स्थिति से आरम्भ करके उत्कृष्ट स्थिति तक जितने समय होते है, उतने प्रमाण ही स्थितिस्थान होते है। जिसका अभिप्राय यह है—

१ असत्कल्पना से समझने के लिये तीव्रता-मदता की स्थापना का प्रारूप परिशिष्ट मे देखिये।

जघन्य स्थिति का एक पहला स्थान है, वही एक समय अधिक होने पर द्वितीय स्थितिस्थान होता है । दो समय अधिक होने पर तीसरा स्थितिस्थान होता है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये ।

ये स्थितिस्थान सूक्ष्म अपर्याप्तक जीव के सबसे कम होते हैं (१)। उनमे अपर्याप्त वादर के सख्यातगुणे होते है (२) । उनसे सूक्ष्म पर्याप्तक के सख्यात गुणित होते हैं (३) । उनसे पर्याप्त वादर के सख्यात गुणित हैं (४) ।

ये सभी स्थान पल्योपम के असस्यातवे भाग में जितने समय होते है, उतने प्रमाण जानना चाहिये ।

पर्याप्न वादर जीव के स्थितिस्थानो से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव के स्थितिस्थान असख्यात गुणित होते हैं (५) । यह कैसे जाना जाये तो इसका उत्तर यह है कि अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवो के स्थितिस्थान पल्योपम के सख्येय भागगत समय प्रमाण होते हैं और पाश्चात्य अर्थात् पर्याप्त वादर के स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यातवे भागगत समय प्रमाण होते है । इसलिये उन पर्याप्त वादर जीवो क स्थितिस्थानो से द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक जीवो के स्थितिस्थान असख्यात गुणित ही सिद्ध होते हैं ।

अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवो के स्थितिस्थानो से पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवो के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (६) । उनसे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (७) । उनसे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (८) । उनसे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते हैं (९) । उनसे चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (१०) । उनसे असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (११) । उनसे असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (१२) । उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्तक के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (१३) । उनसे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है (१४) । इस प्रकार 'असमत्तियरे य' अर्थात् असमाप्त-अपर्याप्त और इतर अर्थात् पर्याप्त वादर आदि जीवा के स्थितिस्थान क्रम से सख्यात गुणित कहना चाहिये । केवल एकेन्द्रियो के स्थितिस्थान कहने के अनन्तर द्वीन्द्रिय के अपर्याप्त रूप प्रथम भेद मे स्थितिबधस्थान असख्यात गुणित कहना चाहिये और असख्यात गुणित होने का कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है ।

जीवभेदो में सक्लेशस्थान

अब पूर्वोक्त चौदह भेदो में सक्लेशस्थानो को वतलाते है—

'सकिलेसाइ सव्वत्थ' अर्थात् उपर्युक्त सभी चौदह जीव भेदो मे सक्लेशस्थान असख्यात गुणित कहना चाहिये । द्वीन्द्रिय के अपर्याप्त लक्षण वाले प्रथम भेद में ही स्थितिस्थान असख्यगुण कहना

चाहिये, उसका यहाँ कथन नही किया है। परन्तु यहाँ तो सर्व भेदो मे सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है, यह गाथागत 'य' चकार का आशय है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) सूक्ष्म अपर्याप्तक के सक्लेशस्थान सबसे कम होते है। (२) उससे बादर अपर्याप्त के सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है। (३) उससे पर्याप्त सूक्ष्म जीव के सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है। (४) उससे पर्याप्त बादर जीवो के सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है। (५) उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है। इसी प्रकार पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त एव पर्याप्त त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय के सक्लेशस्थान क्रम से उत्तरोत्तर असख्यात गुणित जानना चाहिये।

प्रश्न—यह कैसे समझे कि सर्व जीव भेदो मे सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि सूक्ष्म अपर्याप्तक के जघन्य स्थितिबध के आरम्भ में जो सक्लेशस्थान होते है, उनमे एक समय अधिक जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे सक्लेशस्थान विशेषाधिक होते है, उनसे भी दो समय अधिक जघन्य स्थितिबध के आरम्भ मे संक्लेशस्थान विशेषाधिक होते है, इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक उसी जीव की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है और उस उत्कृष्ट स्थितिबध के आरम्भ में सक्लेशस्थान जघन्य स्थिति सम्बन्धी सक्लेशस्थानो की अपेक्षा असख्यात गुणित पाये जाते है। जब यह स्थिति है, तब अपने आप ही अपर्याप्त बादर जीव के सक्लेशस्थान अपर्याप्त सूक्ष्म जीव सम्बन्धी सक्लेशस्थानो की अपेक्षा असख्यात गुणित होते है। वह इस प्रकार कि अपर्याप्त सूक्ष्म जीव सम्बन्धी स्थितिस्थान की अपेक्षा बादर अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है और स्थितिस्थान की वृद्धि होने पर सक्लेशस्थान की वृद्धि होती ही है। इसलिये जब सूक्ष्म अपर्याप्त जीव के अति अल्प भी स्थितिस्थानो मे जघन्य स्थितिस्थान सम्बन्धी सक्लेशस्थानो की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिस्थान में सक्लेशस्थान असख्यात गुणित होते है तब बादर अपर्याप्त जीवो के स्थितिस्थानो मे सूक्ष्म अपर्याप्त जीव के स्थितिस्थानो की अपेक्षा असख्यात गुणित स्वयमेव होते है। इसी प्रकार आगे भी सभी जीवभेदो मे सक्लेशस्थानो का[1] असख्यात गुणत्व जान लेना चाहिये।

जैसे सक्लेशस्थान असख्यात गुणित क्रम से होते है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर जीवभेदो मे विशुद्धिस्थान भी जानना चाहिये। जिसका सकेत आगे की गाथा मे 'एमेव विसोहीओ'—पद से किया गया है। जिसका कारण सहित विशेष स्पष्टीकरण वहाँ गाथा की व्याख्या के प्रसग मे किया जा रहा है। सरलता से समझने के लिये जीव भेदो मे स्थितिस्थान, सक्लेशस्थान विशुद्धिस्थान का प्रारूप इस प्रकार है—

१ स्थितिबध के हेतुभूत जो काषायिक अध्यवसायस्थान है, वे सक्लेशस्थान कहलाते हैं। जीवभेदो में सक्लेशस्थानो की तरह विशुद्धिस्थान है, परन्तु विशुद्धिस्थान स्थितिबध मे हेतुभूत न होने से उनकी यहा विवक्षा नही की है मात्र सक्लेशस्थानो की ही विवक्षा की है।

क्रम	जीवभेद	स्थितिस्थान	संक्लेशस्थान	विशुद्धिस्थान
१	सूक्ष्म अपर्याप्त	पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण सर्वस्तोक	सबसे अल्प	सबसे अल्प
२	बादर अपर्याप्त	उससे सख्यात गुण	असख्यात गुण	असख्यात गुण
३	सूक्ष्म पर्याप्त	उससे सख्यात गुण		,,
४	बादर पर्याप्त	उससे सख्यात गुण	,	,,
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे असख्यात गुण	,,	,,
६	,, पर्याप्त	उससे सख्यात गुण	,,	,,
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	उससे ,	,,	,,
८	,, पर्याप्त	उससे ,,	,	,,
९	चतुरि अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१०	,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
११	असज्ञी पचे अपर्याप्त	उससे ,,	,	,,
१२	,, ,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१३	सज्ञी पचे अपर्याप्त	उससे ,,	,,	,,
१४	,, ,, पर्याप्त	उससे ,,	,,	,,

प्रकृतियो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

एमेव विसोहीओ विग्घावरणेसु कोडिकोडीओ ।
उदही तीसमसाते अद्ध थीमणुयदुगसाए ॥७०॥

शब्दार्थ—**एमेव**—इसी तरह, **विसोहीओ**—विशुद्धिस्थान, **विग्घावरणेसु**—अन्तराय और आवरणद्विक की, **कोडिकोडीओ**—कोडाकोडी, **उदही**—सागरोपम, **तीस**—तीस, **असाते**—असातावेदनीय की, **अद्ध**—अर्ध, **थीमणुयदुगसाए**—स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक और सातावेदनीय की ।

गाथार्थ—विशुद्धिस्थान भी इसी प्रकार जानना चाहिये । अन्तराय, आवरणद्विक तथा असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है तथा स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक और सातावेदनीय की आधी अर्थात् पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है ।

विशेषार्थ—'एमेव विसोहीओ त्ति' अर्थात् जैसे सक्लेशस्थान असख्यात गुणित क्रम से पहले कहे जा चुके है, उसी प्रकार असख्यात गुणित रूप से विशुद्धिस्थान भी कहना चाहिये । क्योकि सक्लेश को प्राप्त होने वाले जीव के जो सक्लेशस्थान है, वे ही विशुद्धि को प्राप्त होने वाले जीव के विशुद्धिस्थान होते है । इसके लिये पूर्व मे विस्तार से कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ

पुनरावृत्ति नही करते है । अतएव पूर्वोक्त चौदह जीवभेदो मे सर्वत्र विशुद्धिस्थान भी संक्लेश-स्थानो के समान असख्यात गुणित कहना चाहिये ।

प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति

अव उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करने के लिये गाथा मे 'विग्घ त्ति' आदि पद कहे गये है । जिनका अर्थ यह है कि अन्तराय और आवरणद्विक अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इनमे अन्तराय कर्म की पाचो प्रकृति, पाचो ज्ञानावरण प्रकृति, नौ दर्शनावरण प्रकृति और असातावेदनीय, इन बीस (२०) प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम होती है।[1]

प्रस्तुत मे दो प्रकार की स्थिति जानना चाहिये— १ कर्मरूपतावस्थानलक्षणा[2] २ और अनुभव-योग्या[3]। इनमे से कर्मरूप से अवस्थान लक्षण वाली स्थिति को अधिकृत करके यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण वाली स्थिति का कथन जानना चाहिये और जो अनुभवप्रायोग्य स्थिति होती है, वह अवाधाकाल से हीन होती है। जिन कर्मो की स्थिति जितने कोडाकोडी सागरोपम होती है, उनका अवाधाकाल उतने ही वर्षशतप्रमाण होता है। जैसे—मतिज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम है, तो उसका उत्कृष्ट अवाधाकाल तीसवर्षशत अर्थात् तीन हजार वर्ष जानना चाहिये। क्योकि जो मतिज्ञानावरण कर्म उत्कृष्ट स्थिति का बाधा हो तो वह तीन हजार वर्ष तक अपने उदय से जीव को कोई भी बाधा उत्पन्न नही करता है। अवाधाकाल[4] से रहित जो शेष स्थिति होती है, उतनी स्थिति मे कर्मदलिको का निषेक[5] होता

१ यहा ग्रथकार ने उत्तर प्रकृतियो को लेकर उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। इनमे जिस उत्तरप्रकृति की सबसे अधिक स्थिति हो, वही उस मूल कर्मप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति समझना चाहिये । इस दृष्टि से मूल कर्मप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति निम्न प्रकार है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम, आयु की तेतीस सागरोपम और मोहनीय की ७० कोडाकोडी सागरोपम और नाम, गोत्र की २० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।

२ बधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल के परिमाण को कर्मरूपतावस्थानलक्षणास्थिति कहते है ।

३ अवाधाकाल से रहित उदयोन्मुखी स्थिति अनुभवयोग्यास्थिति कहलाती है।

४ अवाधाकाल मे कर्मदलिको की निर्जरा न होने से उसमे निषेकरचना नही होती है । किसी-किसी कर्म की अवाधाकाल के अन्तर्गत रहते हुए भी उद्वर्तना आदि से होने वाली प्रक्रिया भी अवाधाकाल की प्रक्रिया मे होती है। जिसका यहा ग्रहण नही किया है। प्रबुद्ध पाठक उसका अनुसधान कर लें।

५ अवाधाकाल के बाद एक-एक समय मे उदय आने योग्य द्रव्य के प्रमाण को निषेक कहते है। आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मो की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे से उन-उनका अवाधाकाल घटा कर जो शेष रहता है, उतने काल के जितने समय होते है, उतने ही उस कर्म के निषेक जानना चाहिये। लेकिन आयुकर्म की अवाधा पूर्व भव मे व्यतीत हो जाने से नवीन भव के प्रारम्भ से निषेक-रचना होती है।

है, अर्थात् अवाधाकाल से रहित शेप स्थिति ही अनुभव के योग्य होती है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि प्रकृतियो का और शेप उपर्युक्त प्रकृतियो का अवाधाकाल और अवाधाकालहीन कर्मदलिक-निषेक जानना चाहिये।

स्त्रीवेद, मनुष्यद्विक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी), सातावेदनीय की पूर्वोक्त स्थिति प्रमाण की आधी उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये। अर्थात् स्त्रीवेदादि चारो प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति (३० कोडाकोडी सागरोपम की आधी) पन्द्रह (१५) कोडाकोडी सागरोपम जानना चाहिये। इन चारो प्रकृतियो का अवाधाकाल पन्द्रहसौ (१५००) वर्ष है और अवाधाकाल मे हीन शेष स्थिति कर्म-दलिकनिषेक रूप होती है।[1]

तिविहे मोहे सत्तरि, चत्तालीसा य वीसई य कमा।
दस पुरिसे हासरई, देवदुगे खगइचेट्ठाए ॥७१॥

शब्दार्थ—**तिविहे**—त्रिविध, तीनो प्रकार के, **मोहे**—मोहनीय की, **सत्तरि**—सत्तर, **चत्तालीसा**—चालीस, **य**—और, **वीसई**—बीस, **य**—और, **कमा**—अनुक्रम से, **दस**—दस, **पुरिसे**—पुरुपवेद, **हासरई**—हास्य और रति, **देवदुगे**—देवद्विक, **खगइचेट्ठाए**—शुभविहायोगति।

गाथार्थ—तीनो प्रकार के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रम से सत्तर, चालीस और बीस कोडाकोडी सागरोपम तथा पुरुषवेद, हास्य, रति, देवद्विक और प्रशस्त (शुभ) विहायोगति की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम होती है।

विशेषार्थ—त्रिविध मोहनीय की अर्थात् मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय, सोलह कषाय रूप कषाय-मोहनीय तथा नपुसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप नोकषायमोहनीय की उत्कृष्ट-स्थिति यथाक्रम से सत्तर (७०), चालीस (४०) और बीस (२०) कोडाकोडी सागरोपम होती है। इनका अवाधाकाल भी यथाक्रम से सात हजार (७०००), चार हजार (४०००) और दो हजार (२०००) वर्ष प्रमाण होता है। इनका कर्मदलिकनिषेक अपने-अपने अवाधाकाल से हीन होता है।

इस गाथा मे पुरुषवेद, हास्य और रति प्रकृति का पृथक् रूप से स्थितिबध कहा गया है तथा स्त्रीवेद का पूर्व गाथा मे उत्कृष्ट स्थितिबध कह दिया गया है, इसलिये यहाँ पर नोकषाय मोहनीय के ग्रहण से नपुसकवेद, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा प्रकृति का ही ग्रहण करना चाहिये।

'दस पुरिसेत्यादि' अर्थात् पुरुषवेद, हास्य, रति, देवगति, देवानुपूर्वी रूप देवद्विक और खगति-चेष्टा अर्थात् प्रशस्तविहायोगति इन छह (६) प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम होती है। इन कर्म प्रकृतियो का अवाधाकाल दशवर्षशत अर्थात् एक हजार (१०००) वर्ष है और इस अवाधाकाल से हीन शेप स्थिति कर्मदलिकनिषेक रूप जानना चाहिये।

१ यहा और आगे की गाथाओ मे कर्म प्रकृतियो की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है, उसका बध केवल पर्याप्तक सज्ञी जीव ही कर सकते हैं। अत यह स्थिति पर्याप्तक सज्ञी जीवो की अपेक्षा समझना चाहिये। शेप जीव उस-उस स्थिति मे से कितनी-कितनी स्थिति बाधते है, इसका निर्देश यथास्थान आगे किया जा रहा है।

थिरसुभपंचग उच्चे, चेव संठाणसघयणमूले ।
तब्बीयाइ बिवुड्ढी, अट्ठारस सुहुमविगलतिगे ।।७२।।

तित्थगराहारदुगे, अतो वीसा सनिच्चनामाणं ।
तेत्तीसुदही सुरनारयाउ, सेसाउ पल्लतिग ।।७३।।

शब्दार्थ—थिरसुभपंचग उच्चे-स्थिर, शुभपचक, उच्चगोत्र की, च-और, एव-इसी प्रकार, संठाणसघयणमूले-मूल (प्रथम) सस्थान और सहनन की, तब्बीयाइ-उनके द्वितीयादिक बिवुड्ढी-दो-दो की वृद्धि, अट्ठारस-अठारह, सुहुमविगलतिगे-सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक की ।

तित्थगराहारगदुगे—तीर्थंकर और आहारकद्विक को, अतो-अत कोडाकोडी सागरोपम, वीसा-बीस, सनिच्चनामाण-नीचगोत्र सहित शेष नामकर्म प्रकृतियो की, तेत्तीसुदही-तेतीस सागरोपम, सुरनारयाऊ-देव और नरकायु की, सेसाउ-शेष दो आयु की, पल्लतिग-तीन पल्य ।

गाथार्थ—स्थिर, शुभपचक, उच्चगोत्र, प्रथम सस्थान और प्रथम सहनन, इन नौ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा द्वितीयादि सस्थान और सहननो मे क्रमश दो-दो कोडाकोडी सागरोपम की वृद्धि रूप उत्कृष्टस्थिति है और सूक्ष्मत्रिक एव विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

तीर्थंकर और आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम है। नामकर्म की शेष प्रकृतियो और नीचगोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यंच व मनुष्यायु की तीन पल्योपम प्रमाण होती है ।

विशेषार्थ—'थिर त्ति'-स्थिरनाम, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय यश कीर्ति रूप शुभपचक, उच्चगोत्र तथा 'सठाणसघयणमूले त्ति' मूल अर्थात् समचतुरस्र नामक प्रथम सस्थान और प्रथम वज्रऋषभनाराचसहनन की उत्कृष्ट स्थिति इसी प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त दस कोडाकोडी सागरोपम[1] प्रमाण जानना चाहिये । उक्त प्रकृतियो का अबाधाकाल दसवर्षशत अर्थात् एक हजार वर्ष है । इनका कर्मदलिकनिषेक अबाधाकाल हीन शेष स्थिति प्रमाण है ।

तत्पश्चात् 'तव्वीयाइ विवुड्ढी' अर्थात् उन सस्थानो और सहननो के मध्य मे जो द्वितीय, तृतीय आदि सस्थान और सहनन है, उनमें क्रमश दो-दो सागरोपम की वृद्धि रूप उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये । जिसका आशय यह है कि दूसरे सस्थान (न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान) और सहनन (ऋषभनाराचसहनन) की उत्कृष्टस्थिति बारह (१२) कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है तथा बारह

1 पल्योपम और सागरोपम के बारे मे शास्त्रो मे कहा है कि चार कोस के लबे, चौडे और गहरे कुए मे युगलिया जीवो के केशो के असख्य खण्ड करके उन्हें खूब दबा-दबा कर भरा जाये और फिर सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जब वह कुआ खाली हो जाये तब एक पल्योपम काल होता है। (इसमे असख्य वर्ष लगते हैं) और दस कोडाकोडी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट मे किया गया है।

सौ वर्ष अवाधाकाल है एव अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है। तीसरे सस्थान (सादिसस्थान) और सहनन (नाराचसहनन) की उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडाकोडी सागरोपम की है, इनका अवाधाकाल चौदहसौ वर्ष का है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है। चौथे सस्थान (वामनसस्थान) और सहनन (अर्धनाराचसहनन) की उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अवाधाकाल सोलहसौ वर्ष है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है। पाचवे सस्थान (कुब्जसस्थान) और सहनन (कीलिकासहनन) की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अवाधाकाल अठारहसौ वर्ष है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है। छट्ठे सस्थान (हुडकसस्थान) और सहनन (सेवार्तसहनन) की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और इनका अवाधाकाल दो हजार वर्ष है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है।

'अट्ठारस सुहुमविगलतिगे' अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप सूक्ष्मत्रिक तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति रूप विकलत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। इनका अवाधाकाल अठारह सौ वर्ष है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिपेक होता है।

'तित्थगराहारदुगे त्ति' अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकशरीर, आहारकअगोपाग रूप आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोडाकोडी[1] सागरोपम प्रमाण होती है और इनका अवाधाकाल अन्तर्मुहूर्त होता है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'वीसा सनिच्चनामाण' अर्थात् नीचगोत्र एव नामकर्म की जो प्रकृतिया शेष रही हुई है, यथा—नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यचद्विक (तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी) एकेन्द्रियजाति, पचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय शरीर नामकर्म[2] औदारिक अगोपाग, वैक्रिय अगोपाग, वर्ण, गध, रस, स्पर्श[3] अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत,

---

१ अन्त कोडाकोडी—देशान कोडाकोडी (एक कोडाकोडी मे से कुछ न्यून)। एक करोड को एक करोड से गुणा करने पर प्राप्तराशि को कोडाकोडी कहते हैं।

२ बधन और सघात नामकर्म के अवान्तर भेदो की स्थिति अपने अपने नाम वाले शरीरनाम की स्थिति के बराबर समझना चाहिये—स्थित्युदयबधकाला सघातबधनाना स्वशरीरतुल्या ज्ञेया।

—कर्मप्रकृति, यशो टीका

३ कर्मप्रकृति मे तो वर्णचतुष्क के अवान्तर भेदो की स्थिति नही बतलाई है, परन्तु पचसग्रह मे इस प्रकार स्पष्ट किया है— सुक्किलसुरभीमहुराण दस उ तह सुभ चउण्हफासाण।
अड्ढाइज्जपवुड्ढी अम्बिलहालिद्दपुव्वाण॥

—उत्कृष्ट स्थितिबधद्वार ३३

शुक्लवर्ण, सुरभिगध, मधुररस, मृदु, स्निग्ध, लघु, उष्ण स्पर्शो की दस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आगे प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रस की स्थिति अढाई कोटि-कोटि सागरोपम अधिक-अधिक जानना चाहिये। अर्थात् हरितवर्ण और आम्लरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति साढे बारह कोडाकोडी सागर प्रमाण है। लालवर्ण और कषायरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण है। नीलवर्ण और कटुकरस नाम की उत्कृष्ट स्थिति साढे सत्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण है और इनके अतिरिक्त शेप भेदो, कृष्णवर्ण, तिक्तरस, दुर्गन्ध, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीतस्पर्श नाम की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है।

अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति और निर्माण, कुल मिलाकर छत्तीस(३६) प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम होती है । इनका अबाधाकाल दो हजार वर्ष है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

'तेत्तीसुदही सुरनारयाउ' अर्थात् देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम होती है । जो पूर्वकोटि वर्ष के त्रिभाग से अधिक है । इनका अबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । 'सेसाउ पल्लतिग' अर्थात् शेष रही जो मनुष्यायु और तिर्यंचायु है, उनकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक तीन पल्योपम होती है। इनका अबाधाकाल पूर्व[1]कोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । यह पूर्वकोटि की अधिकता चारो गतियो मे गमन के योग्य उत्कृष्ट स्थिति बाधने वाले तिर्यंच और मनुष्यो की अपेक्षा जानना चाहिये । क्योकि इनका ही आश्रय करके यह ऊपर कही गई उत्कृष्ट स्थिति और पूर्वकोटि का त्रिभाग रूप अबाधाकाल प्राप्त होता है ।

बधक जीवो के आश्रय से आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

अब असज्ञी पचेन्द्रिय आदि बधक जीवो के आश्रय से आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का प्रतिपादन करते है—

आउचउक्कुक्कोसो, पल्लासखेज्जभागममणेसु ।
सेसाण पुव्वकोडि, साउतिभागो अबाहा सिं ॥७४॥

शब्दार्थ—**आउचउक्कुक्कोसो**—आयुचतुष्क का उत्कृष्ट बध, **पल्लासखेज्जभाग**—पल्य का असख्यातवा भाग, **अमणेसु**—असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे, **सेसाण**—शेष जीवो का, **पुव्वकोडी**—पूर्वकोटिवर्ष, **साउतिभागो**—स्व-स्व आयु का तीसरा भाग, **अबाहा**—अबाधा, **सिं**—इनके ।

गाथार्थ—असज्ञी पचेन्द्रिय जीव चारो आयु कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का बध पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण और शेष जीव परभव की आयु का उत्कृष्ट स्थितिबध अपने-अपने भव सम्बन्धी आयु के त्रिभाग से अधिक पूर्वकोटिवर्ष प्रमाण करते है । वही उनके वर्तमान भव का त्रिभाग अबाधाकाल होता है ।

विशेषार्थ—अमनस्क अर्थात् असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव यदि परभव सम्बन्धी चारो आयु प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का बध करते है तो उनकी वह उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक पल्योपम के असख्यातवे भागप्रमाण होती है । उनका अबाधाकाल पूर्वकोटि का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है । शेष पर्याप्त और अपर्याप्त

---

१ ज्योतिष्करण्डक ६३ मे पूर्व का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—
पुव्वस्स उ परिमाण सयरीं खलु होंति सयसहस्साइ ।
छप्पण्ण च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीण ॥
अर्थात ७० लाख, ५६ हजार करोड वर्ष का एक पूर्व होता है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवो का और अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय जीव यदि परभव सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति का बध करते है, तो उनका वह उत्कृष्ट स्थितिबध अपने-अपने भव के त्रिभाग से अधिक पूर्वकोटिवर्ष प्रमाण जानना चाहिये। इनका अबाधाकाल अपने-अपने भव का त्रिभाग है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

कर्मों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण

वाससहस्समबाहा, कोडाकोडीदसगस्स सेसाणं ।
अणुवाओ अणुवट्टणगाउसु छम्मासिगुक्कोसो ॥७५॥

शब्दार्थ—**वाससहस्स**—एक हजार वर्ष, **अबाहा**—अबाधा, **कोडाकोडी**—कोडाकोडी, **दसगस्स**—दस सागरोपम की, **सेसाण**—शेष की, **अणुवाओ**—अनुपात से, **अणुवट्टणगाउसु**—अनपवर्तनीय आयु की **छम्मासिगुक्कोसो**—छह मास की उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—दस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति का अबाधाकाल एक हजार वर्ष होता है। इसी अनुपात से शेप स्थितियो का अबाधाकाल जानना चाहिये। अनपवर्तनीय आयु वाले जीवो की आयु का अबाधाकाल उत्कृष्ट छह मास होता है।

विशेषार्थ—अब आयुकर्म को छोडकर शेप सब कर्मों के आबाधाकाल के परिमाण का प्रतिपादन करते है। दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितियो का अबाधाकाल एक हजार (१०००) वर्ष होता है। शेष बारह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, अठारह, बीस, तीस, चालीस और सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितियो का अबाधाकाल इसी अनुपात से अर्थात् त्रैराशिक रीति से जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब दस कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियो का अबाधाकाल एक हजार वर्ष का प्राप्त होता है, तब बारह कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियो का अबाधाकाल बारहसौ (१२००) वर्ष और चौदह कोडाकोडी सागरोपम वाली स्थितियो का अबाधाकाल चौदहसौ (१४००) वर्प प्राप्त होता है। इसी प्रकार सभी स्थितियो के उत्कृष्ट अबाधाकाल को समझ लेना चाहिये।

'अणुवट्टणगाउसु त्ति' अर्थात् अनपवर्तनीय[1] आयु वाले जो देव, नारक और असख्यात वर्ष की

1 आयु के दो प्रकार है—अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय। बाह्यनिमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, शस्त्रघात, विपपान आदि बाह्य कारणो से अपनी बधी हुई आयु को अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना, आयु का अपवर्तन है। ऐसी आयु को अकालमृत्यु भी कहते है। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो, जितने काल तक के लिये बाधी गई है, उतने काल तक भोगी जाये, वह अनपवर्तनीय आयु है।

उपपात जन्म वाले नारक, देवो के अतिरिक्त तद्भवमोक्षगामी, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि) और असख्यात वर्ष जीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियो, छप्पन अतर्द्वीपो में और कर्मभूमियो में उत्पन्न युगलिक हैं और असख्यात वर्ष जीवी तिर्यंच उक्त क्षेत्रो के अलावा ढाई द्वीप के बाहर द्वीप, समुद्रो में भी पाये जाते हैं। ये सभी अनपवर्तनीय आयु वाले है और शेप अपवर्तनीय आयु वाले हैं।

आयु वाले तिर्यंच, मनुष्य है, उनके परभव की आयु के उत्कृष्ट बंध में परभव की आयु की उत्कृष्ट अबाधा छह मास प्रमाण जानना चाहिये।[1]

कितने ही आचार्य युगलधर्मी (युगलिक), भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचो का अबाधाकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण मानते हैं। जैसा कि कहा है—

पलियासंखिज्जंसं जुगधम्माणं वयंतण्णे ॥[2]

अर्थात् अन्य आचार्य युगलधर्मियों की आयुष्य का अबाधाकाल पल्योपम का असंख्यातवां भाग कहते हैं।[3]

इस प्रकार सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया जा चुका है। अब उनकी जघन्य स्थिति को बतलाते हैं।

कर्मप्रकृतियों की जघन्य स्थिति

भिन्नमुहुत्तं आवरण–विग्घदंसणचउक्कलोभंते।
बारस सायमुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥७६॥
दो मासा अद्धद्धं, संजलणे पुरिस अट्ठ वासाणि।
भिन्नमुहुत्तमबाहा, सव्वासि सव्वहिं हस्से ॥७७॥

शब्दार्थ—भिन्नमुहुत्त–भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त, आवरण–ज्ञानावरण विग्घ–अन्तराय, दंसण-चउक्क–दर्शनावरणचतुष्क, लोभंते–अन्तिम (संज्वलन) लोभ, बारस–बारह, साय–सातावेदनीय मुहुत्ता–मुहूर्त, अट्ठ–आठ, य–और, जसकित्ति–यशःकीर्ति, उच्चेसु–उच्चगोत्र।

---

१ आयुकर्म की अबाधा के सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है कि अबाधा के लिये जो नियम बताया गया है कि एक पूर्व कोडाकोडी सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की ही अबाधा निकालने के लिये है। आयुकर्म की अबाधा स्थिति के अनुपात पर अवलंबित नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का बंध तो सर्वदा होता रहता है। किन्तु आयुकर्म का बंध अमुक-अमुक काल में ही होता है। गति के अनुसार वे अमुक-अमुक काल निम्नप्रकार हैं—मनुष्य और तिर्यंचगति में जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं, तब परभव की आयु के बंध का काल उपस्थित होता है। जैसे किसी मनुष्य की आयु ९९ वर्ष की है तो उसमें से ६६ वर्ष बीतने पर वह मनुष्य परभव की आयु बांध सकता है। उससे पहले उसके आयुकर्म का बंध नहीं हो सकता है। इसी से कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के बध्यमान आयुकर्म का अबाधाकाल एक पूर्वकोटि का तीसरा भाग है। क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यंच की आयु एक पूर्वकोटि की होती है और उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है। लेकिन भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। इसी से ग्रंथकार ने अनपवर्तनीय आयु वालों का बध्यमान आयु का अबाधाकाल छह मास बताया है।

२ पंचसंग्रह, पंचम द्वार गा. ४१

३ आयुबंध और उसकी अबाधा के सम्बन्ध में मतभेद को दर्शाते हुए पंचसंग्रह में पंचम द्वार गाथा ३७-४१ तक रोचक चर्चा की है। जिसको परिशिष्ट में देखिये।

दोमासा—दो मास, **अद्धद्ध**—अर्ध-अर्ध, **संजलणे**—सज्वलनत्रिक की, **पुरिस**—पुरुषवेद, **अट्ठवासाणि**—आठ वर्ष की, **भिन्नमुहुत्त**—अन्तर्मुहूर्त, **अबाहा**—अबाधा, **सव्वासि**—सर्व प्रकृतियो की, **सव्वहिं**—समस्त, **हस्से**—जघन्य स्थितिबध मे।

गाथार्थ—ज्ञानावरणपचक, अन्तरायपचक, दर्शनावरणचतुष्क और अतिम (सज्वलन) लोभ की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है तथा सातावेदनीय की बारह मुहूर्त एव यश कीर्ति और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त है।

सज्वलन क्रोध की दो मास और शेष मान, माया की अर्ध-अर्ध न्यून और पुरुषवेद की आठ वर्ष की जघन्य स्थिति है और सर्व प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध मे अबाधा अन्तर्मुहूर्त है।

विशेषार्थ—'भिन्नमुहुत्त 'अर्थात् पाचो ज्ञानावरण, पाचो अन्तराय, चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल इन चारो दर्शनावरण और सबसे अतिम लोभ अर्थात् सज्वलन लोभ की जघन्य स्थिति भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त होती है। इनका अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक है।

सातावेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है[1] और अन्तर्मुहूर्त अबाधाकाल है एव अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है। यहाँ पर कपाययुक्त सातावेदनीय की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन अभीप्ट है। इसलिये बारह मुहूर्त जघन्य स्थिति कही है। अन्यथा तो सातावेदनीय की जघन्य स्थिति सयोगिकेवली आदि मे दो समय प्रमाण[2] भी पाई जाती है।

यश कीर्ति और उच्चगोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

सज्वलन कषायो की जघन्य स्थिति दो मास और इसके बाद अर्ध-अर्ध होती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि सज्वलन क्रोध की दो मास जघन्य स्थिति है, सज्वलन मान की जघन्य स्थिति उससे आधी अर्थात् एक मास होती है और सज्वलन माया की जघन्य स्थिति उससे आधी अर्थात् अर्धमास—एक पक्ष है। पुरुषवेद की जघन्य स्थिति आठ वर्ष की है। इन सभी प्रकृतियो का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है और अबाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

अबाधाकाल का प्रमाण प्रतिपादन करने के लिये 'भिन्नेत्यादि' पद कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त और आगे वक्ष्यमाण सभी प्रकृतियो के सभी जघन्य स्थितिबध मे अबाधाकाल भिन्नमुहूर्त जानना चाहिये। जो कि पहले प्रतिपादित किया गया है और आगे भी कहा

१ उत्तराध्ययन ३३/२० मे सातावेदनीय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कही है।

२ ग्यारह, बारह और तेरह, इन तीन गुणस्थानो मे सातावेदनीय प्रथम समय बधती है, दूसरे समय मे अनुभव की जाती है और तीसरे समय मे निर्जरा हो जाती है। इसलिये बध और अनुभव के दो समय सत्तारूप माने जाते है। निर्जरा के समय को कर्म की सत्ता नही कहा जाता है। इसी दृष्टि से सातावेदनीय की जघन्य स्थिति दो समय भी कही गई है।

जायेगा। अर्थात् अभी तक जिन प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबंध बताया है और आगे भी जिनका बतलाने वाले है, उन सबका अबाधाकाल भिन्नमुहूर्त समझना चाहिये।[1]

अब आयुकर्म के भेदो और अन्य प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करते है—

खुड्डागभवो आउसु, उववायाउसु समा दससहस्सा ।
उक्कोसा संखेज्जा-गुणहीण आहारतित्थयरे ॥७८॥

शब्दार्थ—**खुड्डागभवो**—क्षुद्रकभव प्रमाण, **आउसु**—मनुष्य, तिर्यंचायु की, **उववायाउसु**—उपपात आयुवालो (देव-नारक) की, **समा**—वर्ष, **दससहस्सा**—दस हजार, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट से, **संखेज्जा**—संख्यात, **गुणहीण**—गुणहीन, **आहारतित्थयरे**—आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम की।

गाथार्थ—मनुष्य और तिर्यंचायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रकभव (क्षुल्लकभव) प्रमाण है। औपपातिक देव और नारकियो की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और आहारकद्विक एवं तीर्थंकर प्रकृति की जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थिति से संख्यात गुणहीन होती है।

विशेषार्थ—'खुड्डागभवो त्ति'—अर्थात् तिर्यंचायु और मनुष्यायु की जघन्य स्थिति क्षुल्लकभव प्रमाण है।

क्षुल्लकभव का क्या प्रमाण है ? तो उसका प्रमाण कुछ अधिक दो सौ छप्पन (२५६) आवलिका प्रमाण है। अब इसी बात का स्पष्टीकरण करते है—एक मुहूर्त दो घटिका प्रमाण होता है, उसमे हृष्ट-पुष्ट और निरोग जीव के तीन हजार सात सौ तिहत्तर (३७७३) प्राणापान

---

१ यहा जघन्य अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बताई है। जघन्य स्थितिबंध मे जो अबाधाकाल होता है, उसे जघन्य अबाधा और उत्कृष्ट स्थितिबंध मे जो अबाधाकाल होता है, उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते है। किन्तु यह परिभाषा आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों तक सीमित है, जिनकी अबाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है। लेकिन आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है। क्योकि उसका अबाधाकाल स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार नही होता है, जैसा कि ऊपर संकेत किया है। अत आयुकर्म की अबाधा के चार विकल्प होते है—१ उत्कृष्ट स्थितिबंध मे उत्कृष्ट अबाधा, २ उत्कृष्ट स्थितिबंध मे जघन्य अबाधा, ३ जघन्य स्थितिबंध मे उत्कृष्ट अबाधा और ४ जघन्य स्थितिबंध मे जघन्य अबाधा। इन विकल्पो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य अपनी पूर्वकोटि की आयु मे तीसरा भाग शेष रहने पर तेतीस सागर की आयु बाधता है, तब उत्कृष्ट स्थितिबंध मे उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर तेतीस सागर की स्थिति बाधता है तो उत्कृष्ट स्थितिबंध मे जघन्य अबाधा होती है तथा जब कोई मनुष्य एक पूर्वकोटि वर्ष का तीसरा भाग शेष रहते हुए परभव की जघन्य स्थिति बाधता है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है, तब जघन्य स्थिति मे उत्कृष्ट अबाधा होती है और यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाधता है, तो जघन्य स्थिति मे जघन्य अबाधा होती है। अत आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति मे भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति मे भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।

(श्वासोच्छ्‌वास) होते है और एक प्राणापान मे कुछ अधिक सत्रह क्षुल्लकभव[1] और एक मुहूर्त मे ६५,५३६ क्षुल्लकभव होते हैं।[2] यहाँ पर भी 'सव्वहिं हस्से' इस वचन के अनुसार सभी प्रकृतियो का अन्तर्मुहूर्त अवाधाकाल होता है और अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है ।

उपपात आयु वाले देव और नारको के आयुष्य की जघन्य स्थिति दस हजार (१०,०००) वर्ष प्रमाण है और अवाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है तथा अवाधाकाल से हीन कर्मदलिकनिषेक होता है।

अव तीर्थंकर और आहारकद्विक की जघन्य स्थिति वतलाने के लिए कहते है--'उक्कोसेत्यादि' अर्थात् तीर्थंकरनाम और आहारकशरीर, आहारकअगोपाग नामकर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण पहले कही गई है, वही सख्यात गुणित हीन जघन्य स्थिति होती है, फिर भी वह अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होती है ।

शका--तीर्थंकर नामकर्म तीर्थंकरभव की प्राप्ति से पूर्व तीसरे भव मे बधता है, जैसा कि कहा है--

बज्झइ त तु य भयवओ तइयभवो सक्कइत्ताण ।[3]

अर्थात् भगवान् तीर्थंकर प्रकृति को तीन भव पूर्व वाधते है । इसलिये इस वचन के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति की जो जघन्य स्थिति अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कही है, वह कैसे सम्भव है ?

समाधान--आगम का अभिप्राय नही समझने क कारण उक्त कथन अयोग्य है । क्योकि 'वज्झइ त तु' इत्यादि कथन निकाचना की अपेक्षा किया गया है । अन्यथा तीन भव से पहले भी तीर्थंकर प्रकृति बाधी जा सकती है । जैसा कि विशेषणवती ग्रथ मे कहा है--

कोडाकोडीअयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई ।
बज्झइ य त अणतरभवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठ ।।[4]

अर्थात् अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण जो तीर्थंकर नामकर्म की स्थिति अनन्तर अर्थात् पिछले तीसरे भव मे बधती है, ऐसा कहा गया है, सो वह कैसे सम्भव है ? इसका समाधान करते हुए उसी स्थान पर कहा है कि

ज बज्झइत्ति भणिय तत्थ निकाइज्जइ त्ति नियमोऽय ।
तदवझफल नियमा भयणा अनिकाइयावत्थे ।।[5]

---

१ आवश्यक टीका मे कहा है कि क्षुल्लकभवग्रहण वनस्पतिकाय मे सम्भव है ।

२ एक मुहूर्तगत ६५,५३६ क्षुल्लकभव राशि मे मुहूर्तगत प्राणापान, राशि ३७७३ से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने एक प्राणापान मे क्षुल्लकभव होते हैं । भाग देने पर १७ तो पूरे और १३९५ शेप रहते हैं । इसीलिये यहा एक प्राणापान मे कुछ अधिक सत्रह क्षुल्लकभव होने का सकेत किया है।

३ आवश्यक निर्युक्ति १८०

४ विशेषणवती (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण), गा ७८

५ विशेषणवती, गा ८०

अर्थात् अनन्तर तीसरे भव मे बधती है, ऐसा जो कहा गया है, वह बध की अपेक्षा नही किन्तु निकाचना की अपेक्षा कहा है, ऐसा यह नियम है और इसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिये ।। निकाचित करने के पश्चात् निश्चय से वह अबध्यफल अर्थात् अवश्य विपाकफल देती है। किन्तु अनिकाचित अवस्था मे जो जिननामकर्म का बध है, उसके फल का नियम नही है ।

इस प्रकार विशेपणवती ग्रथ मे उक्त शका का समाधान किया है ।

शका—यदि तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य स्थिति भी अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है तो उतनी स्थिति को पूरा करना तिर्यंचभवो मे परिभ्रमण किये विना शक्य नही है और तिर्यंचगति मे तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला जीव कितने काल तक रहेगा ? यदि वह अन्त कोडा-कोडी सागरोपम प्रमाण रहता है तो ऐसा मानने मे आगम से विरोध आता है । क्योकि आगम मे तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले जीव का तिर्यंचगति मे होने का निपेध किया गया है ।

समाधान—यह कोई दोष नही है । क्योकि निकाचित किये गये तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का ही आगम मे निपेध किया गया है । जैसा कि कहा है—

जमिह निकाइयतित्थ, तिरियभवे त निसेहिय सत ।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उव्वट्टोवट्टणासज्झे ।।[1]

इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है कि इस प्रवचन मे जो तीर्थंकर नामकर्म निकाचित अर्थात् अवश्य वेदन करने रूप से स्थापित किया गया है, उस स्वरूप से विद्यमान का ही तिर्यंचगति में निपेध किया गया है। किन्तु इतर अर्थात् अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्म का जो कि उद्वर्तना और अपवर्तना करण के योग्य है, उसका तिर्यंचभव मे पाये जाने मे भी कोई दोष नही है ।

इस तीर्थंकर नामकर्म का अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है, उससे परे दलिकरचना सम्भव होने से प्रदेशोदय अवश्य ही सम्भव है ।[2] (विपाकोदय तो तेरहवे गुणस्थान मे ही सम्भव है) ।

अब पूर्वोक्त प्रकृतियो से शेप रही प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का निरूपण करते हैं—

वग्गुक्कोसठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्धं ।
सेसाण तु जहन्नो, पल्लासंखेज्जगेणूणो ।।७९।।

शब्दार्थ—**वग्गुक्कोसठिईण**—अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति को, **मिच्छत्तुक्कोसगेण**—मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति द्वारा भाग देने पर, **ज**—जो, **लद्ध**—लब्ध प्राप्त हो, **सेसाण**—शेष प्रकृतियो की, **तु**—और, **जहन्नो**—जघन्य, **पल्लासखेज्जगेणूणो**—पल्य के असख्यातवे भाग कम ।

१ पचसग्रह, पचमद्वार गा ४४

२ जिननामकर्म के प्रदेशोदय से ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है। जिननाम का बध मनुष्यगति मे ही होता है ।

गाथार्थ—स्व वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उसमे से पल्य का असख्यातवा भाग कम करने पर वह शेष प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध है ।

विशेषार्थ—'वग्गुक्कोस त्ति' अर्थात् यहाँ ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियो के समुदाय को ज्ञानावरणवर्ग कहते है । इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के प्रकृतिसमुदाय को दर्शनावरणवर्ग, वेदनीय के प्रकृतिसमुदाय को वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीय के प्रकृतिसमुदाय को दर्शनमोहनीय-वर्ग, चारित्रमोहनीय के प्रकृतिसमुदाय को चारित्रमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीय प्रकृति-समुदाय को नोकषायमोहनीयवर्ग, नामकर्म के प्रकृतिसमुदाय को नामकर्मवर्ग, गोत्रकर्म के प्रकृतिसमुदाय को गोत्रकर्मवर्ग और अन्तराय के प्रकृतिसमुदाय को अन्तरायकर्मवर्ग कहते है । इन वर्गो की जो अपनी-अपनी तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि रूप उत्कृष्ट स्थिति है, उसमे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उसमे से पल्य का असख्यातवा भाग कम करने पर पहले कही गई प्रकृतियो मे से शेप रही प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये । जैसे कि—

दर्शनावरण और वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है, उसमे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर और 'शून्य शून्येन पातयेत्' इस वचन के अनुसार शून्य को शून्य से काट देने पर ३/७ सागरोपम लब्ध प्राप्त होता है, उसको पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन करने पर पाचो निद्राओ (दर्शनावरण कर्म की प्रकृतियो) और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति हो जाती है । इसी प्रकार मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन ७/७ भाग है, अर्थात् पल्योपम के असख्यातवे भाग से कम एक सागरोपम प्रमाण है । सज्वलनकषायचतुष्क को छोडकर शेष बारह कषायो की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग से न्यून ४/७ सागरोपम होती है तथा नोकषाय-मोहनीय की, नामकर्म और गोत्रकर्म की अपनी-अपनी बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण रूप उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो २/७ सागरोपम भाग लब्ध प्राप्त होता है, उसमे पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन करने पर वही भाग पुरुषवेद को छोडकर शेष आठ नोकषायो की तथा देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, यश कीर्ति और तीर्थंकर नामकर्म को छोडकर शेष नामकर्म[1] की प्रकृतियो की एव नीचगोत्र की जघन्य स्थिति है ।

---

१ शेष नामकर्म की प्रकृतियो मे वर्णचतुष्क भी है। उनकी सामान्य से २/७ सागर जघन्य स्थिति बतलाई है। इसका कारण यह है कि बध अवस्था मे वर्णादि चार लिये जाते है, उनके अपने-अपने अवान्तर भेद नही लिये जाते है। नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर होती है, अत चारो की जघन्य स्थिति सामान्य से २/७ सागर ही समझना चाहिये। इनके अवान्तर भेदो की अपेक्षा प्रत्येक की जघन्य स्थिति का प्रमाण पचसग्रह, पचमद्वार गाथा ४८ की टीका मे स्पष्ट किया गया है।

वैक्रियषट्क अर्थात् देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग से हीन और सहस्रगुणित २/७ सागरोपम जघन्य स्थिति होती है । क्योकि इस वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का बध करने वाले असज्ञी पचेन्द्रिय जीव होते है और वे ही उक्त प्रमाण वाली जघन्य स्थिति को बाधते है, जैसा कि कहा है—

> वेउव्वियछक्के त सहस्सताडिय ज असण्णिणो तेसि ।
> पलियासखसूण ठिइ अबाहूणियनिसेगो ॥[1]

इसका अर्थ यह है कि वर्गोत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने रूप गणित के इस करणसूत्र से जो २/७ लब्ध होता है, उसे सहस्रताडित अर्थात् एक हजार (१०००) से गुणा करके फिर उसे पल्योपम के असख्यातवे अश अर्थात् भाग से कम करे तब जो प्रमाण होता है, वह उक्त स्वरूप वाले वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये । ऐसा क्यो ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस कारण से इन वैक्रियषट्क लक्षण वाले कर्मों की असज्ञी पचेन्द्रिय ही जघन्य स्थिति का बध करते है और वे इतनी ही जघन्य स्थिति को बाधते है, इससे कम नही बाधते है । उक्त कर्मो का अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अबाधाकाल से हीन जो कर्मस्थिति है, तत्प्रमाण कर्मदलिकनिषेक होता है ।[2]

एकेन्द्रियादि जीवो की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति व स्थितिबध का अल्पबहुत्व

> **एसेगिदियडहरो, सव्वासि ऊणसंजुओ जेट्ठो ।**
> **पणवीसा पन्नासा, सय सहस्स च गुणकारो ॥८०॥**
> **कमसो विगल असन्नीण, पल्लसखेज्जभागहा इयरो ।**
> **विरए देसजइदुगे, सम्मचउक्के य संखगुणो ॥८१॥**
> **सन्नीपज्जत्तियरे, अब्भितरओ य कोडिकोडीओ ।**
> **ओघुक्कोसो सन्निस्स, होइ पज्जत्तगस्सेव ॥८२॥**

शब्दार्थ—एस—यह पूर्वोक्त, एगिंदियडहरो—एकेन्द्रिय का जघन्य, सव्वासि—सब प्रकृतियो का, ऊणसजुओ—न्यून की स्थिति सयुक्त करने से, जेट्ठो—उत्कृष्ट, पणवीसा—पच्चीस, पन्नासा—पचास, सय—सौ, सहस्स—हजार, च—और, गुणकारो—गुणाकार ।

कमसो—क्रमश., विगल असन्नीण—विकलेन्द्रिय और असज्ञी का, पल्लसखेज्जभागहा—पल्योपम के सख्यातवे भागहीन, इयरो—इतर (जघन्य), विरए— सर्वविरत का, देसजइदुगे—देशविरतद्विक का, सम्मचउक्के—सम्यक्त्वचतुष्क का, य—और, सखगुणो—सख्यात गुणित ।

---

१ पचसग्रह, पचमद्वार गा० ८९

२ सरलता से साराश समझने के लिये मूल एव उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबध और उनकी अबाधा का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये ।

सन्नीपज्जत्तियरे—सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त का, **अब्भितरओ**—अभ्यन्तर, अन्दर, **य**—और, **कोडिकोडीओ**—कोडाकोडी के, **ओघुक्कोसो**—ओघ से उत्कृष्ट प्रमाण, **सन्निस्स**—सज्ञी का, **होइ**—है, **पज्जत्तगस्सेव**—पर्याप्त का ।

गाथार्थ—पूर्व मे जो स्थितिबध कहा है, वह एकेन्द्रिय जीवो का जघन्य स्थितिबध जानना चाहिये तथा पल्योपम का जो असख्यातवा भाग कम किया जाता है, उसमे सयुक्त स्थिति उनकी उत्कृष्ट होती है । उसको क्रम से पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर—

यथाक्रम से विकलेन्द्रिय और असज्ञी जीवो की उत्कृष्ट स्थिति होती है और उसमे से पल्य का सख्यातवा भाग कम करने पर उनकी इतर (जघन्य) स्थिति होती है । सर्वविरत, देशविरतद्विक, सम्यक्त्वचतुष्क मे स्थितिबध क्रमश सख्यात गुणित है ।

सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त का स्थितिबध सख्यात गुणा है और यहाँ तक के सब स्थितिबध एक कोडाकोडी सागरोपम के अभ्यन्तर है अर्थात् अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है और सज्ञी पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबध ओघ से उत्कृष्ट प्रमाण है ।

विशेषार्थ—वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृति को छोडकर शेप सभी प्रकृतियो का पूर्वोक्त 'वग्गुक्कोस पलिओवमासखेज्जभागेणूणो' इत्यादि लक्षण वाला स्थितिबध एकेन्द्रियो का[1] 'डहर' अर्थात् जघन्य जानना चाहिये । जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय इन कर्मो की जो उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है, उसमे मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर सागरोपम के ३/७ भाग लब्ध होते है, उन्हे पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन करने पर जो प्रमाण प्राप्त होता है, उतनी जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक असातावेदनीय और अतरायपचक की बाधते है, उससे कम नही । इसी प्रकार से वे ही एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन सागरोपम प्रमाण और कषायमोहनीय की ४/७ सागरोपम पल्योपम के असख्यातवे भाग हीन बाधते है । नोकषायो की तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृति को छोडकर शेष नामकर्म की प्रकृतियो की और गोत्रकर्म की दोनो प्रकृतियो की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय ही पल्योपम के असख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के २/७ भाग बाधते है और 'ऊणसजुओ जेट्ठ त्ति' अर्थात् उस जघन्य स्थितिबध मे कम किये गये पल्योपम के असख्यातवे भाग को सयुक्त किये जाने पर वही एकेन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध जानना चाहिये । जैसे—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय और अन्तरायपचक इन बीस प्रकृतियो का सागरोपम का ३/७ भाग परिपूर्ण उत्कृष्ट स्थितिबध होता है ।

---

१ सर्व प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध कहने के प्रकरण मे एकेन्द्रियादिक के जघन्य, उत्कृष्ट स्थितिबध को कहने का कारण यह है कि एकेन्द्रियादिक के जघन्योत्कृष्ट स्थितिबध को बतलाने मे ही सामान्यापेक्षा प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध का भी अन्तर्गत रूप से और विशेषापेक्षा यथाप्रसग एकेन्द्रियादिक जीवो के स्थितिबध का भी कथन हो जाता है ।

इस प्रकार एकेन्द्रियो के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध का कथन जानना चाहिये ।[1]

अब विकलेन्द्रियो के जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बध का विचार करते है—

'पणवीसेत्यादि' अर्थात् एकेन्द्रियो का जो उत्कृष्ट स्थितिबध है, वही पच्चीस आदि के गुणाकार से गुणित किये जाने पर क्रमश द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय लक्षण वाले विकलेन्द्रियो का और असज्ञी पचेन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध जानना चाहिये। वह इस प्रकार है—

एकेन्द्रियो का जो उत्कृष्ट स्थितिबध है, उसे पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है। एकेन्द्रियो का वही उत्कृष्ट स्थितिबध पचास से गुणा करने पर त्रीन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है, सौ से गुणा करने पर चतुरिन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है और हजार से गुणा करने पर असज्ञी पचेन्द्रियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है तथा 'पल्लसखेज्जभागहा इयरो' अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि जीवो का अपना-अपना जो उत्कृष्ट स्थितिबध है वह पल्योपम के सख्यातवे भाग से हीन करने पर इतर अर्थात् जघन्य स्थितिबध जानना चाहिये ।

स्थितिबंध का अल्पबहुत्व

अब सभी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबधो के अल्पबहुत्व का विचार करते हैं—

१ सूक्ष्मसपराय यति का जघन्य स्थितिबध सबसे कम होता है।

२ उससे बादर पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबध असख्यात गुणा होता है।

३ उससे भी सूक्ष्म पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है।

---

१ एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबध के बारे मे कर्मप्रकृति और पचसग्रह के मत में अन्तर है। जहाँ तक प्रकृतियो की जघन्य स्थिति प्राप्त करने के लिये उनकी उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने का सम्बन्ध है, वहा तक तो दोनो मे समानता है। लेकिन उसके बाद अन्तर आ जाता है। कर्मप्रकृति मे तो यह बताया है कि अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व की ७० कोडाकोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह एकेन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिबध है और उसमें पल्य का असख्यातवा भाग कम करने पर जघन्यस्थिति है। लेकिन पचसग्रह के मतानुसार वर्ग मे नही, किन्तु प्रत्येक प्रकृति की अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर जो लब्ध आता है, वह एकेन्द्रिय की अपेक्षा से जघन्य स्थिति होती है और उसमे पल्य का असख्यातवा भाग जोडने पर उसकी उत्कृष्ट होती है।

इसी बात को बताने के लिये उपाध्याय यशोविजय जी ने कर्मप्रकृति की 'वग्गुक्कोसठिईण (गा ७९) की टीका में पचसग्रह के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—'पचसग्रहे तु वर्गोत्कृष्ट स्थितिर्विभजनीयतया नाभिप्रेता' किन्तु 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईइ ज लद्ध' (पचमद्वार, गा ४८) इति ग्रथेन 'स्वस्वोत्कृष्टस्थितिर्मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तदेव जघन्यस्थितिपरिमाणमुक्त' - अर्थात् पचसग्रह में तो अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में भाग नही दिया जाता है, किन्तु अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर जो लब्ध आता है, वही जघन्य स्थिति का परिमाण होता है।

४ उससे भी अपर्याप्तक वादर का जघन्य स्थितिवध विशेषाधिक है।
५ उससे भी अपर्याप्त सूक्ष्म का जघन्य स्थितिवध विशेषाधिक है।
६ उससे भी उसी का (अपर्याप्त सूक्ष्म का) उत्कृष्ट स्थितिवध विशेपाधिक है।
७ उससे भी अपर्याप्त वादर का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेपाधिक है।
८ उससे भी सूक्ष्म पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेपाधिक है।
९ उससे भी वादर पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेपाधिक है।
१० उससे भी द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है।
११ उससे उमी के (द्वीन्द्रिय के) अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबध विशेपाधिक है।
१२ उससे भी उसी द्वीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है।
१३ उससे भी द्वीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिवध विशेषाधिक है।
१४ उससे भी त्रीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है।
१५ उससे भी उसी त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है।
१६ उससे भी त्रीन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।
१७ उससे भी त्रीन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेपाधिक है।
१८ उससे चतुरिन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है।
१९ उससे भी अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है।
२० उससे भी अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।
२१ उससे भी पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।
२२. उससे असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है।
२३ उससे भी असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है।
२४ उससे भी असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।
२५ उससे भी असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है।
२६ उससे सयत का उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यात गुणा है। 'विरए' इत्यादि विरत अर्थात् सयत म जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिवध कह ही दिया है। उससे (सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से देश-यतिद्विक अर्थात् देशविरत के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध तथा सम्यक्त्वचतुष्क अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि के पर्याप्त और अपर्याप्त और प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबध करने वालो का स्थितिबध यथाक्रम सख्यात गुणा कहना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—
२७ सयत के उत्कृष्ट स्थितिबध से देशविरत का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा होता है।
२८ उससे देशविरत का ही उत्कृष्ट स्थितिबध सख्यात गुणा है।

२९ उससे पर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३० उससे भी अपर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३१ उससे भी अपर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३२ उससे भी पर्याप्त अविरत सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यातगुणा है।

३३ पूर्वोक्त अविरत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक के उत्कृष्ट स्थितिबंध से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३४ उससे भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक का जघन्य स्थितिबंध संख्यात गुणा है।

३५ उससे भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध संख्यात गुणा है तथा 'अब्भितरओ य त्ति' अर्थात् संयत के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध, यह सब एक कोडाकोडी सागरोपम के भीतर ही जानना चाहिये और एकेन्द्रिय आदि के सब जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध का परिमाण पूर्व मे ही पृथक्-पृथक् कह दिया है। तथा—

३६ उससे अर्थात् अपर्याप्त-संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध जो पहले ओघ—सामान्य से कहा गया है, वही जानना चाहिये।[1]

इन जीवभेदो में स्थितिबंध के प्रमाण और अल्पबहुत्व को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

क्रम	जीवभेद का नाम	बंधप्रकार	स्थितिबंध का प्रमाण	अल्पबहुत्व
१	सूक्ष्मसंपराय यति	जघन्य	अन्तर्मुहूर्त	सबसे अल्प
२	बादर पर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवा भाग हीन	असंख्यगुण
३	सूक्ष्म पर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवा भाग हीन	विशेषाधिक
४	बादर अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवा भाग हीन	,,
५	सूक्ष्म अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम, पल्योपम का असंख्यातवा भाग हीन	,,
६	,, ,,	उत्कृष्ट	$\frac{1}{7}$ सागरोपम	,,
७	बादर अपर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम	,,
८	सूक्ष्म पर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम	,,
९	बादर पर्याप्त	,,	$\frac{1}{7}$ सागरोपम	,,
१०	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य (२५–)	३$\frac{4}{7}$ सागरोपम, पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन	संख्यात गुणा

१ बीस कोडाकोडी सागरोपम ७० कोडाकोडी सागरोपम इत्यादि ओघ (सामान्य) स्थितिबंध कहा है, तत्प्रमाण जानना चाहिये।

क्रम	जीवभेद का नाम	बंधप्रकार	स्थितिबंध का प्रमाण	अल्पबहुत्व
११	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य	३ ४/७ सागरोपम पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
१२	,, ,,	उत्कृष्ट	३ ४/७ सागरोपम ,,	,
१३	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	,,	३ ४/७ सागरोपम	,,
१४	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य (५०–)	७ १/७ सागरोपम पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	सख्यातगुण
१५	,, अपर्याप्त	,,	७ १/७ सागरोपम, पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
१६	,, ,,	उत्कृष्ट	७ १/७ सागरोपम ,,	,,
१७	,, पर्याप्त	,,	७ १/७ सागरोपम	,,
१८	चतुरि ,,	जघन्य (१००–)	१४ २/७ सागरोपम, पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	सख्यातगुण
१९	चतुरि अपर्याप्त	,,	१४ २/७ सागरोपम, पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
२०	,, ,,	उत्कृष्ट	१४ २/७ सागरोपम ,,	,,
२१	चतुरि पर्याप्त	,,	१४ २/७ सागरोपम	,,
२२	असज्ञी पचे पर्याप्त	जघन्य (१०००–)	१४२ ६/७ सागरोपम, पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	सख्यातगुण
२३	,, ,, अपर्याप्त	,,	१४२ ६/७ सागरोपम, पल्योपम के सख्यातवें भाग हीन	विशेषाधिक
२४	असज्ञी पचे अपर्याप्त	उत्कृष्ट	१४२ ६/७ सागरोपम ,,	,,
२५	,, ,, पर्याप्त	,,	१४२ ६/७ सागरोपम	,,
२६	सयत	,,	अन्त कोडाकोडी सागरोपम	सख्यातगुण
२७	देशविरत	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
२८	,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
२९	अवि सम्य पर्याप्त	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
३०	,, ,, अपर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३१	,, ,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
३२	अवि सम्य पर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३३	मिथ्यात्वी पर्याप्त	जघन्य	,, ,, ,, ,,	,,
३४	,, अपर्याप्त	,,	,, ,, ,, ,,	,,
३५	,, ,,	उत्कृष्ट	,, ,, ,, ,,	,,
३६	,, पर्याप्त	,,	१० कोडाकोडी सागरोपम	,,

नोट—१. यहाँ स्थितिबंध एवं अल्पबहुत्व उसी प्रकृति की अपेक्षा बताया है, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। अन्य प्रकृति की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिबंध पृथक्-पृथक् होगा।

२ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय के स्थितिबध में जो सख्या की अधिकता बतलाई है, वह एकेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबध मे क्रमश पच्चीस, पचास, सौ और हजार से गुणा करने पर प्राप्त राशि जानना चाहिये।

३ यहाँ सयत का उत्कृष्ट स्थितिबध बताया है और जघन्य स्थितिबध सूक्ष्मसपराय यति जितना जानना चाहिये।

४ 'सयत' से सज्ञी पचेन्द्रिय के स्थितिबध का क्रम प्रारम्भ होता है। सयम और देशविरति पर्याप्त अवस्था मे धारण कर सकते है। अत उनमे पर्याप्त-अपर्याप्त का विकल्प नही है।

५ गाथा मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबध ओघवत् कहा है। लेकिन यहाँ सरलता से समझने के लिये पृथक्-पृथक् स्पष्ट कर दिया है।

निषेकप्ररूपणा

इस प्रकार स्थितिबधप्ररूपणा की गई। अब क्रमप्राप्त निषेकप्ररूपणा का विचार करते है। उसमे दो अनुयोगद्वार है—अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा। इनमे से पहले अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा करते है—

मोतूण सगमबाहं, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं।
एत्तो विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वेसि ॥८३॥

शब्दार्थ—**मोतूण**—छोडकर, **सगमबाहं**—अपनी अबाधा, **पढमाए ठिइए**—प्रथम स्थिति मे, **बहुतर**—अधिक, **दव्व**—द्रव्य, **एत्तो**—इससे आगे, **विसेसहीण**—विशेष हीन-हीन, **जावुक्कोस ति**—उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त, **सव्वेसि**—सब प्रकृतियो मे।

गाथार्थ—जीव सब प्रकृतियो मे उनकी अबाधा को छोडकर प्रथम स्थिति मे बहुत द्रव्य देता है, इससे आगे के स्थितिस्थानो मे विशेष हीन-हीन उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये।

विशेषार्थ—सभी बध्यमान कर्मो मे अपनी-अपनी अबाधाकाल को छोडकर उससे ऊपर दलिकनिक्षेप (निषेकरचना) करता है। उसमे से एक समय लक्षण वाली प्रथम स्थिति मे बहुत अधिक कर्मदलिक का निक्षेप करता है और 'एत्तो विसेसहीण ति' अर्थात् इस प्रथम स्थिति से ऊपर द्वितीय आदि एक-एक समय प्रमाण वाली स्थितियो मे विशेषहीन-विशेषहीन कर्मदलिक का निक्षेप करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रथम स्थिति से द्वितीय स्थिति मे विशेषहीन कर्मदलिको का प्रक्षेप करता है, उससे भी तृतीय स्थिति मे विशेषहीन प्रक्षेप करता है, उससे भी चतुर्थ स्थिति मे विशेषहीन प्रक्षेप करता है।

इस प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन निक्षेप करने का क्रम तब तक कहना चाहिये, जब तक उस समय मे बाधे जाने वाले कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति का चरम समय प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब परपरोपनिधाप्ररूपणा करते हैं—

पल्लसखि भागं, गंतु दुगुणूणमेवमुक्कोसा।
नाणंतराणि पल्लस्स, मूलभागो असखतमो ॥८४॥

शब्दार्थ—पल्लासखिय भाग—पल्योपम के असख्यातवे भाग, गतु—अतिक्रमण करने पर, **दुगुणूणं**—द्विगुणहीन, **एव**—इस प्रकार, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति, **नाणतराणि**—नाना अन्तर जानना, **पल्लस्स**—पल्योपम के, **मूलभागो**—वर्गमूल के, **असखतमो**—असख्यातवे भाग प्रमाण।

गाथार्थ—पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो का अतिक्रमण करने पर द्विगुण-हानिस्थान तथा नाना अतर पल्योपम के वर्गमूल के असख्यातवं भाग प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—अबाधाकाल से ऊपर प्रथम स्थिति मे जो कर्मदलिक निषक्त-निक्षिप्त किये जाते है, उनकी अपेक्षा समय-समय रूप द्वितीय, तृतीय आदि स्थितियो मे विशेषहीन-विशेषहीन दलिको का निक्षेपण करते हुए पल्योपम के असख्यातवे भागप्रमाण स्थितियो के अतिक्रान्त हो जाने पर निक्षिप्यमाण दलिक 'दुगुणूण' द्विगुणहीन अर्थात् आधे हो जाते है। तत्पश्चात् इससे भी ऊपर उक्त स्थान की अपेक्षा विशेषहीन, विशेषहीनतर निक्षिप्यमाण दलिक पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो के अतिक्रान्त होने पर आधे हो जाते है। इस प्रकार अर्ध-अर्ध हानि से तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। अर्थात् स्थिति का चरम समय आता है।

इस प्रकार ये द्विगुणहानि वाले स्थान कितने होते है? इसको बतलाने के लिये कहा है—'नाणतराणि पल्लस्स' अर्थात् नाना प्रकार के जो अन्तर यानी अन्तर-अन्तर से द्विगुणहानि के स्थान उत्कृष्ट स्थितिबध मे पल्योपम सम्बन्धी प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतने समय प्रमाण होते है।[2] कहा भी है—

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि अबाधाकाल समाप्त होने के अनन्तर पहले समय मे कर्मदलिको का निषेक किया जाता है, उनका प्रमाण अधिक होता है, दूसरे समय मे उससे कम। इसी प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक बद्ध कर्मदलिको की स्थिति पूर्ण होती है। इसको असत्कल्पना से इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे २५ समय स्थितिबध वाले कर्म के १०५० परमाणु बधे है। उनका पाच समय का अबाधाकाल है। अबाधाकाल बीतने के बाद पहले समय मे अर्थात् छट्ठे समय मे १००, सातवें समय मे ९५, आठवें समय मे ९०, इस प्रकार यावत् पच्चीसवें समय मे ५ पाच परमाणु उदय मे आकर वह कर्म नि सत्ताक होता है।

२ उक्त कथन का आशय यह है कि उत्कृष्ट स्थितिबध तक अथवा उसके अन्त्य समय तक मे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवें भाग के समय जितने द्विगुणहानि स्थान होते है। जैसे कि २० कोडाकोडी सागरोपम, ७० कोडाकोडी सागरोपम इत्यादि जिस कर्म का जो उत्कृष्ट स्थितिबध है, उस उत्कृष्ट स्थितिबध मे पूर्वोक्त प्रमाण वाली हानि होती है, परन्तु जघन्य स्थितिबध अथवा कितने ही मध्यम स्थितिबध मे पूर्वोक्त प्रमाण वाली हानिया सभव नही है।

पलिओवमस्स मूला, असंखभागम्मि जत्तिया समया।
तावइया हाणीओ, ठिइबधुक्कोसए नेया ।।

अर्थात् पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, उतनी ही द्विगुणहानिया उत्कृष्ट स्थितिबध मे जानना चाहिये।

प्रश्न—मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होने से द्विगुणहानिया भले ही सम्भव हो, किन्तु आयुकर्म की स्थिति तो तेतीस सागरोपम मात्र होने से इतनी हानिया कैसे सम्भव है ?

उत्तर—यहाँ असख्यातवा भाग भी असख्य भेद रूप होता है। क्योकि असख्यात के भी असख्यात भेद होते है, इसलिये पल्योपम के वर्गमूल का असख्यातवा भाग आयुकर्म मे अतीव अल्पतर ग्रहण किया गया है। इसलिये इसमे कोई विरोध नही है।

ये सब द्विगुणहानि के स्थान अल्प होते है और एक द्विगुणहानि के अन्तराल मे निषेकस्थान असख्यात गुणित होते है।

इस प्रकार से निषेकप्ररूपणा का कथन जानना चाहिये।[1]

अब अबाधाकडकप्ररूपणा करते है—

अबाधाकडकप्ररूपणा

मोत्तूण आउगाइं, समए समए अबाहहाणीए।
पल्लासखियभागं, कडं कुण अप्पबहुमेसिं ।।८५।।

शब्दार्थ—**मोत्तूण**—छोडकर, **आउगाइ**—आयुकर्म को, **समए-समए**—समय-समय, **अबाहहाणीए**—अबाधाहानि होने पर, **पल्लासखियभाग**—पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण, **कडं कुण**—कडक-कडक हीन, **अप्पबहु**—अल्पबहुत्व, **एसिं**—इनका।

गाथार्थ—आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मो में अबाधा एक-एक समय हीन होने पर उत्कृष्ट स्थिति मे से पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप कडक-कडक प्रमाणहीन होते है। इनमे अल्पबहुत्व इस प्रकार है।

विशेषार्थ—मोत्तूण त्ति–अर्थात् चारो आयुकर्म को छोडकर शेष सभी कर्मो की अबाधा मे एक-एक समय की हानि होने पर पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप कडक उत्कृष्ट स्थिति से लगाकर हीन-हीन किया जाता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उत्कृष्ट अबाधा में वर्तमान जीव पूरी उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है, अथवा एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है, अथवा दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है, अथवा तीन समय कम इत्यादि इस प्रकार एक-एक समय कम करते हुए पल्योपम के असख्यातवें भाग से

---

१ स्थितिबध, अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये ।

हीन उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है और यदि पुन एक समय कम उत्कृष्ट अबाधा होती है तो वह नियम से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण कडक से हीन ही उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है और एक समयहीन अथवा दो समयहीन इत्यादि क्रम से पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप कडकहीन उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है। यदि उत्कृष्ट अबाधा पुन दो समय से हीन हो तो नियम से पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप वाले दो कडको से हीन उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है और उसे भी वह एक समयहीन अथवा दो समयहीन यावत् पल्योपम के असख्यातवे भाग से हीन स्थिति को बाधता है। इस प्रकार जितने समयो से हीन अबाधा होती है, उतने ही पल्योपम के असख्यातवे भाग लक्षण वाले कडको से कम स्थिति जानना चाहिये। इस प्रकार यावत् एक ओर जघन्य अबाधा होती है और दूसरी ओर जघन्य स्थिति प्राप्त होती है, वहाँ तक यह विवक्षा जानना चाहिये। इस प्रकार अबाधागत एक-एक समय की हानि से स्थिति के कडकहानि की प्ररूपणा जानना चाहिये।[1]

अल्पबहुत्व की प्ररूपणा के लिये गाथा मे 'अप्पबहुमेसि' यह पद दिया है। अर्थात् इन वक्ष्यमाण पदो का अल्पबहुत्व कहना चाहिये। लेकिन किन पदो का अल्पबहुत्व कहना चाहिये? ऐसा पूछने पर कहते है—

बधाबाहाणुक्कसियर, कडक अबाहबधाणं।
ठाणाणि एक्कनाणंतराणि अत्थेण कंड च ॥८६॥

शब्दार्थ—**बधाबाहाण**—स्थितिबध, अबाधा, **उक्कसियर**—उत्कृष्ट, इतर (जघन्य), **कडक**—कडकस्थान, **अबाह**—अबाधास्थान, **बधाण**—स्थितिबध के, **ठाणाणि**—स्थान, **एक्कनाणतराणि**—एक नाना अन्तर, **अत्थेण कड**—अर्थकडक का, **च**—और।

गाथार्थ—उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबध, अबाधा, कडकस्थान, अबाधास्थान, स्थितिबधस्थान, एक नाना अतर, द्विगुणहानिस्थान और अर्थकडक, इनका (अल्पबहुत्व कहना चाहिये)।

विशेषार्थ—बधाबाहाणक्कसियर त्ति—अर्थात् १ उत्कृष्ट स्थितिबध, २ जघन्य स्थितिबध, ३ उत्कृष्ट अबाधा, ४ जघन्य अबाधा, ५ कडकस्थान, ६ अबाधास्थान, ७ स्थितिबधस्थान, ८ एक द्विगुणहानि के बीच का अन्तर, ९ द्विगुणहानिस्थान रूप अन्तर और १० अर्थकडक, इन दस के अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिये। अर्थकडक का लक्षण इस प्रकार है—**जघन्याऽबाधाहीनया उत्कृष्टाऽबाधया जघन्यस्थितिहीनाया उत्कृष्टस्थितेर्भागे हृते सति यावान् भागो लभ्यते तावान् अर्थेन कडकमित्युच्यते इत्याम्नायिका व्याख्यानयन्ति**—जघन्य अबाधा से

---

[1] असत्कल्पना से उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि जैसे १०० समय स्थितिक कर्म की १० समय अबाधा है, तो १००, ९९, ९८, ९७, ९६, ९५, ९४, ९३, ९२ और ९१ समय के स्थितिबध मे अवश्य ही १० समय की अबाधा होगी, तदनन्तर ९०, ८९ आदि ८१ तक की १० स्थितियो का बध हो, वहा तक ९ समय की अबाधा होगी। इसी तरह १० से १ समय तक स्थिति मे १ समय रूप जघन्य अबाधा होगी।

हीन उत्कृष्ट अवाधा के द्वारा जघन्य स्थिति से हीन उत्कृष्ट स्थिति मे भाग देने पर जितना भाग प्राप्त होता है, उतना वह भाग अर्थकडक[1] कहलाता है, ऐसा आम्नायिको (कर्मसिद्धान्तवादियो) का कथन है।

पचसग्रह मे इस अर्थकडक के स्थान पर अवाधाकडक स्थान पद प्रयुक्त किया है। वहां पर मूल टीकाकार ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है–'अवाधा च कडकानि चावाधाकडक, तस्य स्थानानि अवाधाकडकस्थानानि' अर्थात् अवाधा और कडक इन दोनो का समाहार अवाधा-कडक है और उसके स्थान अवाधाकडकस्थान कहलाते है। अर्थात् अवाधा और कडक इन दोनो के स्थान की सख्या अवाधाकडकस्थान जानना चाहिये।

अव इन दसो स्थानो का अल्पवहुत्व कहते है

संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त का आयु व्यतिरिक्त सात कर्मों में स्थितिबध आदि का अल्पबहुत्व

१ सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक या अपर्याप्तक बधक जीवो मे आयु को छोडकर शेष सात कर्मों को जघन्य अवाधा सवसे कम है। जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है।

२ ३ उससे अवाधास्थान और कडकस्थान असख्यात गुणित होते है। किन्तु ये दोनो परस्पर समान होते है। जिसका आशय इस प्रकार है—जघन्य अवाधा को आदि करके उत्कृष्ट अवाधा के अतिम समय को व्याप्त कर जितने समय प्राप्त होते है, उतने अवाधास्थान होते है। जैसे–जघन्य अवाधा यह एक स्थान है, एक समय अधिक वही जघन्य अवाधा द्वितीय अवाधा-स्थान कहलाता है। दो समय अधिक अवाधा तृतीय अवाधास्थान है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक उत्कृष्ट अवाधा का अतिम समय प्राप्त होता है। इतने ही अवाधाकडक होते है। क्योकि जघन्य अवाधा से आरम्भ करके समय-समय एक कडक प्राप्त होता है। यह वात पूर्व मे कही जा चुकी है।

४ उन अवाधाकडको से उत्कृष्ट अवाधा विशेषाधिक होती है, क्योकि उसमे जघन्य अवाधा का प्रवेश हो गया है।

५ उस उत्कृष्ट अवाधा से दलिकनिषेकविधि मे द्विगुणहानिस्थान असख्यात गुणित होते है, क्योकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग गत समय प्रमाण होते है।

६ उनसे एक द्विगुण हानि के अन्तर मे निषेकस्थान असख्यात गुणित होते है, क्योकि उनका परिमाण असख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण होता है।

७ उनसे भी अर्थकडक असख्यात गुणित होता है।

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि अवाधास्थानो द्वारा स्थितिस्थानो को भाग देने पर जो एक अवाधा-कडकवर्ती सर्व स्थितिप्रमाण भाग प्राप्त हो, उसे अर्थकडक कहते है। अथवा अर्थकडक अर्थात् एक अवाधा-कडक।

८ उससे जघन्य स्थितिबंध असख्यात गुणा होता है, क्योकि उसका प्रमाण अन्त कोडाकोडी सागरोपम है। क्योकि श्रेणी पर नही चढने वाले भी सज्ञी पचेन्द्रिय जीव जघन्य रूप से भी अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही स्थितिबध करते है।

९ उस जघन्य स्थितिबध से भी स्थितिबधस्थान सख्यात गुणित है। उनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय के स्थितिबधस्थान कुछ अधिक उनतीस (२९) गुणित होते है, मिथ्यात्वमोहनीय के स्थितिबधस्थान कुछ अधिक उनहत्तर (६९) गुणित होते है और नाम व गोत्र के स्थितिबधस्थान कुछ अधिक उन्नीस (१९) गुणित होते है।

१० उनसे उत्कृष्ट स्थिति विशेषाधिक होती है, क्योकि उसमे जघन्य स्थिति और अबाधा का प्रवेश हो जाता है।

सरलता से समझने के लिये जिनका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थान का नाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१	जघन्य अबाधा	अल्प, उससे	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण
२	अबाधास्थान	असख्यात गुणा	उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्तहीन ७००० वर्ष समयप्रमाण
३	कडकस्थान	अबाधा स्थान प्रमाण	” ” ” ” ” ”
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	७००० वर्ष प्रमाण, क्योकि उसमे जघन्य अबाधा का प्रवेश हो गया है
५	द्विगुणहानिस्थान	असख्यात गुण	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवें भाग समयप्रमाण
६	निषेकस्थान (एक द्विगुणहानि मे)	” ”	असख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण
७	अर्थकडक	” ”	पल्यो० का असख्यातवा भाग
८	जघन्य स्थितिबध	” ”	अन्त कोडाकोडी प्रमाण (श्रेणिरहित)
९	स्थितिबधस्थान	सख्यात गुण	अन्तर्मुहूर्तहीन ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण
१०	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक	७० कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण

सज्ञी-असज्ञी पचेन्द्रिय का आ ॒ ˊ मे उत्कृष्ट स्थितिबंधादि स्थानो का अल्पबहुत्व—

१ सज्ञी पचेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तको मे प्रत्येक के आयु की जघन्य अबाधा सबसे कम है।

२ उससे जघन्य स्थितिबध सख्यातगुणा है, जो क्षुल्लकभव रूप होता है।

३ उससे अबाधास्थान सख्यात गुणित है, क्योकि वे जघन्य अबाधा से रहित पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण होते है।

४ उनसे भी उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक है, क्योकि उसमे जघन्य अबाधा का भी प्रवेश हो जाता है।

५ उससे द्विगुणहानिस्थान असख्यात गुणित होते है, क्योकि वे पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भागगत समयप्रमाण होते है।

६ उससे भी एक द्विगुणहानि के अन्तर मे निषेकस्थान असख्यात गुणित होते है। इस विषयक उक्ति का पूर्व मे सकेत किया जा चुका है।

७ उनसे स्थितिबधस्थान असख्यात गुणित होते है।

८ उनसे भी उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है, क्योकि उसमे जघन्य स्थिति और अबाधा का प्रवेश हो जाता है।

स्पष्टता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व		प्रमाण
१	जघन्य अबाधा	अल्प,	उससे	असख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्त
२	जघन्य स्थितिबध	सख्यातगुण	,,	क्षुल्लकभव (२५६ आवली)
३	अबाधास्थान	,, ,,	,,	जघन्य अबाधाहीन पूर्वकोटित्रिभाग
४	उत्कृष्ट अबाधा	विशेषाधिक	,,	पूर्वकोटित्रिभाग
५	द्विगुणहानिस्थान	असख्यातगुण	,,	पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवें भाग प्रमाण
६	निषेकस्थान	,, ,,	,,	असख्यात पल्योपम वर्गमूल प्रमाण (पल्योपम का असख्यातवा भाग)
७	स्थितिस्थान	,, ,,	,,	क्षुल्लकभवहीन ३३ सागरोपम प्रमाण
८	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक		३३ सागरोपम

सज्ञी-असज्ञी पर्याप्त रहित शेष १२ जीवभेदो का आयुकर्म में स्थितिबध आदि का अल्पबहुत्व—

१ पचेन्द्रिय सज्ञी, असज्ञी अपर्याप्तको मे और चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तको मे प्रत्येक के आयु की जघन्य अबाधा सबसे कम है।

२ उससे जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा होता है, क्योकि वह क्षुल्लकभव रूप है।

३ उससे अबाधास्थान सख्यात गुणित होते है।

४ उनसे भी उत्कृष्ट अबाधा विशेषाधिक होती है।

५ उससे भी स्थितिबंधस्थान सख्यात गुणित होते है, क्योकि वे जघन्य स्थिति से कम पूर्व-कोटि प्रमाण होते है।

६ उससे उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक होता है, क्योकि उसमे जघन्य स्थिति और अवाधा का प्रवेश हो जाता है।

इनकी स्पष्टता के लिये प्रारूप निम्नप्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व		प्रमाण
१	जघन्य अवाधा	सर्वस्तोक,	उससे	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण (कुछएक आवलीप्रमाण)
२	जघन्य स्थितिबध	सख्यात गुण	,,	क्षुल्लकभव (२५६ आवलीप्रमाण)
३	अवाधास्थान	,, ,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन ७३३३$\frac{1}{3}$ वर्ष
४	उत्कृष्ट अवाधा	विशेषाधिक		७३३३$\frac{1}{3}$ वर्ष
५	स्थितिबधस्थान	सख्यात गुणित	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पूर्वकोटि प्रमाण
६	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक		पूर्वकोटिप्रमाण

सज्ञीद्विकहीन शेष १२ जीवभेदो का आयु रहित सात कर्मों में स्थितिबध आदि का अल्पबहुत्व—

१ २ असज्ञी पचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तको मे आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मो के प्रत्येक के अबाधास्थान और कडक सबसे कम होते है। किन्तु वे परस्पर समान है। वे आवलिका के असख्यातवे भाग समयप्रमाण होते है।

३ उनसे जघन्य अवाधा असख्यात गुणी होती है, क्योकि इसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

४ उससे भी उत्कृष्ट अवाधा विशेषाधिक है, क्योकि उसमे जघन्य अवाधा का भी प्रवेश है।

५ उससे द्विगुणहानिस्थान असख्यात गुणित है।

६ उससे एक द्विगुणहानि के अन्तर मे निषेकस्थान असख्यात गुणित होते है।

७ उनसे अर्थकडक असख्यात गुणा है।

८ उससे भी स्थितिबधस्थान असख्यात गुणित होते है, क्योकि उनका प्रमाण, पल्योपम के असख्यातवे भाग गत समयप्रमाण है।

९ उनसे भी जघन्य स्थितिबध असख्यात गुणा है।

१० उसमे भी उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है, क्योकि वह पल्योपम के असख्यातवें भाग से अधिक है।

सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	स्थाननाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१	अवाधास्थान	अल्प	आवली के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण
२	कडकस्थान	पूर्ववत् (अर्थात् अल्प) उसमे	आवली के असख्यातवे भाग के समय प्रमाण
३	जघन्य अबाधा	असख्यातगुण ,,	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण
४	उत्कृष्ट अवाधा	विशेषाधिक ,,	,, ,,
५	द्विगुणहानिस्थान	असख्यातगुण ,,	
६	निषेकस्थान	,, ,, ,,	
७	अर्थकडक	,, ,, ,,	
८	स्थितिस्थान	,, ,, ,,	पल्योपम के असख्यातवे भागगत समयप्रमाण
९	जघन्य स्थितिबध	,, ,, ,,	३/७ सागरोपम, पल्योपम का असख्यातवा भाग हीन
१०	उत्कृष्ट स्थितिबध	विशेषाधिक अर्थात् पल्योपम के असख्यातवें भाग से अधिक	१ सागरोपम यावत् १००० सागरोपम

इस प्रकार जीवभेदो मे अल्पवहुत्व का कथन समझना चाहिये।

इन प्रारूपो मे आगत अर्थकडक असख्यात गुणा कैसे होता है, समझ नही सके है। विद्वज्जनो से इसकी स्पष्टता की अपक्षा है। १२ जीवभेदो के प्रारूपो मे मुख्यतया एकेन्द्रिय की अपेक्षा अल्पवहुत्व समझना चाहिये।

स्थितिबध के अध्यवसायस्थानो की प्ररूपणा

अव स्थितिबध के अध्यवसायस्थानो की प्ररूपणा करते है। उसमे तीन अनुयोगद्वार है। वे इस प्रकार है—(१) स्थितिसमुदाहार[1] (२) प्रकृतिसमुदाहार[2] और (३) जीवसमुदाहार[3]। प्रतिपादन, व्याख्या करने को समुदाहार कहते है। इनमे से भी स्थितिसमुदाहार मे तीन अनुयोगद्वार होते है, यथा—(१) प्रगणना[4] (२) अनुकृष्टि[5] और (३) तीव्रमदता[6]। इनमे से पहले प्रगणना की प्ररूपणा करते है—

१ स्थितिस्थानो के विषय मे स्थितिबधाध्यवसायस्थान सम्बन्धी व्याख्या करने को स्थितिसमुदाहार कहते हैं।
२ कर्मप्रकृतियो के विषय मे स्थितिबधाध्यवसायो की प्ररूपणा करना प्रकृतिसमुदाहार है।
३ जीव के विषय मे स्थितिबधाध्यवसायो की व्याख्या करना जीवसमुदाहार कहलाता है।
४ प्रत्येक स्थितिस्थान में स्थितिबधाध्यवसायो की गणना करना प्रगणना है।
५ कौन से स्थितिस्थान मे किस स्थितिस्थानसम्बन्धी कितने स्थितिबधाध्यवसायस्थान कितने स्थितिस्थानो में (कब तक) विभक्त किये जाते है, उसे अनुकृष्टि कहते हैं।
६ किन स्थितिस्थानो के विषय मे स्थितिबधाध्यवसायों की परस्पर तीव्रता-मदता कितनी गुणी कहना, उसे तीव्रमदता कहते हैं।

प्रगणनाप्ररूपणा

ठिइबंधे ठितिबंधे, अज्झवसाणाणसखया लोगा ।
हृस्सा विसेसवुड्ढी, आऊणमसंखगुणवुड्ढी ।।८७।।

शब्दार्थ—ठिइबधे ठितिबंधे–स्थितिवध, स्थितिबध में, अज्झवसाणाणसंखया–अध्यवसाय-स्थान असख्यात, लोगा–लोकाकाश प्रदेश, हृस्सा–जघन्य, अल्प, विसेसवुड्ढी–विशेषवृद्धि, आऊण–आयु मे, असखगुणवुड्ढी–असख्यातगुण वृद्धि ।

गाथार्थ—स्थितिबध, स्थितिबध अर्थात् प्रत्येक स्थितिबध मे अध्यवसायस्थान[1] असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। वे जघन्य स्थितिबध मे सबसे कम होते है और उसके बाद आगे के द्वितीयादि स्थितिस्थानो मे विशेषवृद्धि तथा आयुकर्म मे असख्यात गुणवृद्धि होती है।

विशेषार्थ—यहाँ सभी कर्मो की जघन्य स्थिति से परे उत्कृष्ट स्थिति के चरम समय तक जितने समय होते है, उतने स्थितिस्थान जघन्य स्थिति सहित प्रत्येक कर्म के होते है। एक-एक स्थितिस्थान के बाधे जाने मे उसके बध के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जानना चाहिये। यहाँ दो प्रकार की प्ररूपणा है—अनन्त-रोपनिधा रूप और परपरोपनिधा रूप। इनमे से पहले अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते है—

'हृस्सा विसेसवुड्ढी' अर्थात् आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मों के ह्रस्व-जघन्य स्थिति-बध से परे द्वितीयादिक स्थितिस्थानबधो मे विशेषवृद्धि यानी विशेषाधिक वृद्धि जानना चाहिये। जैसे—ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति मे उस बध के कारणभूत अध्यवसाय नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। वे अन्य की अपेक्षा सबसे कम होते है। उनसे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है, उनसे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मो मे भी कहना चाहिये। लेकिन—

'आऊणमसखगुणवुड्ढी' अर्थात आयुकर्म के चारो भेदो मे जघन्य स्थिति से लेकर प्रत्येक स्थितिबध पर असख्यात गुणी वृद्धि कहना चाहिये। जैसे—आयु की जघन्य स्थिति मे उसके बध के कारणभूत अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है, जो सबसे कम है। उनसे द्वितीय स्थिति मे असख्यात गुणित होते है। उनसे भी तृतीय स्थिति मे असख्यात गुणित होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की। अब परपरोपनिधा से उनकी प्ररूपणा करते है—

१. यहाँ अध्यवसाय शब्द का अर्थ स्थितिबधाध्यवसायस्थान समझना चाहिये, किन्तु अनुभागबधाध्यवसायस्थान नही।

पल्लासंखियभागं गतुं दुगुणाणि जाव उक्कोसा ।
नाणंतराणि अंगुल-मूलच्छेयणमसंखतमो ॥८८॥

शब्दार्थ—पल्लासखियभाग—पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण, गतु—अतिक्रमण करने पर, दुगुणाणि—द्विगुणवृद्धिस्थान, जाव—पर्यन्त, उक्कोसा—उत्कृष्ट, नाणतराणि—नाना अन्तर (द्विगुणवृद्धिस्थान), अगुल अगुल के, मूलच्छेयण—वर्गमूल के अर्धच्छेद के, असखतमो—असख्यातवे भाग प्रमाण ।

गाथार्थ—जघन्य स्थितिस्थान से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करने पर द्विगुणवृद्धिस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये। इस प्रकार के नाना अतर—द्विगुणवृद्धिस्थान अगुल के वर्गमूल के अर्धच्छेदो के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मो की जघन्य स्थिति मे जितने अध्यवसायस्थान होते है, उनसे पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करने पर दूसरे—अनन्तर स्थितिस्थान मे अध्यवसायस्थान दुगुने होते है। उनसे भी पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितिस्थानो का उल्लघन करने पर प्राप्त अनन्तरवर्ती स्थितिस्थानो मे अध्यवसायस्थान दुगुने होते है। इस प्रकार यह द्विगुणवृद्धि तव तक कहना चाहिए, जब तक कि उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे स्थिति के स्थान पल्योपम के वर्गमूल के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है और नाना द्विगुणवृद्धिस्थान अगुलवर्गमूल के छेदनक के असख्यतम भाग प्रमाण होते है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि अगुल प्रमाण क्षेत्रगत प्रदेशराशि का जो प्रथम वर्गमूल है, वह मनुष्यो की राशि प्रमाण लाने की[1] कारणभूत छियानवें (९६) की राशि की छेदनविधि से (भागविधि, भागाकार करने की रीति से) तव तक छेदन किया जाता है, जब तक कि उसका दूसरा भाग नही होता है। उन छेदनको के असख्यातवें भाग मे जितने छेदनक होते है, उतने मे जितने आकाशप्रदेशो की राशि होती है, उतने प्रमाण नाना द्विगुण (वृद्धि) स्थान होते है।[2]

इस प्रकार प्रगणना का कथन जानना चाहिये।

अनुकृष्टिविचार

अव अनुकृष्टि का विचार करते है। वह यहाँ नही होती है। जिसका कारण यह है कि ज्ञानावरणकर्म के जघन्य स्थितिवध में जो अध्यवसायस्थान कारणभूत होते है, उनसे द्वितीय स्थिति-

१ मनुष्य की सख्या लाने के लिये २ के अक का ९६ बार गुणाकार करने से मनुष्य की सख्या प्राप्त होती है। जैसे २×२×२×२×२×२ इस प्रकार ९६ बार दो के अको को लिखकर गुणाकार करने पर २९ अक रूप मनुष्यसख्या प्राप्त होती है। इसलिये यहाँ ९६ अक को मनुष्यसख्या का हेतु कहा है।

२ असत्कल्पना से ९२१६०००००००००० के वर्गमूल ९६००००० को ९६ से भाग देने पर १०००००, उसका असख्यात रूप १०० से भाग देने पर १००० द्विगुणवृद्धिस्थान होते हैं।

प्रगणनाप्ररूपणा

ठिइबंधे ठितिबंधे, अज्झवसाणाणसखया लोगा ।
हुस्सा विसेसवुड्ढी, आऊणमसंखगुणवुड्ढी ।।८७।।

शब्दार्थ—ठिइबधे ठितिबंधे—स्थितिबध, स्थितिबध में, अज्झवसाणाणसंखया—अध्यवसायस्थान असख्यात, लोगा—लोकाकाश प्रदेश, हुस्सा—जघन्य, अल्प, विसेसवुड्ढी—विशेषवृद्धि, आऊण—आयु मे, असखगुणवुड्ढी—असख्यातगुण वृद्धि ।

गाथार्थ—स्थितिबध, स्थितिबध अर्थात् प्रत्येक स्थितिबध मे अध्यवसायस्थान[1] असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। वे जघन्य स्थितिबध मे सबसे कम होते है और उसके बाद आगे के द्वितीयादि स्थितिस्थानो मे विशेषवृद्धि तथा आयुकर्म मे असख्यात गुणवृद्धि होती है।

विशेषार्थ—यहाँ सभी कर्मों की जघन्य स्थिति से परे उत्कृष्ट स्थिति के चरम समय तक जितने समय होते है, उतने स्थितिस्थान जघन्य स्थिति सहित प्रत्येक कर्म के होते है। एक-एक स्थितिस्थान के बाधे जाने मे उसके बध के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण जानना चाहिये। यहाँ दो प्रकार की प्ररूपणा है—अनन्तरोपनिधा रूप और परपरोपनिधा रूप। इनमें से पहले अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते है—

'हुस्सा विसेसवुड्ढी' अर्थात् आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मों के ह्रस्व-जघन्य स्थितिबध से परे द्वितीयादिक स्थितिस्थानबधो मे विशेषवृद्धि यानी विशेषाधिक वृद्धि जानना चाहिये। जैसे—ज्ञानावरण की जघन्य स्थिति मे उस बध के कारणभूत अध्यवसाय नाना जीवो की अपेक्षा असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है। वे अन्य की अपेक्षा सबसे कम होते है। उनसे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है, उनसे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मों मे भी कहना चाहिये। लेकिन—

'आऊणमसखगुणवुड्ढी' अर्थात आयुकर्म के चारो भेदो मे जघन्य स्थिति से लेकर प्रत्येक स्थितिबध पर असख्यात गुणी वृद्धि कहना चाहिये। जैसे—आयु की जघन्य स्थिति मे उसके बध के कारणभूत अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते है, जो सबसे कम है। उनसे द्वितीय स्थिति मे असख्यात गुणित होते है। उनसे भी ततीय स्थिति मे असख्यात गुणित होते है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की। अब परपरोपनिधा से उनकी प्ररूपणा करते है—

१ यहाँ अध्यवसाय शब्द का अर्थ स्थितिबधाध्यवसायस्थान समझना चाहिये, किन्तु अनुभागबधाध्यवसायस्थान नही।

पल्लासंखियभागं गतुं दुगुणाणि जाव उक्कोसा ।
नाणंतराणि अंगुल-मूलच्छेयणमसंखतमो ॥८८॥

शब्दार्थ—पल्लासंखियभाग–पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण, गतु–अतिक्रमण करने पर, दुगुणाणि–द्विगुणवृद्धिस्थान, जाव–पर्यन्त, उक्कोसा–उत्कृष्ट, नाणतराणि–नाना अन्तर (द्विगुणवृद्धि-स्थान), अगुल अगुल के, मूलच्छेयण–वर्गमूल के अर्धच्छेद के, असखतमो–असख्यातवे भाग प्रमाण।

गाथार्थ—जघन्य स्थितिस्थान से पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करने पर द्विगुणवृद्धिस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त जानना चाहिये। इस प्रकार के नाना अतर–द्विगुणवृद्धिस्थान अगुल के वर्गमूल के अर्धच्छेदो के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है।

विशेषार्थ—आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मो की जघन्य स्थिति मे जितने अध्यवसाय-स्थान होते है, उनसे पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करने पर दूसरे–अनन्तर स्थितिस्थान मे अध्यवसायस्थान दुगुने होते है। उनसे भी पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति-स्थानो का उल्लघन करने पर प्राप्त अनन्तरवर्ती स्थितिस्थानो मे अध्यवसायस्थान दुगुने होते है। इस प्रकार यह द्विगुणवृद्धि तव तक कहना चाहिए, जव तक कि उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे स्थिति के स्थान पल्योपम के वर्गमूल के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है और नाना द्विगुणवृद्धिस्थान अगुलवर्गमूल के छेदनक के असख्यतम भाग प्रमाण होते है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि अगुल प्रमाण क्षेत्रगत प्रदेशराशि का जो प्रथम वर्गमूल है, वह मनुष्यो की राशि प्रमाण लाने की[1] कारणभूत छियानवे (९६) की राशि की छेदनविधि से (भागविधि, भागाकार करने की रीति से) तव तक छेदन किया जाता है, जब तक कि उसका दूसरा भाग नही होता है। उन छेदनको के असख्यातवें भाग मे जितने छेदनक होते है, उतने मे जितने आकाश-प्रदेशो की राशि होती है, उतने प्रमाण नाना द्विगुण(वृद्धि)स्थान होते है।[2]

इस प्रकार प्रगणना का कथन जानना चाहिये।

अनुकृष्टिविचार

अव अनुकृष्टि का विचार करते है। वह यहाँ नही होती है। जिसका कारण यह है कि ज्ञानावरणकर्म के जघन्य स्थितिवध मे जो अध्यवसायस्थान कारणभूत होते है, उनसे द्वितीय स्थिति-

१ मनुष्य की सख्या लाने के लिये २ के अक का ९६ वार गुणाकार करने से मनुष्य की सख्या प्राप्त होती है। जैसे २×२×२×२×२×२ इस प्रकार ९६ वार दो के अको को लिखकर गुणाकार करने पर २९ अक रूप मनुष्यसख्या प्राप्त होती है। इसलिये यहाँ ९६ अक को मनुष्यसख्या का हेतु कहा है।

२ असत्कल्पना से ९२१६०००००००००० के वर्गमूल ९६००००० को ९६ से भाग देने पर १०००००, उसका असख्यात रूप १०० से भाग देने पर १००० द्विगुणवृद्धिस्थान होते हैं।

बध मे अन्य होते है, उनसे भी तृतीय स्थितिबध मे अन्य होते है । इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी कर्मो के अध्यवसायस्थान जानना चाहिये।

अव तीव्रमदता कहने का अवसर प्राप्त है। लेकिन उसका कथन आगे किये जाने से अभी उसे स्थगित करते है।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार का विचार पूर्ण हुआ।

प्रकृतिसमुदाहार

अव प्रकृतिसमुदाहार का कथन करते है। इसमे दो अनुयोगद्वार होते है—प्रमाणानुगम और अल्पवहुत्व। इनमे से प्रमाणानुगम मे ज्ञानावरण कर्म के सर्वस्थितिबधो मे कितने अध्यवसायस्थान होते है? तो इस प्रश्न के उत्तर में वतलाते है कि असख्यात लोकाकाश प्रदेशो का जितना प्रमाण होता है, उतने अध्यवसायस्थान होते है । इसी प्रकार सभी कर्मो के अध्यवसायस्थान जानना चाहिये। अव अल्पवहुत्व का कथन करते है कि—

ठिइदीहयाए कमसो, असंखगुणियाणणंतगुणणाए ।
पढम जहण्णुक्कोसं बितिय जहन्नाइया चरमा ।।८९।।

शब्दार्थ—**ठिइदीहयाए**–स्थिति की दीर्घता मे, **कमसो**–अनुक्रम से, **असखगुणियाण**–असख्यात गुणे, **णतगुणणाए**–अनन्तगुण, **पढम**–प्रथम, **जहण्णुक्कोस**–जघन्य, उत्कृष्ट, **बितिय**–द्वितीय, तृतीय, **जहन्नाइया**–जघन्यादि, **चरमा**–चरम स्थान तक।

गाथार्थ—स्थिति की दीर्घता में क्रम से अध्यवसायस्थान असख्यातगुण, असख्यातगुण होते है और जघन्य अध्यवसाय से उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार जघन्य स्थिति से आरम्भ करके द्वितीय, तृतीय आदि अन्तिम स्थितिस्थान तक प्रत्येक स्थान मे जघन्य से उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुणा तथा प्रथम स्थिति के उत्कृष्ट अध्यवसाय से द्वितीय स्थिति का जघन्य अध्यवसाय अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—स्थिति की दीर्घता के क्रम से अध्यवसायस्थान असख्यात गुणित कहना चाहिये। जिस कर्म की स्थिति जिस क्रम से दीर्घ होती है, उस क्रम से उस कर्म के अध्यवसायस्थान असख्यात गुणित कहना चाहिये। जिसका आशय इस प्रकार है कि आयुकर्म के स्थितिबधाध्यवसायस्थान सबसे कम होते है, इनसे भी नाम, गोत्र के स्थितिबधाध्यवसायस्थान असख्यात गुणित होते है।

शका—यह पूर्व मे वताया गया है कि आयुकर्म के स्थितिस्थानो मे यथोत्तर क्रम से असख्यात गुणी वृद्धि होती है और नाम, गोत्र के स्थितिस्थानो मे वृद्धि विशेषाधिक होती है, तब आयु की अपेक्षा नाम और गोत्र के अध्यवसायस्थान असख्यात गुणित कैसे सम्भव है?

समाधान—आयुकर्म की जघन्य स्थिति मे अध्यवसायस्थान अतीव अल्प होते है। किन्तु नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति मे अध्यवसायस्थान वहुत अधिक होते है तथा आयुकर्म के स्थितिस्थान अल्प होते है और नाम, गोत्र के स्थितिस्थान वहुत अधिक होते है । इसलिये कोई दोष (विरोध) नही है।

नाम, गोत्र कर्मो के स्थितिबधाध्यवसायस्थानो से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय कर्मो के स्थितिबधाध्यवसायस्थान असख्यात गुणित होते है। यह कैसे होते है ? तो इसका उत्तर यह है कि इन कर्मो मे पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थितियो के उल्लघन करने पर द्विगुणवृद्धि पाई जाती है और ऐसा होने पर एक-एक पल्योपम के अत मे असख्यात गुणित स्थितिबधाध्यवसाय क्यो नही पाये जायेगे ? फिर तो दस कोडाकोडी सागरोपम की क्या बात ? अर्थात् अवश्य पाये जायेगे।[1] उक्त ज्ञानावरण आदि कर्मो के स्थितिबधाध्यवसायस्थानो से कषायमोहनीय के स्थितिबधाध्यवसायस्थान असख्यात गुणित होते है। उनसे भी दर्शनमोहनीय के स्थितिबधाध्यवसायस्थान असख्यात गुणित होते है।

इस प्रकार प्रकृतिसमुदाहार का कथन जानना चाहिये।

अब स्थितिसमुदाहार मे जो पहले तीव्रमदता नही कही गई थी, उसका कथन करते है—

'अणतेत्यादि' अर्थात् प्रथम स्थिति में जो जघन्य स्थितिबधाध्यवसायस्थान होता है, उससे उसी स्थिति मे जो उत्कृष्ट स्थितिबधाध्यवसायस्थान है, वह अनन्त गुणित अनुभाग वाला होता है, उससे द्वितीय स्थिति मे जघन्य स्थितिबधाध्यवसायस्थान अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार चरम अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति मे चरम स्थितिबधाध्यवसायस्थान उक्त क्रम से अनन्त गुणा कहना चाहिये। जैसे ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति मे जो जघन्य स्थितिबधाध्यवसायस्थान है, वह सबसे मन्द अनुभाग वाला होता है, उससे उसी जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है। उससे भी द्वितीय स्थिति मे जघन्य स्थितिबधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है, उससे भी उसी द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुणा होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति मे जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणित रूप से तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उत्कृष्ट स्थिति मे चरम स्थितिबधाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्थितिसमुदाहार और प्रकृतिसमुदाहार का पूर्ण रूप से कथन किया गया। अब जीवसमुदाहार का कथन करते है।

जीवसमुदाहार

बधती धुवपगडी, परित्तमाणिगसुभाण तिविहरसं।
चउ तिग बिट्ठाणगयं, विवरीयतिग च असुभाण ।।९०।।

शब्दार्थ—बधती—बाधते हुए, धुवपगडी—ध्रुवबधिनी प्रकृतियो, परित्तमाणिग—परावर्तमान, सुभाण—शुभ प्रकृतियो का, तिविहरस, त्रिविध रस, चउतिगबिट्ठाणगय—चतु —त्रि— द्विस्थानिक, विवरीयतिग—विपरीत क्रम से त्रिक, च—और, असुभाण—अशुभ प्रकृतियो का।

१ नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम और ज्ञानावरणादि चार कर्मो की ३० कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है, इस प्रकार नाम, गोत्र से ज्ञानावरणादि की स्थिति १० कोडाकोडी सागर अधिक है। अत उस अधिक स्थिति के कारण नाम, गोत्र से ज्ञानावरणादि चार कर्मो के अध्यवसायो का असख्यातगुणत्व होना स्वाभाविक ही है।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो को बाधते हुए परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का चतु स्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक रस बाधता है और अशुभ प्रकृतियो का विपरीत क्रम से त्रिक अर्थात् द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रस बाधता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणपचक, दर्शनावरणनवक, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, अन्तरायपचक इन सैंतालीस (४७) ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो को बाधते हुए जीव सातावेदनीय, देवगति, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय-जाति, वैक्रिय, आहारक, औदारिक शरीर, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, अगोपागत्रिक, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, तीर्थंकर, नरकायु को छोडकर शेष आयुत्रिक, उच्चगोत्र रूप चौंतीस परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का तीन प्रकार का, यथा चतु स्थानगत, त्रिस्थानगत और द्विस्थानगत रस-अनुभाग बाधते है। यहाँ शुभ प्रकृतियो का रस क्षीर आदि के रस के समान और अशुभ प्रकृतियो का रस घोषातिकी, नीम आदि के रस के समान जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखडुवमो ।

क्षीर आदि का जो स्वाभाविक रस है, वह एकस्थानिक रस कहलाता है। दो कर्ष प्रमाण रसो को औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस अवशिष्ट रहता है, वह द्विस्थानिक रस कहलाता है। तीन कर्ष प्रमाण रसो को औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस शेष रहता है, वह त्रिस्थानिक रस है और चार कर्ष प्रमाण रसो के औटाने पर जो एक कर्ष प्रमाण रस शेष रहता है, वह चतु स्थानिक रस कहलाता है। एकस्थानगत रस भी जलकण, बिन्दु, चुल्लू, प्रसृति, अजलि, करक, कुभ, द्रोण आदि प्रमाण जल के प्रक्षेपण करने से मद, मदतर आदि असख्य भेद रूप हो जाता है। इसी प्रकार द्विस्थानगत आदि रसो मे भी असख्य भेदरूपता कहनी चाहिये। इसी के अनुसार कर्मो के रसो मे भी एकस्थानगत, द्विस्थानगत आदि रसो की तीव्रता-मदता अपनी बुद्धि से जान लेना चाहिये। एकस्थानगत रस से कर्मो के द्विस्थानगत आदि रस यथोत्तर अनन्तगुण, अनन्तगुण कहना चाहिये। जैसा कि कहा है—'अणतगुणिया कमेणियरे'—एकस्थानिक से द्विस्थानिक आदि रस क्रम से अनन्तगुणित रस वाले होते है।[1]

केवलज्ञानावरण को छोडकर चारो ज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण के अतिरिक्त शेष चक्षु-आदि तीन दर्शनावरण, पुरुषवेद, सज्वलनचतुष्क, अन्तरायपचक, इन सत्रह (१७) प्रकृतियो का चारो ही प्रकार का रसबंध सभव है। अर्थात् इन सत्रह प्रकृतियो का रस एकस्थानगत भी होता है, द्विस्थानगत भी होता है, त्रिस्थानगत भी होता है और चतु स्थानगत भी होता है। इन सत्रह प्रकृतियो से शेष रही सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियो का रस द्विस्थानगत, त्रिस्थानगत और चतु स्थानगत होता है। किन्तु कदाचित् भी एकस्थानगत नही होता है, यह वस्तुस्थिति है।

शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत आदि के क्रम से रस की त्रिविधता का प्रतिपादन कर अब अशुभ प्रकृतियो की त्रिविधता को कहते है—'विवरीयतिग च असुभाण' अर्थात् उन्ही ध्रुवप्रकृतियो (अर्थात्

---

१ यह अनन्तगुणरूपता रस के समुदाय की अपेक्षा समझना चाहिये, किन्तु अनन्तरोपनिधा परिपाटी से नही ।

ध्रुवबंधिनी प्रकृतियो) को बाधते हुए यदि परावर्तमाना (३९) अशुभ प्रकृतियो[1] को जीव बाधते हैं, तब उनका अनुभाग विपरीतत्रिक के क्रम से बाधते है, जैसे द्विस्थानगत, त्रिस्थानगत और चतु स्थानगत। यहाँ पर ध्रुव प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को बाधता हुआ बध को प्राप्त होने वाली परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत रस को बाधता है और अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रस को बाधता है। ध्रुव प्रकृतियो की अजघन्य स्थिति बाधता हुआ बध को प्राप्त होने वाली शुभ प्रकृतियो के अथवा अशुभ प्रकृतियो के यथायोग्य त्रिस्थानगत रस को बाधता है और ध्रुव प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को बाधता हुआ शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रस को और अशुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत रस को बाधता है। इसलिये शुभ प्रकृतिगत रस की त्रिविधता के क्रम की अपेक्षा अशुभ प्रकृतियो के रस की त्रिविधता के क्रम को विपरीतक्रम वाला कहा गया है। सरलता से जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप द्वारा समझा जा सकता है—

ध्रुवबंधिनी के स्थितिबध मे	शुभप्रकृति का रसबध	अशुभप्रकृति का रसबध
जघन्य स्थितिबध मे	चतु स्थानगत	द्विस्थानगत
अजघन्य (मध्यम) स्थितिबध मे	त्रिस्थानगत	त्रिस्थानगत
उत्कृष्ट स्थितिबध मे	द्विस्थानगत	चतु स्थानगत

शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानिक आदि के रसबधक

कौन जीव शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत, त्रिस्थानगत और द्विस्थानगत रस को बाधते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये कहते है—

> **सव्वविसुद्धा बंधति, मज्झिमा संकिलिट्ठतरगा य।**
> **धुवपगडि जहन्नठिइं, सव्वविसुद्धा उ बंधंति ॥९१॥**
> **तिट्ठाणे अजहण्णं, बिट्ठाणे जेट्ठगं सुभाण कमा।**
> **सट्ठाणे उ जहन्नं, अजहन्नुक्कोसमियरासि ॥९२॥**

शब्दार्थ—सव्वविसुद्धा—अतिविशुद्ध, बंधति—बाधते है, मज्झिमा—मध्यम परिणाम वाले, संकिलिट्ठतरगा—संक्लिष्टतर परिणाम वाले, य—और, धुवपगडि—ध्रुवप्रकृति की, जहन्नठिइ—जघन्य स्थिति को, सव्वविसुद्धा—सर्वविशुद्ध, उ—और, बंधति—बाधते है।

तिट्ठाणे—त्रिस्थानिक, अजहण्ण—अजघन्य (मध्यम) स्थिति वाले, बिट्ठाणे—द्विस्थानिक, जेट्ठग—उत्कृष्ट स्थिति, सुभाण—शुभ की, कमा—क्रम से, सट्ठाणे—स्वस्थान मे (स्वविशुद्धि

1 असातावेदनीय वेदत्रिक, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकायु, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक आदिजातिचतुष्टय, आदि के सस्थान, सहनन को छोडकर शेष पाच सस्थान, सहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावरदशक, नीचगोत्र।

अनुसार) उ–तथा, जहन्न–जघन्य, अजहन्नुक्कोसं–अजघन्य (मध्यम) और उत्कृष्ट, इयरांसि–इतर (अशुभ) मे।

गाथार्थ––सर्वविशुद्ध मध्यम परिणामी और सक्लिष्टतर परिणाम वाले जीव क्रमश परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक तथा परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक रस बाधते है तथा जो अति विशुद्ध परिणामी शुभ प्रकृतियो का चतुःस्थानिक रस बाधते है, वे ध्रुव प्रकृतियो की जघन्य स्थिति बाधते है। त्रिस्थानिक रस बाधते हुए मध्यम स्थिति और द्विस्थानिक रस बाधते हुए उत्कृष्ट स्थिति बाधते है तथा स्वविशुद्धि के अनुसार परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक रस बाधने पर ध्रुवबधिनी प्रकृति की अनुक्रम से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति बाधते है।

विशेषार्थ––जो सर्व विशुद्ध जीव है, वे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतुःस्थानगत रस को बाधते है। जो मध्यम परिणाम वाले जीव है, वे त्रिस्थानगत रस को बाधते है और जो सक्लिष्टतर परिणाम वाले जीव है, वे द्विस्थानगत रस को बाधते है और तद्योग्य भूमिका के अनुसार जो सर्व विशुद्ध जीव है, वे पुन परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो को बाधते है, तो वे उन प्रकृतियो के द्विस्थानगत रस को उत्पन्न करते है। मध्यम परिणाम वाले त्रिस्थानगत रस को और सक्लिष्टतर परिणाम वाले चतुःस्थानगत रस को बाधते है।

अब स्थितिबध की अपेक्षा इनका विचार करते है कि–'ध्रुवपगडीत्यादि' अर्थात् जो सर्वविशुद्ध जीव है, वे शुभ प्रकृतियो के चतुःस्थानगत रस को बाधते है, वे ध्रुव प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को बाधते है। यहाँ पर 'तिट्ठाणे' यह षष्ठी विभक्ति के अर्थ म सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है। अत परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रस के बधक जो जीव है, वे ध्रुव प्रकृतियो की अजघन्य अर्थात् मध्यम स्थिति को बाधते है और जो द्विस्थानगत रस के बधक जीव है, वे ध्रुव प्रकृतियो की ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति को बाधते है तथा जो इतर अर्थात् परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रस को बाधते है, वे ध्रुव प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को स्व-स्थान मे अपनी विशुद्धि की भूमिका के अनुसार[1] बाधते है अर्थात् परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रसबध की कारणभूत विशुद्धि के अनुसार जघन्य स्थिति को बाधते है किन्तु अति जघन्य स्थिति को नही बाधते है। ध्रुवप्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध एकान्तविशुद्धि मे ही सम्भव है। किन्तु उस समय परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का बध सम्भव नही है और जो पुन परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रस के बधक जीव है, वे ध्रुव प्रकृतियो की अजघन्य स्थिति को बाधते है तथा जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के चतुःस्थानगत रस को बाधते है, वे ध्रुव-प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति को उत्पन्न करते है।

१ इसका आशय यह है कि जिस जीव को जिस प्रकार की स्वयोग्य उत्कृष्ट विशुद्धि हो सकती है तदनुसार।

जीव-परिणामानुसार रसबध और स्थितिबध को सरलता से समझाने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

जीवपरिणाम	परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का रसबध	परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का रसबध	ध्रुव प्रकृतियो का स्थितिबध
अतिविशुद्ध	चतु स्थानिक	द्विस्थानिक	जघन्य स्थितिबध
मध्यमविशुद्ध	त्रिस्थानिक	त्रिस्थानिक	मध्यम स्थितिबध
अतिसक्लिष्ट	द्विस्थानिक	चतु स्थानिक	उत्कृष्ट स्थितिबध

इस विषय मे दो प्रकार की प्ररूपणा है—अनन्तरोपनिधा और परपरोपनिधा। उनमे से पहले दो गाथाओ मे अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा करते है—

थोवा जहन्नियाए, होंति विसेसाहिओदहिसयाइ ।
जीवा विसेसहीणा, उदहिसयपुहुत्त[1] मो[2] जाव ।।९३।।
एव तिट्ठाणकरा, बिट्ठाणकरा य आ सुभुक्कोसा ।
असुभाणं बिट्ठाणे, तिचउट्ठाणे य उक्कोसा ।।९४।।

शब्दार्थ—**थोवा**—स्तोक-अल्प, **जहन्नियाए**—जघन्य स्थितिबध मे, **होंति**—होते है, **विसेसाहिओदहिसयाइ**—सैकडो सागरोपम तक विशेषाधिक, **जीवा**—जीव, **विसेसहीणा**—विशेषहीन, **उदहिसयपुहुत्त**—बहुत से सागरोपम शत—सैकडो सागरोपम, **जाव**—तक।

एव—इसी प्रकार, **तिट्ठाणकरा**—त्रिस्थानिक, **बिट्ठाणकरा**—द्विस्थानिक, **य**—और, **आ सुभुक्कोसा**—शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति तक, **असुभाण**—अशुभ प्रकृतियो के, **बिट्ठाणे**—द्विस्थानिक, **तिचउट्ठाणे**—त्रिस्थानिक, चतु स्थानिक, **च**—और, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति।

गाथार्थ—ध्रुव प्रकृतियो के जघन्य स्थितिबध मे वर्तमान जीव अल्प होते है। उससे द्वितीयादिक स्थितियो मे विशेष-विशेष अधिक होते है, सैकडो सागरोपम प्राप्त होने तक। तत्पश्चात् सैकडो सागरोपम तक विशेष-विशेषहीन होते है।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक रसबधक जीव प्रत्येक स्थितिस्थान मे विशेषाधिक और पीछे विशेषहीन जानना चाहिये, उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होने तक। परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक रसबध करने वाले जीव प्रत्येक स्थिति पर विशेषाधिक और विशेषहीन उत्कृष्ट स्थिति तक कहना चाहिये।

१ यहाँ पुहुत्त (पृथक्त्व) शब्द बहुत्ववाचक है। जैसा कि कर्मप्रकृतिचूर्णि मे कहा है—पुहुत्तसद्दो बहुत्तवाचीति।
२ 'मो' शब्द पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

विशेषार्थ—शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत रस के बधक जो ज्ञानावरण आदि ध्रुव प्रकृतियो की जघन्य स्थिति में बधक रूप से वर्तमान जीव है, वे अल्प होते है । उनसे द्वितीय स्थिति में वर्तमान जीव विशेषाधिक होते है । उनसे भी तृतीय स्थिति में विशेषाधिक होते है । इस प्रकार तव तक विशेषाधिक-विशेषाधिक कहना चाहिये, जव तक वहुत से सागरोपम शत (सैंकडो सागरोपम) व्यतीत होते है । उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक कि विशेषहानि मे भी 'उर्दाहसयपुहुत्त ति' अर्थात् वहुत से सागरोपम व्यतीत होते है ।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रस को उत्पन्न करते हुए ध्रुव प्रकृतियो के स्वप्रायोग्य[1] जघन्य स्थिति मे बधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है। उससे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है। उससे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है। इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है । उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक विशेपहानि मे भी वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है तथा परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रस को उत्पन्न करने वाले ध्रुव प्रकृतियो की स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति मे बधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है । उससे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है, उससे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है । इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है। उससे आगे विशेषहीन-विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक विशेषहानि मे भी वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है । परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के 'द्विस्थानगत रसबधक जीव,' इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक उन परावर्तमान स्वप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति[2] प्राप्त होती है, अर्थात् सव उत्कृष्ट स्थितिगत द्विस्थानिक रसबधक जीव (प्राप्त होते) है ।

'असुभाण इत्यादि' अर्थात् अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के पूर्व निरूपित क्रम के अनुसार सर्वप्रथम द्विस्थानगत रसबधक कहना चाहिये । तदनन्तर त्रिस्थानगत रसबधक कहना चाहिये, तत्पश्चात् चतु स्थानगत रसबधक कहना चाहिये और ये भी तव तक कहना चाहिये, जव तक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है । उक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानगत रसबधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियो को स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति मे बधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है, उससे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है, उससे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है । इस प्रकार विशेषाधिक-विशेषाधिक तव तक कहना चाहिये, जव तक वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है । उससे आगे विशेषहीन—विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक विशेषहानि मे भी वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है । अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रसबधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियो की स्वप्रायोग्य जघन्य स्थिति

१. यहाँ स्वप्रायोग्यरूपता जीव परिणामो (अध्यवसायो) की अपेक्षा जानना चाहिये, किन्तु प्रकृति की अपेक्षा नही ।

२ यहाँ उत्कृष्ट स्थिति प्रकृतिप्रायोग्य नही किन्तु द्विस्थानिक रसबधप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थिति समझना चाहिये ।

मे बधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है । उससे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है । उससे तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है । इस प्रकार पूर्व के समान तव तक कहना चाहिये, जव तक विशेषहानि मे भी वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है तथा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के चतु स्थानगत रसबधक होते हुए ध्रुव प्रकृतियो की स्व-प्रायोग्य जघन्य स्थिति मे वधक रूप से वर्तमान जीव अल्प होते है, उससे द्वितीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है, उससे भी तृतीय स्थिति मे विशेषाधिक होते है । इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जव तक वहुत सागरोपम शत व्यतीत होते है । तत्पश्चात् विशेषहीन-विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक विशेषहानि से भी वहुत सागरोपम शत व्यतीत होते है । अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के चतु स्थानगत रसबधक भी इसी प्रकार विशेषहीन-विशेषहीन तव तक कहना चाहिये, जव तक उन अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, अर्थात् ये सव जीव उत्कृष्ट स्थितिगत (चतु स्थानकप्रायोग्य उत्कृष्ट स्थितिगत) चतु स्थानक रस के बधक होते है ।

इस प्रकार अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा की गई । अब परपरोपनिधा से प्ररूपणा करते हुए कहते है—

पल्लासखियमूलानि, गंतुं दुगुणा य दुगुणहीणा य ।
नाणंतराणि पल्लस्स, मूलभागो असखतमो ।।९५।।

शब्दार्थ—**पल्लासखियमूलानि**—पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण, **गंतु**—अतिक्रमण होने पर **दुगुणा**—द्विगुणाधिक, **य** और, **दुगुणहीणा**—द्विगुणहीन, **य**—और, **नाणतराणि**—नाना प्रकार के अतर, **पल्लस्स**—पल्योपम के, **मूलभागो**—वर्गमूल का, **असखतमो**—असख्यातवा भाग ।

गाथार्थ—पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थिति का अतिक्रमण करने पर जीवो की सख्या द्विगुणाधिक और द्विगुणहीन हो जाती है तथा ये नाना अतर पल्योपम के प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग प्रमाण होते है ।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानगत रसबधक ध्रुव प्रकृतियो के जघन्य स्थिति मे बधक रूप से वर्तमान जीवो की अपेक्षा जघन्य स्थिति से आगे जो पल्योपम के असख्यात वर्गमूल है, उन पल्योपम के असख्यात वर्गमूलो मे जितने समय होते है, तावत् प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करके अनन्तरवर्ती स्थिति मे वर्तमान जीव दुगुने होते है, उससे आगे और भी पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करके जो अनन्तर स्थितिस्थान प्राप्त होता है, उसमे जो जीव है, वे दुगुने होते है । इस प्रकार दुगुने-दुगुने तव तक कहना चाहिये, जव तक वहुत से सागरोपम शत व्यतीत होते है । उनसे आगे पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करके जो अन्य स्थिति-स्थान प्राप्त होता है, उसमे अर्थात् विशेषवृद्धिगत चरम स्थिति मे बधक रूप से वर्तमान जो जीव है, उनकी अपेक्षा द्विगुणहीन होते है अर्थात् आधे होते है । उससे आगे फिर पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करके प्राप्त होने वाले अन्य स्थितिस्थान में जीव आधे होते है । इस प्रकार तव तक कहना चाहिये, जब तक द्विगुणहानि मे भी वहुत से सागरोपम शत व्यतीत हो ।

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रसबधक और द्विस्थानगत रसबधक जीव भी जानना चाहिये तथा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के द्विस्थानगत रसबधक, त्रिस्थानगत रसबधक और चतु स्थानगत रसबधक कहना चाहिये ।

एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे और द्विगुणहानि के अन्तराल मे स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण होते है। अर्थात् पल्योपम के असख्यात वर्गमूलो मे जितने समय होते है तावत् प्रमाण स्थितिस्थान होते है । नाना अतर अर्थात् नाना रूप द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि स्वरूप स्थान पल्योपम सम्बन्धी प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, तावत् प्रमाण होते है। नाना द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान अल्प होते है तथा उनसे एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे और एक द्विगुणहानि के अन्तराल मे स्थितिस्थान असख्यात गुणित होते है ।[1]

रसयवमध्य से प्रकृतियो के स्थितिस्थानादिको का अल्पबहुत्व

अणगारप्पाउग्गा, बिट्ठाणगया उ दुविहपगडीण ।
सागारा सव्वत्थ वि, हिट्ठा थोवाणि जवमज्झा ।।९६।।
ठाणाणि चउट्ठाणा, सखेज्जगुणाणि उवरिमेवति ।
तिट्ठाणे बिट्ठाणे, सुभाणि एगतमीसाणि ।।९७।।
उवरि मिस्साणि जहन्नगो सुभाणं तओ विसेसहिओ ।
होइऽसुभाण जहण्णो संखेज्जगुणाणि ठाणाणि ।।९८।।
बिट्ठाणे जवमज्झा हेट्ठा एगत मीसगाणुवरि ।
एव तिचउट्ठाणे, जवमज्झाओ य डायठिई ।।९९।।
अतो कोडाकोडी, सुभबिट्ठाण जवमज्झओ उवरि ।
एगतगा विसिट्ठा, सुभजिट्ठा डायट्ठिइजेट्ठा ।।१००।।

शब्दार्थ—अणगारप्पाउग्गा—अनाकारोपयोगयोग्य, बिट्ठाणगया उ—द्विस्थानगत ही, दुविह [illegible]ीण—दोनो प्रकार की प्रकृतियो के (परा० शुभाशुभ प्रकृतियो के), सागारा—साकारोपयोगयोग्य, सव्वत्थ वि—सर्वत्र भी, हिट्ठा—नीचे, थोवाणि—अल्प, जवमज्झा—यवमध्य से ।

ठाणाणि—स्थितिस्थान, चउट्ठाणा—चतु स्थानगत रस के, सखेज्जगुणाणि—सख्यात गुणे, उवरिं—ऊपर, एववि—इसी तरह, तिट्ठाणे—त्रिस्थानगत मे, बिट्ठाणे—द्विस्थानगत मे, सुभाणि—शुभ प्रकृतियो के, एगत—एकान्तयोग्य, मीसाणि—मिश्रयोग्य ।

उवरिं—ऊपर मिस्साणि—मिश्रयोग्य, जहन्नगो—जघन्य स्थितिबध, सुभाण—शुभ प्रकृतियो के, तओ—उससे, विसेसहिओ—विशेषाधिक, होइ—होते है, असुभाण—अशुभ प्रकृतियो के, जहण्णो—जघन्य, सखेज्जगुणाणि—सख्यात गुणे, ठाणाणि—स्थान ।

१ यहाँ सर्व अन्तरों मे रहे हुए सर्व स्थितिस्थानो की अपेक्षा से ही असख्यात गुणरूपता सम्भव है किन्तु एक अन्तराल के सर्व स्थितिस्थानो की अपेक्षा असख्यात गुणपना सम्भव नही है ।

- बिट्ठाणे—द्विस्थान गत- मे, जवमज्झा—यवमध्य से, हेट्ठा—नीचे, एगत—एकान्त साकारोपयोगयोग्य, मीसगाण—मिश्र, उवरिं—ऊपर, एव—इस प्रकार, तिचउट्ठाणे—त्रिस्थानिक, चतु स्थानिक मे जवमज्झाओ—यवमध्य से, य—और, डायठिई—डायस्थिति मे ।

अतोकोडाकोडी—अन्त कोडाकोडी, सुभ—शुभ प्रकृतियो के, बिट्ठाण—द्विस्थानिक, जवमज्झाओ—यवमध्य से उवरिं—ऊपर, एगतगा—एकान्त साकारोपयोगयोग्य, विसिट्ठा—विशेषाधिक, सुभजिट्ठा—शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट, डायट्ठिइ—डायस्थिति, जेट्ठा—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार की प्रकृतियो का अनाकारप्रायोग्य द्विस्थानिक रस ही होता है और सर्वत्र अर्थात् द्वि, त्रि और चतु स्थानिक रस साकारोपयोगयोग्य है । शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानिक रस के यवमध्य से नीचे स्थितिस्थान सबसे अल्प है और ऊपर सख्यात गुणे है । इसी प्रकार से त्रिस्थानिक रस के विषय मे नीचे और ऊपर जानना चाहिये । द्विस्थानिक के यवमध्य से नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थान सख्यात गुणे, मिश्रयोग्य सख्यात गुणे है । उससे ऊपर अर्थात् यवमध्य से ऊपर मिश्रयोग्य सख्यात गुण है । उससे आगे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानिक रस मे यवमध्य मे नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे यवमध्य से नीचे मिश्रस्थान सख्यात गुणे है । उससे यवमध्य के ऊपर मिश्र-स्थान सख्यात गुणे है । उससे ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । इसी प्रकार त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक में यवमध्य से ऊपर और नीचे तथा 'डायस्थिति' और त्रिस्थानिक यवमध्य से नीचे और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से सख्यात गुणे है । इसी प्रकार चतु स्थानिक यवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे चतु स्थानिक यवमध्य से ऊपर की डायस्थिति सख्यात गुणी है। उससे अन्त-कोडाकोडी सख्यात गुणी है । उससे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानिक यवमध्य से ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है । उससे डायस्थिति विशेषाधिक है । उससे उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है ।

विशेषार्थ—'अणगारे त्ति'—दोनो ही प्रकार की अर्थात् परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियो का रस अनाकारप्रायोग्य है, यानी बध के प्रति अनाकारोपयोगयोग्य है । अर्थात् बध के आश्रयभूत तथाविध मद परिणामो के योग्य है । वह नियमत द्विस्थानगत रस ही है, अन्य नही है । यहा गाथागत 'तु' शब्द एवकार (निश्चय) के अर्थ मे है । कहा भी है 'तु स्याद् भेदेऽवधारणे'—अर्थात् तु शब्द भेद के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और अवधारण (निश्चय) के अर्थ मे भी । यहा निश्चय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । साकार' अर्थात् साकारोपयोग के योग्य यानी बध के आश्रयभूत तीव्र परिणामो के योग्य । वे परिणाम सर्वत्र अर्थात् द्विस्थानिक आदि मे भी पाये जाते है । इसका आशय

इसी प्रकार परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानगत रसबंधक और द्विस्थानगत रसबंधक जीव भी जानना चाहिये तथा अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो के द्विस्थानगत रसबंधक, त्रिस्थानगत रसबंधक और चतु स्थानगत रसबंधक कहना चाहिये ।

एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे और द्विगुणहानि के अन्तराल मे स्थितिस्थान पल्योपम के असख्यात वर्गमूल प्रमाण होते है। अर्थात् पल्योपम के असख्यात वर्गमूलो मे जितने समय होते है तावत् प्रमाण स्थितिस्थान होते है । नाना अतर अर्थात् नाना रूप द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि स्वरूप स्थान पल्योपम सम्बन्धी प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे जितने समय होते है, तावत् प्रमाण होते है। नाना द्विगुणवृद्धि और द्विगुणहानि वाले स्थान अल्प होते है तथा उनसे एक द्विगुणवृद्धि के अन्तराल मे और एक द्विगुणहानि के अन्तराल मे स्थितिस्थान असख्यात गुणित होते है ।[1]

रसयवमध्य से प्रकृतियो के स्थितिस्थानादिको का अल्पबहुत्व

अणगारप्पाउग्गा, बिट्ठाणगया उ दुविहपगडीण ।
सागारा सव्वत्थ वि, हिट्ठा थोवाणि जवमज्झा ॥९६॥
ठाणाणि चउट्ठाणा, सखेज्जगुणाणि उवरिमेवति ।
तिट्ठाणे बिट्ठाणे, सुभाणि एगतमीसाणि ॥९७॥
उवरिं मिस्साणि जहन्नगो सुभाणं तओ विसेसहिओ ।
होइऽसुभाण जहण्णो सखेज्जगुणाणि ठाणाणि ॥९८॥
बिट्ठाणे जवमज्झा हेट्ठा एगंत मीसगाणुवरिं ।
एवं तिचउट्ठाणे, जवमज्झाओ य डायठिई ॥९९॥
अंतो कोडाकोडी, सुभबिट्ठाण जवमज्झओ उवरिं ।
एगतगा विसिट्ठा, सुभजिट्ठा डायट्ठिइजेट्ठा ॥१००॥

शब्दार्थ—अणगारप्पाउग्गा—अनाकारोपयोगयोग्य, बिट्ठाणगया उ—द्विस्थानगत ही, दुविह पगडीण—दोनो प्रकार की प्रकृतियो के (परा० शुभाशुभ प्रकृतियो के), सागारा—साकारोपयोगयोग्य, सव्वत्थ वि—सर्वत्र भी, हिट्ठा—नीचे, थोवाणि—अल्प, जवमज्झा—यवमध्य से ।

ठाणाणि—स्थितिस्थान, चउट्ठाणा—चतु स्थानगत रस के, सखेज्जगुणाणि—सख्यात गुणे, उवरिं—ऊपर, एवति—इसी तरह, तिट्ठाणे—त्रिस्थानगत मे, बिट्ठाणे-द्विस्थानगत मे, सुभाणि—शुभ प्रकृतियों के, एगत—एकान्तयोग्य, मीसाणि—मिश्रयोग्य ।

उवरिं—ऊपर, मिस्साणि—मिश्रयोग्य, जहन्नगो—जघन्य स्थितिबध, सुभाण—शुभ प्रकृतियो के, तओ—उसमे, विसेसहिओ—विशेषाधिक, होइ—होते है, असुभाण—अशुभ प्रकृतियो के, जहण्णो—जघन्य, सखेज्जगुणाणि—सख्यात गुणे, ठाणाणि—स्थान ।

१ यहाँ सर्व अन्तरो मे रहे हुए सर्व स्थितिस्थानो की अपेक्षा से ही असख्यात गुणरूपता सम्भव है किन्तु एक अन्तराल के सर्व स्थितिस्थानो की अपेक्षा असख्यात गुणपना सम्भव नही है ।

बिट्ठाणे—द्विस्थान गत मे, **जवमज्झा**—यवमध्य से, **हेट्ठा**—नीचे, **एगंत**—एकान्त साकारोपयोगयोग्य, **मीसगाण**—मिश्र, **उवरिं**—ऊपर, **एव**—इस प्रकार, **तिचउट्ठाणे**—त्रिस्थानिक, चतुःस्थानिक में **जवमज्झाओ**—यवमध्य से, **य**—और, **डायठिई**—डायस्थिति मे ।

अंतोकोडाकोडी—अन्त कोडाकोडी, **सुभ**—शुभ प्रकृतियो के, **बिट्ठाण**—द्विस्थानिक, **जवमज्झाओ**—यवमध्य से, **उवरिं**—ऊपर, **एगतगा**—एकान्त साकारोपयोगयोग्य, **विसिट्ठा**—विशेषाधिक, **सुभजिट्ठा**—शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट, **डायट्ठिइ**—डायस्थिति, **जेट्ठा**—उत्कृष्ट ।

गाथार्थ—शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार की प्रकृतियो का अनाकारप्रायोग्य द्विस्थानिक रस ही होता है और सर्वत्र अर्थात् द्वि, त्रि और चतु स्थानिक रस साकारोपयोगयोग्य है । शुभ प्रकृतियो के चतुःस्थानिक रस के यवमध्य से नीचे स्थितिस्थान सबसे अल्प है और ऊपर सख्यात गुणे है । इसी प्रकार से त्रिस्थानिक रस के विषय मे नीचे और ऊपर जानना चाहिये । द्विस्थानिक के यवमध्य से नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थान सख्यात गुणे, मिश्रयोग्य सख्यात गुणे है । उससे ऊपर अर्थात् यवमध्य से ऊपर मिश्रयोग्य सख्यात गुण है । उससे आगे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणा है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है । उससे परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानिक रस मे यवमध्य मे नीचे एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे यवमध्य से नीचे मिश्रस्थान सख्यात गुणे है । उससे यवमध्य के ऊपर मिश्रस्थान सख्यात गुणे है । उससे ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । इसी प्रकार त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक मे यवमध्य से ऊपर और नीचे तथा 'डायस्थिति' और त्रिस्थानिक यवमध्य से नीचे और ऊपर के स्थितिस्थान अनुक्रम से सख्यात गुणे है । इसी प्रकार चतुःस्थानिक यवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे चतुःस्थानिक यवमध्य से ऊपर की डायस्थिति सख्यात गुणी है । उससे अन्त-कोडाकोडी सख्यात गुणी है । उससे परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानिक यवमध्य से ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणे है । उससे शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है । उससे डायस्थिति विशेषाधिक है । उससे उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक है ।

विशेषार्थ—'अणगारं त्ति'—दोनो ही प्रकार की अर्थात् परावर्तमान शुभ और अशुभ प्रकृतियो का रस अनाकारप्रायोग्य है, यानी बध के प्रति अनाकारोपयोगयोग्य है । अर्थात् बध के आश्रयभूत तथाविध मद परिणामो के योग्य है । वह नियमत द्विस्थानगत रस ही है, अन्य नही है । यहाँ गाथागत 'तु' शब्द एवकार (निश्चय) के अर्थ मे है । कहा भी है 'तु स्याद् भेदेऽवधारणे'—अर्थात् तु शब्द भेद के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और अवधारण (निश्चय) के अर्थ मे भी । यहाँ निश्चय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । साकार' अर्थात् साकारोपयोग के योग्य यानी बध के आश्रयभूत तीव्र परिणामो के योग्य । वे परिणाम सर्वत्र अर्थात् द्विस्थानिक आदि मे भी पाये जाते है । इसका आशय

यह है कि द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु:स्थानक रसबध के आश्रयभूत होने से साकारोपयोग-प्रायोग्य है ।[1]

अब सभी स्थितिस्थानो के अल्पबहुत्व का कथन करते हैं—

१ परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानक रसयवमध्य[2] से नीचे के स्थितिस्थान सबसे अल्प होते है ।

२ उनसे चतु स्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

३ उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के स्थितिस्थान त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे सख्यात गुणित होते हैं ।

४ उनसे भी त्रिस्थानक रसयवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।
इसी प्रकार सख्यात गुणित क्रम से नीचे और ऊपर त्रिस्थानक रस मे भी स्थितिस्थान कहना चाहिये—एव तिट्ठाणे त्ति ।

५ उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान जो एकान्त साकारोपयोग के योग्य है, वे सख्यात गुणित होते है ।

६ उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे और पाश्चात्य स्थानो से ऊपर जो स्थितिस्थान है, वे मिश्र अर्थात् साकार और अनाकार उपयोग के योग्य है और वे सख्यात गुणित होते है ।

७ उनसे भी द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर मिश्र स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

८ उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध सख्यात गुणित होता है ।

९ उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबध विशेषाधिक है ।

१० उससे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के ही द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे के जो स्थिति-स्थान है, वे एकान्त साकारोपयोग के योग्य है और सख्यात गुणित होते है ।

११ उससे उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य से नीचे और पाश्चात्य स्थानो से ऊपर मिश्र स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

---

१ उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि चतु स्थानक और त्रिस्थानक रस तो साकारोपयोगप्रायोग्य ही हैं और द्विस्थानक रस अनाकार-साकार—उपयोग उभयप्रायोग्य है ।

२ चतु स्थानप्रायोग्य प्रथम स्थिति से सैकडो सागरोपम तक प्रत्येक स्थितिस्थान मे चतु स्थानक रसबधक जीव विशेषाधिक-विशेषाधिक और वहाँ से आगे सैकडो सागरोपम तक विशेषहीन, हीनतर रूप से कहे है । उससे स्थितिस्थानो मे चतु स्थानक रसबधक जीवो की वृद्धि, हानि यवाकार हो जाती है, इसलिए वही यव यहाँ और अन्यत्र ग्रहण करना चाहिये ।

१२ उनसे भी उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य से ऊपर मिश्र-स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

१३ उनसे भी ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

१४ उनसे भी उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थिति-स्थान सख्यात गुणित होते है ।

१५ उनसे भी उन्ही परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक रसयवमध्य के ऊपर के स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

१६ उनसे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के ही चतु स्थानक रसयवमध्य से नीचे के स्थितिस्थान सख्यात गुणित है ।

१७ उनसे भी यवमध्य से ऊपर डायस्थिति[1] सख्यात गुणी होती है।

१८ उस डायस्थिति से भी अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति सख्यात गुणी होती है।

१९ उससे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसयवमध्य के ऊपर जो मिश्र स्थिति-स्थान है, उनके ऊपर एकान्त साकारोपयोगयोग्य स्थितिस्थान सख्यात गुणित होते है ।

२० उनसे भी परावर्तमान शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध विशेषाधिक होता है ।

२१ उससे भी अशुभ परावर्तमान प्रकृतियो की बद्ध डायस्थिति विशेषाधिक होती है । क्योकि जिस स्थितिस्थान से 'माडूकप्लुति न्याय' से अर्थात् मेढक के कूदने के समान दीर्घ (लबी) छलाग देकर जो स्थिति बाधी जाती है, यहाँ से लेकर वहाँ तक की वह स्थिति यहाँ पर

---

१ जिस स्थितिस्थान से अपवर्तनाकरण के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उतनी स्थिति को 'डायस्थिति' कहते है—'यत स्थितिस्थानादपवर्तनाकरणवशेनोत्कृष्टा स्थिति याति तावती स्थितिर्डायस्थितिरित्युच्यते।'—कर्मप्रकृति, आ मलयगिरि टीका । इसका आशय यह है कि उत्कृष्ट स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा अपवर्तित कर जो उत्कृष्ट स्थिति हो, वह अपवर्तना द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थिति कहलाती है । जैसे कि १०० समयात्मक उत्कृष्ट स्थिति को अपवर्तित करके ११ से ९० समय तक की तो, उसमे १०० समय की स्थिति को अपवर्तित करके ११ समयात्मक करना अपवर्तनाकरण द्वारा की गई जघन्य स्थिति और १२ से लेकर ८९ समयो तक में कोई भी स्थिति मध्यम स्थिति कहलायेगी और इसी १०० समय की स्थिति को ९० समयात्मक करना यह 'अपवर्तनाकरण द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की' कहा जायेगा । यहाँ विवक्षित यवमध्य से ऊपर के स्थितिस्थानो में जो उत्कृष्ट स्थिति थी, उसका ग्रहण करना चाहिये, किन्तु समग्र का ग्रहण नही करना चाहिये, क्योकि समग्र से तो किंचिदून कर्मस्थिति प्रमाण अतर पडकर अन्त कोडाकोडी सागर जितनी होती है । जिससे अतर बडा हो जाता है और यहाँ तो लघु अतर ग्रहण करना है । जैसे कि १०० समयात्मक उत्कृष्ट स्थिति की अपवर्तना द्वारा ९० समयात्मक जो उत्कृष्ट स्थिति की, जिसमें ९१ से १०० तक की १० स्थितिया अपवर्तना द्वारा की गई उत्कृष्ट स्थिति की डायस्थिति की कहलायेंगी ।

बद्धडायस्थिति कही गई है। वह उत्कर्ष से अन्त कोडीकोडी सागरोपम से हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण जानना चाहिये। वह इस प्रकार—अन्त कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थितिबंध को करके पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट स्थिति को बाधता है, अन्यथा नही।

२२ उस बद्धडायस्थिति से परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध विशेषाधिक होता है।

उक्त विवेचन को सरलता से समझने के लिये प्रकृतियो के स्थितिस्थानादिको के अल्पबहुत्व का प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	प्रकृतियो का	रसयवमध्य से	नीचे के या ऊपर के	स्थितिस्थानादिको का	अल्पबहुत्व
१	शुभ परावर्तमान	चतु स्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	अल्प
२	"	"	ऊपर के	"	सख्यात गुण
३	"	त्रिस्थानक	नीचे के	"	"
४	"	"	ऊपर के	"	"
५	"	द्विस्थानक	नीचे के	साकार० स्थितिस्थान	"
६	"	"	"	मिश्र "	"
७	"	"	ऊपर के	मिश्र "	"
८	"	—	—	जघन्य स्थिति	"
९	अशुभ परावर्तमान	—	—	"	विशेषाधिक
१०	"	द्विस्थानक	नीचे के	साकार० स्थितिस्थान	सख्यात गुण
११	"	"	"	मिश्र "	"
१२	"	"	ऊपर के	" "	"
१३	"	"	"	साकार० "	"
१४	"	त्रिस्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	"
१५	"	"	ऊपर के	"	"

क्रम	प्रकृतियो का	ग्मयव मध्य से	नीचे के या ऊपर के	स्थितिस्थानादिको का	अल्पबहुत्व
१६	अशुभ परावर्तमान	चतु स्थानक	नीचे के	स्थितिस्थान	सख्यातगुण
१७	"	"	"	डायस्थित (अप)	"
१८	—	—	—	अन्त कोडाकोडी सागर के समय	" "
१९	शुभ परावर्तमान	द्विस्थानक	उपर्युपरि	साकार० स्थितिस्थान	"
२०	"	—	—	उत्कृष्ट स्थिति	"
२१	अशुभ परावर्तमान	—	—	बद्धडायस्थिति	विशेषाधिक
२२	"	—	—	उत्कृष्ट स्थिति	"

रसबध में जीवों का अल्पबहुत्व

अब पूर्वोक्त रसबध मे जीवो का अल्पबहुत्व बतलाते है—

संखेज्जगुणा जीवा, कमसो एएसु दुविहपगईणं ।
असुभाणं तिट्ठाणे सव्वुवरि विसेसओ अहिया ।।१०१।।

शब्दार्थ—सखेज्जगुणा–सख्यात गुण, जीवा–जीव, कमसो–अनुक्रम से, एएसु–इन रसस्थानो मे दुविहपगईण–दोनो प्रकार की प्रकृतियो का, असुभाण–अशुभ प्रकृतियो का, तिट्ठाणे–त्रिस्थानिक मे, सव्वुवरि–सबसे ऊपर, विसेसओ–विशेष से, अहिया–अधिक ।

गाथार्थ—दोनो प्रकार (शुभ और अशुभ) की प्रकृतियो के इन रसस्थानको मे जीव क्रम से सख्यात गुणित होते हैं। किन्तु सबसे ऊपर अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक में जीव विशेषाधिक होते है ।

विशेषार्थ—परावर्तमान शुभ प्रकृतियो के चतु स्थानक रसबधक जीव सबसे कम होते है। उनसे त्रिस्थानक रसबधक जीव सख्यात गुणित होते है । उनसे भी द्विस्थानक रसबधक जीव सख्यात गुणित होते है । उनसे भी परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो के द्विस्थानक रसबधक जीव सख्यात गुणित होते है । उनसे भी चतु स्थानक रसबंधक जीव सख्यात गुणित होते है । उनसे भी त्रिस्थानक रसबधक जीव विशेषाधिक होते है । जैसा कि गाथा मे कहा है—'असुभाण ' इत्यादि । अर्थात् अशुभ प्रकृतियो के त्रिस्थानक रस के बधक जीव सबसे ऊपर विशेषाधिक कहना चाहिये ।

सरलता से समझने के लिये इस कथन का स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप में किया जाता है—

क्रम	परावर्तमान शुभ प्रकृति के	प्रमाण	क्रम	परावर्तमान अशुभ प्रकृति के	प्रमाण
१	चतु स्थानक रसबधक जीव	अल्प, उनसे	४	द्विस्थानक रसबधक	सख्यात गुण उनसे
२	त्रिस्थानक रसबधक जीव	सख्यात गुण ,,	५	चतु स्थानक रसबधक	,, ,, ,,
३	द्विस्थानक रसबधक जीव	,, ,, ,,	६	त्रिस्थानक रसबधक	विशेपाधिक ,,

इस प्रकार से बधनकरण का समग्र विचार करने के पश्चात उपसहार करते हुए कहते हैं—

एवं बंधणकरणं, परूविए सह हि बधसयगेणं ।
बंधविहाणाहिगमो, सुहमभिगंतु लहुं होइ ॥१०२॥

शब्दार्थ—**एवं**–इस प्रकार से, **बधणकरणे**–बंधनकरण की, **परूविए**–प्ररूपणा करने पर, **सह**–साथ, **हि**–निश्चितरूप, **बधसयगेण**–बधशतक के साथ, **बधविहाण**–बध का विधान, **अहिगमो**–अवबोध, ज्ञान, **सुहमभिगतु**–सुखपूर्वक (सरलता से) जानने के इच्छुक को । **लहु**–शीघ्र, **होइ**–होता है ।

गाथार्थ—इस प्रकार से बधशतक के साथ बधनकरण की प्ररूपणा करने पर सरलता से जानने के इच्छुक को बधविधान का ज्ञान सुखपूर्वक शीघ्र प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से इस बधनकरण की बधशतक नामक ग्रथ के साथ प्ररूपणा करने पर (इस कथन के द्वारा ग्रथकार ने बधशतक और इस कर्मप्रकृति, इन दोनो ग्रथो का एक कर्तृत्व प्रगट किया है, ऐसा जानना चाहिये) बधविधान जो पूर्वगत है, उसको सरलतापूर्वक जानने के इच्छुक भव्य जीव को बधविधान का ज्ञान शीघ्र हो जाता है ।

इस प्रकार बधनकरण का विवेचन समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट

१. नोकषायों में कषायसहचारिता का कारण

सामान्यापेक्षा हास्यादि नव नोकषायें अनन्तानुबधीक्रोधादि सज्वलनलोभ पर्यन्त सोलह कषायो की मुख्य-गौण भाव से सहायक अर्थात् उत्तेजक (उद्दीपक) होने से कषाय कहलाती है। क्योकि सामान्यरूप से छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक सज्वलनकषायचतुष्क के उदय की मुख्यता रहती है। अत उस अवस्था मे भी उन गुणस्थानो तक नोकषायमोहनीय सज्वलनचतुष्क को भी कुछ उत्तेजना देने वाली बन सकती है। इस दृष्टिभेदापेक्षा सामान्यरूप से सभी कषायो के साथ रहने वाली और उनको प्रेरणा देने वाली होने से इन नोकषायो मे कषायरूपता कही गई है। नोकषायो को कषायरूप प्राप्त करने मे कषायो का सहकार आवश्यक है और उनके ससर्ग से ही नोकषायो की अभिव्यक्ति होती है। वैसे वे निष्क्रिय-सी है। केवल नोकषाय प्रधान नही है।

नोकषायो मे कषाय व्यपदेश करने की उक्त सामान्य दृष्टि समझ लेने के बाद अब विशेषापेक्षा उनको अनन्तानुबधी क्रोध आदि बारह कषायो के साथ सहचारी मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

विशेषापेक्षा नव नोकषायो का अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) रूप बारह कषायो के साथ साहचर्य मानने का कारण यह है कि चौथे, पाचवे, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती जो मनुष्य आगे चलकर क्षपकश्रेणि आरभ करने की स्थिति मे होते है, वे सबसे पहले क्षपकश्रेणि की तैयारी के लिये अनन्तानुबधीचतुष्क का एक साथ क्षय करते हैं और उसके शेष अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व मे स्थापन करके मिथ्यात्व और उस शेष अश का एक साथ नाश करते हैं। उसके बाद इसी प्रकार क्रमश सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते है। जब सम्यगमिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है, तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण खड कर-करके खपाते है। जब उसके अतिम स्थितिखड को खपाते हैं, तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण काल मे यदि कोई जीव मरता है तो वह चारो गतियो मे से किसी भी गति मे उत्पन्न हो सकता है। यदि क्षपकश्रेणि का प्रारम्भक बद्धायु जीव है तो अनन्तानुबधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण होना सभव है। उस अवस्था मे मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुन अनन्तानुबधी का बध करता है। क्योकि मिथ्यात्व के उदय मे अनन्तानुबधी नियम से बधती है। किन्तु मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर पुन अनन्तानुबधी के बध का भय नही रहता है। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नही करता तो अनन्तानुबधी कषाय और दर्शनमोह का क्षय करने के बाद वही ठहर जाता है। चारित्रमोह के क्षपण का प्रयत्न नही करता है।

यह बात तो हुई बद्धायु क्षपकश्रेणि के प्रारम्भक की। किन्तु यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। यह अबद्धायु मनुष्य चौथे आदि चार गुणस्थानो मे से किसी एक मे अनन्तानुबधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय कर देता है और उसके बाद चारित्रमोहनीय के क्षय के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीनो करणो को करता है।

अपूर्वकरण के प्रसग मे स्थितिघात वगैरह के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठ प्रकृतियो का इस तरह क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय मे उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग बीत जाने पर स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, इन सोलह प्रकृतियो की स्थिति उद्‌वलना सक्रमण के द्वारा उद्‌वलना होने पर पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। उसके बाद गुण-सक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियो मे उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय का प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है, किन्तु अभी तक

वह क्षीण नही होती हैं कि अन्तराल मे पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियो का क्षपण किया जाता है । उनके क्षय के पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायो का भी अन्तर्मुहूर्त मे ही क्षय कर दिया जाता है।

उसके पश्चात् नव नोकषायो और चार सज्वलन कषायो मे अन्तरकरण करता है। फिर क्रमश नपुसक-वेद, स्त्रीवेद और हास्यादि छह नोकषायो का क्षपण करता है । उसके बाद पुरुषवेद के तीन खड करके दो खडो का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खड को सज्वलन क्रोध मे मिला देता है । यह क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढने वाले के लिये है । यदि स्त्री श्रेणि आरोहण करती है तो पहले नपुसकवेद का क्षपण करती है । उसके बाद क्रमश पुरुषवेद, छह नोकषाय और स्त्रीवेद का क्षपण करती है और यदि कृतनपुसक श्रेणि आरोहण करता है तो उसके बाद क्रमश पुरुषवेद, छह नोकषाय और नपुसकवेद का क्षपण अन्त मे होता है। वेद का क्षपण होने के बाद सज्वलनचतुष्क का उक्त प्रकार से क्षपण करता है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अबद्धायुष्क क्षपक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यावरण कषायो का क्षय होते ही सज्वलनकषायचतुष्क का क्षय प्रारम्भ करने के पूर्व वेदत्रिक और हास्यादि छह नोकषायो का क्षपण करता है । नोकषायो की सत्ता तभी तक रहती है, जब तक आदि की बारह कषायें क्षय नही होती हैं। इसीलिये नव नोकषायो का साहचर्य आदि की बारह कषायो के साथ बतलाया है।

२ संहनन के दर्शक चित्र
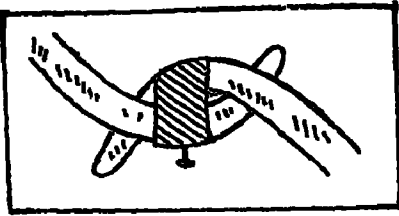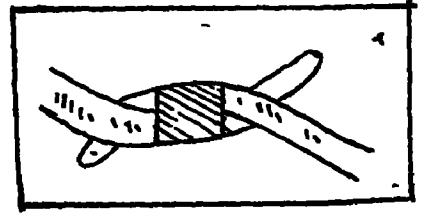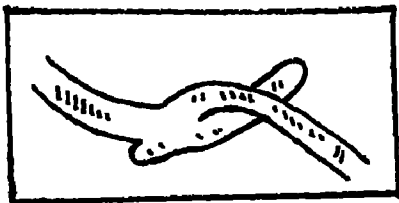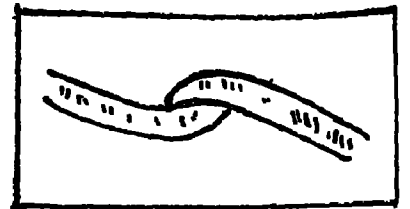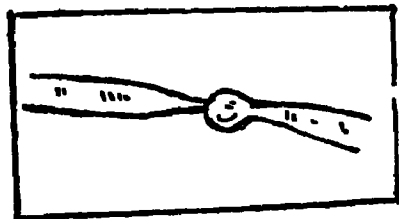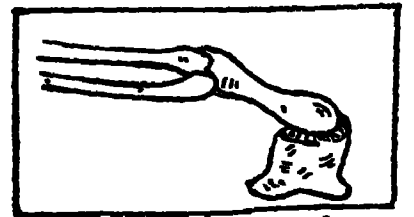
३. बादर और सूक्ष्म नामकर्म का स्पष्टीकरण

जिसे आखें देख सकें, इतना ही बादर का अर्थ नही है। क्योकि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आखो से नही देखा जा सकता है। किन्तु बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि जीवो के शरीरसमुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट करता है, उससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते है।

यद्यपि बादर नामकर्म जीवविपाकिनी प्रकृति है, किन्तु यह प्रकृति शरीर के पुद्गलो के माध्यम से जीव मे बादर परिणाम को उत्पन्न करती है। जिससे वे दृष्टिगोचर होते है और जिन्हे इस कर्म का उदय नही होता, ऐसे सूक्ष्मजीव समुदाय मे एकत्रित हो जायें, तो भी वे दृष्टिगोचर नही होते है।

बादर नामकर्म को जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्गलो के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का कारण यह है कि जीवविपाकिनी प्रकृति का शरीर मे प्रभाव दिखाना विरुद्ध नही है। जैसे क्रोध जीवविपाकिनी प्रकृति है, लेकिन उसका उद्रेक भौंहो का टेढा होना, आखो का लाल होना, ओठो की फडफडाहट इत्यादि परिणामो द्वारा प्रगट रूप मे दिखाई देता है। साराश यह है कि कर्म की शक्ति विचित्र है, इसलिये बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीरसमुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते है।

४. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म का स्पष्टीकरण

जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करने और उनका आहार-निहार और शरीर आदि के रूप मे बदल देने का कार्य होता है। अर्थात् पुद्गलो के उपचय से जीव की पुद्गलो को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते है।

इहभव सम्बन्धी शरीर का त्याग करने के बाद परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिये जीव उत्पत्ति-स्थान मे पहुचकर कार्मणशरीर द्वारा जिन पुद्गलो को प्रथम समय मे ग्रहण करता है, उनके आहारपर्याप्ति आदि रूप छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहो पर्याप्तियो का बनना प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् प्रथम समय मे ग्रहण किये हुए पुद्गलो के छह भागो मे से एक-एक भाग लेकर प्रत्येक पर्याप्ति का बनना प्रारभ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमश होती है।

इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे छह सूत कातने वाली स्त्रियो ने एक साथ रूई कातना प्रारम्भ किया, किन्तु उनमे से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और बारीक कातने वाली देर मे पूरा करती है। इसी प्रकार पर्याप्तियो का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु पूर्णता अनुक्रम से होती है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरो मे पर्याप्तिया होती है। इनमे इनकी पूर्णता का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये—

औदारिक शरीरवाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण करता है और इसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे दूसरी, इसके बाद तीसरी। इसी प्रकार क्रमश अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त के बाद चौथी, पाचवी, छठी पर्याप्ति पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण कर लेते है और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त मे दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी, चौथी, पाचवी और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से

एक-एक समय मे पूरी करते है, किन्तु देव पाचवी और छठी—इन दोनो पर्याप्तियो को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय मे पूरी कर लेते हैं।

पर्याप्तियो के नाम इसप्रकार हैं—

१ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनपर्याप्ति ।

उक्त छहो पर्याप्तियो मे अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीव के आदि की चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय के उक्त आहार आदि पर्याप्तिया के साथ भाषापर्याप्ति के मिलाने से पाच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के आहारादि मन पर्यन्त छह पर्याप्तिया होती है।

पर्याप्त जीवो के दो भेद होते है—लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त । जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नही, वे लब्धि-पर्याप्त है और करण-पर्याप्त के दो अर्थ है। पहला—करण का अर्थ है इन्द्रिया, तब जिन जीवो ने इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करणपर्याप्त है। क्योकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये विना इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नही हो सकती है, इसलिये तीनो पर्याप्तिया ली गई हैं। दूसरा—जिन जीवो ने अपने-अपने योग्य पर्याप्तिया पूर्ण कर ली है, वे करणपर्याप्त है।

अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो के निर्माण करने मे समर्थ नही होता है।

पर्याप्त की तरह अपर्याप्त जीवो के भी दो भेद है—*लब्ध्यपर्याप्त और करणापर्याप्त।* जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मरते है वे *लब्ध्यपर्याप्त* है, किन्तु आगे की पर्याप्ति पूर्ण करने वाले है, उन्हें करणापर्याप्त कहते है। लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियो को पूर्ण करके ही मरा करते है, पहले नही। क्योकि आगामी भव की आयु का बध करके ही सब जीव मरा करते है और आयु का बध उन्ही जीवो को होता है, जिन्होने आहार, शरीर और इन्द्रिय—ये तीन पर्याप्तिया पूर्ण कर ली हैं।

५. प्रत्येक-साधारण नामकर्म विषयक ज्ञातव्य

जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) शरीर उत्पन्न होता है, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते है। अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय से रचा गया जो शरीर, जिसके निमित्त से एक आत्मा के उपभोग का कारण होता है, यानी एक-एक शरीर एक-एक आत्मा का आश्रयस्थान होता है, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं और बहुत-सी आत्माओ के उपभोग हेतु शरीर जिसके निमित्त से होता है, वह साधारण नामकर्म है।

इन साधारण शरीरधारी अनन्त जीवो के जीवन-मरण, आहार, श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते है। अर्थात् साधारण जीवो की साधारण आहार आदि चार पर्याप्तिया और साधारण ही जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि होते है। जब एक की आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपान पर्याप्ति पूर्ण होती है, उसी समय उस शरीर मे रहने वाले अनन्त जीवो की भी हो जाती है। जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता, आहार ग्रहण करता या अग्नि, विष से उपहृत होता है तो उसी समय शेष अनन्त जीवो के भी श्वासोच्छ्वास, आहार, उपघात आदि होते हैं। इस प्रकार साधारण जीवो के आहारादि का ग्रहण, जीवन-मरण आदि कार्य सदृश—समान काल मे होते हैं। लेकिन प्रत्येक जीवो के आहारादिक का एक-दूसरे के साथ बधन नही है और उनका अपना-अपना काल-समय है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवो के तो प्रत्येक नामकर्म का उदय होने से उनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है और एकेन्द्रिय जीवो मे भी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवो के

प्रत्येक नामकर्म का उदय होने से अलग-अलग शरीर होते है। लेकिन वनस्पतिकायिक जीवो मे प्रत्येक और साधारण नामकर्म दोनो का उदय पाया जाता है। अर्थात् वनस्पतिकायिक जीव साधारण और प्रत्येक शरीरधारी दोनो प्रकार के होते है। प्रत्येकशरीरधारी वनस्पति बादर होती है।

प्रत्येक और साधारण वनस्पतियो की पहिचान के कुछ उपाय ये है—

जिन वनस्पतियो की शिरा, सधि, पर्व अप्रकट हो, मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल, टहनी, पत्र, फूल तथा बीजो को तोडने से समान भग हो जाते हो और कद, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो, उसको साधारण और इससे विपरीत को प्रत्येक वनस्पति जानना चाहिये।

किसी वृक्ष की जड साधारण होती है, किसी का स्कन्ध साधारण होता है, किसी के पत्ते साधारण होते है, किसी के पर्व (गाठ) का दूध अथवा किसी के फल साधारण होते है। इनमे से किसी के तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते है और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते है। मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द साधारण है।

६ सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद को शुभप्रकृति मानने का अभिमत

इन चारो प्रकृतियो को शुभ मानने के बारे मे यह आशय माना जा सकता है कि ये चारो प्रकृतिया पुण्यबध की हेतुभूत भी हैं। अत कारण मे कार्य का उपचार करके इन चारो को पुण्यप्रकृति के नाम से सम्बोधित किया गया है, यह भी सगत लगता है।

यद्यपि सम्यक्त्वमोहनीय मोहकर्म की प्रकृति है। लेकिन ये प्रकृति नम्बर वाले चश्मे की तरह है। सम्यक्त्व श्रद्धान मे बाधक नही है, बल्कि साधक है। यद्यपि नम्बर वाला चश्मा भी आवारक है, किन्तु अन्य आवारक तत्त्वो की तरह आवारक नही है, बल्कि ये नेत्र की रोशनी को प्रोज्ज्वलित करने मे निमित्तभूत भी बनता है। इसी प्रकार की स्थिति सम्यक्त्वमोहनीयकर्म की मानी जा सकती है। हाँ, क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा भले ही आवारक माना जाये, परन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की दृष्टि मे सहायक है और आत्मा को ऊर्ध्वमुखी करने मे बहुत दूर तक इसका योगदान रहा हुआ है।

इसकी (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की) उपलब्धि होने पर वीतराग देव प्ररूपित तत्त्वो की जानकारी से मनुष्य स्वाभाविक रूप से सात्विक हास्य को प्राप्त होता है। अधकार मे भटकते हुए मनुष्य को प्रकाश मिलने पर हर्ष की भी प्राप्ति होती है। यह हर्ष मोह का भेद होते हुए भी बाधक नही होता है और पुण्य का हेतु भी बनता है।

जब व्यक्ति को सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की श्रद्धा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वभाव से उपलब्ध होती है, उसी समय देव, गुरु, धर्म के प्रति आत्मा मे अनुरक्ति पैदा होती है। यह अनुरक्ति भी प्रशस्त रति का रूप कहा जा सकता है। प्रशस्त राग से आत्मा को-वीतराग देव के मार्ग पर अनुगमन करने का उत्साह उत्पन्न होता है। परिणाम-स्वरूप देशव्रतो, महाव्रतो को अगीकार करता हुआ ऊपर के गुणस्थानो मे आरोहण करता है। सज्वलनचतुष्क कषाय छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक रही हुई अवश्य है, परन्तु इस कषाय की उपस्थिति अप्रमत्त आदि गुणस्थानो मे आत्मा को बढने मे किसी प्रकार की बाधा पैदा नही करती है। बल्कि अष्टम गुणस्थान मे उपशम, क्षपक श्रेणि की गति से नवम् एव दशम् गुणस्थान तक आत्मा पहुँच जाती है। वैसे ही प्रशस्त राग यानि सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के प्रति जो राग है वह आत्मा को पवित्रता की ओर मोडने वाला है। इसीलिए श्रावको के कई विशेषणो का उल्लेख करते हुए भगवती सूत्र मे एक विशेषण ये भी आया है–अट्ठिमिज्जापेमाणु-रागरत्ता–(उनकी हड्डिया और मज्जा धर्मप्रेमराग से अनुरक्त थी)। यही प्रशस्त रति की स्थिति है।

रति के दो भेद किये जा सकते है—१ अधोमुखीरति, जिसमे पुत्र, स्त्री, परिजन, सम्पत्ति आदि के प्रति आसक्ति रूप रति रहती है। यह आत्मा को अधोगति मे ले जाने वाली है और २ ऊर्ध्वमुखीरति, जो आध्यात्मिक धरातल पर गुरुजनो के साथ प्रशस्तराग रूप रति है, वह प्रशस्त कहलाती हे और पुण्य बध का कारण भी बनती है। जैसे कि वैमानिक देवायु के बध के लिये बताया हे—

सरागसयमासयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२०

पुरुषवेद ये आपेक्षिक दृष्टि से मोह की हलकी अवस्था है। शास्त्रकारो ने वेद की दृष्टि से पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद को क्रमश तृणाग्नि, करीषाग्नि, दवदाह—यह तीन प्रकार की उपमा देकर ध्वनित किया है कि तृणाग्नि के तुल्य रूप की प्रधानता से पुरुषवेद का प्रसग आता है और ये पुरुषवेद मोह की स्वल्पता की अवस्था मे माना गया है। तीव्र मोह की अपेक्षा मन्द मोह की स्थिति मे शुभ परिणाम का भाव भी आ सकता है और शुभ परिणाम पुण्य के हेतु है—

शुभ॰ पुण्यस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/३

इसका बध नौवे गुणस्थान तक चलता है। जबकि स्त्रीवेद और नपुसकवेद का आदि के दो गुणस्थानो तक बध होता है। इसके अतिरिक्त एक कारण ये भी रहा हुआ कि ठाणाग सूत्र के १०वे ठाणे मे "पुरुषाजेष्ठ" यह पद आत्मा के साथ सयुक्त हुआ है। जिसका अर्थ यह है कि पुरुष ज्येष्ठ, बड़ा माना गया है। इससे यह फलित होता है कि मोह का जितना हलकापन होगा, उतना ही ऊर्ध्वगमन बनेगा। इसलिये वह भी पुण्य का हेतु सिद्ध होता है।

विशुद्ध अध्यवसाय और मोह की अल्पता के कारण अनिवृत्तिबादरगुणस्थान मे पुरुषवेद मे एकस्थानक तक रसबध भी सभव है।

इस दृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे इन चार प्रकृतियो को पूर्वाचार्यो ने पुण्यप्रकृति के रूप मे गिनाया है, यह सभव लगता है। विद्वज्जन चिन्तन की गहन दृष्टि से चिन्तन करें, यह अपेक्षा है।

७. कर्मों के रसविपाक का स्पष्टीकरण

बध को प्राप्त कर्मपुद्गलो मे फल देने की शक्ति को रस कहते ह। अत रस (फलदान शक्ति) की दृष्टि से कर्मों के विपाक (उदय) का विचार करने अर्थात् कर्मप्रकृतियो की फलदान शक्ति की योग्यता, क्षमता बतलाने को रसविपाक कहते है। आशय यह है कि जीव के साथ बधन से पूर्व कर्म परमाणुओ मे किसी प्रकार का विशिष्ट रस नही रहता है, उस समय वे नीरस और एक रूप (कार्मणवर्गणा रूप) रहते हैं। किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते है, तब ग्रहण करने के समय मे ही जीव के कषाय रूप परिणामो का निमित्त पाकर उनमे अनन्तगुण रस पड जाता है। जो जीव के गुणो का घात करता है। जैसे सूखी घास नीरस होती है, किन्तु ऊटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट मे जाकर वह दूध आदि रस मे परिणत होती है तथा उनके रसो मे चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। अर्थात् उस सूखी घास को खाकर ऊटनी खूब गाढा दूध देती है और उसमे चिकनाई बहुत अधिक रहती है। भैंस के दूध मे उससे कम गाढापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध मे उससे भी कम गाढापन और, चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकार की घास आदि भिन्न-भिन्न पशुओ के पेट मे जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होती है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्मपरमाणु भिन्न-भिन्न जीवो के भिन्न-भिन्न रस वाले हो जाते है और उदय काल मे अपने फल का वेदन कराते हैं।

जैसे ऊटनी के दूध मे अधिक शक्ति होती है और बकरी के दूध मे कम, उसी तरह शुभ और अशुभ दोनो प्रकार की प्रकृतियो का रस तीव्र भी होता है और मद भी होता है। सक्लेश परिणामो से अशुभ प्रकृतियो मे तीव्र रसबध होता है और विशुद्ध भावो से शुभ प्रकृतियो मे तीव्र रसबध होता है तथा इसके विपरीत भावो से उनमे मद रसबध होता है। अर्थात् विशुद्ध भावो से अशुभ प्रकृतियो मे और सक्लेश भावो से शुभ प्रकृतियो मे मद रसबध होता है।

अशुभ प्रकृतियो के रस को नीम आदि वनस्पतियो के कटुक रस की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे नीम का रस कटुक होता है, उसी तरह अशुभ प्रकृतिया अशुभ ही फल देती है तथा शुभ प्रकृतियो के रस को ईख के रस की उपमा दी जाती है। अर्थात् जैसे ईख का रस मीठा और स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार शुभ प्रकृतियो का रस सुखदायक होता है।

इन दोनो ही प्रकार की प्रकृतियो के तीव्र और मद रस की चार-चार अवस्थायें होती है। जैसे नीम से तुरन्त निकला हुआ रस स्वभाव से कटुक होता है। उस रस को अग्नि पर पकाने से जब सेर का आधा सेर रह जाता है तो कटुकतर हो जाता है, सेर का तिहाई रहने पर कटुकतम और सेर का पाव भर रहने पर अत्यन्त कटुक हो जाता है। इसी प्रकार ईख के पेरने से जो रस निकलता है वह स्वभाव से मधुर होता है। उस रस को आग पर पकाने से जब सेर का आधा सेर रह जाता है तो मधुरतर हो जाता है, सेर का तिहाई रहने पर मधुरतम हो जाता है और सेर का पाव रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। उसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियो का तीव्र रस भी चार प्रकार का जानना चाहिये—तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। मद रस की चार अवस्थायें इसी प्रकार है—जैसे उस कटुक या मधुर रस मे एक चुल्लू पानी डाल देने से वह मद हो जाता है, एक गिलास पानी डाल देने से मदतर हो जाता है, एक लोटा पानी डाल देने से मदतम हो जाता है और एक घडा पानी डालने से अत्यन्त मद हो जाता है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ प्रकृतियो का रस भी मद, मदतर, मदतम और अत्यन्त मद—इस तरह चार प्रकार का होता है। इन चारो प्रकारो को क्रमश एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु -स्थानक कहा जाता है। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है कि—

नीम और ईख को पेरने पर उनमे से जो स्वाभाविक रस निकलता है, वह स्वभाव से ही कडवा और मीठा होता है। उस कडवाहट और मीठेपन को एकस्थानक रस समझना चाहिये। नीम और ईख का एक-एक सेर रस लेकर पकाने पर जो आधा सेर रस रह जाता है, उसे द्विस्थानक रस समझना चाहिये। क्योकि पहले के स्वाभाविक रस से उस पके हुए रस मे दूनी कडवाहट या दूनी मधुरता हो जाती है। वही रस पक कर जब एक सेर का तिहाई शेष रह जाता है तो उसे त्रिस्थानक रस समझना चाहिये। क्योकि उसमे पहले स्वाभाविक रस से तिगुनी कडवाहट और तिगुना मीठापन पाया जाता है तथा वही रस जब सेर का पाव सेर शेष रह जाता है तो उसे चतु स्थानक रस समझना चाहिये। क्योकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमे चौगुनी कडवाहट और चौगुना मीठापन पाया जाता है। ये एकस्थानक रस, द्विस्थानक रस आदि उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति वाले होते हैं।

८. गुणस्थानो में बंधयोग्य प्रकृतियो का विवरण

मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १२०

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ९, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २६, (५) आयु ४, (६) नाम ६७, (पिंड प्रकृतिया ३९, प्रत्येक प्रकृतियां ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=६७) (७) गोत्र २, (८) अतराय ५=१२०।

(१) मिथ्यात्व मूल ८

उत्तर ११७

तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक (आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग नामकर्म) का बध नही होता।

(२) सास्वादन मूल ८ उत्तर १०१

नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावरचतुष्क (स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम) हुड सस्थान, सेवार्तसहनन, आपतनाम, नपुसकवेद, मिथ्यात्व मोहनीय=१६ प्रकृतियो का बंधविच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के अत मे हो जाने से शेप १०१ का बध सम्भव है।

(३) मिश्र गुण० मूल ८ उत्तर ७४

तिर्यचत्रिक (तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दु स्वरनाम, अनादेयनाम), अनन्तानुबधीचतुष्क (अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ), मध्यम सस्थानचतुष्क (न्यग्रोधपरिमडल, वामन, सादि, कुब्ज), मध्यम सहननचतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका), नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद=२५ का बध दूसरे गुणस्थान तक होने व मिश्र गुणस्थान मे किसी आयु का बध सम्भव न होने से शेष दो आयु (मनुष्यायु, देवायु) को घटा देने से २७ प्रकृतिया कम होती है।

(४) अवि सम्यग्दृष्टि मूल ८ उत्तर ७७

मनुष्यायु, देवायु व तीर्थकरनाम का बध होने से मिश्र गुणस्थान की ७४ प्रकृतियो मे यह तीन जोडें=७७।

नोट—नरक व देव जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं, वे तो मनुष्यायु का और तिर्यंच व मनुष्य, देवायु का बध करते है।

(५) देशविरत मूल ८ उत्तर ६७

वज्रऋषभनाराचसहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्क (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ), औदारिकद्विक (औदारिकशरीर, औदारिक-अगोपाग), कुल १० प्रकृतियो का विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अत समय मे होने से शेष ६७ का बध सम्भव है।

(६) प्रमत्तविरत मूल ८ उत्तर ६३

प्रत्याख्यानावरणचतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) का बधविच्छेद पाचवें गुणस्थान के अत समय मे हो जाने से ६७–४=६३ प्रकृतियो का बध सम्भव है।

(७) अप्रमत्तविरत मूल ८/७ उत्तर ५९/५८

छठे गुणस्थान के अत मे अरति, शोक, अस्थिरनाम, अशुभनाम, अयश कीर्तिनाम, असातावेदनीय, इन छह प्रकृतियो का बधविच्छेद हो जाने से शेष रही ५६। (जो जीव छठे गुणस्थान मे देवायु का बध प्रारम्भ कर उस बध को वही समाप्त कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके ५६ प्रकृतियो व जो छठे गुणस्थान मे देवायु का बध कर सातवें मे समाप्त करता है, उसके ५६+१=५७ प्रकृतियो का बध रहता है तथा सातवें गुणस्थान मे आहारकशरीर, आहारक-अगोपाग का बध सम्भव होने से दो जोडने पर ५६+२=५८/५७+२=५९ प्रकृतियो का बध सम्भव है।

(८) अपूर्वकरण मूल ७ उत्तर ५८, ५६, २६

प्रथम भाग मे ५८ कर्मप्रकृतियो का बध सम्भव है।

नोट—

१ इस गुणस्थान मे देवायु के बध का प्रारम्भ व समाप्ति नही होती।

२ प्रथम भाग के अत मे निद्रा, प्रचला का विच्छेद हो जाता है अत ५८—२=५६

३ दूसरे भाग से छटे भाग तक यही ५६ का बध सम्भव है। छठे भाग के अत मे सुर-द्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), पचेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय), औदारिक शरीर को छोड शेष चार शरीर, औदारिक अगोपाग को छोड शेष दो अगोपाग, समचतुरस्रसस्थान, निर्माण, तीर्थंकर, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास), इन ३० प्रकृतियो का बधविच्छेद होता है। सातवे भाग मे ये नही रहती=२६

४ आठवें गुणस्थान के सातवे भाग के अत मे हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियो का विच्छेद हो जाने से २६—४=२२ प्रकृतियो का बध नौवें गुणस्थान मे सभव है।

(९) अनिवृत्तिबादर० मूल ७ उत्तर २२, २१, २०, १९, १८

इस गुणस्थान के प्रारम्भ मे २२ प्रकृतियो का बध,

१ पहले भाग के अत मे पुरुषवेद का विच्छेद=२१,

२ दूसरे भाग के अत मे सज्वलनक्रोध का विच्छेद=२०,

३ तीसरे भाग के अत मे सज्वलनमान का विच्छेद=१९,

४ चौथे भाग के अत मे सज्वलनमाया का विच्छेद=१८,

५ पाचवें भाग के अत समय मे लोभ का बध नही होता। अत दसवें गुणस्थान के प्रथम समय मे शेष १७ प्रकृतिया रहेगी।

(१०) सूक्ष्मसपराय मूल ६ उत्तर १७

दसवें गुणस्थान के अत समय मे—

दर्शनावरणीय ४

उच्चगोत्र १

ज्ञानावरणीय ५

अतराय ५

यश कीर्तिनाम १=१६ प्रकृतियो का बधविच्छेद हो जाता है, शेष १ प्रकृति रहती है।

(११) उपशातमोहनीय मूल १ उत्तर १

सातावेदनीय का बध होता है।

(स्थिति इसकी दो समय मात्र की होती है। योग निमित्त है।)

(१२) क्षीणमोहनीय मूल १ उत्तर १
सातावेदनीय
(योग निमित्त होने से स्थिति दो समय मात्र की।)

(१३) सयोगिकेवली मूल १ उत्तर १
बारहवे गुणस्थान की तरह।

(१४) अयोगिकेवली मूल ० उत्तर ०
अवन्धक दशा

सम्यक्त्वी के आयुबध का स्पष्टीकरण

जिस जीव ने आयुष्य बध करने के पश्चात् अनन्तानुबधीचतुष्क एव मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृतियो का क्षय कर दिया, वह आत्मा क्षायिक सम्यक्त्वी कहलाती है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् पुन जाता नही है, यह सिद्धान्त है। यदि नरक मे जाने का समय आता है, उस समय यदि कुछ समय के लिये सम्यक्त्व का नष्ट होना माना जाये तो नष्ट नही होने की जो सर्वमान्य परिभाषा है, वह सिद्धान्त की दृष्टि से विरुद्ध जाती है। अत पूर्वबद्धायुष्क क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाने के बाद मरण काल के समय सम्यक्त्व का वमन नही करता हुआ भी नरकगति मे जा सकता है ऐसा माना जायेगा, तभी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण सुरक्षित रहेगा और यह शक्य भी है। आयुष्य बध के समय मे जिस लेश्या का रहना आवश्यक है, वही लेश्या अंतिम मरण समय मे आ सकती है, पर वह लेश्या सम्यक्त्व को नष्ट कैसे कर सकती है? यदि कदाचित् यह सोचा जाये कि अनन्तानुबधी की विसयोजना होती है और उस अवस्था मे क्षायिक सम्यक्त्वी मानकर मरण के समय अनन्तानुबधी का पुन आ जाना माना जाये तो इसमे कई विसगतिया आयेगी। प्रथम तो यह है कि मिथ्यात्व अवस्था मे रहता हुआ जीव अनन्तानुबधी से सयुक्त रहता है, उस अवस्था मे अनन्तानुबधी की विसयोजना किस करण से करे और किस प्रकृति मे विसयोजना करे? क्योकि प्रथम गुणस्थान मे अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करने पर भी वह कर्मसिद्धान्तानुसार उपशम सम्यक्त्वी ही होता है और उपशम सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व के उदय की तैयारी मे अनन्तानुबधी का उदय होता है। इसलिये उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, पर क्षायिक सम्यक्त्व मे ऐसा नही माना जायेगा।

असत्कल्पना से कदाचित् मान लिया जाये कि क्षायिक सम्यक्त्व के पूर्व मे आयुष्य बाधकर अपूर्वकरणादि करके अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति करे और उसमे अनन्तानुबधी की विसयोजना मानी जाये और मरण के समय वह अनन्तानुबधी पुन आ गई और सम्यक्त्व क्षणमात्र को चला गया तो फिर नरक मे जाने के बाद वैसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति की विशुद्धि का क्या योग बन सकता है? यदि बन सकता है तो फिर यह भी मानना होगा कि नरक मे भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे अतर क्या होगा? दोनो की फलित अवस्था एक-सी हो जायेगी। अत इस प्रकार की विसगतियो को ध्यान मे रखते हुए बुद्धिमान पाठको को चिन्तन करना अपेक्षित है।

कुछ ऐसा उल्लेख भी देखने मे आता है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यच, वैमानिक देवो का आयुष्य बाधते है, अन्य देवो और मनुष्य, तिर्यचो का नही बाधते हैं। लेकिन देव और नारक, मनुष्य व तिर्यंच का आयुष्य बाध सकते हैं। इस प्रकार की विचारणा चिंतन की अपेक्षा रखती है। क्योकि यह मान्यता सिद्धान्त, कर्मप्रकृति, तत्त्वार्थसूत्र से विपरीत जाती है। अत पाठको को निम्न-विषय पर गभीरता से चिन्तन करना चाहिये।

सबसे पहले सैद्धान्तिक दृष्टि से विरोध कैसे आता है, इसको स्पष्ट करते है—

भगवतीसूत्र शतक ३०, उद्देश १ मे लिखा है कि सम्यग्दृष्टि क्रियावादी जीव नैरयिक, तिर्यंच आयु का बध नही करते है, वे मनुष्य और देवायु का बध करते है। इसका कुछ व्यक्तियो ने अर्थ लगाया है कि नरक व देवगति मे रहने वाला जीव मनुष्य और तिर्यंच की आयु बाधते है, किन्तु मनुष्य व तिर्यंच मनुष्य व तिर्यंचायु को नही बाधते है। इस प्रकार का अर्थ अनर्थ करने वाला बनता है। जब देव और नरक मे रहने वाले जीवो के मनुष्य व तिर्यंच आयु बाधने योग्य परिणाम आते हैं, तो क्या वैसे परिणाम मनुष्य व तिर्यंच मे रहने वाले जीवो के नही आ सकते हैं? यह कैसी अनोखी बात है?

मनुष्य और तिर्यंच मे रहने वाले और रोचक सम्यग्दृष्टि से युक्त जीव के मनुष्य व तिर्यंच की आयु बाधने-योग्य परिणाम अवश्य आ सकते हैं। अत मनुष्य व तिर्यंच की अवस्था मे रहने वाला सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य, तिर्यंच के योग्य आयुष्य बध की लेश्याओ के अनुसार मनुष्य, तिर्यंच का आयुष्य भी बाध सकता है।

भगवतीसूत्र शतक ३० मे जो सम्यग्दृष्टि क्रियावादी का उल्लेख है, वह विशिष्ट क्रियावादी अर्थात् पाचवे, छठे आदि गुणस्थानवर्ती जीव के लिये है। क्योकि पाचवे, छठे आदि गुणस्थानो की आराधना की स्थिति मे वैमानिक देवो मे ही जाने का प्रसग है। जैसा कि भगवती सूत्र शतक १, उद्देश २ मे बताया है कि आराधक साधु कम-से-कम पहले देवलोक तक और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध तक जाता है और आराधक श्रावक जघन्य पहले देवलोक तक और उत्कृष्ट बारहवें देवलोक तक। यह उल्लेख विशिष्ट क्रियावादी श्रावक और साधु के लिये माना गया है और इसी बात का सकेत ३० वे शतक मे भी हुआ है। उस ३० वे शतक को लेकर विशिष्ट क्रियावादी अर्थ के बदले मे सामान्य क्रियावादी (चौथा गुणस्थान) को भी ले लिया जाये तो ३०वे शतक का एवं पहले शतक का परस्पर विरोध आ जायेगा। क्योकि उपर्युक्त पहले शतक मे विराधक साधु को जघन्य भवनपति, उत्कृष्ट पहले देवलोक तक जाने का कहा है एव विराधक श्रावक को जघन्य भवनपति, उत्कृष्ट ज्योतिषी देवलोक तक जाने का उल्लेख है। यहा जो साधु और श्रावक की विराधना मानी गई है, वह व्रतो की विराधना है, न कि सम्यक्त्व की। साधु व श्रावक के व्रत का विराधक होते हुए भी सम्यग्दृष्टि की अवस्था तो रहती ही है और सम्यग्दृष्टि सामान्य क्रियावादी है ही। तो इस विराधक साधु, श्रावक की गति भवनपति, ज्योतिष आदि की मानी है। ऐसी स्थिति मे क्रियावादी वैमानिक मे ही जाता है, इसका विरोध आता है और यदि विशिष्ट क्रियावादी वैमानिक मे और सामान्य क्रियावादी भवनपति आदि मे भी जाता है तो भगवतीसूत्र शतक ३० व शतक १ मे विरोध नही आता है।

यदि कोई ये तर्क लगाये कि साधु और श्रावक के व्रतो के साथ सम्यक्त्व का भी वह विराधक होगा तो यह तर्क शास्त्रसगत नही है। क्योकि भगवती शतक १ मे जो आराधना-विराधना बतलाई है वह व्रतो की बतलाई है, न कि सम्यक्त्व की। यदि कदाचित् सम्यक्त्वभाव की भी विराधना मान ली जाये तो वह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है और मिथ्यात्व अवस्था मे तो सभी गतियो का आयुष्य बाध सकता है। वैसी स्थिति मे साधु व श्रावक के (विराधक के) जघन्य स्थिति भवनपति आदि बताई है, वह सगत नही बैठती है, क्योकि मिथ्यात्वी के तो भवनपति आदि ही नही, मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि का भी बध सभव है। ऐसी स्थिति मे विराधक भवनपति आदि का आयुष्य बाधता है, यह बात सगत नही बैठती है। अतएव यह स्पष्ट है कि साधु व श्रावक व्रतो के विराधक हो सकते है, न कि सम्यग्दृष्टिभाव के। अत सम्यग्दृष्टिभाव के रहते हुए भी जघन्यत भवनपति आदि की आयुष्य का बध करते है।

यह तो भगवती सूत्र सम्बन्धी परस्पर विरोध के परिहार की चर्चा हुई।

अब व्रतविराधक से अतिरिक्त के सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यंच का चिन्तन किया जाये तो वह सम्यग्दृष्टि आगम आदि की दृष्टि से भी वैमानिक देव के अतिरिक्त मनुष्यादि चारो गति की आयु बाध सकता है। उसमे

मनुष्यायु के सम्बन्ध मे विपाकसूत्र का सुबाहुकुमार विषयक और ज्ञाताधर्मकथाग का मेघकुमार सम्बन्धी पाठ देखा जा सकता है। विपाकसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

' तत्तेण तस्स सुमुहस्स तेण दव्व-सुद्धेण तिविहेण तिकरण-सुद्धेण २ सुदत्ते अणगारे [पडिलाभएसमाणे परीत्त ससारकए मणुस्साउए निबद्धे]'
—सुखविपाक, अध्ययन १

उक्त पाठ की पूर्वभूमिका यह है कि सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को अपने घर मे प्रविष्ट होते देखकर अपने आसन से उठा और एकशाटिक वस्त्र का उत्तरासग करके मुनि के सन्मुख गया एव तीन बार प्रदक्षिणा की। इससे स्पष्ट होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यादृष्टि नही। मिथ्यादृष्टि साधु को भावपूर्वक वदन नही करता। मुनि को सम्मानपूर्वक दान देने मे मिथ्यादृष्टि को हार्दिक अत करण की प्रसन्नता कदापि सभव नही है।

सुमुख गाथापति द्वारा दिया गया दान दातृ, द्रव्य और पात्र शुद्धि—इन तीनो विशुद्धियो से युक्त था। ये विशुद्धिया सम्यग्दृष्टि के दान मे होती है, मिथ्यादृष्टि के दान मे नही। अत सुमुख गाथापति मुनि को दान देते समय सम्यग्दृष्टि था।

उक्त पाठ मे कोष्टकगत पद ध्यान देने योग्य है कि सुमुख गाथापति ने त्रिविध विशुद्धियुक्त त्रिकरण की शुद्धि के साथ सुदत्त अनगार को प्रतिलाभित करते हुए ससार परित्त किया और मनुष्यायु को बाधा। जिससे स्पष्ट होता है कि मुनि को प्रतिलाभित करने की क्रिया चालू रहते सुदत्त ने ससार परिमित किया और मनुष्यायु बाधी। अर्थात् प्रतिलाभित करने का काल, ससार परित्त करने का काल और मनुष्यायु बाधने का काल एक ही है। जैसे—'दीपक प्रकाशित हुआ और अधकार दूर हुआ' इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि दीप के प्रकाशित होने के साथ ही अधकार दूर हुआ। इसमे काल का व्यवधान नही है। इसीप्रकार सूत्रकार ने यहा ससार परित्त होने और मनुष्यायु को बाधने की बात एक साथ कही है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनो क्रियाओ मे काल का व्यवधान नही है।

साराश यह है कि सुमुख गाथापति ने शुद्ध सुपात्रदान द्वारा ससार को परित्त किया और मनुष्यायु का वध किया। जो इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सम्यक्त्वी जीव वैमानिक के अतिरिक्त अन्य आयु का भी बध कर सकता है।

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र के पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि मेघकुमार के पूर्वभववर्ती जीव ने हाथी के भव मे शशक और अन्य प्राणियो की रक्षा की, जिसके फलस्वरूप उसने ससार परित्त किया और मनुष्यायु का बध किया। सबन्धित पाठ इस प्रकार है—

'त जइ ताव तुम मेहा तिरिक्खजोणिय भावमुवगए ण अपडिलद्ध-समत्तरयण लभेण से पाए पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव सन्धारिए णो चेव ण णिक्खित्ते।'
—ज्ञातासूत्र, १/२८

उक्त पाठो से स्पष्ट है कि ससार परित्त होने के साथ ही मनुष्यायु का बध किया। इसमे कही काल के व्यवधान का प्रसग नही है। कदाचित् कोई यह कहे कि सुमुख गाथापति या मेघकुमार के पूर्वभववर्ती जीव के आयुष्य का बध सम्यक्त्व के छूटने के बाद हुआ था तो यह असत्कल्पना है। जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। दशाश्रुतस्कन्ध मे क्रियावादी मनुष्य के लिये नरकायु के बध का कथन है। वह पाठ इस प्रकार है—

से किं त किरियावाईया वि भवइ ?

'त जहा—आहियवाई, आहियपन्ने आहियदिट्ठी सम्मावादी निइयावादी सति परलोकवादी अत्थि इहलोके अत्थि परलोके अत्थि माया अत्थि पिया अत्थि अरिहता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुक्कड-

सुक्कडाण कम्माण फलवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवन्ति। सफले कल्लाणे पावए पच्चायति जीवा अत्थि-नेरइया जाव अत्थि-देवा अत्थि-सिद्धि से एववादी, एवपन्ने, एव-दिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवइ से भवइ महेच्छे जाव उत्तरपथगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेसाण सुलभबोहिया वि भवइ, से त किरियावाई सव्वधम्मरुचिया वि भवइ। —दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ६

वह क्रियावादी सम्यग्दृष्टि परन्तु उस सम्यक्त्व की अवस्था मे यदि महारभी, महापरिग्रही है तो उत्तरपथ-गामी नरक का आयुष्य बाधता है। अगर सम्यक्त्व अवस्था मे आयुष्य बाधने का प्रसग नही होता एव मिथ्यात्व मे बाधने की स्थिति होती तो उत्तरपथगामी नरक का विशेषण नही लगता। क्योकि मिथ्यात्व अवस्था मे तो दक्षिणपथ आदि सभी स्थलो का बध कर सकता है। इसी तरह जैनसिद्धान्त के सर्वमान्य ग्रथ तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।६।१८

इसमे भी सम्यग्दृष्टि जीव के चारो गति का आयुष्य बाधने का उल्लेख है।

कर्मग्रथो मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि अचरम शरीरी जीव के लिये सभवित सत्ता की अपेक्षा १४१ प्रकृतियो की सत्ता मानी है। उसमे चारो आयुष्य शामिल हैं। किन्तु वर्तमान मे भुज्यमान, बध्यमान की अपेक्षा एक या दो आयुष्य की सत्ता रह सकती है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव देव या मनुष्यायु को न बाधता हो तो फिर सभवित सत्ता की दृष्टि से गिनती कैसे सभवित है?

यहा कृतकरण की अवस्था जो कि सम्यग्दृष्टि के अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है, उस अवस्था मे चारो गति मे जाने का प्रसग है। यदि कृतकरण की अवस्था बद्धायुष्क होती तो उस आयुष्य का ही नाम निर्देश होता, चारो का नही और उस मरण को भी यहा न कहकर उसी अवस्था मे मरण कहा जाता, जिस अवस्था मे बध होता, परन्तु ऐसा उल्लेख यहा नही है। यहा का उल्लेख सिद्धान्त के उल्लेख की पुष्टि करता है।

अत उपर्युक्त विषय शास्त्रीय सदर्भ के साथ विद्वज्जनो को ध्यान मे लेने योग्य है।

९. शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर भी एकस्थानक रसबंध न होने का कारण

कर्मसिद्धान्त की मान्यता है कि कर्मों के स्थिति और अनुभाग बध के निमित्त कषाय हैं और उत्कृष्ट स्थिति का बध सक्लेश के उत्कर्ष होने पर ही होता है। अतएव जिन अध्यवसायो से शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है, उन्ही अध्यवसायो से एकस्थानक रसबध क्यो नही होता है? तो इसका समाधान यह है कि—

उत्कृष्ट स्थिति का बध सक्लेश के उत्कर्ष होने पर ही होता है, यह जो कर्मसिद्धान्त की मान्यता है वह शुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट बध मे परिणामो की उतनी ही सक्लिष्टता है, जितनी अशुभ प्रकृतियो के उत्कृष्ट बध मे होती है, लागू नही होती है। इसके लिये मिथ्यात्वियो को ही उदाहरण के तौर पर समझिये कि उनके परिणामो मे ही असख्य प्रकार की तरतमता रहती है। जैसे कि एक मिथ्यात्वी के भाव कृष्णलेश्या वाले हैं और दूसरा मिथ्यात्वी शुक्ललेश्या वाला है। यद्यपि सामान्य से दोनो मिथ्यात्वी हैं और मिथ्यात्व सम्बन्धी अशुद्धता दोनो मे है, लेकिन उन दोनो मिथ्यात्वियो के परिणामो मे असख्य प्रकार की तरतमता है। इसी प्रकार सक्लिष्टता शुभ और अशुभ दोनो मे होते हुए भी दोनो की सक्लिष्टता मे असख्य प्रकार का अतर आ जाता है।

अब रहा प्रश्न कि जिन अध्यवसायो से शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबध होता है, उन्ही अध्यवसायो से एकस्थानक रसबध क्यो नही होता? तो उसका कारण यह है कि जिस समय मे स्थिति का बध प्रारम्भ होता है, उस समय से लेकर उस स्थितिबध की वृद्धि प्रारम्भ होती है। अर्थात् पहले समय मे जो स्थितिबध

का प्रसग है, वह असख्य है। दूसरे समय मे भी असख्य है, परन्तु पहले समय के असख्य की अपेक्षा दूसरे समय के असख्य असख्यात गुणे अधिक है। इसी प्रकार पूर्ववत् दोनो समय के अध्यवसायो से तीसरे समय के अध्यवसाय असख्यगुणे अधिक हैं। इसी तरह एक-एक समय की वृद्धि करते हुए असख्य समय पर्यन्त पहुचने तक अध्यवसायो की तरतमता से असख्य के असख्य प्रकार के स्थितिबध हो जाते हैं और एक-एक स्थितिबध मे असख्य रसस्पर्धक-सघात भी असख्य गुणे होते है। इसी पद्धति से उत्कृष्ट स्थिति के बध का जो असख्यातवा समय है, उस असख्यातवें समय मे रसस्पर्धकसघातविशेष कितने हो सकते हैं, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, अर्थात् वे स्थितिबध के असख्य से भी असख्यगुणे होगे। तब ऐसी उत्कृष्ट स्थिति मे बध्यमान प्रति स्थितिविशेष मे असख्य गुणे जो रसस्पर्धकसघातविशेष हैं, उनमे एकस्थानक रसबध नही होता है। इसी तरह शुभ प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबध मे भी बहुलता से एकस्थानक रसबध नही होता है। किन्तु नौवें आदि गुणस्थानो मे कुछ प्रकृतियो का एकस्थानक रसबध भी होता है।

१०. गुणस्थानो में उदययोग्य प्रकृतियो का विवरण

मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १२२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५=१२२ (मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय—इन दो प्रकृतियो का बध नही होता किन्तु उदय होता है, अत मोहनीय की २८ प्रकृतिया गिनी गई हैं।)

१ मिथ्यात्व — **मूल ८** — **उत्तर ११७**

मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म का उदय नही होने से ५ प्रकृतिया न्यून।

२ सासादन — **मूल ८** — **उत्तर १११**

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनामकर्म, साधारणनाम), आतपनाम, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकानुपूर्वी=६ प्रकृतियो का उदय नही होता है।

३ मिश्र — **मूल ८** — **उत्तर १००**

अनन्तानुबधीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियो का तो उदय नही होता किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होता है, अत (१११–१२+१)=१०० का उदय सम्भव है।

४ अविरत सम्यगदृष्टि — **मूल ८** — **उत्तर १०४**

सम्यक्त्वमोहनीय व आनुपूर्वीचतुष्क (देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी) का उदय सम्भव है।

मिश्रमोहनीय का उदय नही होता, अत १००+५–१=१०४।

५ देशविरत — **मूल ८** — **उत्तर ८७**

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवायु, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, अनादेयनाम, अयश कीर्तिनाम)=१७ का उदय सम्भव नही होता।
१०४–१७=८७ का उदय सम्भव है।

६ प्रमत्तविरत — मूल ८ — उत्तर ८१

तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्क–८ का उदय तो सम्भव नही किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७–८+२=८१ प्रकृतिया उदययोग्य है।

७ अप्रमत्तविरत — मूल ८ — उत्तर ७६

स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक का अप्रमत्त अवस्था मे उदय सम्भव नही, अत ८१–५=७६ का उदय सम्भव है। (यद्यपि आहारकशरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तच्छशरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवें गुणस्थान मे तच्छशरीर के होने पर भी प्रमादी नही कहा जाता।)

८ अपूर्वकरण — मूल ८ — उत्तर ७२

सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्तसहनन, इन चार प्रकृतियो का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे होने से इस गुणस्थान मे इन चार का उदय सम्भव नही, अत ७६–४=७२ प्रकृतियो का उदय सम्भव है।

९ अनिवृत्तिबादर — मूल ८ — उत्तर ६६

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा—६ प्रकृतियो का उदय सम्भव नही है। क्योकि इनका उदयविच्छेद आठवें गुणस्थान के अतसमय मे हो जाता है।

१० सूक्ष्मसपराय — मूल ८ — उत्तर ६०

स्त्रीवेद, पुरुपवेद, नपुसकवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया–६ प्रकृतियो का उदय सम्भव नही। (इनका उदय तो नौवे गुणस्थान के अतिम समय तक ही होता है।)

नोट—यदि श्रेणि का प्रारभक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुसकवेद के उदय को रोकेगा, तदनन्तर सज्वलनत्रिक के। यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद, फिर नपुसकवेद के उदय को रोकेगा। यदि नपुसक है तो पहले नपुसकवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा।

११ उपशातमोह — मूल ७ — उत्तर ५९

सज्वलन लोभ का उदय नही रहता है। (इसका उदय तो दसवें गुणस्थान के अतिम समय मे विच्छेद हो जाता है। जिनको ऋषभनाराच व नाराच सहनन होता है, वे ही उपशमश्रेणि करते है।)

१२ क्षीणमोह — मूल ७ — उत्तर ५७/५५

ऋषभनाराच व नाराच सहनन का उदय सम्भव नही। इनका उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणि वज्रऋषभनाराचसहनन के बिना नही होती, अत ५९–२=५७।

बारहवें गुणस्थान के अत समय मे निद्रा, प्रचला का भी उदय नही रहता, अत ५७–२=५५।

का प्रसग है, वह असख्य है। दूसरे समय मे भी असख्य है, परन्तु पहले समय के असख्य की अपेक्षा दूसरे समय के असख्य असख्यात गुणे अधिक है। इसी प्रकार पूर्ववत् दोनो समय के अध्यवसायो से तीसरे समय के अध्यवसाय असख्यगुणे अधिक हैं। इसी तरह एक-एक समय की वृद्धि करते हुए असख्य समय पर्यन्त पहुचने तक अध्यवसायो की तरतमता से असख्य के असख्य प्रकार के स्थितिबध हो जाते हैं और एक-एक स्थितिबध मे असख्य रसस्पर्धक-सघात भी असख्य गुणे होते हैं। इसी पद्धति से उत्कृष्ट स्थिति के बध का जो असख्यातवा समय है, उस असख्यातवें समय मे रसस्पर्धकसघातविशेष कितने हो सकते हैं, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, अर्थात् वे स्थितिबध के असख्य से भी असख्यगुणे होगे। तब ऐसी उत्कृष्ट स्थिति मे बध्यमान प्रति स्थितिविशेष मे असख्य गुणे जो रसस्पर्धकसघातविशेष हैं, उनमे एकस्थानक रसबध नही होता है। इसी तरह शुभ प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबध मे भी बहुलता से एकस्थानक रसबध नही होता है। किन्तु नौवें आदि गुणस्थानो मे कुछ प्रकृतियो का एकस्थानक रसबध भी होता है।

१०. गुणस्थानो में उदययोग्य प्रकृतियो का विवरण

मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १२२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५=१२२ (मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय—इन दो प्रकृतियो का बध नही होता किन्तु उदय होता है, अत मोहनीय की २८ प्रकृतिया गिनी गई हैं।)

१. मिथ्यात्व — मूल ८ — उत्तर ११७

मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म का उदय नही होने से ५ प्रकृतिया न्यून।

२ सासादन — मूल ८ — उत्तर १११

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनामकर्म, साधारणनाम), आतपनाम, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकानुपूर्वी=६ प्रकृतियो का उदय नही होता है।

३ मिश्र — मूल ८ — उत्तर १००

अनन्तानुबधीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियो का तो उदय नही होता किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होता है, अत (१११–१२+१)=१०० का उदय सम्भव है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि — मूल ८ — उत्तर १०४

सम्यक्त्वमोहनीय व आनुपूर्वीचतुष्क (देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी) का उदय सम्भव है।

मिश्रमोहनीय का उदय नही होता, अत १००+५–१=१०४।

५ देशविरत — मूल ८ — उत्तर ८७

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवायु, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अगोपाग), दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, अनादेयनाम, अयश कीर्तिनाम)=१७ का उदय सम्भव नही होता।
१०४–१७=८७ का उदय सम्भव है।

६ प्रमत्तविरत

मूल ८ उत्तर ८१

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क–८ का उदय तो सम्भव नही किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७–८+२=८१ प्रकृतिया उदययोग्य है।

७ अप्रमत्तविरत

मूल ८ उत्तर ७६

स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक का अप्रमत्त अवस्था मे उदय सम्भव नही, अत ८१–५=७६ का उदय सम्भव है। (यद्यपि आहारकशरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तच्छशरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवें गुणस्थान मे तच्छशरीर के होने पर भी प्रमादी नही कहा जाता।)

८ अपूर्वकरण

मूल ८ उत्तर ७२

सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्तसहनन, इन चार प्रकृतियो का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे होने से इस गुणस्थान मे इन चार का उदय सम्भव नही, अत ७६–४=७२ प्रकृतियो का उदय सम्भव है।

९ अनिवृत्तिबादर

मूल ८ उत्तर ६६

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा—६ प्रकृतियो का उदय सम्भव नही है। क्योकि इनका उदयविच्छेद आठवें गुणस्थान के अतसमय मे हो जाता है।

१० सूक्ष्मसपराय

मूल ८ उत्तर ६०

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया–६ प्रकृतियो का उदय सम्भव नही। (इनका उदय तो नौवें गुणस्थान के अतिम समय तक ही होता है।)

नोट—यदि श्रेणि का प्रारभक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुसकवेद के उदय को रोकेगा, तदनन्तर सज्वलनत्रिक के। यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद, फिर नपुसकवेद के उदय को रोकेगा। यदि नपुसक है तो पहले नपुसकवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा।

११ उपशातमोह

मूल ७ उत्तर ५९

सज्वलन लोभ का उदय नही रहता है। (इसका उदय तो दसवें गुणस्थान के अतिम समय मे विच्छेद हो जाता है। जिनको ऋषभनाराच व नाराच सहनन होता है, वे ही उपशमश्रेणि करते है।)

१२ क्षीणमोह

मूल ७ उत्तर ५७/५५

ऋषभनाराच व नाराच सहनन का उदय सम्भव नही। इनका उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणि वज्रऋषभनाराचसहनन के बिना नही होती, अत ५९–२=५७।

बारहवें गुणस्थान के अत समय मे निद्रा, प्रचला का भी उदय नही रहता, अत ५७–२=५५।

१३ सयोगिकेवली मूल ४ उत्तर ४२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, अतराय ५=१४ का उदय बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही रहता है, अत ५५-१४=४१ तथा तीर्थंकर नामकर्म का उदय सम्भव है। अत ४१+१=४२ प्रकृतियो का उदय सभव है।

१४ अयोगिकेवली मूल ४ उत्तर १२

औदारिकद्विक (औदारिकशरीर, औदारिकअगोपाग) अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम, अशुभनाम), खगतिद्विक (शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति), प्रत्येकत्रिक (प्रत्येकनाम, शुभनाम, स्थिरनाम), सस्थानषट्क (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुड), अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम), वर्णचतुष्क (वर्ण, गध, रस, स्पर्श), निर्माणनाम, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराचसहनन, दु स्वर, सुस्वर, साता या असातावेदनीय मे से कोई एक, यह ३० प्रकृतिया १३ वें गुणस्थान के अतिम समय तक ही उदय को पा सकती हैं। अत इनको घटाने पर शेष ४२-३०=१२ प्रकृतिया १४ वें गुणस्थान मे रहती है। शेष जो १२ प्रकृतिया हैं, उनका उदय १४ वें गुणस्थान के अतिम समय तक रहता है, वे यह हैं—

सुभगनाम, आदेयनाम, यश कीर्तिनाम, साता-असाता मे से कोई एक वेदनीय कर्म, त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, वादरनामकर्म, पर्याप्तनामकर्म), पचेन्द्रियजाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र=१२।

कोई मनुष्यानुपूर्वी को ग्रहण करके १३ प्रकृतिया मानते हैं।

११. ध्रुवबंधी आदि इकतीस द्वार यंत्र

अनुक्रम	द्वार नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल
१	ध्रुवबघी	५	९	०	१९	०	९	०	५	४७
२	अध्रुवबघी	०	०	२	७	४	५८	२	०	७३
३	ध्रुवोदयी	५	४	०	१	०	१२	०	५	२७
४	अध्रुवोदयी	०	५	२	२७	४	५५	२	०	९५
५	ध्रुवसत्ता	५	९	२	२६	०	८२	१	५	१३०
६	अध्रुवसत्ता	०	०	०	२	४	२१	१	०	२८
७	घातिनी	५	९	०	२६/२८	०	०	०	५	४५/४७
८	अघातिनी	०	०	२	०	४	६७	२	०	७५
९	परावर्तमान	०	५	२	२३	४	५५	२	०	९१
१०	अपरावर्तमान	५	४	०	३	०	१२	०	५	२९
११	शुभ	०	०	१	०	३	३७	१	०	४२
१२	अशुभ	५	९	१	२६	१	३४	१	५	८२

अनुक्रम	द्वार नाम	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	कुल
१३	पुद्गलविपाकी	०	०	०	०	०	३६	०	०	३६
१४	भवविपाकी	०	०	०	०	४	०	०	०	४
१५	क्षेत्रविपाकी	०	०	०	०	०	४	०	०	४
१६	जीवविपाकी	५	९	२	२८	०	२७	२	५	७८
१७	स्वानुदयबधि	०	०	०	०	२	९	०	०	११
१८	स्वोदयबधि	५	४	०	१	०	१२	०	५	२७
१९	उभयबधि	०	५	२	२५	२	४६	२	०	८२
२०	समकव्यव बधोदय	०	०	०	२१	०	५	०	०	२६
२१	क्रमव्यव बधोदय	५	९	२	५	३	५५	२	५	८६
२२	उत्क्रमव्यव बधोदय	०	०	०	०	१	७	०	०	८
२३	सान्तरबध	०	०	१	६	०	३४	०	०	४१
२४	सान्तर-निरतरबध	०	०	१	१	०	२३	२	०	२७
२५	निरन्तरबध	५	९	०	१९	४	१०	०	५	५२
२६	उदयसक्रमोत्कृष्ट	०	०	१	१०	०	१८	१	०	३०
२७	अनुदयसक्रमोत्कृष्ट	०	०	०	१	०	१२	०	०	१३
२८	उदयबधोत्कृष्ट	५	४	१	१७	०	२७	१	५	६०
२९	अनुदयबधोत्कृष्ट	०	५	०	०	०	१०	०	०	१५
३०	उदयवती	५	४	२	४	४	९	१	५	३४
३१	अनुदयवती	०	५	०	२४	०	८४	१	०	११४

१२. जीव की वीर्यशक्ति का स्पष्टीकरण

ज्ञान, दर्शन आदि की तरह वीर्यशक्ति भी जीव का गुण, स्वभाव है, जो सभी जीवो मे पाई जाती है। जीव दो प्रकार के हैं—अलेश्य और सलेश्य। इनमे से अलेश्य (लेश्यारहित) जीवो की वीर्यशक्ति समस्त कर्मावरण के क्षय हो जाने से क्षायिक है। अत नि शेषरूप से कर्मक्षय हो जाने के कारण वह कर्मबध का कारण नही है। जिससे न तो अलेश्य जीवो का कोई भेद है और न उनकी वीर्यशक्ति मे तरतमता का अतर है। किन्तु सलेश्य जीवो की वीर्यशक्ति कर्मबध का कारण होने से यहा उन्ही की वीर्यशक्ति का विचार करते है।

सलेश्य जीवो मे कार्यभेद अथवा स्वामिभेद से वीर्य के भेद होते है। उनमे कार्यभेद की अपेक्षा भेद वाला वीर्य एक जीव को एक समय मे अनेक प्रकार का होता है तथा स्वामिभेद की अपेक्षा भेद वाला एक जीव को एक समय मे एक प्रकार का और अनेक जीवो की अपेक्षा अनेक प्रकार का है।

सलेश्य जीवो के दो भेद हैं—छद्मस्थ और केवली। अत वीर्य-उत्पत्ति के दो रूप है—वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षयरूप और सर्वक्षयरूप। देशक्षय से प्रकट वीर्य को क्षायोपशमिक और सर्वक्षय से प्रकट वीर्य को क्षायिक कहते हैं। देशक्षय से छद्मस्थो मे और सर्वक्षय से केवलियो मे वीर्य प्रकट होता है। जिससे सलेश्य वीर्य के दो

भेद हैं—छाद्मस्थिक सलेश्य वीर्य और कैवलिक सलेश्य वीर्य। केवली जीवो के अकषायी होने से उनका अवान्तर कोई भेद नही है। सिर्फ कषायरहित मन-वचन-काय परिस्पन्दन रूप वीर्यशक्ति है। किन्तु छाद्मस्थिक जीव दो प्रकार के है—अकषायी सलेश्य और सकषायी सलेश्य।

कषायो का दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे विच्छेद हो जाने से छाद्मस्थिक अकषायी सलेश्य वीर्य ग्यारहवें और बारहवें (उपशान्तमोह, क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती जीवो मे और छाद्मस्थिक सकषायी सलेश्य वीर्य दसवें गुणस्थान तक जीवो मे पाया जाता है।

सलेश्य जीवो मे वीर्यप्रवृत्ति दो रूपो मे होती है। एक तो दौडना, चलना, खाना आदि निश्चित कार्य को करने रूप प्रयत्नपूर्वक और दूसरी बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती रहती है। प्रयत्नपूर्वक होने वाली प्रवृत्ति को अभिसधिज और स्वयमेव होने वाली प्रवृत्ति को अनभिसधिज कहते है।

जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है कि वीर्यशक्ति समस्त जीवो मे पायी जाती है। अत एकेन्द्रिय बादर सूक्ष्म जीवो मे जो परिस्पन्दन रूप क्रिया देखने मे आती है, वह भी वीर्यशक्ति का रूप है और सरलता से समझने के लिये योग शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह योग शब्द भी वीर्य के अनेक नामो मे से एक नाम है।

वीर्य शक्ति के उक्त स्पष्टीकरण एव भेदो को सरलता से इस प्रकार जाना जा सकता है—
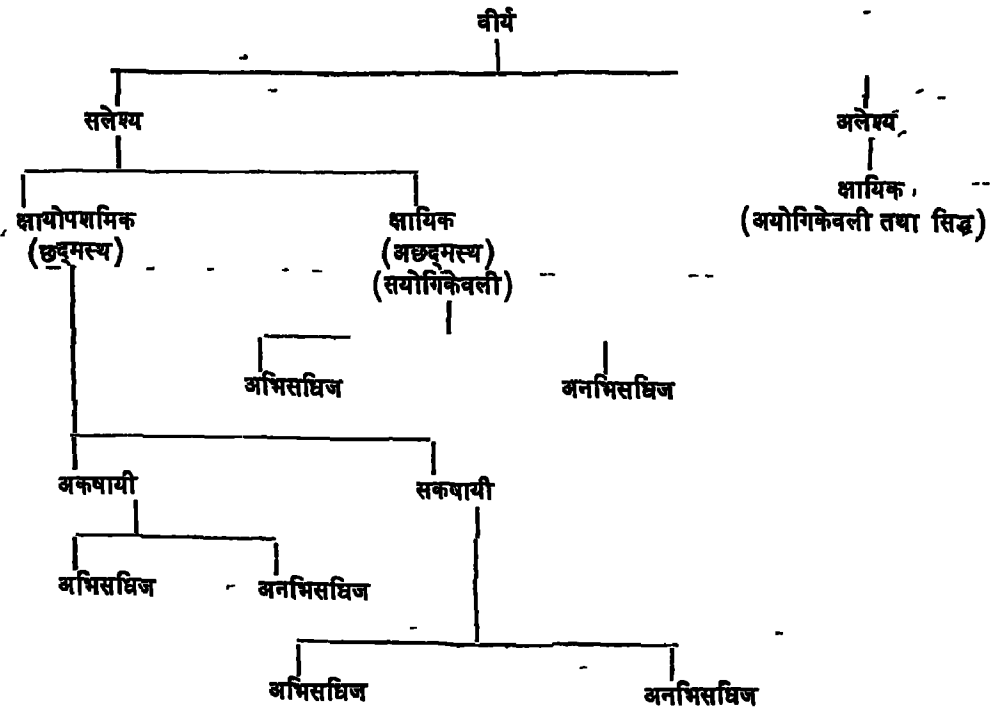
चौदहवें गुणस्थान के अतिम समय मे और सिद्धो का अकरण वीर्य होता है।

पचसग्रह, बधनकरण अधिकार, गाथा २, ३ मे भी इसी प्रकार जीव की वीर्यशक्ति का विचार किया गया है।

१३ लोक का घनाकार समीकरण करने की विधि

जैनसिद्धान्त मे लोक का आकार कटि पर दोनो हाथ रखकर और पैरो को फैलाकर खडे हुए मनुष्य के समान बतलाया है। वह आकार इस प्रकार का होगा—
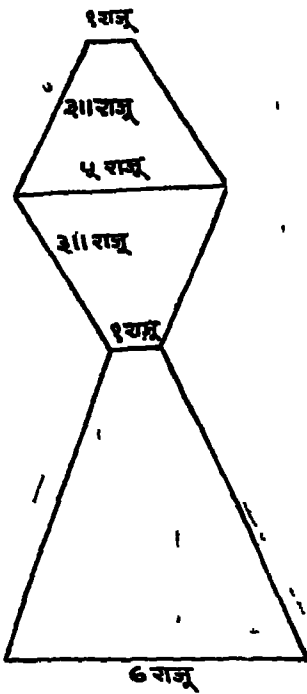
इसके नीचे का भाग (आधारभूमि) पूर्व-पश्चिम सात राजू चौडा है। फिर दोनो ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊचाई पर एक राजू चौडा है। पुन साढे तीन राजू पर दोनो ओर से बढते-बढते साढे दस राजू की ऊचाई पर पाच राजू चौडा है, फिर दोनो ओर से घटते-घटते साढे तीन राजू जाकर अर्थात् चौदह राजू की ऊचाई पर एक राजू चौडा है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम मे घटता-बढता है। सर्वत्र सात राजू मोटाई है और ऊचाई चौदह राजू है। यदि इसकी चौडाई, मोटाई और ऊचाई का वृद्धि के द्वारा समीकरण किया जाये तो वह सात राजू के घन के बराबर होता है।

समीकरण करने की विधि इस प्रकार है—

अधोलोक के नीचे का विस्तार सात राजू है और दोनो ओर से घटते-घटते सात राजू की ऊचाई पर मध्यलोक के पास वह एक राजू प्रमाण रहता है। इस अधोलोक की ऊचाई के ठीक बीच मे इसके दो भाग किये जायें, तब इनका आकार इस प्रकार होगा—
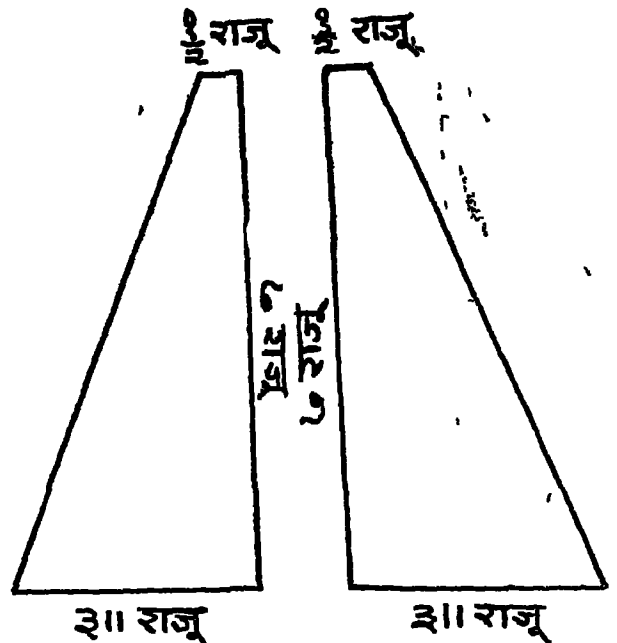
फिर इन दोनो भागो को उलटकर बराबर रखा जाये तो उनका विस्तार नीचे की ओर और ऊपर की ओर भी चार-चार राजू होता है किन्तु ऊचाई सर्वत्र सात राजू ही रहती है। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—

(चित्र आगे के पृष्ठ पर देखिये)
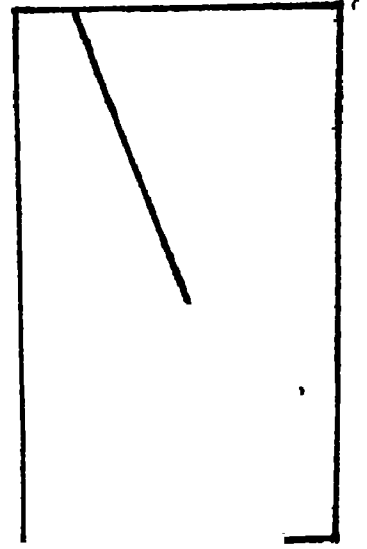
अब ऊर्ध्वलोक को लीजिये—

ऊर्ध्वलोक नीचे एक राजू, ऊपर बढते-बढते साढे दस राजू की ऊचाई पर पाच राजू और चौदह राजू की ऊचाई पर एक राजू चौडा है। उसमे से मध्य के एक राजू के क्षेत्र को छोडकर ऊपर से नीचे तक दो समानान्तर रेखायें खीची जाये तो उसमे चार समान त्रिकोण बन जाते हैं। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—
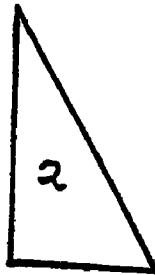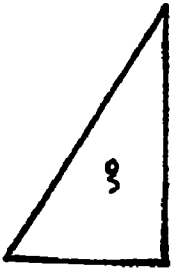
तथा चार त्रिकोणो का आकार इस प्रकार होगा—
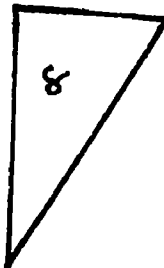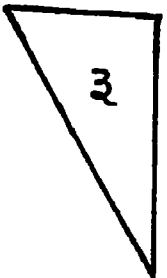
अब इन चारो त्रिकोणो मे से एक राजू चौडे और सात राजू ऊचे ऊर्ध्वलोक के खड से १ नबर वाले त्रिकोण को उलट कर २ नबर वाले त्रिकोण से मिला दिया जाये और ३ नबर वाले त्रिकोण को उलट कर ४ नबर वाले त्रिकोण से मिला दिया जाये तथा बीच के एक राजू चौडे और सात राजू ऊचे भाग को जोड दें तब ऊर्ध्वलोक की ऊचाई तो सात राजू होगी लेकिन चौडाई तीन राजू हो जायेगी। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—
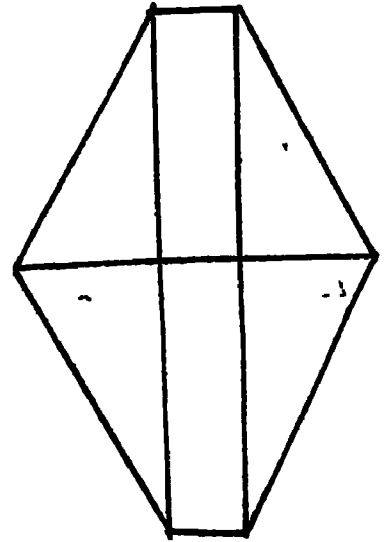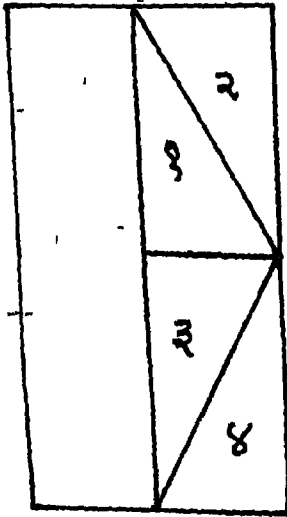
अब इसको अधोलोक के चार राजू चौडे और सात राजू ऊचे खड के साथ सयुक्त कर दिया जाये तो चारो दिशाओ मे ऊचाई, मोटाई सात राजू होगी। तब उसका आकार इस प्रकार होगा—

इस प्रकार लोक सात घन रूप सिद्ध होता है। इस घनाकार लोक मे ऊचाई, चौडाई और मोटाई तीनो सात-सात राजू है, अत इन तीनो सख्याओ का परस्पर गुणा करने पर लोक का घनक्षेत्र ७×७×७=३४३ राजू प्रमाण होता है। क्योकि गणित-शास्त्र के अनुसार समान दो सख्याओ का आपस मे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उस सख्या का
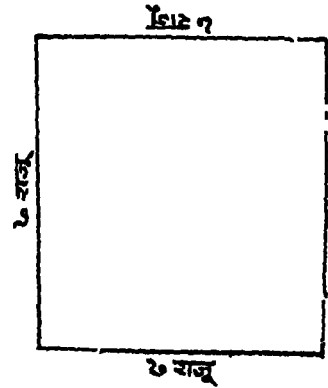
वर्ग कहलाती है, जैसे ७ का वर्ग करने पर ४९ आते हैं तथा समान तीन सख्याओ का परस्पर मे गुणा करने पर घन होता है, जैसे ७×७×७=३४३।

लोक तो यद्यपि वृत्त (गोल) है और यह घन समचतुरस्र रूप होता है। अत वृत्त करने के लिये उसे १९ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिये, तब यह कुछ कम सात राजू लबा, चौडा और मोटा होता है, किन्तु व्यवहार मे सात राजू का समचतुरस्र घनाकार लोक जानना चाहिये।

१४. असत्कल्पना द्वारा योगस्थान का स्पष्टीकरण दर्शक प्रारूप (गाथा ६ से ९ तक)

१' प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेश असख्यात (लोकाकाश प्रदेश प्रमाण) है। जीव यद्यपि कर्मजन्य अपने देह-प्रमाण दिखता है, लेकिन अपने सहरण-विसर्पण (सकोच-विस्तार) गुण की अपेक्षा देहप्रमाण होते हुए भी लोकाकाश के बराबर हो सकता है। जैसे कि दीपक को एक घडे मे रखें तो उसका प्रकाश घडे प्रमाण ही रहता है और कमरे अथवा उससे बडे मैदान मे रखें तो उसमे उसका प्रकाश व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव के भी असख्यात प्रदेशो को लोकाकाश मे व्याप्त होने को समझ लेना चाहिये। परन्तु प्रस्तुत मे असत्कल्पना से १२००० प्रदेश मान लें।

२ गाथा ६ मे बताया गया है कि प्रत्येक आत्मप्रदेश पर जघन्य से असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते है और उत्कृष्ट से भी। असत्कल्पना से जघन्य एक करोड एक और उत्कृष्ट से अनेको करोड मान लें।

३- गाथा- ७ मे कहा है कि जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेश घनीकृत लोक के असख्यात भागवर्ती असख्यात प्रतरगत-प्रदेशराशि प्रमाण होते हैं। परन्तु यहा असत्कल्पना से उन जघन्य वीर्याविभाग वाले आत्मप्रदेशो का घनीकृत लोक के असख्येय भागवर्ती असख्येय प्रतरगत प्रदेशराशि का प्रमाण ७०० मान लिया जाये।

४ गाथा ८ मे कहा है कि श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओ का एक स्पर्धक होता है। परन्तु यहा असत्कल्पना से चार वर्गणाओ का एक स्पर्धक मानना चाहिये।

५ गाथा ९ मे कहा है कि श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धको का एक योगस्थान होता है। जो सबसे जघन्य है। परन्तु असत्कल्पना से प्रथम योगस्थान छह स्पर्धको का समझ लेना चाहिये। अधिक-अधिक वीर्य वाले योगस्थानो मे स्पर्धक अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण बढते-बढते हुए जानना चाहिये। क्योकि अधिक-अधिक वीर्य वाले आत्मप्रदेश हीन होते जाते हैं, किन्तु उनमे वर्गणायें और स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं। यहा असत्कल्पना से बताये जा रहे योग स्थानो मे एक-एक स्पर्धक की वृद्धि अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

६ गाथा ९ मे स्पष्ट किया गया है कि प्रथम योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अतिम वर्गणा मे जितने वीर्याविभाग है, उससे द्वितीय योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे असख्यात गुणे वीर्याविभाग हैं। परन्तु यहाँ असत्कल्पना से लगभग तिगुने समझना चाहिये।

असत्कल्पना से किये गये उक्त स्पष्टीकरणो से युक्त योगस्थानो का प्रारूप–विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

प्रथम योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१ करोड १ वीर्याविभाग वाले	७०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१ करोड २ ,, ,, ,,	६७० ,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
१ करोड ३ ,, ,, ,,	६३० ,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
१ करोड ४ ,, ,, ,,	६०० ,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२६००	

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २६०० आत्मप्रदेश एव चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

२ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५८५ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२ ,, २ ,, ,, ,,	५७५ ,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
२ ,, ३ ,, ,, ,,	५६५ ,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
२ ,, ४ ,, ,, ,,	५५५ ,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२२८०	

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे २२८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

तृतीय

३ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५२० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
३ ,, २ ,, ,, ,,	५१० ,, ,, ,,	द्वितीय वर्गणा
३ ,, ३ ,, ,, ,,	५०० ,, ,, ,,	तृतीय वर्गणा
३ ,, ४ ,, ,, ,,	४९० ,, ,, ,,	चतुर्थ वर्गणा
	२०२०	

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे २०२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये ।

चतुर्थ

४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४८० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
४ „ २ „ „ „	४७० „ „ „	द्वितीय „
४ „ ३ „ „ „	४६० „ „ „	तृतीय „
४ „ ४ „ „ „	४५० „ „ „	चतुर्थ „
	१८६०	

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १८६० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये ।

५ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४४० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
५ „ २ „ „ „	४३० „ „ „	द्वितीय „
५ „ ३ „ „ „	४२० „ „ „	तृतीय „
५ „ ४ „ „ „	४१० „ „ „	चतुर्थ „
	१७००	

इस प्रकार पाचवें स्पर्धक मे १७०० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें ।

छठा स्पर्धक

६ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
६ „ २ „ „ „	३९० „ „ „	द्वितीय „
६ „ ३ „ „ „	३८० „ „ „	तृतीय „
६ „ ४ „ „ „	३७० „ „ „	चतुर्थ „
	१५४०	

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १५४० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें ।

द्वितीय योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१८ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५८५ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१८ „ २ „ „ „	५७५ „ „ „	द्वितीय „
१८ „ ३ „ „ „	५६५ „ „ „	तृतीय „
१८ „ ४ „ „ „	५५५ „ „ „	चतुर्थ „
	२२८०	

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २२८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें ।

५ गाथा ९ मे कहा है कि श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धको का एक योगस्थान होता है। जो सबसे जघन्य है। परन्तु असत्कल्पना से प्रथम योगस्थान छह स्पर्धको का समझ लेना चाहिये। अधिक-अधिक वीर्य वाले योगस्थानो मे स्पर्धक अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण बढते-बढते हुए जानना चाहिये। क्योकि अधिक-अधिक वीर्य वाले आत्मप्रदेश हीन होते जाते है, किन्तु उनमे वर्गणायें और स्पर्धक अधिक-अधिक होते हैं। यहा असत्कल्पना से बताये जा रहे योग स्थानो मे एक-एक स्पर्धक की वृद्धि अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण समझना चाहिये।

६ गाथा ९ मे स्पष्ट किया गया है कि प्रथम योगस्थान के अन्तिम स्पर्धक की अतिम वर्गणा मे जितने वीर्याविभाग हैं, उससे द्वितीय योगस्थान के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे असख्यात गुणे वीर्याविभाग है। परन्तु यहाँ असत्कल्पना से लगभग तिगुने समझना चाहिये।

असत्कल्पना से किये गये उक्त स्पष्टीकरणो से युक्त योगस्थानो का प्रारूप–विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

प्रथम योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१ करोड १ वीर्याविभाग वाले	७०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१ करोड २ „ „ „	६७० „ „ „	द्वितीय वर्गणा
१ करोड ३ „ „ „	६३० „ „ „	तृतीय वर्गणा
१ करोड ४ „ „ „	६०० „ „ „	चतुर्थ वर्गणा
	२६००	

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २६०० आत्मप्रदेश एव चार वर्गणायें।

द्वितीय

२ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५८५ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२ „ २ „ „ „	५७५ „ „ „	द्वितीय वर्गणा
२ „ ३ „ „ „	५६५ „ „ „	तृतीय वर्गणा
२ „ ४ „ „ „	५५५ „ „ „	चतुर्थ वर्गणा
	२२८०	

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे २२८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

तृतीय

३ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५२० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
३ „ २ „ „ „	५१० „ „ „	द्वितीय वर्गणा
३ „ ३ „ „ „	५०० „ „ „	तृतीय वर्गणा
३ „ ४ „ „ „	४९० „ „ „	चतुर्थ वर्गणा
	२०२०	

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे २०२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

चतुर्थ

४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४८० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
४ „ २ „ „ „	४७० „ „ „	द्वितीय „
४ „ ३ „ „ „	४६० „ „ „	तृतीय „
४ „ ४ „ „ „	४५० „ „ „	चतुर्थ „
	१८६०	

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १८६० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

पाचवा

५ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४४० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
५ „ २ „ „ „	४३० „ „ „	द्वितीय „
५ „ ३ „ „ „	४२० „ „ „	तृतीय „
५ „ ४ „ „ „	४१० „ „ „	चतुर्थ „
	१७००	

इस प्रकार पाचवें स्पर्धक मे १७०० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

६ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
६ „ २ „ „ „	३९० „ „ „	द्वितीय „
६ „ ३ „ „ „	३८० „ „ „	तृतीय „
६ „ ४ „ „ „	३७० „ „ „	चतुर्थ „
	१५४०	

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १५४० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

द्वितीय योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

१८ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५८५ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१८ „ २ „ „ „	५७५ „ „ „	द्वितीय „
१८ „ ३ „ „ „	५६५ „ „ „	तृतीय „
१८ „ ४ „ „ „	५५५ „ „ „	चतुर्थ „
	२२८०	

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २२८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

१९ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५२०	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
१९ „ २ „ „ „	५१०	„ „ „	द्वितीय „
१९ „ ३ „ „ „	५००	„ „ „	तृतीय „
१९ „ ४ „ „ „	४९०	„ „ „	चतुर्थ „
	२०२०		

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे २०२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

तृतीय स्पर्धक

२० करोड १ वीर्याविभाग वाले	४८०	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२० „ २ „ „ „	४७०	„ „ „	द्वितीय „
२० „ ३ „ „ „	४६०	„ „ „	तृतीय „
२० „ ४ „ „ „	४५०	„ „ „	चतुर्थ „
	१८६०		

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे १८६० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

चतुर्थ स्पर्धक

२१ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४४०	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२१ „ २ „ „ „	४३०	„ „ „	द्वितीय „
२१ „ ३ „ „ „	४२०	„ „ „	तृतीय „
२१ „ ४ „ „ „	४१०	„ „ „	चतुर्थ „
	१७००		

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १७०० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

पचम स्पर्धक

२२ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४००	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२२ „ २ „ „ „	३९०	„ „ „	द्वितीय „
२२ „ ३ „ „ „	३८०	„ „ „	तृतीय „
२२ „ ४ „ „ „	३७०	„ „ „	चतुर्थ „
	१५४०		

इस प्रकार पचम स्पर्धक मे १५४० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

२३ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३६०	आत्मप्रदेशों की	प्रथम वर्गणा
२३ „ २ „ „ „	३५०	„ „ „	द्वितीय „
२३ „ ३ „ „ „	३४०	„ „ „	तृतीय „
२३ „ ४ „ „ „	३३०	„ „ „	चतुर्थ „
	१३८०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १३८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

२४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३२० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४ „ २ „ „ „	३१० „ „ „	द्वितीय „
२४ „ ३ „ „ „	३०० „ „ „	तृतीय „
२४ „ ४ „ „ „	२९० „ „ „	चतुर्थ „
	१२२०	

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे १२२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

तीसरा योगस्थान

प्रथम स्पर्धक

७२ करोड १ वीर्याविभाग वाले	५२० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७२ „ २ „ „ „	५१० „ „ „	द्वितीय „
७२ „ ३ „ „ „	५०० „ „ „	तृतीय „
७२ „ ४ „ „ „	४९० „ „ „	चतुर्थ „
	२०२०	

इस प्रकार प्रथम स्पर्धक मे २०२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

द्वितीय स्पर्धक

७३ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४८० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७३ „ २ „ „ „	४७० „ „ „	द्वितीय „
७३ „ ३ „ „ „	४६० „ „ „	तृतीय „
७३ „ ४ „ „ „	४५० „ „ „	चतुर्थ „
	१८६०	

इस प्रकार द्वितीय स्पर्धक मे १८६० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

तृतीय

७४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४४० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७४ „ २ „ „ „	४३० „ „ „	द्वितीय „
७४ „ ३ „ „ „	४२० „ „ „	तृतीय „
७४ „ ४ „ „ „	४१० „ „ „	चतुर्थ „
	१७००	

इस प्रकार तृतीय स्पर्धक मे १७०० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

चतुर्थ स्पर्धक

७५ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	४०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७५ "	२ " " "	३९० " " "	द्वितीय "
७५ "	३ " " "	३८० " " "	तृतीय "
७५ "	४ " " "	३७० " " "	चतुर्थ "
		१५४०	

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्धक मे १५४० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

पचम स्पर्धक

७६ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	३६० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७६ "	२ " " "	३५० " " "	द्वितीय "
७६ "	३ " " "	३४० " " "	तृतीय "
७६ "	४ " " "	३३० " " "	चतुर्थ "
		१३८०	

इस प्रकार पचम स्पर्धक मे १३८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

छठा स्पर्धक

७७ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	३२० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७७ "	२ " " "	३१० " " "	द्वितीय "
७७ "	३ " " "	३०० " " "	तृतीय "
७७ "	४ " " "	२९० " " "	चतुर्थ "
		१२२०	

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे १२२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

सातवा स्पर्धक

७८ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	२८९ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७८ "	२ " " "	२८८ " " "	द्वितीय "
७८ "	३ " " "	२८७ " " "	तृतीय "
७८ "	४ " " "	२८६ " " "	चतुर्थ "
		११५०	

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे ११५० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

आठवा

७९ करोड	१ वीर्याविभाग वाले	२८४ आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
७९ "	२ " " "	२८३ " " "	द्वितीय "
७९ "	३ " " "	२८२ " " "	तृतीय "
७९ "	४ " " "	२८१ " " "	चतुर्थ "
		११३०	

इस प्रकार आठवें स्पर्धक मे ११३० आत्मप्रदेशों की चार वर्गणायें।

चौथा योगस्थान

२४१ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४८० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४१ " २ " " "	४७० " " "	द्वितीय "
२४१ " ३ " " "	४६० " " "	तृतीय "
२४१ " ४ " " "	४५० " " "	चतुर्थ "
	१८६०	

इस प्रकार प्रथम स्पर्द्धक मे १८६० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

द्वितीय स्पर्द्धक

२४२ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४४० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४२ " २ " " "	४३० " " "	द्वितीय "
२४२ " ३ " " "	४२० " " "	तृतीय "
२४२ " ४ " " "	४१० " " "	चतुर्थ "
	१७००	

इस प्रकार द्वितीय स्पर्द्धक मे १७०० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

तृतीय

२४३ करोड १ वीर्याविभाग वाले	४०० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४३ " २ " " "	३९० " " "	द्वितीय "
२४३ " ३ " " "	३८० " " "	तृतीय "
२४३ " ४ " " "	३७० " " "	चतुर्थ "
	१५४०	

इस प्रकार तृतीय स्पर्द्धक मे १५४० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

चतुर्थ स्पर्द्धक

२४४ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३६० आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४४ " २ " " "	३५० " " "	द्वितीय "
२४४ " ३ " " "	३४० " " "	तृतीय "
२४४ " ४ " " "	३३० " " "	चतुर्थ "
	१३८०	

इस प्रकार चतुर्थ स्पर्द्धक मे १३८० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

पचम स्पर्धक

२४५ करोड १ वीर्याविभाग वाले	३२०	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४५ ,, २ ,, ,, ,,	३१०	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२४५ ,, ३ ,, ,, ,,	३००	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२४५ ,, ४ ,, ,, ,,	२९०	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१२२०		

इस प्रकार पचम स्पर्धक मे १२२० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

छठा स्पर्धक

२४६ करोड १ वीर्याविभाग वाले	२८९	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४६ ,, २ ,, ,, ,,	२८८	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२४६ ,, ३ ,, ,, ,,	२८७	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२४६ ,, ४ ,, ,, ,,	२८६	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	११५०		

इस प्रकार छठे स्पर्धक मे ११५० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणाये।

सातवा स्पर्धक

२४७ करोड १ वीर्याविभाग वाले	२८४	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४७ ,, २ ,, ,, ,,	२८३	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२४७ ,, ३ ,, ,, ,,	२८२	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२४७ ,, ४ ,, ,, ,,	२८१	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	११३०		

इस प्रकार सातवें स्पर्धक मे ११३० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

आठवा स्पर्धक

२४८ करोड १ वीर्याविभाग वाले	२६९	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४८ ,, २ ,, ,, ,,	२६८	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२४८ ,, ३ ,, ,, ,,	२६७	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२४८ ,, ४ ,, ,, ,,	२६६	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	१०७०		

इस प्रकार आठवें स्पर्धक मे १०७० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

नौवा स्पर्धक

२४९ करोड १ वीर्याविभाग वाले	२३९	आत्मप्रदेशो की	प्रथम वर्गणा
२४९ ,, २ ,, ,, ,,	२३८	,, ,, ,,	द्वितीय ,,
२४९ ,, ३ ,, ,, ,,	२३७	,, ,, ,,	तृतीय ,,
२४९ ,, ४ ,, ,, ,,	२३६	,, ,, ,,	चतुर्थ ,,
	९५०		

इस प्रकार नौवें स्पर्धक मे ९५० आत्मप्रदेशो की चार वर्गणायें।

असत्कल्पना द्वारा योगस्थानो का समीकरण—

प्रथम योगस्थान मे स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२६००	४
द्वितीय	२२८०	४
तृतीय	२०२०	४
चतुर्थ	१८६०	४
पचम	१७००	४
षष्ठ	१५४०	४
६	१२०००	२४

द्वितीय योगस्थान मे स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२२८०	४
द्वितीय	२०२०	४
तृतीय	१८६०	४
चतुर्थ	१७००	४
पचम	१५४०	४
षष्ठ	१३८०	४
सप्तम	१२२०	४
७	१२०००	२८

तृतीय योगस्थान मे स्पर्धक	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	२०२०	४
द्वितीय	१८६०	४
तृतीय	१७००	४
चतुर्थ	१५४०	४
पचम	१३८०	४
षष्ठ	१२२०	४
सप्तम	११५०	४
अष्टम	११३०	४
८	१२०००	३२

चतुर्थ योगस्थान मे	आत्मप्रदेश	वर्गणा
प्रथम	१८६०	४
द्वितीय	१७००	४
तृतीय	१५४०	४
चतुर्थ	१३८०	४
पचम	१२२०	४
षष्ठ	११५०	४
सप्तम	११३०	४
अष्टम	१०७०	४
नवम	९५०	४
९	१२०००	३६

१५ योग सम्बन्धी प्ररूपणाओ का विवेचन (गाथा ५-१६ तक)

सलेश्य जीव का वीर्य–योग कर्मबध का कारण है। ग्रथकार ने इसकी प्ररूपणा निम्नलिखित दस अधिकारो द्वारा की है—

१ अविभागप्ररूपणा, २ वर्गणाप्ररूपणा, ३ स्पर्धकप्ररूपणा, ४ अन्तरप्ररूपणा, ५ स्थानप्ररूपणा, ६ अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, ७ परम्परोपनिधाप्ररूपणा, ८ वृद्धिप्ररूपणा, ९ समयप्ररूपणा, १० जीवाल्पबहुत्व-प्ररूपणा।

उन दस प्ररूपणाओ का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ अविभागप्ररूपणा—

पुद्गल द्रव्य के सबसे छोटे अविभाज्य अश को जैसे परमाणु कहते हैं, उसी तरह जिसका दूसरा भाग न हो सके ऐसा योगशक्ति का अविभाज्य अश योगाविभाग, अथवा वीर्याविभाग कहलाता है। शक्ति के इस अविभाज्य अश को अविभागप्रतिच्छेद भी कहते है।

पुद्‌गलस्कन्धो के जैसे टुकडे हो सकते हैं, वैसे उनके अन्दर रहने वाली गुणात्मक शक्ति के यद्यपि पृथक्-पृथक् टुकडे तो नही किये जा सकते है। फिर भी हम अपने सामने आने वाली वस्तुओ मे गुणो की हीनाधिकता को सहज मे ही जान लेते है और इस हीनाधिकता के असख्य प्रकार हो सकते है। जैसे कि हमारे सामने भैस, गाय और बकरी का दूध रखा जाये तो हम उसकी परीक्षा करके तुरन्त कह देते है कि इस दूध मे चिकनाई अधिक है और इसमे कम। यह तरतमता इस बात को बताती है कि शक्ति के भी अश होते है और यह अश-विभाजन ज्ञान के द्वारा ही किया जाता है।

योग भी सलेश्य जीव की शक्ति है। अत ज्ञान के द्वारा उसका अविभागरूप छेदन करने पर जघन्य और उत्कृष्ट से अविभाज्य अश असख्य लोकप्रदेशप्रमाण होते है।

सबसे जघन्य वीर्य वाले सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव के भी प्रत्येक आत्मप्रदेश पर भव के प्रथम समय मे कम-से-कम असख्यलोकप्रदेशप्रमाण वीर्याविभाग होते है और सर्वोत्कृष्ट योगधारक सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के प्रत्येक आत्मप्रदेश पर भी अधिक-से-अधिक (उत्कृष्टत) असख्यलोकप्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते हैं। लेकिन इस जघन्य और उत्कृष्ट मे अन्तर यह है कि जघन्यपदीय असख्य लोकप्रदेश से उत्कृष्ट-पदीय असख्य लोकप्रदेश असख्यात गुणे हैं।

२. वर्गणाप्ररूपणा—

घनीकृत लोक के असख्येय भागवर्ती असख्य प्रतर प्रमाण आत्मप्रदेश के समुदाय की प्रथम वर्गणा होती है। यह सबसे जघन्य वर्गणा है। इस जघन्य वर्गणा से आगे अनुक्रम से एक, दो, तीन आदि वीर्याविभाग की वृद्धि से बनने वाली जितनी भी वर्गणायें होती है, उनमे क्रमश अधिकाधिक असख्यलोकप्रदेश प्रमाण वीर्याविभाग होते है। अर्थात् अनुक्रम से वर्गणाओ मे वीर्याविभागो की वृद्धि होती जाती है और प्रत्येक वर्गणा मे जीवप्रदेश घनलोक के असख्यातभागवर्ती असख्य प्रतरप्रदेश-प्रमाण होते हैं।

इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे रुई, लकडी, मिट्टी, पत्थर, लोहा, चादी और सोना अमुक परिमाण मे लेने पर भी रुई से लकडी का, लकडी से मिट्टी का, मिट्टी से पत्थर का, पत्थर से लोहे का, लोहे से चादी का और चादी से सोने का आकार छोटा होते जाने पर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती है। इसी तरह उत्तरोत्तर वर्गणाओ मे वीर्याविभागो की अधिकता के बारे मे समझना चाहिये।

३ स्पर्धकप्ररूपणा—

उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी, इस प्रकार एक, दो, तीन आदि वीर्याविभागो की समान वृद्धि के क्रम से प्राप्त होने वाली श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणाओ का समूह स्पर्धक कहलाता है।

४ अन्तरप्ररूपणा—

वर्गणायें तो एक, दो, तीन आदि वीर्याविभागो की वृद्धि से एक स्पर्धक मे एक के बाद दूसरी, इस क्रम से जुडी हुई होती हैं। लेकिन स्पर्धक एक के बाद दूसरा, इस प्रकार के क्रम से जुडा हुआ नही होता है। किन्तु पूर्व स्पर्धक की उत्कृष्ट वर्गणा से उत्तर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बीच अन्तर होता है और यह अन्तर असख्य लोक-प्रदेश प्रमाण अविभागो का होता है।

५ स्थानप्ररूपणा—

श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धको का एक योगस्थान होता है और ऐसे सभी योगस्थान भी श्रेणी के असख्यातवें भागगत प्रदेशप्रमाण हैं।

योगस्थान के तीन भेद हैं—उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान, परिणामयोगस्थान। भवधारण करने के पहले समय मे रहने वाले जीव को उपपादयोगस्थान होता हैं। अर्थात् तत्तत् भव मे जन्म लेने वाले जीव के प्रथम समय मे जो योग होता है, वह उपपादयोगस्थान है। भवधारण करने के दूसरे समय से लेकर एक समय कम शरीरपर्याप्ति के अतर्मुहूर्त तक एकान्तानुवृद्धियोगस्थान होता है और अपने समयो मे समय-समय असख्यातगुणी अविभागप्रतिच्छेदो की वृद्धि होने से वह एकान्तानुवृद्धियोगस्थान कहलाता है और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से लेकर आयु के अत तक होने वाले योग को परिणामयोगस्थान कहते हैं। ये परिणाम-योगस्थान अपनी-अपनी शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के समय से आयु के अत समय तक सम्पूर्ण समयो मे उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी सभव हैं और जिसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती, ऐसे लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपनी आयु के अत के त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर अत समय तक स्थिति के सब भेदो मे उत्कृष्ट और जघन्य दोनो प्रकार के परिणामयोगस्थान जानना चाहिये।

६ अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा—

पूर्व-पूर्व योगस्थान से उत्तर-उत्तर के योगस्थान मे अगुल के असख्यातवें भाग गत प्रदेशराशि प्रमाण स्पर्धक अधिक हैं।

७ परम्परोप[illegible]णा—

प्रथम योगस्थान से श्रेणी के असख्यातवे भाग आगे जाकर उत्तर योगस्थान मे स्पर्धक दुगुने हो जाते है। अर्थात् प्रथम योगस्थान मे जितने स्पर्धक होते हैं, उनकी अपेक्षा श्रेणी के असख्यातवें भाग मे जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रदेशराशि प्रमाण योगस्थानो का अतिक्रमण करके अनन्तरवर्ती योगस्थान मे दुगुने स्पर्धक होते है। इसी-प्रकार इसी क्रम से अतिम योगस्थान पर्यन्त यह वृद्धि कहना चाहिये। द्विगुण-द्विगुण वृद्धिस्थानो मे ये स्पर्धक पल्य के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

द्विगुणवृद्धि के योगस्थानो की तरह द्विगुणहानि के योगस्थान भी समझना चाहिये। आरोहण करने से जो वृद्धिस्थान प्राप्त होते हैं, वे ही नीचे उतरने की अपेक्षा हानिस्थान कहलाते है। इस प्रकार वृद्धि और हानि के स्थान समान होते हैं। जिसका आशय यह है कि उत्कृष्ट योगस्थान से नीचे उतरने पर असख्यातवें भाग प्रदेशप्रमाण योगस्थानो के उल्लघन करने पर अधस्तनवर्ती योगस्थान मे पूर्व के अतिम योगस्थान के स्पर्धको की अपेक्षा आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। उसके बाद फिर उतने ही योगस्थानो का अतिक्रमण करने पर अधोवर्ती योगस्थान मे आधे स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इसी क्रम से जघन्य योगस्थान पर्यन्त कहना चाहिये। द्विगुण हानिस्थान मे भी स्पर्धक पल्य के असख्यातवें भागगत समयप्रमाण है।

८. वृद्धिप्ररूपणा—

जीव के योगस्थान की जो वृद्धि, हानि होती है, वह चार प्रकार की है—

१ असख्यभागाधिक वृद्धि, २ सख्यभागाधिक वृद्धि, ३ सख्यगुणाधिक वृद्धि, ४ असख्यगुणाधिक वृद्धि।

१ असख्येयभागहानि, २ सख्येयभागहानि, ३ सख्येयगुणहानि ४ असख्येयगुणहानि।

असख्येय गुणवृद्धि और असख्येय गुणहानि इन दोनो का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है और शेष तीन वृद्धियो और हानियो का उत्कृष्ट काल आवलिका का असख्यातवा भाग प्रमाण है।

९ समयप्ररूपणा—

पर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के जघन्य योगस्थान पर्यन्त सर्व योगस्थान से सज्ञी पचेन्द्रिय के उत्कृष्ट योग-स्थान पर्यन्त सर्व योगस्थानो को क्रमवार स्थापन करें तो कितने ही (श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण) योग-स्थान उत्कृष्ट मे चार समय की स्थिति वाले है, उससे आगे उतने योगस्थान उत्कृष्ट से पाच समय की, उससे

आगे उतने योगस्थान छह् समय की, उससे आगे उतने योगस्थान सात समय की, उससे आगे उतने योगस्थान आठ समय की स्थिति वाले हैं। उससे आगे उतने योगस्थान प्रतिलोमक्रम से सात, छह्, पाच, चार, तीन एव दो समय की स्थिति वाले है। इन सभी योगस्थानो की जघन्य स्थिति एक समय की होती है। इस प्रकार जघन्य से लेकर सर्वोत्कृष्ट योगस्थान तक के सब योगस्थानो के बारह् विभाग होते हैं—

क्रम	विभाग का नाम	योगस्थान की सख्या	समयस्थिति उ		ज
१	एक-सामयिक	श्रेणी के असख्येय भाग प्रमाण	१	—	१
२	चतु -सामयिक	"	४	—	१
३	पच-सामयिक	"	५	—	१
४	षट्-सामयिक	"	६	—	१
५	सप्त-सामयिक	"	७	—	१
६	अष्ट-सामयिक	"	८	—	१
७	सप्त-सामयिक	"	७	—	१
८	षट्-सामयिक	"	६	—	१
९	पच-सामयिक	"	५	—	१
१०	चतु -सामयिक	"	४	—	१
११	त्रि-सामयिक	"	३	—	१
१२	द्वि-सामयिक	"	२	—	१

समय की अपेक्षा ये बारह् विभागात्मक योगस्थान यवाकृति रूप होते है—

इन बारह् विभागात्मक योगस्थानो के यवाकृति रूप होने का स्पष्टीकरण यह है कि जघन्य योग के अनन्तर जैसे-जैसे वीर्यवृद्धि होती है, वैसे-वैसे चार, पाच, छह्, सात और आठ समय की और उसके पश्चात् अवरोह् के क्रम से सात, छह्, पाच, चार, तीन और दो समय तक की स्थिति होती है। जिससे यव (जौ) का मध्यभाग जैसे मोटा होता है, वैसे ही योग रूप यव का मध्यविभाग आठ समय जितनी अधिक स्थिति वाला है और यव की दोनो बाजुयें जैसे हीन-हीन होती हैं, वैसे ही योग रूप यव के अष्टसमयात्मक मध्यविभाग से सप्तसामयिक आदि उभय पार्श्ववर्ती विभाग हीन-हीन स्थिति वाले हैं।
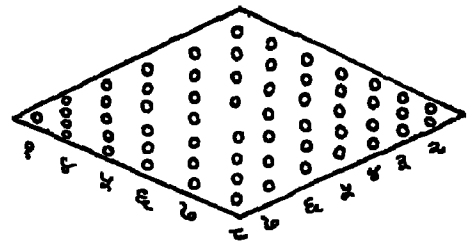
समय की अधिकता की अपेक्षा योगस्थानो का आकार यव जैसा है, लेकिन निरन्तर प्रवर्तने की अपेक्षा योगस्थानो की हीनाधिकता डमरुक के आकार जैसी होती है। अर्थात् जैसे डमरुक का मध्य भाग सकडा होता है, उसी प्रकार इस योगरूप डमरुक के मध्यभाग रूप अष्टसामयिक योगस्थान अल्प (श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण) हैं और डमरुक के पूर्वोत्तर दोनो भाग क्रमश चौडे होते जाते हैं, उसी प्रकार योगरूप डमरुक के

पूर्वोत्तर पार्श्वरूप सप्तसामयिक आदि वाले स्थान क्रमश असख्यातगुणे–असख्यातगुणे अधिक-अधिक है । अर्थात् अष्ट-सामयिक से दोनो बाजुओं के सप्तसामयिक असख्यातगुणे अधिक, सप्तसामयिक से दोनो बाजुओ के षटसामयिक असख्यातगुणे अधिक, षटसामयिक से दोनो बाजुओ के पचसामयिक असख्यातगुणे अधिक, पचसामयिक से दोनो बाजुओ के चतु सामयिक असख्यातगुणे अधिक हैं और चतु सामयिक योगस्थान तक उभयपार्श्ववर्ती सर्व-विभाग परस्पर मे तुल्य हैं । किन्तु चतु सामयिक से उत्तर पार्श्ववर्ती त्रिसामयिक और द्विसामयिक अनुक्रम से असख्यातगुणे, असख्यातगुणे है जिसका प्रारूप इस प्रकार है—
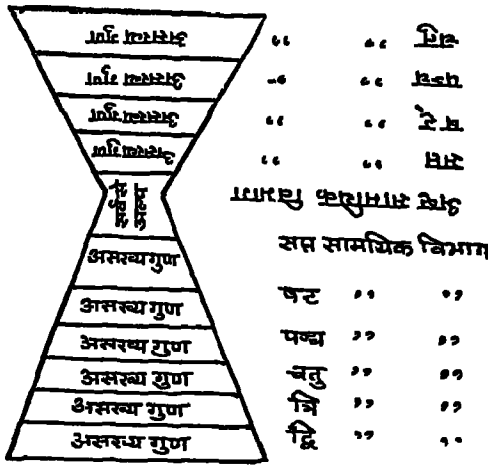
स्थान की अपेक्षा इन योगस्थानो का आकार डमरुक जैसा बताया गया है । उसका दर्शक चित्र यह है—
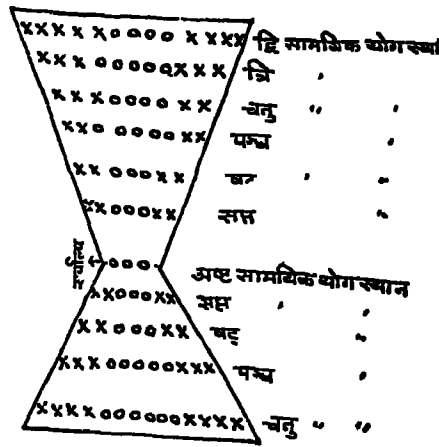
इस डमरुक के आकार मे ००० बिन्दु रूप योगस्थान हैं तथा बिन्दुओ के दोनो बाजुओ मे दिये × × चौकडी रूप निशान असख्यात गुणे के प्रतीक हैं ।

१० जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा—

गाथा १४, १५, १६ के अनुसार योगस्थानो मे विद्यमान जीवो के जघन्य, उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व के वर्णन का रूप इस प्रकार है—

अनुक्रम	जीवभेद	योगप्रकार	प्रमाण
१	लब्धि अप सूक्ष्म निगोद एकेन्द्रिय का	जघन्य योग	सब से अल्प उससे
२	„ „ बादर एकेन्द्रिय का	„	असख्य गुणित „
३	„ „ द्वीन्द्रिय का	„	„ „
४	„ „ त्रीन्द्रिय का	„	„ „
५	„ „ चतुरिन्द्रिय का	„	„ „
६	„ „ असज्ञी पचेन्द्रिय का	„	„ „
७	„ „ सज्ञी पचेन्द्रिय का	„	„ „
८	„ „ सूक्ष्म निगोद (एकेन्द्रिय) का	उत्कृष्ट योग	„ „
९	„ „ बादर एकेन्द्रिय	„	„ „
१०	पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय का	जघन्य योग	„ „
११	„ बादर „ का	„	„ „
१२	„ सूक्ष्म निगोद का	उत्कृष्ट योग	„ „
१३	„ बादर एकेन्द्रिय का	„	„ „
१४	लब्धि अप द्वीन्द्रिय का	„	„ „
१५	„ „ त्रीन्द्रिय का	„	„ „
१६	„ „ चतुरिन्द्रिय का	„	„ „
१७	„ „ असज्ञी पचेन्द्रिय का	„	„ „
१८	„ „ सज्ञी „ का	„	„ „
१९	पर्याप्त द्वीन्द्रिय का	जघन्य योग	„ „
२०	„ त्रीन्द्रिय का	„	„ „
२१	„ चतुरिन्द्रिय का	„	„ „
२२	„ असज्ञी पचेन्द्रिय का	„	„ „
२३	„ सज्ञी „ „	„	„ „
२४	„ द्वीन्द्रिय का	उत्कृष्ट योग	„ „
२५	„ त्रीन्द्रिय का	„	„ „
२६	„ चतुरिन्द्रिय का	„	„ „
२७	„ असज्ञी पचेन्द्रिय का	„	„ „
२८	„ अनुत्तर देवो का	„	„ „
२९	„ ग्रैवेयक देवो का	„	„ „
३०	„ भोगभूमिज ति म का	„	„ „
३१	„ आहारक शरीरधारी का	„	„ „
३२	„ शेष देव, नारक, तिर्यच, मनुष्य का	„	„ „

पूर्वोत्तर की अपेक्षा सर्वत्र असख्येय गुणाकार सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असख्येय भागगत प्रदेश राशिप्रमाण समझना चाहिये।

१६ वर्गणाओं के वर्णन का सारांश एवं विशेषावश्यकभाष्यगत व्याख्या का स्पष्टीकरण

यह लोक पुद्गलपरमाणुओ से खचाखच व्याप्त है। जो अपने-अपने समगुण और समसख्या वाले समूहो मे वर्गीकृत हैं और इनके सयोग से ससारी जीव के शरीर, इन्द्रिय आदि की रचना होती है।

कर्मशास्त्र मे इन समगुण और समसख्या वाले पुद्गल परमाणुओ के समुदाय के लिये वर्गणा शब्द का प्रयोग किया जाता है। वर्गणायें एक-एक परमाणु से लेकर द्वि, त्रि, चतु आदि सख्यात, असख्यात, अनन्त, अनन्तानन्त, सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीवो से अनन्तगुणे आदि प्रदेशो वाली हो सकती है।

ये वर्गणायें दो भागो मे विभाजित हैं—ग्रहण और अग्रहण वर्गणा। सलेश्य जीव के द्वारा जो वर्गणायें ग्रहण की जाती हैं और गहण करने योग्य हैं, उन्हे ग्रहणवर्गणा कहते हैं और जो ग्रहण करने योग्य नही हैं, वे अग्रहणवर्गणा कहलाती हैं। अग्रहणवर्गणाओ की अग्रहणता के तीन कारण है—पहला यह कि ऐसी बहुत-सी वर्गणाए हैं जो अल्प प्रदेशवाली होने से ससारी जीवो द्वारा ग्रहण करने योग्य नही होती है। दूसरा यह कि जितनी सख्या वाले परमाणु जीव द्वारा ग्रहण किये जाते है, परमाणुओ की उतनी-उतनी सख्या उन वर्गणाओ मे होने पर भी जीव मे तत्तद् ग्रहणयोग्य क्षमता नही होने से ग्रहणयोग्य नही बन पाती है। तीसरा यह कि कुछ कभी भी जीव के ग्रहणयोग्य नही बनती हैं।

कर्मसिद्धान्त मे इन सब ग्रहण और अग्रहण वर्गणाओ को निम्नलिखित छब्बीस विभागो मे वर्गीकृत किया गया है—

१ अग्रहण, २ औदारिक, ३ अग्रहण, ४ वैक्रिय, ५ अग्रहण, ६ आहारक, ७ अग्रहण, ८ तैजस, ९ अग्रहण, १० भाषा, ११ अग्रहण, १२ श्वासोच्छ्वास १३ अग्रहण, १४ मन, १५ अग्रहण, १६ कार्मण, १७ ध्रुवाचित्त, १८ अध्रुवाचित्त, (सान्तर निरतरा), १९ ध्रुवशून्य, २० प्रत्येकशरीरी, २१ ध्रुवशून्य, २२ बादरनिगोद, २३ ध्रुवशन्य, २४ सूक्ष्मनिगोद, २५ ध्रुवशून्य, २६ महास्कन्ध।

कर्मप्रकृति, पचसग्रह आदि कर्मग्रथो मे तथा विशेषावश्यकभाष्य मे इन वर्गणाओ का वर्णन किया है। लेकिन दोनो के वर्णन मे समानता भी है और असमानता भी है। जिसको यहा स्पष्ट करते हैं।

कर्मप्रकृति तथा पचसग्रह मे परमाणुवर्गणा के अर्थ मे सर्व परमाणुओ के लिये पृथक्-पृथक् वर्गणा शब्द कहा है। इसी प्रकार द्विपरमाणु आदि सभी वर्गणायें कही हैं। जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि परमाणुवर्गणा अनन्त हैं, द्विपरमाणु वर्गणायें भी अनन्त है इत्यादि, परन्तु कर्मग्रन्थ (श्री देवेन्द्रसूरि विरचित) मे तो सर्व परमाणुओ के सग्रह अर्थ में परमाणुवर्गणा का प्रयोग किया है। इसी प्रकार द्विपरमाणुस्कन्धो के सग्रह के लिये द्विपरमाणुवर्गणा कही है। अर्थात् परमाणुवर्गणा एक है किन्तु अनन्त नही हैं। द्विपरमाणुवर्गणा एक और स्कन्ध अनन्त, त्रिपरमाणुवर्गणा एक परन्तु स्कन्ध अनन्त, इस प्रकार कहा है।

कर्मप्रकृति, पचसग्रह और कर्मग्रन्थ के उक्त कथन मे अन्तर यह है कि कर्मग्रन्थकार तो द्विपरमाणु-वाचक अनन्त स्कन्धो को एक वर्गणा कहते हैं, जबकि कर्मप्रकृति के टीकाकार आचार्य मलयगिरि द्विपरमाणु रूप जो अनन्त स्कन्ध हैं, वे द्विपरमाणु रूप अनन्त वर्गणायें है। इस अर्थ मे स्कन्ध और वर्गणा इन दो शब्दो मे विशेषता का अभाव है, क्योकि तब तो जो द्विपरमाणु रूप एक स्कन्ध ही द्विपरमाणु रूप एक वर्गणा हो जायेगा।

यदि कर्मग्रन्थकार और कर्मप्रकृति के टीकाकार आचार्य मलयगिरि के कथन का अपेक्षापूर्वक विचार किया जाये तो आचार्य मलयगिरि के कथनानुसार स्कन्ध और वर्गणा एकरूप हैं और श्रीमद् देवेन्द्रसूरि के अनुसार स्कन्ध और वर्गणा अलग-अलग हैं।

विशेषावश्यकभाष्य मे वर्गणाओ के विचार का प्रारभ तो कर्मग्रथ के अनुरूप है। गाथा ६३३, ३४, ३५ की मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने जो व्याख्या की है, उसका साराश यह है—यहा वर्गणा शब्द सजातीय समुदाय की अपेक्षा कहा गया होने से सर्व परमाणुओ का सग्रह परमाणु नाम वाली वर्गणा होती है और द्विपरमाणु रूप एक ही वर्गणा मे सर्व द्विप्रदेशिक स्कन्धो का सग्रह होता है। लेकिन उसके बाद के वर्णन मे भिन्नता है, यथा परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक की अनन्त वर्गणायें औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य हैं, तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें औदारिकशरीर ग्रहणप्रायोग्य है। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें पुन औदारिक शरीर के अग्रहणप्रायोग्य है। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें वैक्रियशरीर के अग्रहणप्रायोग्य है। तत्पश्चात् एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध वाली अनन्त वर्गणायें वैक्रियशरीर के ग्रहणप्रायोग्य हैं। तदनन्तर एक-एक परमाणु अधिक स्कन्ध रूप अनन्त वर्गणायें पुन वैक्रियशरीर के अग्रहणप्रायोग्य है। इसप्रकार जीव की ग्रहणप्रायोग्य आठ वर्गणाओ का तीन-तीन रूप से कहने पर चौबीस वर्गणायें इसप्रकार होती हैं—

१ औदारिक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २ औदारिक-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ३ औदारिक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ४ वैक्रिय-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ५ वैक्रिय-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ६ वैक्रिय-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ७ आहारक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ८ आहारक-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ९ आहारक-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १० तैजस्-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, ११ तैजस्-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १२ तैजस्-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १३ भाषा-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १४ भाषा-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १५ भाषा-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १६ श्वासोच्छ्वास-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १७ श्वासोच्छ्वास-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १८ श्वासोच्छ्वास-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, १९ मन-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २० मन-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २१ मन-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २२ कार्मण-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २३ कार्मण-ग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा, २४ कार्मण-अग्रहण-प्रायोग्य वर्गणा।

विशेषावश्यकभाष्य मे दो ग्रहण वर्गणाओ के मध्य मे दो अग्रहण वर्गणायें मानी है, लेकिन एक ही अग्रहण वर्गणा का जो आधा भाग जिस शरीर आदि के समीप आया है, उस शरीर आदि के नाम की विवक्षा से एक ही अग्रहण वर्गणा का दो-दो नाम से उल्लेख किया है। कर्मग्रथो एव पचसग्रह और कर्मप्रकृति मे इस प्रकार का पार्थक्य न कर ग्रहणवर्गणा के बाद वहा अग्रहण और ग्रहण की अपेक्षा सोलह प्रकार माने हैं। आपेक्षिक कथन होने से विवेचन मे किसी प्रकार का अन्तर नही समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भाष्यवर्णन मे निम्नलिखित अन्तर और है—

२५ प्रथम ध्रुव वर्गणा, २६ अध्रुव वर्गणा, २७ शून्यान्तर वर्गणा, २८ अशून्यान्तर वर्गणा, २९ प्रथम ध्रुवान्तर वर्गणा, ३० द्वितीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३१ तृतीय ध्रुवान्तर वर्गणा, ३२ चतुर्थ ध्रुवान्तर वर्गणा, ३३ औदारिकतनु वर्गणा, ३४ वैक्रियतनु वर्गणा, ३५ आहारकतनु वर्गणा, ३६ तैजस्तनु वर्गणा, ३७ मिश्रस्कन्ध वर्गणा, ३८ अचित्त महास्कन्ध वर्गणा।

भाष्य मे किये गये वर्गणाओ के वर्णन को गाथा ६३३ से लेकर ६५३ तक देखिये।

इन सब वर्गणाओ का अवगाह अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट महास्कन्ध वर्गणा पर्यन्त यद्यपि सभी वर्गणायें परमाणुओ की अपेक्षा अनुक्रम से मोटी है और अनुक्रम से मोटी होते जाने पर भी प्रत्येक मल वर्गणा मे की एक-एक उत्तर वर्गणा अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण के अवगाह वाली ही है और यदि इन प्रत्येक उत्तर वर्गणाओ मे समुदाय की अपेक्षा क्षेत्रावगाह की विवक्षा करें तो परमाणु से लेकर सर्वोत्कृष्ट महा-स्कन्ध वर्गणा तक की सब उत्तर वर्गणायें भी प्रत्येक अनन्तानत हैं और समुच्चय की अपेक्षा समस्त लोकाकाश प्रमाण अवगाह वाली है।

दिगम्बर कर्मग्रथो मे भी वर्गणाओ का विचार किया गया है। उस वणन मे कुछ विभिन्नताओ के रहने पर भी प्राय समानता है। वहाँ वर्गणाओ के निम्नलिखित २३ भेद है—

अणुवर्गणा, सख्याताणुवर्गणा, असख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तर-निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर, इन तीन वर्गणाओ का ग्रहण किया है।

१७. नामप्रत्ययस्पर्धक और प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणाओ का साराश

नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा

बधन नामकर्म के उदय से परस्पर बधे हुए शरीरपुद्गलो के स्नेह के निमित्त वाले स्पर्धक की प्ररूपणा को नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहते है। इस प्ररूपणा के निम्नाकित छह अनुयोगद्वार है—

१ अविभागप्ररूपणा, २ वर्गणाप्ररूपणा, ३ स्पर्धकप्ररूपणा, ४ अन्तरप्ररूपणा, ५ वर्गणागत पुद्गलस्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा, ६ स्थानप्ररूपणा।

१ अविभागप्ररूपणा—औदारिकादि पाच शरीरप्रायोग्य परमाणुओ के रस के निर्विभाज्य अश (गुणपरमाणु, भावपरमाणु)।

२ वर्गणाप्ररूपणा—सर्व जीवराशि से अनन्त गुणे अविभागो की प्रथम वर्गणा (प्रथम शरीरस्थान मे सब से कम और समान स्नेह वाले परमाणुओ का समुदाय)।

३ स्पर्धकप्ररूपणा—प्रथम वर्गणा के अनन्तर एक-एक स्नेहाविभाग से बढते-बढते पुद्गलो के समुदाय रूप अभव्य से अनन्तगुणी वर्गणाओ का प्रथम स्पर्धक। प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से द्वितीय स्पर्धक की पहली वर्गणा मे दुगने स्नेहाविभाग, तीसरे स्पर्धक की पहली वर्गणा मे तिगुने। इस तरह जितनी सख्या का स्पर्धक हो, उतने गुणे स्नेहाविभाग उस स्पर्धक की प्रथम वर्गणा मे जानना चाहिये।

४ अन्तरप्ररूपणा—पूर्व स्पर्धक की अन्त्य वर्गणा और द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के मध्य सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे रसाविभागो जितना अन्तर है और एक स्थान मे स्थान के एक हीन स्पर्धकप्रमाण अन्तर है।

वर्गणाओ मे वृद्धि दो प्रकार की होती है—अनन्तरवृद्धि, परपरवृद्धि। अनन्तर क्रम से दो वृद्धिया होती है—एक-एक अविभाग वृद्धि और अनन्तानन्त अविभागवृद्धि। एक-एक अविभागवृद्धि एक स्पर्धक स्थित वर्गणाओ मे होती है तथा परपरा से प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, ये छहो वृद्धिया जानना चाहिए।

५ वर्गणागत पुद्गल-स्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा—प्रथम शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा मे स्नेहाविभाग अल्प, उससे दूसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा मे अनन्तगुणे, इसी प्रकार अन्तिम शरीरस्थान तक जानना चाहिए।

६ स्थानप्ररूपणा—अभव्यो से अनन्तगुणे और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक का प्रथम शरीरप्रायोग्य-स्थान होता है। उससे बाद के स्थानो मे षट्स्थानो (वृद्धि रूप छहस्थान) के क्रम से स्पर्धकवृद्धि समझना चाहिये। समस्त शरीरस्थान असख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण एव सर्व षट्स्थान असख्य है।

प्रयोग प्ररूपणा—

योग के निमित्त से ग्रहण किये हुए पुद्गलो के स्नेह सम्बन्धी स्पर्धक की प्ररूपणा।

इस प्ररूपणा मे निम्नलिखित पाच अनुयोगद्वार है— १ अविभागप्ररूपणा, २ वर्गणाप्ररूपणा, ३ स्पर्धकप्ररूपणा, ४ अन्तरप्ररूपणा, ५ स्थानप्ररूपणा। इन पाचो प्ररूपणाओ का वर्णन नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा के अनुरूप जानना चाहिये।

प्रथम स्थानसम्बन्धी प्रथम वर्गणा मे समस्त पुद्गलो के स्नेहाविभाग अल्प होते है, उससे दूसरे शरीरस्थान की प्रथम वर्गणा के सर्व स्नेहाविभाग अनन्तगुणे, इसी प्रकार सबसे अन्तिम शरीरस्थान की वर्गणा तक अनुक्रम से अनन्तगुणे जानना चाहिए।

१८. मोदक के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिबंध आदि चारो अंशो का स्पष्टीकरण

जीव के बधनकरण रूप वीर्यविशेष की सामर्थ्य से बधने वाले कर्मपुद्गलो के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश, इन चारो विभागो को मोदक के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है।

जैसे वायुविनाशक द्रव्य से निष्पन्न लड्डू स्वभाव से वायु को उपशात करते है, पित्तनाशक द्रव्य से निर्मित लड्डू पित्त को और कफविनाशक द्रव्य से बने हुए लड्डू कफ को शात करते हैं। इसप्रकार मोदक का जो पित्तोपशामक आदि स्वभाव है, वह मोदक की प्रकृति कहलाती है। उनमे से किसी मोदक की स्थिति एक दिन, किसी की दो दिन और किसी की यावत् एक मास आदि होती है, वह मोदक की स्थिति कहलाती है तथा उनमे के किसी मोदक मे स्निग्ध, मधुरादि रस एकस्थानक होता है, किसी मे द्विस्थानक आदि होता है, वह मोदक का रस कहलाता है तथा उसी मोदक का कण आदि रूप प्रदेश किसी का एक तोला प्रमाण, किसी का दो तोला प्रमाण इत्यादि होता है, वह मोदक का प्रदेश कहलाता है। इसीप्रकार कर्मदलिको मे से कोई ज्ञान गुण को आवृत्त करता है, कोई दर्शन गुण को तो कोई सुख-दु ख उत्पन्न करता है और कोई मोह उत्पन्न करता है। इसप्रकार का स्वरूप कर्म की प्रकृति है तथा उसी कर्म मे से किसी की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी, तो किसी की सत्तर कोडाकोडी सागर इत्यादि कालप्रमाण स्थिति, वह कर्म की स्थिति कहलाती है जो यथास्थान समझ लेना चाहिये तथा रस भी किसी कर्म का एकस्थानक और किसी का द्विस्थानक इत्यादि। किसी कर्म के प्रदेश अधिक होते है और किसी के अधिकतर होते हैं इत्यादि।

इसप्रकार के बध के नाम क्रमश प्रकृतिबध, स्थितिबध, रसबध और प्रदेशबध है।

१९ मूल और उत्तर प्रकृतियो में प्रदेशाग्राल्पबहुत्व दर्शक सारिणी

मूल प्रकृतियो मे कर्मदल का विभाग

क्रम	कर्म का नाम	अल्प-बहुत्व		
१	आयु कर्म	अल्प (तो भी अनन्त) उससे		
२	नाम ,,	विशेषाधिक	,,	स्वस्थान मे दोनो का तुल्य
३	गोत्र ,,			
४	ज्ञानावरण कर्म			
५	दर्शनावरण ,,	विशेषाधिक	,,	स्वस्थान मे तीनो का तुल्य
६	अन्तराय ,,			
७	मोहनीय ,,	,,	,,	
८	वेदनीय ,,	,,	,,	

उत्तर प्रकृतियो मे उत्कृष्ट तथा जघन्य-प्रदेशाग्र अल्पबहुत्व

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्टपद	जघन्यपद
१	केवल ज्ञानावरण	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
२	मनपर्याय "	अनन्तगुण	"
३	अवधि "	विशेषाधिक	"
४	श्रुत "	"	"
५	मति "	"	"
६	प्रचला	अल्प	विशेषाधिक (२)
७	निद्रा	विशेषाधिक	अल्प (१)
८	प्रचला-प्रचला	"	विशेषाधिक (४)
९	निद्रा-निद्रा	"	" (३)
१०	स्त्यानर्द्धि	"	" (५)
११	केवल दर्शना	"	"
१२	अवधि "	"	"
१३	अचक्षु "	"	"
१४	चक्षु "	"	"
१५	असाता वेदनीय	अल्प	जघन्य पद नही
१६	साता "	विशेषाधिक	"
१७	अप्रत्या मान	अल्प	अल्प
१८	" क्रोध	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१९	" माया	"	"
२०	" लोभ	"	"
२१	प्रत्या मान	"	"
२२	" क्रोध	"	"
२३	" माया	"	"
२४	" लोभ	"	"
२५	अनन्ता मान	"	"
२६	" क्रोध	"	"
२७	" माया	"	"
२८	" लोभ	"	"
२९	मिथ्यात्व	"	"

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्टपद		जघन्यपद
३०	जुगुप्सा	अनन्तगुण		अनन्त गुणा
३१	भय	विशेषाधिक		विशेषाधिक
३२	हास्य-शोक	"	स्वस्थान मे तुल्य	"
३३	रति-अरति	"	"	"
३४	स्त्री-नपुसक वेद	"	"	" तीन मे से एक
३५	सज्वलन क्रोध	"		" (२)
३६	" मान	"		" (१)
३७	पुरुषवेद	"		
३८	सज्वलन माया	"		" (३)
३९	" लोभ	असख्यात गुणा		" (४)
४०	देवायु			विशेषाधिक
४१	नरकायु			"
४२	तिर्यंचायु	परस्पर तुल्य	ति म आयु	अल्प
४३	मनुष्यायु		दे न "	असख्य गुण
४४	देवगति			असख्य गुण
४५	नरक गति	अल्प		"
४६	मनुष्यगति	विशेषाधिक		विशेषाधिक
४७.	तिर्यंचगति	"		अल्प
४८	द्वीन्द्रिय			उत्कृष्ट पदवत
४९	त्रीन्द्रिय			"
५०	चतुरिन्द्रिय	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	"
५१	पचेन्द्रिय			"
५२	एकेन्द्रिय	विशेषाधिक		"
५३	आहा शरीर	अल्प		असख्यगुण (५)
५४	वैक्रिय "	विशेषाधिक		" (४)
५५	औदारिक "	"		अल्प (१)
५६	तैजस "	"		विशेषाधिक (२)
५७	कार्मण "	"		" (३)
५८	आ आ बधन	अल्प		जघन्यपद नही है
५९	आ तै "	विशेषाधिक		"
६०	आ का "	"		"

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद		जघन्य पद
६१	आ तै का बधन	विशेषाधिक		जघन्य पद नही है
६२	वै वै ,,	,,		,,
६३	वै तै ,,	,,		,,
६४	वै का ,,	,,		,,
६५	वै तै का ,,	,,		,,
६६	औ औ ,,	,,		,,
६७	औ तै ,,	,,		,,
६८	औ का ,,	,,		,
६९	औ तै का ,,	,,		,,
७०	तै तै ,,	,,		,,
७१	तै का ,,	,,		,,
७२	का का ,,	,,		,,
७३	आहारक सघात	अल्प		असख्यगुण (५)
७४	वैक्रि ,,	विशेषाधिक		,, (४)
७५	औदा ,,	,,		अल्प (१)
७६	तैजस ,,	,,		विशेषाधिक (२)
७७	कार्मण ,,	,,		,, (३)
७८	न्यग्रोध सस्थान	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	जघन्य पद नही है
७९	सादि ,,			,,
८०	वामन ,,			,,
८१	कुब्ज ,,			,,
८२	समच० ,,	विशेषाधिक		,,
८३	हुण्डक ,,	,,		,,
८४	आहा अगोपाग	अल्प		असख्य गुण (३)
८५	वैक्रिय ,,	विशेषाधिक		,, (२)
८६	औदारिक ,,	,,		अल्प (१)
८७	व ऋ ना	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	जघन्य पद नही है
८८	ऋ ना			,,
८९	ना			,,
९०	अर्द्ध ना			,,
९१	कीलिका			,,
९२	सेवार्त	विशेषाधिक		,,
				,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्टपद		जघन्यपद
३०	जुगुप्सा	अनन्तगुण		अनन्त गुणा
३१	भय	विशेषाधिक		विशेषाधिक
३२	हास्य-शोक	„	स्वस्थान मे तुल्य	„
३३	रति-अरति	„	„	„
३४	स्त्री-नपुसक वेद	„	„	„ तीन मे से एक
३५	सज्वलन क्रोध	„		„ (२)
३६	„ मान	„		„ (१)
३७	पुरुषवेद	„		
३८	सज्वलन माया	„		„ (३)
३९	„ लोभ	असख्यात गुणा		„ (४)
४०	देवायु			विशेषाधिक
४१	नरकायु			„
४२	तिर्यंचायु	परस्पर तुल्य	ति म आयु	अल्प
४३	मनुष्यायु		दे न „	असख्य गुण
४४	देवगति			गुण
४५	नरक गति	अल्प		„
४६	मनुष्यगति	विशेषाधिक		विशेषाधिक
४७	तिर्यंचगति	„		अल्प
४८	द्वीन्द्रिय			उत्कृष्ट पदवत
४९	त्रीन्द्रिय			„
५०	चतुरिन्द्रिय	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	„
५१	पचेन्द्रिय			„
५२	एकेन्द्रिय	विशेषाधिक		„
५३	आहा शरीर	अल्प		असख्यगुण (५)
५४	वैक्रिय „	विशेषाधिक		„ (४)
५५	औदारिक „	„		अल्प (१)
५६	तैजस „	„		विशेषाधिक (२)
५७	कार्मण „	„		„ (३)
५८	आ आ बधन	अल्प		जघन्यपद नहीं है
५९	आ तै „	विशेषाधिक		„
६०	आ का „	„		„

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद	जघन्य पद
१२५	उपघात	अल्पबहुत्व नही है	"
१२६	पराघात	"	"
१२७	अगुरुलघु	"	"
१२८	तीर्थंकर	"	"
१२९	त्रस	अल्प	अल्प
१३०	स्थावर	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३१	पर्याप्त	अल्प	अल्प
१३२	अपर्याप्त	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३३	स्थिर	अल्प	जघन्य पद नही है
१३४	अस्थिर	विशेषाधिक	"
१३५	शुभ	अल्प	"
१३६	अशुभ	विशेषाधिक	"
१३७	सुभग	अल्प	"
१३८	दुर्भग	विशेषाधिक	"
१३९	आदेय	अल्प	"
१४०	अनादेय	विशेषाधिक	"
१४१	सूक्ष्म	अल्प	विशेषाधिक
१४२	बादर	विशेषाधिक	अल्प
१४३	प्रत्येक	अल्प	अल्प
१४४	साधारण	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१४५	अयश कीर्ति	अल्प	—
१४६	यश कीर्ति	सख्यात गुण	—
१४७	नीचगोत्र	अल्प	जघन्य पद नही है
१४८	उच्चगोत्र	विशेषाधिक	"
१४९	दान-अन्तराय	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
१५०	लाभ "	विशेषाधिक	"
१५१	भोग "	"	"
१५२	उपभोग "	"	"
१५३	वीर्य "	"	"

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद		जघन्य पद
९३	कृष्ण	अल्प		जघन्य पद नही है
९४	नील	विशेषाधिक		,,
९५	रक्त	,,		,,
९६	पीत	,,		,,
९७	श्वेत	,,		,,
९८	सुरभि	अल्प		,,
९९	दुरभि	विशेषाधिक		,,
१००	कटु	अल्प		,,
१०१	तिक्त	विशेषाधिक		,,
१०२	कषाय	,,		,,
१०३	अम्ल	,,		,,
१०४	मधुर	,,		,,
१०५	खर }			,,
१०६	गुरु }	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	,,
१०७	मृदु }		,,	,,
१०८	लघु }	विशेषाधिक	,,	,,
१०९	रूक्ष }		,,	,,
११०	शीत }	विशेषाधिक	,,	,,
१११	स्निग्ध }			,,
११२	उष्ण }	विशेषाधिक		,,
११३	देवानुपूर्वी }	अल्प		उत्कृष्ट पदवत्
११४	नरकानुपूर्वी }			,,
११५	मनुष्यानुपूर्वी	विशेषाधिक		,,
११६	तिर्यचानुपूर्वी	,,		,,
११७	आतप }			जघन्य पद नही है
११८	उद्योत }			,,
११९	शुभ वि गति }			
१२०	अशुभ वि ,, }	परस्पर तुल्य		,,
१२१	सुस्वर }			,,
१२२	दुस्वर }			,,
१२३	निर्माण	अल्पबहुत्व नही है		,,
१२४	उच्छ्वास	,,		,,

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद	जघन्य पद
१२५	उपघात	अल्पबहुत्व नही है	"
१२६	पराघात	"	"
१२७	अगुरुलघु	"	"
१२८	तीर्थंकर	"	"
१२९	त्रस	अल्प	अल्प
१३०	स्थावर	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३१	पर्याप्त	अल्प	अल्प
१३२	अपर्याप्त	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३३	स्थिर	अल्प	जघन्य पद नही है
१३४	अस्थिर	विशेषाधिक	"
१३५	शुभ	अल्प	"
१३६	अशुभ	विशेषाधिक	"
१३७	सुभग	अल्प	"
१३८	दुर्भग	विशेषाधिक	"
१३९	आदेय	अल्प	"
१४०	अनादेय	विशेषाधिक	"
१४१	सूक्ष्म	अल्प	विशेषाधिक
१४२	बादर	विशेषाधिक	अल्प
१४३	प्रत्येक	अल्प	अल्प
१४४	साधारण	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१४५	अयश कीर्ति	अल्प	—
१४६	यश कीर्ति	सख्यात गुण	—
१४७	नीचगोत्र	अल्प	जघन्य पद नही है
१४८	उच्चगोत्र	विशेषाधिक	"
१४९	दान-अन्तराय	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
१५०	लाभ "	विशेषाधिक	"
१५१	भोग "	"	"
१५२	उपभोग "	"	"
१५३	वीर्य "	"	"

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद		जघन्य पद
९३	कृष्ण	अल्प		जघन्य पद नही है
९४	नील	विशेषाधिक		„
९५	रक्त	„		„
९६	पीत	„		„
९७	श्वेत	„		„
९८	सुरभि	अल्प		„
९९	दुरभि	विशेषाधिक		„
१००	कटु	अल्प		„
१०१	तिक्त	विशेषाधिक		„
१०२	कषाय	„		„
१०३	अम्ल	„		„
१०४	मधुर	„		„
१०५	खर			„
१०६	गुरु	अल्प	स्वस्थान मे तुल्य	„
१०७	मृदु		„	„
१०८	लघु	विशेषाधिक	„	„
१०९	रूक्ष		„	„
११०	शीत	विशेषाधिक	„	„
१११	स्निग्ध			„
११२	उष्ण	विशेषाधिक		„
११३	देवानुपूर्वी	अल्प		उत्कृष्ट पदवत्
११४	नरकानुपूर्वी			„
११५	मनुष्यानुपूर्वी	विशेषाधिक		„
११६	तिर्यंचानुपूर्वी	„		„
११७	आतप			जघन्य पद नही है
११८	उद्योत			„
११९	शुभ वि गति			
१२०	अशुभ वि „	परस्पर तुल्य		„
१२१	सुस्वर			„
१२२	दुस्वर			„
१२३	निर्माण	अल्पबहुत्व नही है		„
१२४	उच्छ्वास	„		„

क्रम	कर्म का नाम	उत्कृष्ट पद	जघन्य पद
१२५	उपघात	अल्पबहुत्व नही है	"
१२६	पराघात	"	"
१२७	अगुरुलघु	"	"
१२८	तीर्थंकर	"	"
१२९	त्रस	अल्प	अल्प
१३०	स्थावर	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३१	पर्याप्त	अल्प	अल्प
१३२	अपर्याप्त	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१३३	स्थिर	अल्प	जघन्य पद नही है
१३४	अस्थिर	विशेषाधिक	"
१३५	शुभ	अल्प	"
१३६	अशुभ	विशेषाधिक	"
१३७	सुभग	अल्प	"
१३८	दुर्भग	विशेषाधिक	"
१३९	आदेय	अल्प	"
१४०	अनादेय	विशेषाधिक	"
१४१	सूक्ष्म	अल्प	विशेषाधिक
१४२	वादर	विशेषाधिक	अल्प
१४३	प्रत्येक	अल्प	अल्प
१४४	साधारण	विशेषाधिक	विशेषाधिक
१४५	अयश कीर्ति	अल्प	—
१४६	यश कीर्ति	सख्यात गुण	—
१४७	नीचगोत्र	अल्प	जघन्य पद नही है
१४८	उच्चगोत्र	विशेषाधिक	"
१४९	दान-अन्तराय	अल्प	उत्कृष्ट पदवत्
१५०	लाभ "	विशेषाधिक	"
१५१	भोग "	"	"
१५२	उपभोग "	"	"
१५३	वीर्य "	"	"

२०. रसाविभाग और स्नेहाविभाग के अन्तर का स्पष्टीकरण

कर्मरस के वर्णन के प्रसग मे अनेक स्थानो पर स्नेह शब्द का और स्नेहस्पर्धक के वर्णन के प्रसग मे रस शब्द आता है। इस पद से अनुमान होता है कि स्नेह और कर्मरस ये दोनो एक होना चाहिये। परन्तु पुद्गलो का स्नेह और अनुभाग रूप रस, ये दोनो एक नही है, परन्तु भिन्न हैं। उस भिन्नता का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कार्यभेद—कर्मस्कन्धो को परस्पर सबद्ध करना स्नेह का कार्य है और तदनुरूप (जिस कर्म का जो स्वभाव है, उस स्वभाव रूप) जीव को तीव्रमदादि शुभाशुभ अनुभव कराना अनुभाग का कार्य है। इस प्रकार कार्य-भेद से स्नेह और अनुभाग ये दोनो भिन्न है।

वस्तुभेद—स्नेह यह कर्माणुओ मे विद्यमान स्निग्ध स्पर्श है और अनुभाग तदनुरूप अनुभव की तीव्र-मदता है अथवा तदनुरूप तीव्रमदादि अनुभव है। इस प्रकार वस्तुभेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनो भिन्न है।

कारणभेद—कर्मस्कन्धो मे स्नेह का कारण स्निग्ध स्पर्श रूप पुद्गल परिणाम है और अनुभाग की उत्पत्ति मे जीव के काषायिक अध्यवसाय यही कारणरूप है। इस प्रकार कारणभेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनो भिन्न हैं।

पूर्वापरोत्पत्तिभेद—कर्म अथवा कार्मण देह रूप पुद्गलो के स्नेहाविभाग कर्म परिणाम से पूर्व (तत्कर्मयोग्य परिणत होने के पहले) उत्पन्न हुए होते है और अनुभाग की उत्पत्ति कर्मपरिणाम के समय ही अर्थात् कर्म-प्रायोग्य पुद्गल पहले अकर्म रूप अथवा कार्मणवर्गणा रूप होते है और वे जब कर्मरूप मे परिणत होते हैं यानी जीव के साथ सबद्ध होते है, तब होता है और सचेतन कहलाने लगते हैं। इस प्रकार पूर्वापरोत्पत्ति भेद से भी स्नेह और अनुभाग ये दोनो भिन्न है।

पर्यायभेद—स्नेह स्निग्धस्पर्श की पर्याय है और काषायिक अध्यवसायो से सयुक्त कर्मदलिक के गुण, अनुभाग, रस, अनुभाव, अनुभव, तीव्रता-मदता ये अनुभाग की पर्याय है।

प्ररूपणाभेद—स्नेह की प्ररूपणा स्नेहप्रत्यय, नामप्रत्यय और प्रयोगप्रत्यय रूप से की गई है और अनुभाग की प्ररूपणा शुभ-अशुभ, घाति-अघाति, एकस्थानक, द्विस्थानक इत्यादि रूप मे की जाती है। इस प्रकार भी स्नेह और अनुभाग ये दोनो भिन्न है।

साराश यह है कि स्नेह के वर्णन मे जहा पर भी रस शब्द आता है, वहा रस शब्द स्नेह का वाचक है परन्तु अनुभागवाचक नही है तथा कर्मरस के सम्बन्ध मे जहा भी स्नेह शब्द आता है, वहा उस स्नेह शब्द को कर्मरस का वाचक जानना चाहिये परन्तु स्निग्धस्पर्शवाचक नही। यद्यपि शब्दसाधर्म्य से अनुभाग को स्नेह-विशेष कहा जा सकता है, परन्तु उन दोनो को एक रूप अथवा आधाराधेय मानना वास्तविक नही है।

२१ असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक प्ररूपणा का स्पष्टीकरण (गाथा ३२ से ३७)

१ षट्स्थानक की अकसदृष्टि मे दिया गया एक-एक सख्या रूप अक एक-एक अध्यवसाय रूप जानना चाहिये। जैसे १,२ इत्यादि।

२ जितनेवा अक उतनेवा अध्यवसायस्थान, जैसे कि १५वा अक, यह १५वा अध्यवसायस्थान, २४वा अक, यह २४वा अध्यवसायस्थान।

३ जिस अक के आगे किसी प्रकार का चिह्न नही हो तो उस अक वाला अध्यवसायस्थान उससे पूर्व के अध्यवसायस्थान से अनन्तभागाधिक जानना चाहिए। जैसे कि २,३,४,६ आदि। अर्थात् पहले से दूसरा अनन्तभागाधिक, दूसरा से तीसरा अनन्तभागाधिक, तीसरे से चौथा अनन्तभागाधिक, पाचवें से छठा अनन्तभागाधिक आदि।

४ अगुल के असख्यातवें भाग मे जितने आकाशप्रदेश हैं, उस सख्या की कडक यह सज्ञा है। परन्तु यहा असत्कल्पना से कडक सख्या ४ समझना चाहिए।

५ 'अ' असख्यातभागाधिक का सकेतचिह्न समझना चाहिये। जैसे कि 'अ ५' अर्थात ४थे स्थान से ५वा स्थान असख्यातभागाधिक है। इसी तरह 'अ१०' अर्थात् १०वा ९वें से, 'अ२०' अर्थात २०वा १९वें से असख्यातभागाधिक है।

६ 'क' सख्यातभागाधिक का सकेतचिह्न है। जैसे 'क२५' अर्थात् २४वे स्थान से २५वा स्थान सख्यातभागाधिक है। इसी तरह 'क५०' वह ४९वें स्थान से और 'क१५०' वह १४९वे स्थान से सख्यातभागाधिक है।

७ 'ख' सख्यातगुणाधिक का सकेतचिह्न है। यथा 'ख१२५', वह १२४वें से सख्यातगुणाधिक, 'ख३७५' वह ३७४वें से सख्यातगुणाधिक है।

८ 'ग' असख्यातगुणाधिक का सकेतचिह्न है। यथा 'ग६२५', वह ६२४वे से असख्यगुणाधिक, 'ग १२५० वह १२४९वें से असख्यातगुणाधिक है।

९ 'घ' अनन्तगुणाधिक का सकेतचिह्न है। यथा 'घ३१२५' वह ३१२४वे से अनन्तगुणाधिक, 'घ६२५०,' वह ६२४९वें से अनन्तगुणाधिक है।

१० जिन दो अको के बीच मे धन (+) का चिह्न हो, वहा ऐसा समझना चाहिये कि उन दोनो के बीच अनन्तभागाधिक के एक कडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४) स्थान हैं। यथा—'अ२५५+अ२६०' यहा 'अ २५५' २५६-२५७-२५८-२५९ 'अ२६०' इस प्रकार जानना चाहिये।

११ जिन दो अको के बीच गुणा (×) का निशान हो, वहा अनन्तभागाधिक का १ कडक, पश्चात् १ स्थान असख्यातभागाधिक का, पश्चात् अनन्तभागाधिक का १ कडक, पश्चात १ स्थान असख्यातभागाधिक की सख्या १ कडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४) होती है और ऊपर अनन्तभाग का एक कडक होता है। असत्कल्पना से २४ स्थान समझना चाहिये। जैसे कि क३१५०×क३१७५=३१५१, ३१५२,३१५३, ३१५४, अ३१५५+अ३१६०+अ३१६५+अ३१७०+क३१७५।

१२ षट्स्थानक प्ररूपणाओ मे गुणाकार का प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—

१	अनन्तभागवृद्धिस्थान	कडक प्रमाण (असत्कल्पना से ४ अक)
२	अनन्तभागवृद्धिस्थान से असख्यातभागवृद्धिस्थान	—कडकाधिक, कडकवर्ग प्रमाण (२० अक)
३	" " सख्यातभागवृद्धिस्थान	—कडकाधिक, कडकवर्गद्वयाधिक, कडकघन (१०० अक)
४	अनन्तभागवृद्धिस्थान मे सख्यातगुणवृद्धिस्थान	कडकवर्गोन, कडकाधिक, कडकवर्ग-वर्गद्वय प्रमाण (५०० अक)

५ अनन्तभागवृद्धि स्थान से असख्यातगुणवृद्धिस्थान — कडकाधिक, कडकघनत्रयाधिक, कडकवर्गवर्गाधिक, कडकाभ्यासद्वय प्रमाण (२५०० अक)

६ " " „ „ अनन्तगुणवृद्धिस्थान — कडकवर्गत्रिकोन, कडकाधिक, कडकवर्गवर्गाधिक, कडक-घनवर्गत्रय प्रमाण (१२५०० अक)

स्थापना के सर्व अको का प्रमाण—४+२०+१००+५००+२५००+१२५००=१५६२४।

इस षट्स्थानकप्ररूपणा मे वर्गादि का प्रमाण इस प्रकार है—

कडकवर्ग=४×४=१६।

कडकवर्गद्वय=४×४=१६, पुन ४×४=१६, इस प्रकार दो बार १६।

कडकघन=४×४×४=६४।

कडकघनद्वय=४×४×४=६४, पुन ४×४×४=६४, इस प्रकार दो बार ६४।

कडकघनत्रय=४×४×४=६४, पुन ४×४×४=६४, पुन ४×४×४=६४, इस प्रकार तीन बार ६४।

कडकाभ्यासद्वय=४×४×४×४×४=१०२४, पुन ४×४×४×४×४=१०२४, इस प्रकार दो बार १०२४ (जो सख्या हो, उस सख्या को उसी सख्या से उतनी बार गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसे अभ्यास कहते हैं)।

कडकवर्गोन—कडकवर्ग का जो अक हो, उसे अतिम सख्या मे से कम कर देना।

कडकवर्ग-वर्ग—कडक का वर्ग, उसका भी वर्ग, यथा ४×४=१६ यह कडकवर्ग हुआ, इसका पुन वर्ग १६×१६=२५६।

असत्कल्पना द्वारा षट्स्थानक की अकसदृष्टि का प्रारूप

१ २ ३ ४ अ५ ६ ७ ८ ९ अ१० ११ १२ १३ १४ अ१५ १६ १७ १८ १९ अ२० २१ २२ २३ २४ क२५ २६ २७ २८ २९ अ३० ३१ ३२ ३३ ३४ अ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ अ४० ४१ ४२ ४३ ४४ अ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ क५० ५१ ५२ ५३ ५४ अ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ अ६० ६१ ६२ ६३ ६४ अ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ अ७० ७१ ७२ ७३ ७४ क७५ ७६ ७७ ७८ ७९ अ८० ८१ ८२ ८३ ८४ अ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ अ९० ९१ ९२ ९३ ९४ अ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ क१०० १०१ १०२ १०३ १०४ अ१०५ १०६ १०७ १०८ १०९ अ११० १११ ११२ ११३ ११४ अ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ अ१२० १२१ १२२ १२३ १२४ ख१२५ १२६ १२७ १२८ १२९ अ१३० १३१ १३२ १३३ १३४ अ१३५ १३६ १३७ १३८ १३९ अ१४० १४१ १४२ १४३ १४४ अ१४५ १४६ १४७ १४८ १४९ क१५० १५१ १५२ १५३ १५४ अ१५५ १५६ १५७ १५८ १५९ अ१६० १६१ १६२ १६३ १६४ अ१६५ १६६ १६७ १६८ १६९ अ१७० १७१ १७२ १७३ १७४ क१७५ १७६ १७७ १७८ १७९ अ१८० १८१ १८२ १८३ १८४ अ१८५ १८६ १८७ १८८ १८९ अ१९० १९१ १९२ १९३ १९४ अ१९५ १९६ १९७ १९८ १९९ क२०० २०१ २०२ २०३ २०४ अ२०५ २०६ २०७ २०८ २०९ अ२१० २११ २१२ २१३ २१४ अ२१५ २१६ २१७ २१८ २१९ अ२२० २२१ २२२ २२३ २२४ क२२५ २२६ २२७ २२८ २२९ अ२३० २३१ २३२ २३३ २३४ अ२३५ २३६ २३७ २३८ २३९ अ२४० २४१ २४२ २४३ २४४ अ२४५ २४६ २४७ २४८ २४९ ख२५० २५१ २५२ २५३ २५४ अ२५५+ अ२६०+ अ२६५+ अ२७०+ क२७५+ अ२८०+ अ२८५+ अ२९०+

अ २९५+क ३००+अ ३०५+अ ३१०+अ ३१५+अ ३२०+क ३२५+अ ३३०+अ ३३५+ अ ३४०+अ
३४५+क ३५०+अ ३५५+अ ३६०+अ ३६५+अ ३७०+ख ३७५+अ ३८०+अ ३८५+अ ३९०+अ
३९५+क ४००+अ ४०५+अ ४१०+अ ४१५+अ ४२०+क ४२५+अ ४३०+अ ४३५+अ ४४०+अ
४४५+क ४५०+अ ४५५+अ ४६०+अ ४६५+अ ४७०+क ४७५+अ ४८०+अ ४८५+अ ४९०+अ
४९५+ख ५००+अ ५०५+अ ५१०+अ ५१५+अ ५२०+क ५२५+अ ५३०+अ ५३५+अ ५४०+अ
५४५+क ५५०+अ ५५५+अ ५६०+अ ५६५+अ ५७०+क ५७५+अ ५८०+अ ५८५+अ ५९०+अ
५९५+क ६००+अ ६०५+अ ६१०+अ ६१५+अ ६२०+ग ६२५+अ ६३०+अ ६३५+अ ६४०+अ
६४५+क ६५०+अ ६५५+अ ६६०+अ ६६५+अ ६७०+क ६७५+अ ६८०+अ ६८५+अ ६९०+अ
६९५+क ७००+अ ७०५+अ ७१०+अ ७१५+अ ७२०+क ७२५+अ ७३०+अ ७३५+अ ७४०+अ
७४५+ख ७५०+अ ७५५+अ ७६०+अ ७६५+अ ७७०+क ७७५+अ ७८०+अ ७८५+अ ७९०+अ
७९५+क ८००+अ ८०५+अ ८१०+अ ८१५+अ ८२०+क ८२५+अ ८३०+अ ८३५+अ ८४०+अ
८४५+क ८५०+अ ८५५+अ ८६०+अ ८६५+अ ८७०+ख ८७५+अ ८८०+अ ८८५+अ ८९०+अ
८९५+क ९००+अ ९०५+अ ९१०+अ ९१५+अ ९२०+क ९२५+अ ९३०+अ ९३५+अ ९४०+अ
९४५+क ९५०+अ ९५५+अ ९६०+अ ९६५+अ ९७०+क ९७५+अ ९८०+अ ९८५+अ ९९०+अ
९९५+ख १०००+अ १००५+अ १०१०+अ १०१५+अ १०२०+क १०२५+अ १०३०+अ १०३५+अ
१०४०+अ १०४५+क १०५०+अ १०५५+अ १०६०+अ १०६५+अ १०७०+क १०७५+अ १०८०+अ
१०८५+अ१०९०+अ१०९५+क११००+अ११०५+अ१११०+अ१११५+अ११२०+ख११२५+अ११३०+अ
११३५+अ११४०+अ११४५+क११५०+अ११५५+अ११६०+अ११६५+अ११७०+क११७५+अ११८०+अ
११८५+अ११९०+अ११९५+क१२००+अ१२०५+अ१२१०+अ१२१५+अ१२२०+क१२२५+अ१२३०+अ
१२३५+अ १२४०+अ १२४५+ग १२५०+अ १२५५+अ १२६०+अ १२६५+अ १२७०+क १२७५+अ
१२८०+अ १२८५+अ १२९०+अ १२९५+क १३००+अ १३०५+अ १३१०+अ १३१५+अ १३२०+क
१३२५+अ १३३०+अ १३३५+अ १३४०+अ १३४५+क १३५०+अ १३५५+अ १३६०+अ १३६५+अ
१३७०+ख १३७५+अ १३८०+अ १३८५+अ १३९०+अ १३९५+क १४००+अ १४०५+अ १४१०+अ
१४१५+अ १४२०+क १४२५+अ १४३०+अ १४३५+अ १४४०+अ १४४५+क १४५०+अ १४५५+अ
१४६०+अ-१४६५+अ १४७०+क १४७५+अ १४८०+अ १४८५+अ १४९०+अ १४९५+ख १५००+अ
१५०५+अ १५१०+अ १५१५+अ १५२०+क १५२५+अ १५३०+अ १५३५+अ १५४०+अ १५४५+क
१५५०+अ १५५५+अ १५६०+अ १५६५+अ १५७०+क १५७५+अ १५८०+अ १५८५+अ १५९०+अ
१५९५+क १६००+अ १६०५+अ १६१०+अ १६१५+अ १६२०+ख १६२५+अ १६३०+अ १६३५+अ
१६४०+अ १६४५+क १६५०+अ-१६५५+अ १६६०+अ १६६५+ग १६७०+क १६७५+अ १६८०+अ
१६८५+अ १६९०+अ १६९५+क १७००+अ १७०५+अ १७१०+अ १७१५+अ १७२०+क १७२५+अ
१७३०+ग १७३५+अ १७४०+अ१७४५+ख १७५०+अ १७५५+अ-१७६०+अ १७६५+अ १७७०+क
१७७५+अ १७८०+अ १७८५+अ १७९०+अ १७९५+क १८००+अ १८०५+अ १८१०+अ १८१५+अ
१८२०+क १८२५+अ १८३०+अ १८३५+अ १८४०+अ १८४५+क १८५०+अ १८५५+अ १८६०+अ
१८६५+अ १८७०+ग १८७५+अ १८८०+अ १८८५+अ १८९०+अ १८९५+क १९००+अ १९०५+अ
१९१०+अ १९१५+अ १९२०+क १९२५+अ १९३०+अ १९३५+अ १९४०+अ १९४५+क १९५०+अ
१९५५+अ १९६०+अ १९६५+अ १९७०+क १९७५+अ १९८०+अ १९८५+अ १९९०+अ १९९५+ख
२०००+अ २००५+ज २०१०+अ २०१५+अ २०२०+क २०२५+अ २०३०+अ २०३५+अ २०४०+अ
२०४५+क २०५०+ज २०५५+अ २०६०+अ २०६५+अ २०७०+क २०७५+अ २०८०+अ २०८५+अ
२०९०+अ २०९५+क २१००+अ २१०५+अ २११०+अ २११५+अ २१२०+ख २१२५+अ २१३०+अ

२१३५+अ २१४०+अ २१४५+क २१५०+अ २१५५+अ २१६०+अ २१६५+अ २१७०+क २१७५+अ
२१८०+अ २१८५+अ २१९०+अ २१९५+क २२००+अ २२०५+अ २२१०+अ २२१५+अ २२२०+क
२२२५+अ २२३०+अ २२३५+अ २२४०+अ २२४५+ख २२५०+अ २२५५+अ २२६०+अ २२६५+अ
२२७०+क २२७५+अ २२८०+अ २२८५+अ २२९०+अ २२९५+क २३००+अ २३०५+अ २३१०+अ
२३१५+अ २३२०+क २३२५+अ २३३०+अ २३३५+अ २३४०+अ २३४५+क २३५०+अ २३५५+अ
२३६०+अ २३६५+अ २३७०+ख २३७५+अ २३८०+अ २३८५+अ २३९०+अ २३९५+क २४००+अ
२४००५+अ २४१०+अ २४१५+अ २४२०+क २४२५+अ २४३०+अ २४३५+अ २४४०+अ २४४५+क
२४५०+अ २४५५+अ २४६०+अ २४६५+अ २४७०+क २४७५+अ २४८०+अ २४८५+अ २४९०+अ
२४९५+ग २५००+अ २५०५+अ २५१०+अ २५१५+अ २५२०+क २५२५+अ २५३०+अ २५३५+अ
२५४०+अ २५४५+क २५५०+अ २५५५+अ २५६०+अ २५६५+अ २५७०+क २५७५+अ २५८०+अ
२५८५+अ २५९०+अ २५९५+क २६००+अ २६०५+अ २६१०+अ २६१५+अ २६२०+ख २६२५+अ
२६३०+अ २६३५+अ २६४०+अ २६४५+क २६५०+अ २६५५+अ २६६०+अ २६६५+अ २६७०+क
२६७५+अ २६८०+अ २६८५+अ २६९०+अ २६९५+क २७००+अ २७०५+अ २७१०+अ २७१५+अ
२७२०+क २७२५+अ २७३०+अ २७३५+अ २७४०+अ २७४५+ख २७५०+अ २७५५+अ २७६०+अ
२७६५+अ २७७०+क २७७५+अ २७८०+अ २७८५+अ २७९०+अ २७९५+क २८००+अ २८०५+अ
२८१०+अ २८१५+अ २८२०+क २८२५+अ २८३०+अ २८३५+अ २८४०+अ २८४५+क २८५०+अ
२८५५+अ २८६०+अ २८६५+अ २८७०+ख २८७५+अ २८८०+अ २८८५+अ २८९०+अ २८९५+क
२९००+अ २९०५+अ २९१०+अ २९१५+अ २९२०+क २९२५+अ २९३०+अ २९३५+अ २९४०+अ
२९४५+क २९५०+अ २९५५+अ २९६०+अ २९६५+अ २९७०+क २९७५+अ २९८०+अ २९८५+अ
२९९०+अ २९९५+ख ३०००+अ ३००५+अ ३०१०+अ ३०१५+अ ३०२०+क ३०२५+अ ३०३०+अ
३०३५+अ ३०४०+अ ३०४५+क ३०५०+अ ३०५५+अ ३०६०+अ ३०६५+अ ३०७०+क ३०७५+अ
३०८०+अ ३०८५+अ ३०९०+अ ३०९५+क ३१००+अ ३१०५+अ ३११०+अ ३११५+अ ३१२०+घ ३१२५+अ
३१३०+अ ३१३५+अ ३१४०+अ ३१४५+क ३१५०×क ३१७५×क ३२००×क ३२२५×ख ३२५०×क
३२७५×क ३३००×क ३३२५×क ३३५०×ख ३३७५×क ३४००×क ३४२५×क ३४५०×क ३४७५×ख
३५००×क ३५२५×क ३५५०×क ३५७५×क ३६००×ख ३६२५×क ३६५०×क ३६७५×क ३७००×क
३७२५×ग ३७५०×क ३७७५×क ३८००×क ३८२५×क ३८५०×ख ३८७५×क ३९००×क ३९२५×क
३९५०×क ३९७५×ख ४०००×क ४०२५×क ४०५०×क ४०७५×क ४१००×ख ४१२५×क ४१५०×क
४१७५×क ४२००×क ४२२५×ख ४२५०×क ४२७५×क ४३००×क ४३२५×क ४३५०×ग ४३७५×क ४४००×क
४४२५×क ४४५०×क ४४७५×ख ४५००×क ४५२५×क ४५५०×क ४५७५×क ४६००×ख ४६२५×क
४६५०×क ४६७५×क ४७००×क ४७२५×ख ४७५०×क ४७७५×क ४८००×क ४८२५×क ४८५०×ख
४८७५×क ४९००×क ४९२५×क ४९५०×क ४९७५×ग ५०००×क ५०२५×क ५०५०×क ५०७५×क
५१००×ख ५१२५×क ५१५०×क ५१७५×क ५२००×क ५२२५×ख ५२५०×क ५२७५×क ५३००×क
५३२५×क ५३५०×ख ५३७५×क ५४००×क ५४२५×क ५४५०×क ५४७५×ख ५५००×क ५५२५×क
५५५०×क ५५७५×क ५६००×ग ५६२५×क ५६५०×क ५६७५×क ५७००×क ५७२५×ख ५७५०×क
५७७५×क ५८००×क ५८२५×क ५८५०×ख ५८७५×क ५९००×क ५९२५×क ५९५०×क ५९७५×ख
६०००×क ६०२५×क ६०५०×क ६०७५×क ६१००×ख ६१२५×क ६१५०×क ६१७५×क ६२००×क
६२२५×क ६२५०×क ६२७५×क ६३००×क ६३२५×क ६३५०×ख ६३७५×क ६४००×क ६४२५×क
६४५०×क ६४७५×ख ६५००×क ६५२५×क ६५५०×क ६५७५×क ६६००×ख ६६२५×क ६६५०×क
६६७५×क ६७००×क ६७२५×ख ६७५०×क ६७७५×क ६८००×क ६८२५×क ६८५०×ग ६८७५×क

६९०० X क ६९२५ X क ६९५० X क ६९७५ X ख ७००० X क ७०२५ X क ७०५० X क ७०७५ X क ७१०० X ख
७१२५ X क ७१५० X क ७१७५ X क ७२०० X क ७२२५ X ख ७२५० X क ७२७५ X क ७३०० X क ७३२५ X क
७३५० X ख ७३७५ X क ७४०० X क ७४२५ X क ७४५० X क ७४७५ X ग ७५०० X क ७५२५ X क ७५५० X क
७५७५ X क ७६०० X ख ७६२५ X क ७६५० X क ७६७५ X क ७७०० X क ७७२५ X ख ७७५० X क ७७७५ X क
७८०० X क ७८२५ X क ७८५० X ख ७८७५ X क ७९०० X क ७९२५ X क ७९५० X क ७९७५ X ख ८००० X क
८०२५ X क ८०५० X क ८०७५ X क ८१०० X ग ८१२५ X क ८१५० X क ८१७५ X क ८२०० X क ८२२५ X ख
८२५० X क ८२७५ X क ८३०० X क ८३२५ X क ८३५० X ख ८३७५ X क ८४०० X क ८४२५ X क ८४५० X क
८४७५ X ख ८५०० X क ८५२५ X क ८५५० X क ८५७५ X क ८६०० X ख ८६२५ X क ८६५० X क ८६७५ X क
८७०० X क ८७२५ X ग ८७५० X क ८७७५ X क ८८०० X क ८८२५ X क ८८५० X ख ८८७५ X क ८९०० X क
८९२५ X क ८९५० X क ८९७५ X ख ९००० X क ९०२५ X क ९०५० X क ९०७५ X क ९१०० X ख ९१२५ X क
९१५० X क ९१७५ X क ९२०० X क ९२२५ X ख ९२५० X क ९२७५ X क ९३०० X क ९३२५ X क ९३५० X ग
९३७५ X क ९४०० X क ९४२५ X क ९४५० X क ९४७५ X ख ९५०० X क ९५२५ X क ९५५० X क ९५७५ X क
९६०० X ख ९६२५ X क ९६५० X क ९६७५ X क ९७०० X क ९७२५ X ख ९७५० X क ९७७५ X क ९८०० X क
९८२५ X क ९८५० X ख ९८७५ X क ९९०० X क ९९२५ X क ९९५० X क ९९७५ X ग १०००० X क १००२५ X क
१००५० X क १००७५ X क १०१०० X ख १०१२५ X क १०१५० X क १०१७५ X क १०२०० X क १०२२५ X ख
१०२५० X क १०२७५ X क १०३०० X क १०३२५ X क १०३५० X ख १०३७५ X क १०४०० X क १०४२५ X क
१०४५० X क १०४७५ X ख १०५०० X क १०५२५ X क १०५५० X क १०५७५ X क १०६०० X ग १०६२५ X क
१०६५० X क १०६७५ X क १०७०० X क १०७२५ X ख १०७५० X क १०७७५ X क १०८०० X क १०८२५ X क
१०८५० X ख १०८७५ X क १०९०० X क १०९२५ X क १०९५० X क १०९७५ X ख ११००० X क ११०२५ X क
११०५० X क ११०७५ X क १११०० X ख १११२५ X क १११५० X क १११७५ X क ११२०० X क ११२२५ X ग
११२५० X क ११२७५ X क ११३०० X क ११३२५ X क ११३५० X ख ११३७५ X क ११४०० X क ११४२५ X क
११४५० X क ११४७५ X ख ११५०० X क ११५२५ X क ११५५० X क ११५७५ X क ११६०० X ख ११६२५ X क
११६५० X क ११६७५ X क ११७०० X क ११७२५ X ख ११७५० X क ११७७५ X क ११८०० X क ११८२५ X क
११८५० X ग ११८७५ X क ११९०० X क ११९२५ X क ११९५० X क ११९७५ X ख १२००० X क १२०२५ X क
१२०५० X क १२०७५ X क १२१०० X ख १२१२५ X क १२१५० X क १२१७५ X क १२२०० X क १२२२५ X ख
१२२५० X क १२२७५ X क १२३०० X क १२३२५ X क १२३५० X ख १२३७५ X क १२४०० X क १२४२५ X क
१२४५० X क १२४७५ X घ १२५०० X क १२५२५ X क १२५५० X क १२५७५ X क १२६०० X ख १२६२५ X क
१२६५० X क १२६७५ X क १२७०० X क १२७२५ X ख १२७५० X क १२७७५ X क १२८०० X क १२८२५ X क
१२८५० X ख १२८७५ X क १२९०० X क १२९२५ X क १२९५० X क १२९७५ X ख १३००० X क १३०२५ X क
१३०५० X क १३०७५ X क १३१०० X ग १३१२५ X क १३१५० X क १३१७५ X क १३२०० X क १३२२५ X ख
१३२५० X क १३२७५ X क १३३०० X क १३३२५ X क १३३५० X ख १३३७५ X क १३४०० X क १३४२५ X क
१३४५० X क १३४७५ X क १३५०० X क १३५२५ X क १३५५० X क १३५७५ X क १३६०० X ख १३६२५ X क
१३६५० X क १३६७५ X क १३७०० X क १३७२५ X ग १३७५० X क १३७७५ X क १३८०० X क १३८२५ X क
१३८५० X ख १३८७५ X क १३९०० X क १३९२५ X क १३९५० X क १३९७५ X ख १४००० X क १४०२५ X क
१४०५० X क १४०७५ X क १४१०० X ख १४१२५ X क १४१५० X क १४१७५ X क १४२०० X क १४२२५ X ख
१४२५० X क १४२७५ X क १४३०० X क १४३२५ X क १४३५० X ग १४३७५ X क १४४०० X क १४४२५ X क

१४४५० × क १४४७५ × ख १४५०० × क १४५२५ × क १४५५० × क १४५७५ × क १४६०० × ख १४६२५ × क
१४६५० × क १४६७५ × क १४७०० × क १४७२५ × ख १४७५० × क १४७७५ × क १४८०० × क १४८२५ × क
१४८५० × ख १४८७५ × क १४९०० × क १४९२५ × क १४९५० × क १४९७५ × ग १५००० × क १५०२५ × क
१५०५० × क १५०७५ × क १५१०० × ख १५१२५ × क १५१५० × क १५१७५ × क १५२०० × क १५२२५ × ख
१५२५० × क १५२७५ × क १५३०० × क १५३२५ × क १५३५० × ख १५३७५ × क १५४०० × क १५४२५ × क
१५४५० × क १५४७५ × ग १५५०० × क १५५२५ × क १५५५० × क १५५७५ × क १५६००, १५६०१, १५६०२, १५६०३, १५६०४, १५६०५, १५६०६, १५६०७, १५६०८, १५६०९, १५६१०, १५६११, १५६१२, १५६१३, १५६१४, १५६१५, १५६१६, १५६१७, १५६१८, १५६१९, १५६२०, १५६२१, १५६२२, १५६२३, १५६२४-०
(बिन्दु षट्स्थानक की समाप्ति का सूचक है।)

२२ षट्स्थानक में अधस्तनस्थानप्ररूपणा का स्पष्टीकरण

अधस्तनस्थानप्ररूपणा

विवक्षित वृद्धि की अपेक्षा नीचे की वृद्धि की विवक्षा करना। जिसका स्थापनापूर्वक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ अनन्तगुणवृद्धि, २ असख्यातगुणवृद्धि, ३ सख्यातगुणवृद्धि, ४ सख्यातभागवृद्धि, ५ असख्यातभागवृद्धि, ६ अनन्तभागवृद्धि।

यह प्ररूपणा पाच प्रकार की है—

१ अनन्तरमार्गणा, २ एकान्तरितमार्गणा, ३ द्व्यन्तरितमार्गणा, ४ त्र्यन्तरितमार्गणा, ५ चतुरन्तरितमार्गणा।

१ अनन्तरमार्गणा—

बीच मे अन्य कोई भी वृद्धि न रखकर विवक्षित से नीचे की वृद्धि की प्ररूपणा करना। यथा (१) प्रथम असख्यातभागवृद्धि की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। (२) प्रथम सख्यातभागवृद्धि की अपेक्षा असख्यातभागवृद्धि के स्थान की विचारणा। इस प्रकार पाचवी प्रथम अनन्तगुणवृद्धि की अपेक्षा असख्यातगुणवृद्धि के स्थान की विचारणा। इस मार्गणा मे पाच (५) स्थान हैं।

२ एकान्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे एक वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम सख्यातभागवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की विचारणा। इस विचारणा मे चार (४) स्थान हैं।

३ द्व्यन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच में दो वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम सख्यातगुणाधिक वृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे तीन (३) स्थान हैं।

४ त्र्यन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे तीन वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम असख्यातगुणवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे दो (२) स्थान है।

५ चतुरन्तरितमार्गणा—

विवक्षित वृद्धि से नीचे बीच मे चार वृद्धि को छोडकर प्ररूपणा करना। यथा—प्रथम अनन्तगुणवृद्धि के स्थान की अपेक्षा अनन्तभागवृद्धि के स्थान की प्ररूपणा। इस मार्गणा मे एक (१) स्थान है।

किस मार्गणा मे कितने-कितने स्थान होते हैं—

१ अनन्तरमार्गणा मे—

१ कडकप्रमाण स्थान जानना चाहिये। क्योकि अनन्तभागवृद्धि के एक कडकप्रमाण स्थान व्यतीत होने पर असख्यातभागवृद्धि का प्रथम स्थान प्राप्त होता है। असत्कल्पना से असख्यातभागवृद्धि के ५ के अक के पूर्व अनन्तभागवृद्धि के चार स्थान होने से ४ स्थान जानना चाहिये।

२ एकान्तरितमार्गणा मे—

कडकवर्ग और कडकप्रमाण। (असत्कल्पना से कडकवर्ग=४×४=१६+४=२०)।

३ द्वयन्तरितमार्गणा मे—

कडकघन, कडकवर्ग दो और कडकप्रमाण (असत्कल्पना से ४×४×४=६४+१६+१६+४=१००)।

४ त्र्यन्तरितमार्गणा मे—

कडकवर्ग, ३ कडकघन, ३ कडकवर्ग और कडकप्रमाण। (असत्कल्पना से १६×१६=२५६+१९२+४८+४=५००)।

५ चतुरन्तरितमार्गणा मे—

८ कडकवर्गवर्ग, ६ कडकघन, ४ कडकवर्ग और १ कडकप्रमाण। (असत्कल्पना से २५६×८=२०४८+३८४+६४+४=२५००)।

इस प्रकार असत्कल्पना से प्रथम अनन्तगुणवृद्धि के स्थान से पूर्व (४+२०+१००+५००+२५००=३१२४) स्थान होते हैं।

२३ अनुभागबन्ध-विवेचन सम्बन्धी १४ अनुयोगद्वारो का सारांश

(गाथा २९ से ४३ तक)

अनुभागबध-विवेचन सबधी १४ अनुयोगद्वारो के नाम यह हैं—

१ अविभागप्ररूपणा, २ वर्गणाप्ररूपणा, ३ स्पर्धकप्ररूपणा, ४ अन्तरप्ररूपणा, ५ स्थानप्ररूपणा, ६ कडकप्ररूपणा, ७ षट्स्थानप्ररूपणा, ८ अधस्तनस्थानप्ररूपणा, ९ वृद्धिप्ररूपणा, १० समयप्ररूपणा, ११ यवमध्यप्ररूपणा, १२ ओजोयुग्मप्ररूपणा, १३ पर्यवसानप्ररूपणा, १४ अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

इनका साराश इस प्रकार है—

१ अविभागप्ररूपणा—

कर्मपरमाणु संबन्धी कषायजनित रस के निर्विभाज्य अश को अविभाग कहते हैं। एक-एक (सर्वजघन्य रसयुक्त और सर्वोत्कृष्ट रसयुक्त) कर्मपरमाणु मे सर्व जीवो की सख्या से अनन्तगुण रसाविभाग होते हैं।

२ वर्गणाप्ररूपणा—

समान रसाविभागयुक्त कर्मपरमाणुओ के समुदाय को वर्गणा कहते है। सर्वजघन्य रसाविभागयुक्त कर्मपरमाणुओ के समुदाय की प्रथम वर्गणा होती है। इसमे परमाणु सबसे अधिक होते हैं। उससे एक रसाणु अधिक कर्म-

प्रदेशो के समुदाय रूप दूसरी वर्गणा होती है। उसमे परमाणु कम होते है। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढती-बढती और परमाणुओ से घटती-घटती वर्गणायें जानना चाहिये।

३ स्पर्धकप्ररूपणा—

अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का स्पर्धक होता है।

४ अन्तरप्ररूपणा—

पूर्व स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा और पर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बीच सर्व जीवो मे अनन्तगुण रसाविभागो का अन्तर होता है।

५. स्थानप्ररूपणा—

एक समय मे जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध के रस का समुदाय स्थान कहलाता है। अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धको का प्रथम स्थान होता है। उसके बाद के स्थानो मे स्पर्धक अनन्तभागादि षट्वृद्धि वाले जानना चाहिये।

६ कडकप्ररूपणा—

अगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थानो का एक कडक होता है।

७ षट्स्थानप्ररूपणा—

रसस्थानो मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे स्पर्धक की अपेक्षा १ अनन्तभागवृद्धि, २ असख्यातभागवृद्धि, ३ सख्यातभागवृद्धि, ४ सख्यातगुणवृद्धि, ५ असख्यातगुणवृद्धि और ६ अनन्तगुणवृद्धि, इन छह प्रकार की वृद्धियो के स्थान की प्ररूपणा को षट्स्थानप्ररूपणा कहते है। एक षट्स्थान मे असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थान होते है। ऐसे षटस्थान भी असख्यात है।

८ अधस्तनस्थानप्ररूपणा—

रसस्थानो मे विवक्षित वृद्धि के स्थानो की अपेक्षा उनसे नीचे होने वाली अनन्तर वृद्धि अथवा एकान्तरादिक वृद्धि के स्थान का विचार करना।

९ वृद्धिप्ररूपणा—

छह प्रकार की वृद्धि और हानि मे से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् एक जीव निरतर रूप से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि मे अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और शेष अनन्तभागाधिक आदि पाच वृद्धियो और हानियो मे निरन्तर आवली के असख्यातवे भाग जितने काल तक रहता है।

१० समयप्ररूपणा—

जघन्य से सभी स्थानो का काल एक समय प्रमाण है तथा उत्कृष्ट काल इस प्रकार है—

जघन्य स्थान से असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान पाच समय की स्थिति वाले है। इस तरह असख्यात-असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान क्रमश छह, सात, आठ समय की स्थिति वाले हैं। तत्पश्चात् उससे आगे हानि कहना चाहिये। अर्थात् सात, छह, पाच, चार, तीन और अन्त के असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये।

११ यवमध्यप्ररूपणा—

१— जैसे यव (जौ) का मध्यभाग चौडा होता है और दोनो बाजुओ मे अनुक्रम से हीन-हीन (सकडा) होता जाता है, वैसे ही प्रकार यहा भी अष्टसामयिक अध्यवसायस्थान यवमध्य समान जानना चाहिये। क्योकि समय की

अपेक्षा उनका काल सर्वाधिक है, तत्पश्चात् दोनो ओर घटता हुआ है । ये अष्टसामयिकस्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि दोनो मे वर्तमान है । क्योकि पूर्व सप्तसमय वाले अन्तिम स्थान की अपेक्षा अष्टसमय वाले का प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि वाला होने से उसकी अपेक्षा बाकी के अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुण-वृद्धि वाले हैं तथा अष्टसामयिक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा पर सप्तसामयिक प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि (हानि) वाला होने से उस सप्तसामयिक प्रथम स्थान की अपेक्षा अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुणहीन होते है । इस प्रकार आदि के पाच, छह और सात सामयिक स्थान और अत के सात, छह, पाच, चार, तीन सामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि वाले हैं तथा आदि के चारसामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि मे और सर्वान्तिम दोसामयिक स्थान अनन्तगुणहानि मे होते है ।

सुगमता से समझने के लिये इस यवमध्यप्ररूपणा के यव की स्थापना इस प्रकार है—

इस स्थापना मे जो—इस प्रकार की पक्ति है, उसको अनुक्रम से अनुभागस्थान तथा जो ११ भाग हैं, उसमे सबसे पहला चतुःसमयात्मक स्थान है । तदनुसार अनुक्रम से पचसामयिकादि स्थान जानना चाहिये ।

इन अनुभागस्थानो का समयापेक्षा यव जैसा और स्थान की अपेक्षा डमरुक जैसा आकार होता है । जिसका आकार पृष्ठ २४१ पर देखिये ।

१२ ओजोयुग्मप्ररूपणा—

जिस सख्या को ४ से भाग देने पर एक शेष रहे वह कल्योज, दो शेष रहे वह द्वापरयुग्म, तीन शेष रहे वह त्रैतोज और कुछ शेप न रहे वह कृतयुग्म कहलाता है । अनुभागस्थान के अविभाग, स्थान और कडक कृत-युग्मराशि मे होते हैं ।

प्रदेशो के समुदाय रूप दूसरी वर्गणा होती है। उसमे परमाणु कम होते है। इस प्रकार एक-एक रसाविभाग से बढती-बढती और परमाणुओ से घटती-घटती वर्गणाये जानना चाहिये।

३ स्पर्धकप्ररूपणा—

अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण वर्गणाओ का स्पर्धक होता है।

४ अन्तरप्ररूपणा—

पूर्व स्पर्धक की अन्तिम वर्गणा और पर स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बीच सर्व जीवो मे अनन्तगुण रसाविभागो का अन्तर होता है।

५. स्थानप्ररूपणा—

एक समय मे जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्मस्कन्ध के रस का समुदाय स्थान कहलाता है। अभव्यो से अनन्तगुण और सिद्धो के अनन्तवे भाग प्रमाण स्पर्धको का प्रथम स्थान होता है। उसके बाद के स्थानो मे स्पर्धक अनन्तभागादि षट्वृद्धि वाले जानना चाहिये।

६ कडकप्ररूपणा—

अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण स्थानो का एक कडक होता है।

७ षट्स्थानप्ररूपणा—

रसस्थानो मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे स्पर्धक की अपेक्षा १ अनन्तभागवृद्धि, २ असख्यातभागवृद्धि, ३ सख्यातभागवृद्धि, ४ सख्यातगुणवृद्धि, ५ असख्यातगुणवृद्धि और ६ अनन्तगुणवृद्धि, इन छह प्रकार की वृद्धियो के स्थान की प्ररूपणा को षट्स्थानप्ररूपणा कहते है। एक षट्स्थान मे असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण स्थान होते हैं। ऐसे षटस्थान भी असख्यात है।

८ अधस्तनस्थानप्ररूपणा—

रसस्थानो मे विवक्षित वृद्धि के स्थानो की अपेक्षा उनसे नीचे होने वाली अनन्तर वृद्धि अथवा एकान्तरादिक वृद्धि के स्थान का विचार करना।

९ वृद्धिप्ररूपणा—

छह प्रकार की वृद्धि और हानि मे से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् एक जीव निरतर रूप से अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि मे अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और शेष अनन्तभागाधिक आदि पाच वृद्धियो और हानियो मे निरन्तर आवली के असख्यातवें भाग जितने काल तक रहता है।

१० —

जघन्य से सभी स्थानो का काल एक समय प्रमाण है तथा उत्कृष्ट काल इस प्रकार है—

स्थान से [illegible] लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान चार समय की स्थिति वाले, उसके बाद के असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान पाच समय की स्थिति वाले हैं। इस तरह असख्यात-असख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रमाण [illegible], आठ [illegible] की स्थिति वाले हैं। तत्पश्चात् उससे आगे हानि कहना चाहिये। अर्थात् सात, छह, पाच, चार, [illegible] और [illegible] के [illegible] लोकाकाश प्रदेशप्रमाण स्थान दो समय की स्थिति वाले जानना चाहिये।

११ —

[illegible] (यवो) [illegible] चौडा होता है और दोनो बाजुओ मे अनुक्रम से हीन-हीन (सकडा) होता [illegible] है [illegible] यहा भी अष्टसामयिक [illegible] समान जानना चाहिये। क्योकि समय की

अपेक्षा उनका काल सर्वाधिक है, तत्पश्चात् दोनो ओर घटता हुआ है । ये अष्टसामयिकस्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि दोनो मे वर्तमान है । क्योकि पूर्व सप्तसमय वाले अन्तिम स्थान की अपेक्षा अष्टसमय वाले का प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि वाला होने से उसकी अपेक्षा बाकी के अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुण-वृद्धि वाले है तथा अष्टसामयिक के अन्तिम स्थान की अपेक्षा पर सप्तसामयिक प्रथम स्थान अनन्तगुणवृद्धि (हानि) वाला होने से उस सप्तसामयिक प्रथम स्थान की अपेक्षा अष्टसामयिक सर्वस्थान अनन्तगुणहीन होते हैं । इस प्रकार आदि के पाच, छह और सात सामयिक स्थान और अत के सात, छह, पाच, चार, तीन सामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि वाले है तथा आदि के चारसामयिक स्थान अनन्तगुणवृद्धि मे और सर्वान्तिम दोसामयिक स्थान अनन्तगुणहानि मे होते हैं ।

सुगमता से समझने के लिये इस यवमध्यप्ररूपणा के यव की स्थापना इस प्रकार है—

इस स्थापना मे जो—इस प्रकार की पक्ति है, उसको अनुक्रम से अनुभागस्थान तथा जो ११ भाग है, उसमे सबसे पहला चतु समयात्मक स्थान है । तदनुसार अनुक्रम से पचसामयिकादि स्थान जानना चाहिये ।

इन अनुभागस्थानो का समयापेक्षा यव जैसा और स्थान की अपेक्षा डमरुक जैसा आकार होता है। जिसका आकार पृष्ठ २४१ पर देखिये ।

१२ ओजोयुग्मप्ररूपणा—

जिस सख्या को ४ से भाग देने पर एक शेष रहे वह कल्योज, दो शेष रहे वह द्वापरयुग्म, तीन शेष रहे वह त्रैतोज और कुछ शेष न रहे वह कृतयुग्म कहलाता है। अनुभागस्थान के अविभाग, स्थान और कडक कृत-युग्मराशि मे होते है।

१३. पर्यवसानप्ररूपणा—

अनन्तगुणवृद्धि के एक कडक प्रमाण स्थानो का अतिक्रमण करने के पश्चात् अनन्तभागाधिकादि पाच वृद्धि के सर्व स्थानको की पूर्णता के पश्चात् अनन्तगुणवृद्धि का स्थान प्राप्त नही होता है। अर्थात् वहा षट्स्थानक की समाप्ति होती है।

१४. अल्पबहुत्वप्ररूपणा—

इसका दो रीति से विचार किया गया है— १ अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा, २ परपरोपनिधाप्ररूपणा। अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा इस प्रकार है—अनन्तगुणवृद्धि के स्थान सर्वस्तोक (कडकमात्र होने से), उससे असख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण (कडकगुण और कडक), उससे सख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे असख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे अनन्तभागवृद्धि के असख्यातगुण। गुणाकार कडकगुण और कडक प्रमाण। परपरोपनिधा प्ररूपणा इस प्रकार है—अनन्तभागवृद्धि के स्थान सर्वस्तोक, उससे असख्यातभागवृद्धि के असख्यातगुण, उससे सख्यातभागवृद्धि के सख्यातगुण, उससे सख्यातगुणवृद्धि के स्थान असख्यातगुण उससे असख्यातगुणवृद्धि के असख्यातगुण, उससे अनन्तगुणवृद्धि के असख्यातगुण।

२४. असत्कल्पना द्वारा अनुकृष्टिप्ररूपणा का स्पष्टीकरण

(गाथा ५७ से ६५ तक)

१ अनुकृष्टि अर्थात् अनुकर्षण, अनुवर्तन। अनु-पश्चात् (पीछे से) कृष्टि-कर्षण-खीचना यानी पाश्चात्य स्थितिबधगत अनुभागस्थानो को आगे-आगे के स्थितिबधस्थान मे खीचना। ५५ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो मे से किसी की ३० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण, किसी की २० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। उसे असत्कल्पना से यहा १ से २० के अक द्वारा बताया गया है। १ जघन्य स्थितिस्थान और २० उत्कृष्ट स्थितिस्थान जानना चाहिए।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान (अन्त कोडाकोडी) से नीचे के स्थितिस्थान अनुकृष्टि के अयोग्य है, जो १ से ८ तक के अक द्वारा जानना चाहिए।

३ नौ (९) के अक से अनुकृष्टि प्रारभ होती है। अक के सामने रखे गये ० (शून्य) तथा △ (त्रिकोण) को अनुभागबधाध्यवसायस्थान रूप जानना। लेकिन इतना विशेष है कि ० (शून्य) से मूल अनुभागबधाध्यवसायस्थान और △ (त्रिकोण) से मूलोपरात का नवीन स्थान समझना चाहिए।

४ पल्योपम के असख्यातवें भाग रूप स्थान को चार अको (९,१०,११,१२) द्वारा बताया गया है।

५ प्रत्येक स्थितिस्थान मे (हीनाधिक) असख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते है। जिन्हें यहा यथायोग्य ० (शून्यो) के द्वारा बताया है। अर्थात् उतने अनुभागबधाध्यवसायस्थान जानना।

६ नौ (९) के अक से अनुकृष्टि का प्रारम्भ होना समझना चाहिए। वहा जितने अनुभागबधाध्यवसायस्थान होते हैं, उनका 'तदेकदेश तथा अन्य' इतने अनु० स्थान दसवें स्थान मे होते है। 'तदेकदेश तथा अन्य' अर्थात् पूर्वस्थान के अध्यवसायो के असख्यातवें भाग को छोडकर शेष सर्व और दूसरे भी। नौवें स्थितिस्थान मे जो स्थान होते हैं, उनमे के दसवें स्थितिस्थान मे (तदेकदेश रूप) शून्य के द्वारा बताये गये स्थान है। उन्हें बताने के लिये शून्यो मे से आदि के यथायोग्य शून्य खाली छोडकर शेष शून्यो के नीचे पुन शून्य दिये गये है। अर्थात् पूर्व स्थितिस्थान मे के अनु० स्थानो की पीछे के स्थितिस्थान मे अनुकृष्टि जानना तथा △ त्रिकोण द्वारा 'अन्य' दूसरे नवीन अनु० स्थान जानना।

७ ग्यारहवें (११वे) स्थितिस्थान मे 'तदेकदेश तथा अन्य' अर्थात् दसवें स्थितिस्थान के अनु स्थानो मे से आदि के सिवाय शेष और अन्य नवीन मिलकर कुल ८ (आठ) अनुभाग स्थान है ।

८ बारहवें (१२वें) स्थितिस्थान मे ग्यारहवें स्थितिस्थान मे से 'तदेकदेश' रूप छह (६), 'अन्य' रूप दो △△ त्रिकोण मिलकर कुल आठ (८) अनु स्थान हैं । यहा नौवें (९वें) स्थितिस्थान के १० अनु स्थानो मे का एक स्थान है, परन्तु तेरहवें (१३वें) स्थितिस्थान मे उनका एक भी अनु स्थान नही है । यहा नौवें स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त हो जाती है । इसी तरह आगे के स्थानो के लिये भी समझना चाहिये ।

९ छियालीस (४६) अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टिप्ररूपणा भी इसी रीति से जानना चाहिए । लेकिन इतना विशेष है कि उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ करके अनुकृष्टिअयोग्य जघन्य स्थितिस्थानो को छोडकर शेष जघन्य स्थितिस्थान तक समाप्त करना चाहिये ।

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ९, उपघात १=५५)

स्थितिस्थान

अभव्य प्रायोग्य जघन्यस्थिति अनुकृष्टि अयोग्य

पल्योपम का असख्यातवा भाग

तदेकदेश और अन्य इस प्रकार के अनुक्रम से अनुकृष्टि विधान

१ जघन्यस्थितिस्थान
२
३
४
५
६
७
८ अनु बधाध्यवसायस्थान
९ अनुकृष्टि प्रारम्भ
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
१७ (अनुकृष्टि समाप्त)
१८
१९
२० उत्कृष्टस्थितिस्थान
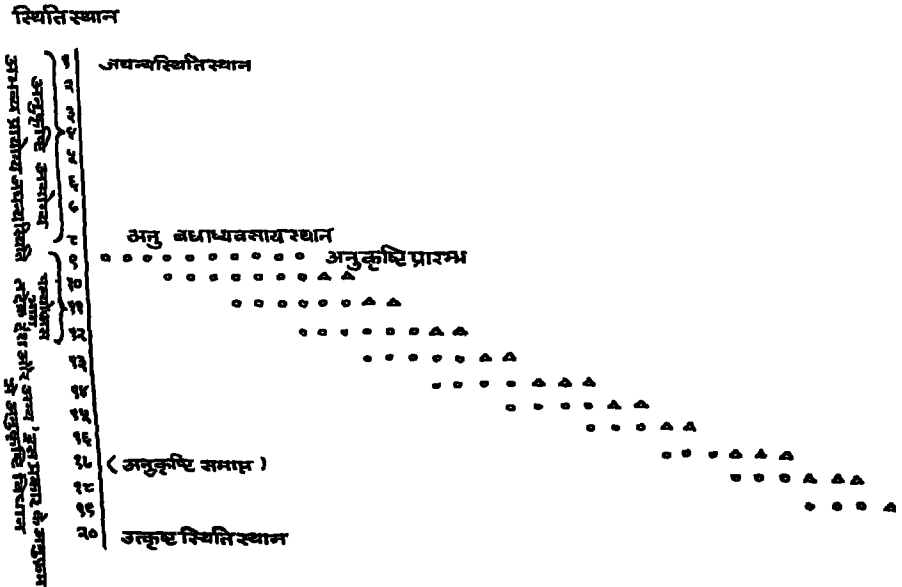
स्पष्टीकरण गाथा ५७,५८, के अनुसार

१ अपरावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिबध के पश्चात की स्थितिवृद्धि से अनुकृष्टि प्रारम्भ करना चाहिये ।

२ अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति को १ से ८ तक के अको द्वारा बताया है ।

३ अत उनसे आगे ९ के अक से प्रारम्भ करके २० तक के १२ स्थितिस्थानो मे अनुकृष्टि का विचार करना चाहिये तथा ये प्रत्येक अक एक-एक स्थितिस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

४ जघन्य स्थितिबधवृद्धि का प्रमाण पल्य का असख्यातवा भाग है, जिसे यहा ९ से १२ तक के ४ अको द्वारा दिखाया गया है । इसके प्रारम्भ मे जो अनु स्थान हैं उनका एक असख्यातवा भाग छोडकर शेष सब अनु स्थान और अन्य द्वितीय स्थितिस्थान मे, जिसे ३ बिन्दु रूप असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग को लेते हुए अन्य

को दो △ से १०वें अक मे वताया है। इसी प्रकार वहा तक कहना चाहिये, जहा तक जघन्य स्थितिबध सम्बन्धी अनु स्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है।

५ इसके बाद द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनु स्थानो की अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है, जो उससे आगे के स्थिति-स्थान मे समाप्त होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक समझना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(पराघात, बधननाम १५, शरीरनाम ५, सघातनाम ५, अगोपाग ३, शुभवर्णादि ११, तीर्थंकर, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम=४६)

स्पष्टीकरण गाथा ५९ के अनुसार

१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान से प्रारम्भ होती है।

२ उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान मे जो अनु स्थान होते हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग और अन्य उससे अधस्तनवर्ती स्थितिस्थान मे होते है। जिसे ३ बिन्दु रूप असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग को लेते हुए 'अन्य' को दो △ से १९वें अक मे वताया है। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवें भाग स्थितिया अतिक्रात होती हैं। यहा पर उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। जो उत्कृष्ट स्थितिस्थान २० के अक से ९ के अक तक जानना।

३ इसके बाद के अधस्तनस्थान मे एकसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ मे जो अनु स्थान थे, उनकी अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक जघन्य स्थिति का स्थान प्राप्त होता है और उन कर्मप्रकृतियो की जघन्यस्थिति होती है।

४ अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति अनुकृष्टि के अयोग्य है। अत उसमे अनुकृष्टि का विचार नही किया जाता है। जो १ से ८ अको द्वारा प्रदर्शित की है।

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(असातावेदनीय, स्थावरदशक एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आदि से रहित सस्थान, सहनन १०, नरकद्विक-अशुभविहायोगति=२८)

२१
२२
२३
२४
२५
२६
२७
२८ (अनुकृष्टि समाप्त)
२९
३०

स्पष्टीकरण गाथा ६१ के अनुसार

१ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार असातावेदनीय के माध्यम से किया गया है।

२ असातवेदनीय मे दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है—
 १ तानि अन्यानि च, २ तदेकदेश और अन्य।

३ इस प्रकार की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि से विपरीत जानना।

४ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति तक की स्थितिया सातावेदनीय के साथ परावर्तमान रूप से बधती है। वे परस्पर आक्रात स्थितिया है, जिन्हें—इस प्रकार की पक्ति से सूचित किया है। वहा तक 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये।

५ इसके आगे उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त 'तदेकदेश और अन्य' के क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये। जिसे प्रारूप मे २१ से ३० तक के अको द्वारा बताया है।

६ पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियो के जाने पर जघन्य अनु स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे आगे उत्तर-उत्तर के स्थान मे पूर्व-पूर्व के एक-एक स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। यह क्रम असाता की उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिये।

को दो △ से १०वें अक मे बताया है। इसी प्रकार वहा तक कहना चाहिये, जहा तक जघन्य स्थितिबध सम्बन्धी अनु स्थानो की अनुकृष्टि समाप्त होती है।

५ इसके बाद द्वितीय स्थितिस्थान सम्बन्धी अनु स्थानो की अनुकृष्टि प्रारम्भ होती है, जो उससे आगे के स्थितिस्थान मे समाप्त होती है। इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिस्थान तक समझना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(पराघात, बधननाम १५, शरीरनाम ५, सघातनाम ५, अगोपाग ३, शुभवर्णादि ११, तीर्थंकर, निर्माणनाम, अगुरुलघुनाम, उच्छ्वास, आतप, उद्योतनाम=४६)
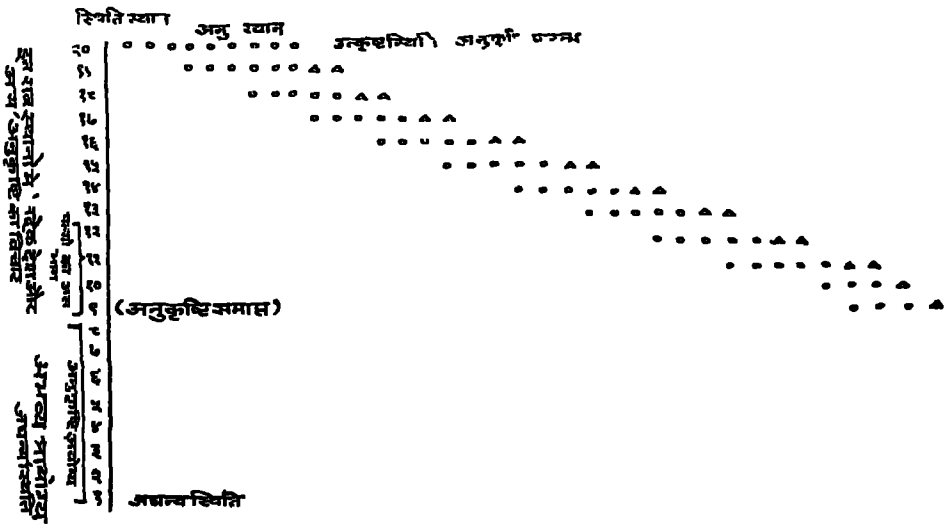
स्पष्टीकरण गाथा ५९ के अनुसार

१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान से प्रारम्भ होती है।

२ उत्कृष्ट स्थितिबधस्थान मे जो अनु स्थान होते हैं, उनका असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग और अन्य उससे अधस्तनवर्ती स्थितिस्थान मे होते हैं। जिसे ३ बिन्दु रूप असख्यातवा भाग छोडकर शेष भाग को लेते हुए 'अन्य' को दो △ से १९वें अक मे बताया है। इस प्रकार पल्योपम के असख्यातवें भाग स्थितिया अतिक्रात होती हैं। यहा पर उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ हुई अनुकृष्टि समाप्त होती है। जो उत्कृष्ट स्थितिस्थान २० के अक से ९ के अक तक जानना।

३ इसके बाद के अधस्तनस्थान मे एकसमयोन उत्कृष्ट स्थितिबध के प्रारम्भ मे जो अनु स्थान थे, उनकी अनुकृष्टि समाप्त होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक जघन्य स्थिति का स्थान प्राप्त होता है और उन कर्मप्रकृतियो की जघन्यस्थिति होती है।

४ अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति अनुकृष्टि के अयोग्य है। अत उसमे अनुकृष्टि का विचार नही किया जाता है। जो १ से ८ अको द्वारा प्रदर्शित की है।

परावर्तमान २८ ॒भ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(असातावेदनीय, स्थावरदशक एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आदि से रहित संस्थान, संहनन १०, नरकद्विक-अशुभविहायोगति=२८)
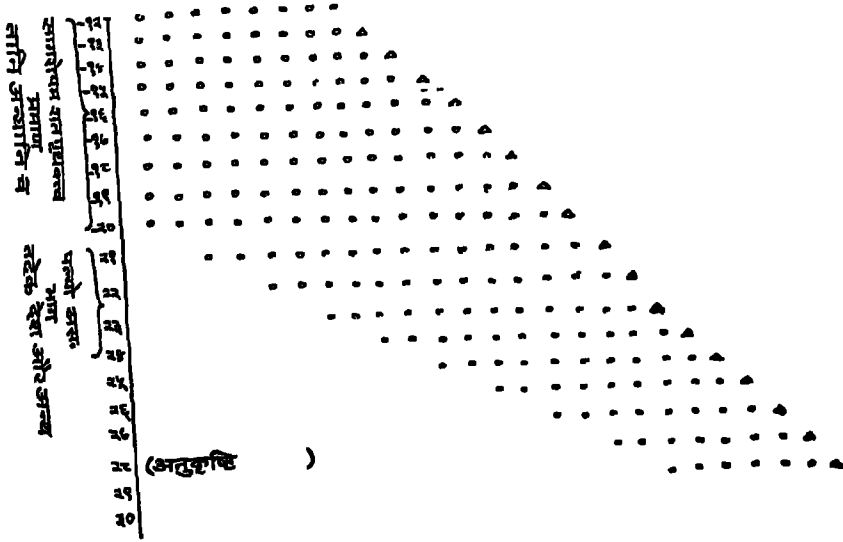
स्पष्टीकरण ६१ के अनुसार

१ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार असातावेदनीय के माध्यम से किया गया है।

२ असातवेदनीय मे दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है—
 १ तानि अन्यानि च, २ तदेकदेश और अन्य।

३ इस प्रकार की अनुकृष्टि सातावेदनीय की अनुकृष्टि से विपरीत जानना।

४ अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान से सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति तक की स्थितिया सातावेदनीय के साथ परावर्तमान रूप से बधती है। वे परस्पर आक्रात स्थितिया हैं, जिन्हें—इस प्रकार की पक्ति से सूचित किया है। वहा तक 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये।

५ इसके आगे उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त 'तदेकदेश और अन्य' के क्रम से अनुकृष्टि कहना चाहिये। जिसे प्रारूप मे २१ से ३० तक के अको द्वारा बताया है।

६ पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियो के जाने पर जघन्य अनु स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। उससे आगे उत्तर-उत्तर के स्थान मे पूर्व-पूर्व के एक-एक स्थान की अनुकृष्टि समाप्त होती है। यह क्रम असाता की उत्कृष्ट स्थिति तक जानना चाहिये।

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का प्रारूप

(सातावेदनीय, मनुष्यद्विक, देवद्विक, पचेन्द्रियजाति समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराचसहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क, उच्चगोत्र = १६)
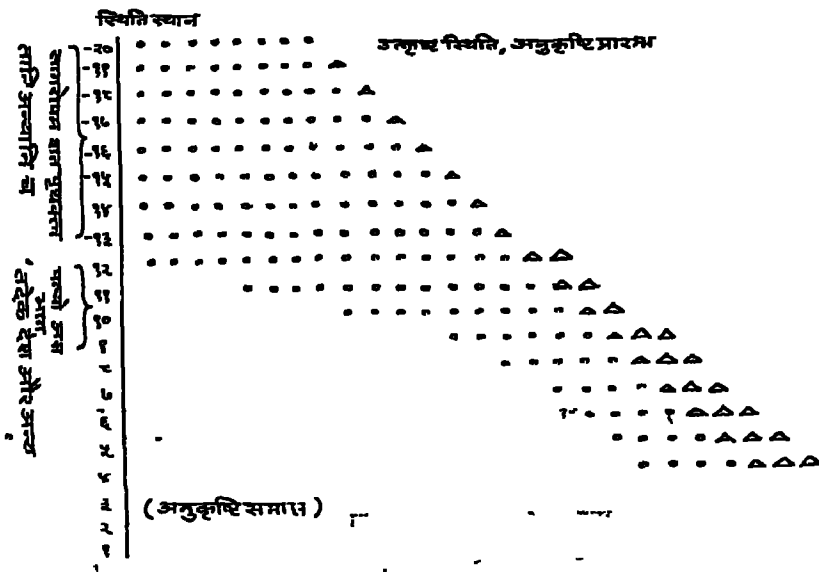
स्पष्टीकरण गाथा ५९, ६० के

१ परावर्तमान शुभ प्रकृतियो की अनुकृष्टि का विचार सातावेदनीय के माध्यम से किया है।

२ सातावेदनीय मे सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिस्थानो मे १ 'तानि अन्यानि च' और पल्यो असख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिस्थानो मे २ 'तदेकदेश और अन्य' इस तरह दो प्रकार की अनुकृष्टि होती है।

३ साता की उत्कृष्ट स्थिति के जो अनु स्थान है, वे सभी एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे भी होते हैं और अन्य भी होते हैं।

४ प्रारूप मे २० का अक साता की उत्कृष्टस्थिति का द्योतक है और उसके सामने दिये गये बिन्दु अनुभाग स्थानो के सूचक है।

५ समयोन उत्कृष्ट स्थितिस्थान के सूचक १९वें अक मे उन सर्व अनु स्थानो की अनुकृष्टि २०वें अक के बिन्दुओ द्वारा बतलाई है तथा △ अन्य अनु स्थानो का सूचक है। ये △ द्वारा सूचित अन्य अनुभाग स्थान उत्तरोत्तर अधिक जानना। यह क्रम उत्तरोत्तर सागरोपमशतपृथक्त्व तक जानना, जिसे प्रारूप मे १२ के अक तक बतलाया है। यह क्रम अभव्यप्रायोग्य असातावेदनीय की जघन्यस्थिति के बध तक चलता है।

६ उसके आगे 'तदेकदेश और अन्य' के प्रमाण से अनुकृष्टि सातावेदनीय के जघन्य स्थितिबध तक जानना। जिसकी अनुकृष्टि पूर्वोक्त अपरावर्तमान अशुभप्रकृतिवत् है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की अनुकृष्टि का प्रारूप

स्थितिस्थान

अनुबंधाध्य

(अनुकृष्टि समाप्त)
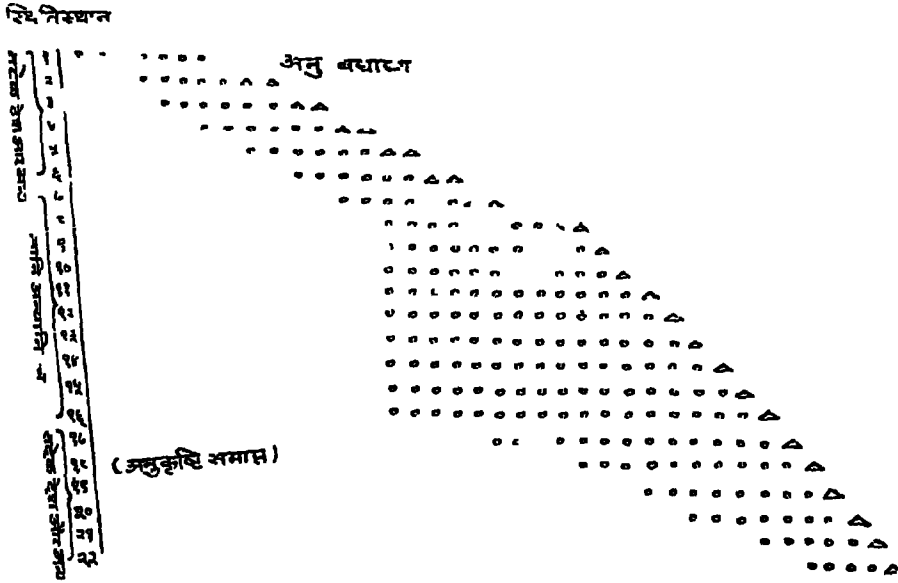
स्पष्टीकरण गाथा ६२, ६३ के अनुसार

१ तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र मे तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—जिसे अभव्य प्रा ज स्थान से नीचे के स्थान बतानेवाले १ से ६ तक के अक द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के योग्य सागरोपम शतपृथक्त्व स्थितियो मे 'तानि अन्यानि च' इस क्रम से जानना, जिसे ७ से १६ तक के अक द्वारा बताया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इसके आगे उत्कृष्ट स्थितिस्थान पर्यन्त जानना। जिसे १७ से २२ तक के अक द्वारा स्पष्ट किया है।

त्रसचतुष्क की अनुकृष्टि का प्रारूप
(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक=४)
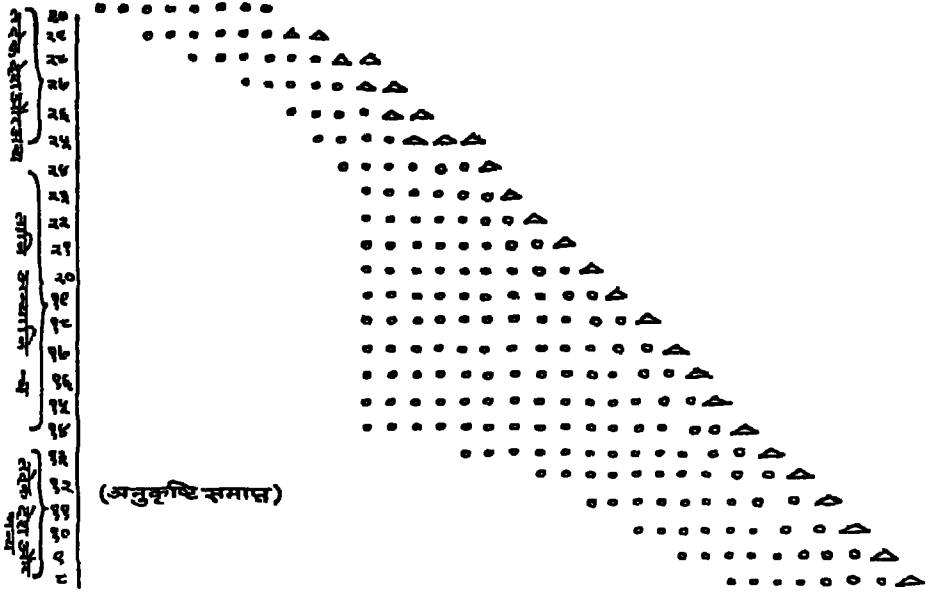
स्पष्टीकरण गाथा ६४ के अनुसार

त्रसचतुष्क मे तीन प्रकार की अनुकृष्टि होती है—

(अ) 'तदेकदेश और अन्य'—त्रसचतुष्क मे उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम से अध अध आते हुए १८ कोडाकोडी सागरोपम तक 'तदेकदेश और अन्य' इस प्रकार की अनुकृष्टि जानना। जिसे प्रारूप मे ३० से २५ तक के अको द्वारा बताया है।

(आ) 'तानि अन्यानि च'—इससे आगे (१८ सागरोपम से नीचे सागरोपम शतपृथक्त्व तक) अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान तक 'तानि अन्यानि च' के क्रम से जानना, जिसे प्रारूप मे २४ से १४ तक के अको द्वारा बतलाया है।

(इ) 'तदेकदेश और अन्य'—इससे नीचे पल्योपम के असख्यातवें भाग स्थितिस्थानो मे 'तदेकदेश और अन्य' इस क्रम से अनुकृष्टि होती है। जिसे प्रारूप मे अक १३ से ८ तक के अक द्वारा बतलाया है।

२५ असत्कल्पना द्वारा तीव्रता-मंदता की स्थापना का प्रारूप

प्रकृतियो मे जैसे परावर्तमान, अपरावर्तमान शुभ, अशुभ की अपेक्षा अनुभागबधस्थानो की अनुकृष्टि का विचार किया गया है, उसी प्रकार से अब उनकी तीव्रता-मदता का स्पष्टीकरण असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा करते हैं।

तीव्रता-मदता का परिज्ञान करने के लिये यह सामान्य नियम है कि सभी प्रकृतियो का अपने-अपने जघन्य अनुभागबध से आरम्भ कर उत्कृष्ट अनुभागबध तक प्रत्येक स्थितिबधस्थान मे उत्तरोत्तर अनुक्रम से पूर्वापेक्षा अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये। लेकिन अशुभ और शुभ प्रकृतियो की अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है—

१ शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर जघन्य स्थितिस्थान तक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे अनुक्रम से अनन्तगुण, अनन्तगुण अनुभाग समझना चाहिये।

२ अशुभ प्रकृतियो का जघन्य स्थितिस्थान से आरभ कर उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के क्रमानुसार उत्कृष्ट स्थितिस्थान मे अनन्तगुण-अनन्तगुण अनुभाग होता है ।

इस प्रकार सामान्य से तीव्रता-मदता का नियम वतलाने के पश्चात असत्कल्पना के प्रारूप द्वारा अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता को स्पष्ट करते है ।

अपरावर्तमान ५५ अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता

(आवरणद्विक १४, मोहनीय २६, अन्तराय ५, अशुभवर्णादि ९, उपघात १=५५)

	स्थिति				
तीव्रता-मदता के अयोग्य	१				
	२				
	३				
	४				
	५				
	६				
	७				
	८				
निवर्तन कडक	९	का	जघन्य	अनु अल्प	उससे
	१०	"	"	अनतगुण	"
	११	"	"	"	"
	१२	"	"	"	"
	१३	"	"	"	"
	१४	"	"	"	"
	१५	"	"	"	"
	१६	"	"	"	"
	१७	"	"	"	"
	१८	"	"	"	"
	१९	"	"	"	"
	२०	"	"	"	"

	स्थिति				
	—९	का	उत्कृष्ट	अनु अनतगुण	उससे
	—१०	"	"	"	"
	—११	"	"	"	"
	—१२	"	"	"	"
	—१३	"	"	"	"
	—१४	"	"	"	"
	—१५	"	"	"	"
	—१६	"	"	"	"
अ कडक प्रमाण स्थितिया	—१७	"	"	"	"
	१८	"	"	"	"
	१९	"	"	"	"
	२०	"	"	"	"

स्पष्टीकरण गाथा ६५-६६ के अनुसार

१ अभव्यप्रायोग्य (अन्त कोडाकोडी रूप) जघन्य स्थितिस्थान तीव्रता-मदता के अयोग्य हैं । जिन्हें प्रारूप मे १ से ८ तक के टाक द्वारा बताया है।

२ निवर्तनकण्डक की प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग से जघन्य स्थिति मे उत्तरोत्तर अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ९ से १२ तक के अक द्वारा वताया है।

३ तदनन्तर कण्डक से ऊपर प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे अक १२ के सामने ९ का अक देकर वताया है।

४ इसके वाद कण्डक से ऊपर द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। जिसे प्रारूप मे १३ के अक से वताया है।

५　उसके नीचे द्वितीय स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे अक १३ के सामने १० का अक देकर बताया है।

६　इसके बाद तृतीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे १४ के अक से बताया है।

७　इस प्रकार एक ऊपर और एक नीचे यथाक्रम से अनन्तगुणत्व तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है। जिसे प्रारूप मे १४-११, १५-१२, १६-१३, १७-१४ आदि लेते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २० के अक तक बताया है।

८　शेष कण्डक मात्र उत्कृष्ट स्थिति का जो अनुभाग अनुक्त है, वह सर्वोत्कृष्ट स्थिति के जघन्य अनुभाग से कण्डक मात्र स्थितियो की प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, फिर उसकी उपरितन स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। पुन उसके बाद की उपरितन स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभाग का अनन्तगुणत्व उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कहना चाहिये। जिसे प्रारूप मे कण्डक प्रमाण [१७—२०] चार स्थितिया लेकर बताया है। इनमे प्रथम स्थिति १७ के अक से है। तत्पश्चात् १८, १९, २० के अक तक अनन्तगुणत्व जानना चाहिये।

९　२० का अक उत्कृष्ट स्थिति व उत्कृष्ट अनुभाग का सूचक है।

१०　—इस प्रकार की रेखा परस्पर-आक्रान्त-प्ररूपणादर्शक है। जिसका आशय यह है कि १२ के अक के जघन्य अनुभाग से अक ९ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, ९ के अक के उत्कृष्ट अनुभाग से १३ के अक का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, १३ के अक के जघन्य अनुभाग से ११ के अक का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार के क्रम से जघन्य, उत्कृष्ट अनुभाग की अनन्तगुणता परस्पर आक्रान्त प्ररूपणा से करना चाहिये।

अपरावर्तमान ४६ शुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता

(पराघात, उद्योत, आतप, शुभवर्णादि ११, अगुरुलघु, निर्माण, तीर्थंकर, उच्छ्‌वास, बधननाम १५, शरीरनाम ५, सघातनाम ५, अगोपागनाम ३=४६)

उक्त प्रकृतियो की तीव्रता-मदता का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

निवर्तन कण्डक	२०	का	जघन्य अनुभाग	अल्प	उससे							
	१९	"	"	अनन्तगुण	"							
	१८	"	"	"	"							
	१७	"	"	"	"	—२०	का	उत्कृष्ट	अनु	अनन्तगुण	उससे	
	१६	"	"	"	"	—१९	"	"	"	"	"	
	१५	"	"	"	"	—१८	"	"	"	"	"	
	१४	"	"	"	"	—१७	"	"	"	"	"	
	१३	"	"	"	"	—१६	"	"	"	"	"	
	१२	"	"	"	"	—१५	"	"	"	"	"	
	११	"	"	"	"	—१४	"	"	"	"	"	
	१०	"	"	"	"	—१३	"	"	"	"	"	
	९	"	"	"	"	—१२	"	"	"	"	"	
अभव्यप्रायोग्य स्थिति	८					११	"	"	"	"	"	
	७					१०	"	"	"	"	"	
	६					९	"	"	"	"	"	
	५					८						
	४					७						
	३					६						
	२					५						
	१					४						
						३						
						२						
						१						

स्पष्टीकरण गाथा ६५, ६६ के अनुसार

१ अपरावर्तमान शुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता का विचार अनुकृष्टि की तरह उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ कर अभव्यप्रायोग्य स्थिति को छोडकर शेष स्थितियो मे करना चाहिये। अभव्यप्रायोग्य स्थिति १ से ८ तक के अक द्वारा बताई है तथा २० का अक उत्कृष्ट स्थिति का दर्शक है।

२ उत्कृष्ट स्थिति के जघन्य पद का जघन्य अनुभाग अल्प है। इसके बाद समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, उससे भी द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। यह तब तक कहना यावत निवर्तनकण्डक अर्थात् पल्योपम के असख्यात भाग मात्र स्थितिया अतिक्रात हो जाती है। जिन्हें प्रारूप मे २० से १७ के अक तक बताया है।

३ निवर्तनकण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे २० के अक से बताया है।

४ उसके बाद समय कम उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे १६ के अक से नीचे के अक से बताया है। निवर्तनकण्डक से नीचे द्वितीयस्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे १५ के अक से बतलाया है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता हैं।

५ प्रारूप मे—इस प्रकार की पक्ति परस्पर-आक्रात-प्ररूपणा की दर्शक है। जिसका आशय यह है कि २० के अक के उत्कृष्ट अनुभाग से १७ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और पुन १६, पुन १८, पुन १५ इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग ९ के अक तक कहना चाहिये।

६ उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डकमात्र जो स्थितिया अनुक्त है, उसे जघन्यस्थिति पर्यन्त अनन्तगुण जानना चाहिये। जिन्हें प्रारूप मे १२ के अक से ९ के अक पर्यन्त बताया है।

परावर्तमान १६ शुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मंदता

(सातावेदनीय, मनुष्यगतिद्विक देवगतिद्विक, पचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसस्थान, वज्रऋषभनाराच-सहनन, शुभविहायोगति, स्थिरषट्क और उच्चगोत्र)

उक्त प्रकृतियो की तीव्रता-मदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व

९०	का	जघन्य अनुभाग	स्तोक	उससे
८९	"	"	"	"
८८	"	"	"	"
८७	"	"	"	"
८६	"	"	"	"
८५	"	"	"	"
८४	"	"	"	"
८३	"	"	"	"
८२	"	"	"	"
८१	"	"	"	"
८०	"	"	"	"
७९	"	"	"	"
७८	"	"	"	"
७७	"	"	"	"
७६	"	"	"	"
७५	"	"	"	"

		का	जघन्य अनुभाग	स्तोक	उससे
प्रमाण स्थितियां	७४	का	जघन्य अनुभाग	स्तोक	उससे
	७३	"	"	"	"
	७२	"	"	"	"
	७१	"	"	"	"
	७०	"	"	"	"
	६९	"	"	"	"
	६८	"	"	"	"
	६७	"	"	"	"
	६६	"	"	"	"
	६५	"	"	"	"
	६४	"	"	"	"
	६३	"	"	"	"
	६२	"	"	"	"
	६१	"	"	"	"
	६०	"	"	"	"
	५९	"	"	"	"
	८५	"	"	"	"
	५७	"	"	"	"
	५६	"	"	"	"
	५५	"	"	"	"
	५४	"	"	"	"
	५३	"	"	"	"
	५२	"	"	"	"
	५१	"	"	"	"
कंडक का असंख्यातवां भाग	५०	"	"	अनन्तगुण	"
	४९	"	"	"	"
	४८	"	"	"	"
	४७	"	"	"	"
	४६	"	"	"	"
	४५	"	"	"	"
	४४	"	"	"	"
एक कंडक का अवशिष्ट भाग	४३				
	४२				
	४१				

४३ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे—

	का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
९०	का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
८९	"	"	"	"
८८	"	"	"	"
८७	"	"	"	"
८६	"	"	"	"
८५	"	"	"	"
८४	"	"	"	"
८३	"	"	"	"
८२	"	"	"	"
८१	"	"	"	"
८०	"	"	"	"
७९	"	"	"	"
७८	"	"	"	"
७७	"	"	"	"
७६	"	"	"	"

					७५	का	उत्कृष्ट अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
					७४	"	"	"	"
					७३	"	"	"	"
					७२	"	"	"	"
					७१	"	"	"	"
४२	का	जघन्य अनुभाग	अनन्तगुण	उससे—	७०	"	"	"	"
					६९	"	"	"	"
					६८	"	"	"	"
					६७	"	"	"	"
					६६	"	"	"	"
					६५	"	"	"	"
					६४	"	"	"	"
					६३	"	"	"	"
					६२	"	"	"	"
					६१	"	"	"	"
४१	का	जघन्य अनुभाग	अनन्तगुण	उससे—	६०	"	"	"	"
					५९	"	"	"	"
					५८	"	"	"	"
					५७	"	"	"	"
					५६	"	"	"	"
					५५	"	"	"	"
					५४	"	"	"	"
					५३	"	"	"	"
					५२	"	"	"	"
					५१	"	"	"	"
४०	का	जघन्य अनु	अनन्तगुण	उससे	—५०	"	"	"	"
३९	"	"	"	"	—४९	"	"	"	"
३८	"	"	"	"	—४८	"	"	"	"
३७	"	"	"	"	—४७	"	"	"	"
३६	"	"	"	"	—४६	"	"	"	"
३५	"	"	"	"	—४५	"	"	"	"
३४	"	"	"	"	—४४	"	"	"	"
३३	"	"	"	"	—४३	"	"	"	"
३२	"	"	"	"	—४२	"	"	"	"
३१	"	"	"	"	—४१	"	"	"	"
३०	"	"	"	"	—४०	"	"	"	"
२९	"	"	"	"	—३९	"	"	"	"
२८	"	"	"	"	—३८	"	"	"	"
२७	"	"	"	"	—३७	"	"	"	"
२६	"	"	"	"	—३६	"	"	"	"
२५	"	"	"	"	—३५	"	"	"	"
२४	"	"	"	"	—३४	"	"	"	"
२३	"	"	"	"	—३३	"	"	"	"
२२	"	"	"	"	—३२	"	"	"	"
२१	"	"	"	"	—३१	"	"	"	"

कण्डक प्रमाण स्थितिया	३०	का	उ०	अनु	अनन्तगुण	उससे
	२९	"	"	"	"	"
	२८	"	"	"	"	"
	२७	"	"	"	"	"
	२६	"	"	"	"	"
	२५	"	"	"	"	"
	२४	"	"	"	"	"
	२३	"	"	"	"	"
	२२	"	"	"	"	"
	२१	"	"	"	"	"

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१ परावर्तमान शुभ प्रकृतियो की उत्कृष्टस्थिति का जघन्य अनुभाग स्तोक है। जिसे प्रारूप मे ९० के अक से बतलाया है। इसी प्रकार एक समय कम, दो समय कम यावत् सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्वोक्त प्रमाण ही जानना अर्थात् स्तोक जानना। जिसे प्रारूप मे ८९ के अक से लेकर ५१ तक के अक तक बताया है।

२ उससे (सागरोपम शतपृथक्त्व से) भी नीचे अनुभाग अनन्तगुण एक भाग हीन कण्डक के असख्येय भाग तक जानना।

३ यहा असत्कल्पना से प्रत्येक कण्डक मे १० सख्या समझना चाहिये। इस नियम से एकभागहीन कण्डक के असख्येय भाग की ७ सख्या ली है। जिसे प्रारूप मे ५० से ४४ तक के अक द्वारा बतलाया है। एक भाग अवशेष रहा, उसके ४३,४२,४१ ये तीन अक बतलाये हैं।

४ असख्येयभागहीन (सख्येयभागहीन) शेष असख्येयभाग स्थितियो की 'साकारोपयोगी' सज्ञा है।

५ उसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४४ के अक के सामने आने वाले ९० के अक से बतलाया है। ये स्थितिया भी कण्डकमात्र होती हैं। इसलिये ९० से ८१ के अक तक की दस सख्या को कण्डक जानना।

६ इसके बाद जघन्य अनुभाग जहा से कहकर निवृत्त हुए थे, वहा से नीचे का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४३ के अक से बतलाया है।

७ इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ८० से ७१ अक तक बतलाया है।

८ इसके बाद पुन जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४२ के अक द्वारा बतलाया है।

९ इसके बाद पुन उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कण्डकमात्र तक जानना, जिसे ७० से ६१ तक के अक द्वारा बतलाया है। पुन जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे ४१ के अक से बतलाया है।

१० इसके बाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डकप्रमाण अनन्तगुण है, जिसे ६० से ५१ तक के अक द्वारा बतलाया है। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग ९० से ५१ तक सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण हैं।

११ इसके बाद पुन प्रागुक्त जघन्य अनुभाग से नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है जिसे ४० के अक से बतलाया है। इसके बाद उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है, जिसे ५० के अक से बतलाया है। इसी प्रकार जघ अनु तब तक कहना चाहिये, जब तक जघन्य अनुभाग की जघन्य स्थिति न आ जाये। ये परस्पर आक्रान्त स्थितिया हैं, अत अब जघन्य ३९,

उत्कृष्ट ४९, जघन्य ३८, उत्कृष्ट ४८, जघन्य ३७, उत्कृष्ट ४७, इस प्रमाण से अनुभाग का दिग्दर्शन कराते हुए उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग २१ के अक पर्यन्त जानना और उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ३१ के अक पर्यन्त जानना।

१२ इसके पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग कण्डक प्रमाण अनन्तगुण कहना, जिन्हें ३० से २१ तक के अक द्वारा बतलाया है।

परावर्तमान २८ अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता

(असातावेदनीय, नरकगतिद्विक, पचेन्द्रियजाति हीन जातिचतुष्क, आदि के सस्थान और सहनन रहित शेष पाच सस्थान और सहनन, अशुभविहायोगति, स्थावरदशक = २८)

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता-मदता का विचार अनुकृष्टि की तरह जघन्यस्थिति से प्रारम्भ कर उत्कृष्टस्थिति पर्यन्त किया जाता है।

परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की तीव्रता मदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण स्थितिया

२१	का जघन्य	अनुभाग	अल्प	उससे
२२	,,	,,	,,	,,
२३	,,	,,	,,	,,
२४	,,	,,	,,	,,
२५	,,	,,	,,	,,
२६	,,	,,	,,	,,
२७	,,	,,	,,	,,
२८	,,	,,	,,	,,
२९	,,	,,	,,	,,
३०	,,	,,	,,	,,
३१	,,	,,	,,	,,
३२	,,	,,	,,	,
३३	,,	,,	,,	,,
३४	,,	,,	,,	,,
३५	,,	,,	,,	,,
३६	,,	,,	,,	,,
३७	,,	,,	,,	,
३८	,,	,,		,
३९	,,	,,	,,	,,
४०	,,	,,	,,	,,
४१	,,	,,	,,	,,
४२	,,	,,	,,	,,
४३	,,	,,	,,	,,
४४	,,	,,	,,	,,
४५	,,	,,	,	,,
४६	,,	,,	,,	,
४७	,,	,,	,,	,,
४८	,,	,,	,,	,,
४९	,,	,,	,,	,,
५०	,,	,,	,,	,

कण्डक का असंख्यातवां भाग	५१	का जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे						
	५२	,,	,,	,,	,,						
	५३	,,	,,	,,	,,						
	५४	,,	,,	,,	,,						
	५५	,,	,,	,,	,,						
	५६	,,	,,	,,	,,						
	५७	,,	,,	,,	,, —	११	का	उत्कृष्ट	अनु	अनन्तगुण	उससे
कण्डक का अवशिष्ट एकभाग	५८					१२	,,	,,	,,	,,	,,
	५९					१३	,,	,,	,,	,,	,,
	६०					१४	,,	,,	,,	,,	,,
						१५	,,	,,	,,	,,	,,
						१६	,,	,,	,,	,,	,,
						१७	,,	,,	,,	,,	,,
						१८	,,	,,	,,	,,	,,
						१९	,,	,,	,,	,,	,,
						२०	,,	,,	,,	,,	,,
	५८	का जघन्य	अनु	अनन्तगुण	उससे —	२१	,,	,,	,,	,,	,,
						२२	,,	,,	,,	,,	,,
						२३	,,	,,	,,	,,	,,
						२४	,,	,,	,,	,,	,,
						२५	,,	,,	,,	,,	,,
						२६	,,	,,	,,	,,	,,
						२७	,,	,,	,,	,,	,,
						२८	,,	,,	,,	,,	,,
						२९	,,	,,	,,	,,	,,
						३०	,,	,,	,,	,,	,,
	५९	का जघन्य	अनु	अनन्तगुण	उससे —	३१	,,	,,	,,	,,	,,
						३२	,,	,,	,,	,,	,,
						३३	,,	,,	,,	,,	,,
						३४	,,	,,	,,	,,	,,
						३५	,,	,,	,,	,,	,,
						३६	,,	,,	,,	,,	,,
						३७	,,	,,	,,	,,	,,
						३८	,,	,,	,,	,,	,,
						३९	,,	,,	,,	,,	,,
						४०	,,	,,	,,	,,	,,
	६०	का जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे —	४१	,,	,,	,,	,,	,,
						४२	,,	,,	,,	,,	,,
						४३	,,	,,	,,	,,	,,
						४४	,,	,,	,,	,,	,,
						४५	,,	,,	,,	,,	,,
						४६	,,	,,	,,	,,	,,
						४७	,,	,,	,,	,,	,,
						४८	,,	,,	,,	,,	,,
						४९	,,	,,	,,	,,	,,
						५०	,,	,,	,,	,,	,,

६१	का	जघन्य अनु	अनतगुण	उससे	—५१	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
६२	"	"	"	"	—५२	"	"	"	"	"
६३	"	"	"	"	—५३	"	"	"	"	"
६४	"	"	"	"	—५४	"	"	"	"	"
६५	"	"	"	"	—५५	"	"	"	"	"
६६	"	"	"	"	—५६	"	"	"	"	"
६७	"	"	"	"	—५७	"	"	"	"	"
६८	"	"	"	"	—५८	"	"	"	"	"
६९	"	"	"	"	—५९	"	"	"	"	"
७०	"	"	"	"	—६०	"	"	"	"	"
७१	"	"	"	"	—६१	"	"	"	"	"
७२	"	"	"	"	—६२	"	"	"	"	"
७३	"	"	"	"	—६३	"	"	"	"	"
७४	"	"	"	"	—६४	"	"	"	"	"
७५	"	"	"	"	—६५	"	"	"	"	"
७६	"	"	"	"	—६६	"	"	"	"	"
७७	"	"	"	"	—६७	"	"	"	"	"
७८	"	"	"	"	—६८	"	"	"	"	"
७९	"	"	"	"	—६९	"	"	"	"	"
८०	"	"	"	"	—७०	"	"	"	"	"
				अनुकृष्टि कण्डक	७१	"	"	"	"	"
					७२	"	"	"	"	"
					७३	"	"	"	"	"
					७४	"	"	"	"	"
					७५	"	"	"	"	"
					७६	"	"	"	"	"
					७७	"	"	"	"	"
					७८	"	"	"	"	"
					७९	"	"	"	"	"
					८०	"	"	"	"	"

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति का जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक (अल्प) है। जिसे प्रारूप मे २१ के अक से बतलाया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, यावत् सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण तक सर्वस्तोक जानना। जिसे प्रारूप मे २१ के अक से लेकर ५० के अक पर्यन्त बताया है।

२ उसके बाद उपरितन स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा है। इसी प्रकार आगे की द्वितीय आदि स्थितियो मे कण्डक के असख्येय भाग तक अनन्तगुणा कहना चाहिये। असत्कल्पना से कण्डक का सख्याप्रमाण १० अक समझना चाहिये और उसका असख्यातवा भाग ७ अक, जिसे प्रारूप में ५१ से ५७ तक के अक द्वारा बतलाया है तथा 'एकोऽवतिष्ठते' से तीन अक (५८,५९,६०) लिये हैं।

३ परावर्तमान अशुभ प्रकृतियो की जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि कण्डक प्रमाण स्थितियो मे अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना। जिन्हें प्रारूप मे अक ११ से २० तक के अक पर्यन्त बतलाया है।

४ जिस स्थिति के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसकी उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे ५८ के अक से प्रदर्शित किया है।

५ प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग रूप कण्डक से ऊपर की प्रथम, द्वितीय, तृतीय यावत् कण्डक प्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे २१ के अक से ३० के अक पर्यन्त बतलाया है।

६ इसके पश्चात् जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए, उससे ऊपर की जघन्य स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण होता है। जिसे प्रारूप मे ५९ के अक से बतलाया है।

७ इसके बाद पुन प्रागुक्त कण्डक से ऊपर की कण्डकप्रमाण स्थितियो मे उत्कृष्ट अनुभाग क्रमश अनन्तगुण, अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे ३१ से ४० के अक पर्यन्त बतलाया है।

८ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियों का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना चाहिये, यावत् जघन्य अनुभाग सबधी एक-एक स्थितियो की 'तानि अन्यानि च—वही और अन्य' रूप अनुकृष्टि से कण्डक पूर्ण हो जाये अर्थात् कण्डक पर्यन्त अनन्तगुण कहना चाहिये। प्रारूप मे जघन्य अनुभाग विषयक एक स्थिति ६० के अक से अनन्तगुणी बताई है और उत्कृष्ट अनुभाग विषयक स्थितिया कण्डक प्रमाण अनन्तगुणी ४१ से ५० के अक पर्यन्त बतलाई है। इस प्रकार सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग ५० के अक पर्यन्त कहना चाहिये।

९ इसके पश्चात् परस्पर आक्रान्त स्थितिस्थान है। अत उसके ऊपर एक स्थिति, एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थिति से उपरितन स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे क्रमश ६१-५१ के अक से बताया है। इसके ऊपर पुन प्रागुक्त स्थिति की उपरितन स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है और सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण से ऊपर की द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे क्रमश ६२-५२ के अक से बताया है।

१० इस प्रकार एक जघन्य और एक उत्कृष्ट का अनुभाग अनन्तगुण तब तक कहना यावत् असातावेदनीय के जघन्य अनुभाग की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। जिसे प्रारूप मे ६३-५३, ६४-५४, ६५-५५ आदि लेते हुए ८० के अक तक जघन्य स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग बताया है।

११ अभी जो उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितिया अनुक्त हैं। वे भी यथोत्तर अनन्तगुणी जानना। जिसे प्रारूप मे ७१-८० के अक पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग से बताया है।

त्रसचतुष्क की तीव्रता—मन्दता

(त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक)

ये चारो प्रकृतिया परावर्तमान शुभ प्रकृतिया है। अत इनकी तीव्रता-मदता का विचार उत्कृष्ट स्थिति से प्रारम्भ करके जघन्यस्थिति पर्यन्त किया जायेगा।

इनकी तीव्रता-मंदता दर्शक प्रारूप इस प्रकार है–

निवर्तन कंडक	९०	का	जघन्य	अनुभाग	अल्प	उससे						
	८९	"	"	"	अनन्तगुण	"						
	८८	"	"	"	"	"						
	८७	"	"	"	"	"						
	८६	"	"	"	"	"						
	८५	"	"	"	"	"						
	८४	"	"	"	"	"						
	८३	"	"	"	"	"						
	८२	"	"	"	"	"						
	८१	"	"	"	"	"	—९०	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
९८ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण	८०	"	"	"	"	"	—८९	"	"	"	"	"
	७९	"	"	"	"	"	—८८	"	"	"	"	"
	७८	"	"	"	"	"	—८७	"	"	"	"	"
	७७	"	"	"	"	"	—८६	"	"	"	"	"
	७६	"	"	"	"	"	—८५	"	"	"	"	"
	७५	"	"	"	"	"	—८४	"	"	"	"	"
	७४	"	"	"	"	"	—८३	"	"	"	"	"
	७३	"	"	"	"	"	—८२	"	"	"	"	"
	७२	"	"	"	"	"	—८१	"	"	"	"	"
	७१	"	"	"	"	"	—८०	"	"	"	"	"
	७०	"	"	"	"	"	—७९	"	"	"	"	"
	६९	"	"	"	"	"	—७८	"	"	"	"	"
	६८	"	"	"	"	"	—७७	"	"	"	"	"
	६७	"	"	"	"	"	—७६	"	"	"	"	"
	६६	"	"	"	"	"	—७५	"	"	"	"	"
	६५	"	"	"	"	"	—७४	"	"	"	"	"
	६४	"	"	"	"	"	—७३	"	"	"	"	"
	६३	"	"	"	"	"	—७२	"	"	"	"	"
	६२	"	"	"	"	"	—७१	"	"	"	"	"
	६१	"	"	"	"	"	—७०	"	"	"	"	"

अभव्यप्रायोग्य अनुभागबन्धस्थिति	६०	का	जघन्य	अनभाग	अनन्तगुण	उससे						
	५९	"	"	"	"	"						
	५८	"	"	"	"	"						
	५७	"	"	"	"	"						
	५६	"	"	"	"	"						
	५५	"	"	"	"	"						
	५४	"	"	"	"	"						
	५३	"	"	"	"	"						
	५२	"	"	"	"	"						
	५१	"	"	"	"	"						
	५०	"	"	"	"	"						
	४९	"	"	"	"	"						
	४८	"	"	"	"	"						
	४७	"	"	"	"	"						
	४६	"	"	"	"	"						
	४५	"	"	"	"	"						
	४४	"	"	"	"	"						
	४३	"	"	"	"	"						
	४२	"	"	"	"	"						
	४१	"	"	"	"	"						
	४०	"	"	"	"	"						
कडक का असख्यातवा भाग	३९	"	"	"	"	"						
	३८	"	"	"	"	"						
	३७	"	"	"	"	"						
	३६	"	"	"	"	"						
	३५	"	"	"	"	"						
	३४	"	"	"	"	"						
	३३	"	"	"	"	" —	६९	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
कडक का अवशिष्ट एक भाग	३२						६८	"	"	"	"	"
	३१						६७	"	"	"	"	"
	३०						६६	"	"	"	"	"
							६५	"	"	"	"	"
							६४	"	"	"	"	"
							६३	"	"	"	"	"
							६२	"	"	"	"	"
							६१	"	"	"	"	"
							६०	"	"	"	"	"
	३२	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे —	५९	"	"	"	"	"
							५८	"	"	"	"	"
							५७	"	"	"	"	"
							५६	"	"	"	"	"
							५५	"	"	"	"	"

अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति	२०	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
	१९	"	"	"	"	"
	१८	"	"	"	"	"
	१७	"	"	"	"	"
	१६	"	"	"	"	"
	१५	"	"	"	"	"
	१४	"	"	"	"	"
	१३	"	"	"	"	"
	१२	"	"	"	"	"
	११	"	"	"	"	"

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१ त्रस आदि नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति के जघन्यपद म जघन्य अनुभाग सर्वस्तोक है, जिसे प्रारूप मे ९० के अक से वतलाया है।

२ तदनन्तर समयोन, समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, अनन्तगुण कण्डक मात्र तक जानना। जिसे प्रारूप मे ८९ से ८१ के अक तक बताया है।

३ इसके वाद उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे ८१ के अक के सामने के ९० के अक द्वारा बतलाया है।

४ तत कण्डक से नीचे प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुग है। तत समयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा है। जिसे प्रारूप मे क्रमश ८९ से ८० के अक तक से वताया है।

५ इसके वाद कण्डक की अधस्तनी द्वितीय स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण और द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे क्रमश ७९, ८८ के अक से जानना। यह तव तक कहना यावत् १८ कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। जिसे प्रारूप मे ७९-८८, ७८-८७ आदि अक बतलाते हैं। यह क्रम ६१-७० के अक तक जानना।

६ १८ कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थिति अनुक्त है। उसकी प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। उससे समयोन उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग पूर्ववत् है, द्विसमयोन उत्कृष्ट स्थिति का भी पूर्ववत् है (अर्थात् अनन्तगुण है)। इस प्रकार अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति वध तक जानना। जिसे प्रारूप मे ६० से ४० के अक तक बतलाया है।

७ उसके बाद अधस्तन प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। इस प्रकार नीचे कण्डक के असख्येय भाग तक जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे ३९ से ३३ के अक तक बतलाया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस सकेत से ३२,३१,३० अक जानना।

८ अठारह कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर कण्डक मात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६९ से ६० के अक तक बताया है।

९ जिस जघन्य स्थितिस्थान के अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ३२ के अक से बताया है।

१० उसके बाद पुन १८ कोडाकोडी सागरोपम सम्बन्धी अन्त्यस्थिति से लेकर नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण कहना, जिसे प्रारूप मे ५९ मे ५० के अक तक बताया है।

११ उसके बाद जिस स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग कहकर निवृत्त हुए थे, उससे नीचे के स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ३१ के अक से प्रदर्शित किया है।

१२ उससे भी पुन पूर्वोक्त कण्डक (५९-५०) से नीचे कण्डक प्रमाण स्थितियो का अनुक्रम से नीचे-नीचे उतरते-उतरते उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण-अनन्तगुण कहना। जिसे ४९ से ४० के अक तक बताया है।

१३ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिये यावत अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के विषय मे जघन्य स्थिति आती है।

१४ जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उसके अधोवर्ती स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप में ३० के अक से बताया है। इसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के नीचे प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ३० के अक के सामने ४० के अक से बताया है।

१५ इसके बाद पुन प्रागुक्त जघन्य अनुभागबध की स्थिति के नीचे का अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २९ के अक से बताया है। उसके बाद अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग से नीचे द्वितीय स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे २९ के अक के सामने ३९ के अक से बताया है।

इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और एक स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग तब तक कहना चाहिए यावत जघन्यस्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे २८-३८, २७-३७, २६-३६, २५-३५ आदि के क्रम को लेते हुए जघन्य स्थिति को २१ के अक से बताया है।

१६ जो उत्कृष्ट स्थिति मे कण्डक प्रमाण अनुभाग अनुक्त है, उसे प्रारूप मे २० से ११ के अक तक जानना। वह उत्तरोत्तर अनन्तगुण, अनन्तगुण है।

तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र की तीव्रता-मदता

इनकी तीव्रता-मदता का विचार जघन्य स्थिति से प्रारभ कर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त किया जायेगा। इनकी तीव्रता-मदता इस प्रकार है—

निर्वर्तन कण्डक	११	का	जघन्य	अनुभाग	स्तोक	उससे						
	१२	„	„	„	अनन्तगुण	„						
	१३	„	„	„	„	„						
	१४	„	„	„	„	„						
	१५	„	„	„	„	„						
	१६	„	„	„	„	„						
	१७	„	„	„	„	„						
	१८	„	„	„	„	„						
	१९	„	„	„	„	„						
	२०	„	„	„	„	„						
अभव्य	२१	„	„	„	„	„	—११	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
	२२	„	„	„	„	„	—१२	„	„	„	„	„
	२३	„	„	„	„	„	—१३	„	„	„	„	„
	२४	„	„	„	„	„	—१४	„	„	„	„	„
	२५	„	„	„	„	„	—१५	„	„	„	„	„
							—१६	„	„	„	„	„
									„	„	„	„

Group												
प्रायोग्य जघन्य अनु० बंध	२६	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—१७	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
	२७	,,	,,	,,	,,	,,	—१८	,,	,,	,,	,,	,,
	२८	,,	,,	,,	,,	,,	—१९	,,	,,	,,	,,	,,
	२९	,,	,,	,,	,,	,,	—२०	,,	,,	,,	,,	,,
	३०	,,	,,	,,	,,	,,	—२१	,,	,,	,,	,,	,,
	३१	,,	,,	,,	,,	,,	—२२	,,	,,	,,	,,	,,
	३२	,,	,,	,,	,,	,,	—२३	,,	,,	,,	,,	,,
	३३	,,	,,	,,	,,	,,	—२४	,,	,,	,,	,,	,,
	३४	,,	,,	,,	,,	,,	—२५	,,	,,	,,	,,	,,
	३५	,,	,,	,,	,,	,,	—२६	,,	,,	,,	,,	,,
	३६	,,	,,	,,	,,	,,	—२७	,,	,,	,,	,,	,,
	३७	,,	,,	,,	,,	,,	—२८	,,	,,	,,	,,	,,
	३८	,,	,,	,,	,,	,,	—२९	,,	,,	,,	,,	,,
	३९	,,	,,	,,	,,	,,	—३०	,,	,,	,,	,,	,,
	४०	,,	,,	,,	,,	,,						
सागरोपम शतपृथक्त्वप्रमाण (परावर्तमान जघ० अनु० बंधप्रायोग्य)	४१	,,	,,	,,	,,	,,						
	४२	,,	,,	,,	,	,						
	४३	,,	,,	,,		,,						
	४४	,,	,,	,,	,,	,,						
	४५	,,	,,	,,	,,	,,						
	४६	,,	,,	,,	,,	,,						
	४७	,,	,,	,,	,	,,						
	४८	,,	,,	,,	,,	,,						
	४९	,,	,,	,,	,,	,,						
	५०	,,	,,	,,	,,	,,						
	५१	,,	,,	,,	,,	,,						
	५२	,,	,,		,,	,,						
	५३	,,	,,	,,	,	,						
	५४	,,	,	,,	,,	,,						
	५५	,,	,,	,,	,,	,,						
	५६	,	,	,,	,	,,						
	५७	,,	,,	,,	,,	,,						
	५८	,,	,,	,,	,,	,,						
	५९	,,	,,	,,	,,	,,						
	६०	,,	,,		,,	,						
निवर्तन कंडक का असं० भाग	६१	,,	,,	,,	,,	,,						
	६२	,,	,,	,,	,,	,,						
	६३	,,	,,	,,	,	,,						
	६४	,,	,,	,,	,,	,,						
	६५	,,	,,	,,	,,	,						
	६६	,	,,	,,	,,	,,						
	६७	,,	,,	,,	,,	,,	—३१	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
कंडक का अवशिष्ट भाग	६८						३२	,,	,,	,,	,,	,,
	६९						३३	,,	,,	,,	,,	,,
	७०						३४	,,	,,	,,	,,	,,

३५ का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण उससे
३६ " " " " "
३७ " " " " "
३८ " " " " "
३९ " " " " "
४० " " " " "
६८ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे—४१ " " " " "
४२ " " " " "
४३ " " " " "
४४ " " " " "
४५ " " " " "
४६ " " " " "
४७ " " " " "
४८ " " " " "
४९ " " " " "
५० " " " " "
६९ का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे—५१ " " " " "
५२ " " " " "
५३ " " " " "
५४ " " " " "
५५ " " " " "
५६ " " " " "
५७ " " " " "
५८ " " " " "
५९ " " " " "
६० " " " " "
७० का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण उससे—६१ " " " " "
७१ " " " " " —६२ " " " " "
७२ " " " " " —६३ " " " " "
७३ " " " " " —६४ " " " " "
७४ " " " " " —६५ " " " " "
७५ " " " " " —६६ " " " " "
७६ " " " " " —६७ " " " " "
७७ " " " " " —६८ " " " " "
७८ " " " " " —६९ " " " " "
७९ " " " " " —७० " " " " "
८० " " " " " —७१ " " " " "

प्रायोग्य जघन्य अनु बंध	२६	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—१७	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
	२७	,,	,,	,,	,,	,,	—१८	,,	,,	,,	,,	,,
	२८	,,	,,	,,	,,	,,	—१९	,,	,,	,,	,,	,,
	२९	,,	,,	,,	,,	,,	—२०	,,	,,	,,	,,	,,
	३०	,,	,,	,,	,,	,,	—२१	,,	,,	,,	,,	,,
	३१	,,	,,	,,	,,	,,	—२२	,,	,,	,,	,,	,,
	३२	,,	,,	,,	,,	,,	—२३	,,	,,	,,	,,	,,
	३३	,,	,,	,,	,,	,,	—२४	,,	,,	,,	,,	,,
	३४	,,	,,	,,	,,	,,	—२५	,,	,,	,,	,,	,,
	३५	,,	,,	,,	,,	,,	—२६	,,	,,	,,	,,	,,
	३६	,,	,,	,,	,,	,,	—२७	,,	,,	,,	,,	,,
	३७	,,	,,	,,	,,	,,	—२८	,,	,,	,,	,,	,,
	३८	,,	,,	,,	,,	,,	—२९	,,	,,	,,	,,	,,
	३९	,,	,,	,,	,,	,,	—३०	,,	,,	,,	,,	,,
	४०	,,	,,	,,	,,	,,						
सागरोपम शतपृथक्त्वप्रमाण (परावर्तमान जघ अनु बंधप्रायोग्य)	४१	,,	,,	,,	,,	,,						
	४२	,,	,,	,,	,	,,						
	४३	,,	,,	,,		,,						
	४४	,,	,,	,,	,,	,,						
	४५	,,	,,	,,	,,	,,						
	४६	,,	,,	,,	,,	,,						
	४७	,,	,,	,,	,	,,						
	४८	,,	,,	,,	,,	,,						
	४९	,,	,,	,,	,,	,,						
	५०	,,	,,	,,	,,	,,						
	५१	,,	,,	,,	,,	,,						
	५२	,,	,,		,,	,,						
	५३	,,	,,	,,	,	,						
	५४	,,	,	,,	,,	,,						
	५५	,,	,,	,,	,,	,,						
	५६	,	,	,,	,	,,						
	५७	,,	,,	,,	,,	,,						
	५८	,,	,,	,,	,,	,,						
	५९	,,	,,	,,	,,	,,						
	६०	,,	,,		,,	,						
निवर्तन कंडक का असं भाग	६१	,,	,,	,,	,,	,,						
	६२	,,	,,	,,	,,	,,						
	६३	,,	,,	,,	,	,,						
	६४	,,	,,	,,	,,	,,						
	६५	,,	,,	,,	,,	,						
	६६	,	,,	,,	,,	,,						
	६७	,,	,,	,,	,,	,,	—३१	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
कंडक का अवशिष्ट भाग	६८						३२	,,	,,	,,	,,	,,
	६९						३३	,,	,,	,,	,,	,,
	७०						३४	,,	,,	,,	,,	,,

						३५	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उसमें
						३६	"	"	"	"	"
						३७	"	"	"	"	"
						३८	"	"	"	"	"
						३९	"	"	"	"	"
						४०	"	"	"	"	"
६८	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे—	४१	"	"	"	"	"
						४२	"	"	"	"	"
						४३	"	"	"	"	"
						४४	"	"	"	"	"
						४५	"	"	"	"	"
						४६	"	"	"	"	"
						४७	"	"	"	"	"
						४८	"	"	"	"	"
						४९	"	"	"	"	"
						५०	"	"	"	"	"
६९	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे—	५१	"	"	"	"	"
						५२	"	"	"	"	"
						५३	"	"	"	"	"
						५४	"	"	"	"	"
						५५	"	"	"	"	"
						५६	"	"	"	"	"
						५७	"	"	"	"	"
						५८	"	"	"	"	"
						५९	"	"	"	"	"
						६०	"	"	"	"	"
७०	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे—	६१	"	"	"	"	"
७१	"	"	"	"	" —	६२	"	"	"	"	"
७२	"	"	"	"	" —	६३	"	"	"	"	"
७३	"	"	"	"	" —	६४	"	"	"	"	"
७४	"	"	"	"	" —	६५	"	"	"	"	"
७५	"	"	"	"	" —	६६	"	"	"	"	"
७६	"	"	"	"	" —	६७	"	"	"	"	"
७७	"	"	"	"	" —	६८	"	"	"	"	"
७८	"	"	"	"	" —	६९	"	"	"	"	"
७९	"	"	"	"	" —	७०	"	"	"	"	"
८०	"	"	"	"	" —	७१	"	"	"	"	"
							"	"	"	"	"

८१	का	जघन्य	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे	—७२	का	उत्कृष्ट	अनुभाग	अनन्तगुण	उससे
८२	"	"	"	"	"	—७३	"	"	"	"	"
८३	"	"	"	"	"	—७४	"	"	"	"	"
८४	"	"	"	"	"	—७५	"	"	"	"	"
८५	"	"	"	"	"	—७६	"	"	"	"	"
८६	"	"	"	"	"	—७७	"	"	"	"	"
८७	"	"	"	"	"	—७८	"	"	"	"	"
८८	"	"	"	"	"	—७९	"	"	"	"	"
८९	"	"	"	"	"	—८०	"	"	"	"	"
९०	"	"	"	"	"	८१	"	"	"	"	"
						८२	"	"	"	"	"
						८३	"	"	"	"	"
						८४	"	"	"	"	"
						८५	"	"	"	"	"
						८६	"	"	"	"	"
						८७	"	"	"	"	"
						८८	"	"	"	"	"
						८९	"	"	"	"	"
						९०	"	"	"	"	"

(८१ से ९० : अवशिष्ट कण्डक प्रमाण स्थिति)

स्पष्टीकरण गाथा ६७ के अनुसार

१ सप्तम नरक मे वर्तमान नारक के सर्वजघन्य स्थितिस्थान के जघन्यपद मे अनुभाग सर्वस्तोक है। जिसे प्रारूप मे ११ के अक से बतलाया है।

२ द्वितीयादि निवर्तनकण्डक तक के स्थान मे जघन्य अनुभाग क्रमश अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे १२ से २० के अक पर्यन्त बताया है।

३ उसके बाद जघन्य स्थिति के उत्कृष्ट पद मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे प्रारूप मे २० के अक के सामने के ११ के अक से बतलाया है।

४ इससे निवर्तनकण्डक से ऊपर के प्रथम स्थितिस्थान मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे १२ के अक से बताया है। द्वितीय स्थिति के उत्कृष्ट पद मे अनुभाग अनन्तगुण है, जिसे २१ के अक के सामने १२ के अक से बतलाया है। इस प्रकार एक जघन्य, एक उत्कृष्ट अनुभाग तब तक जानना चाहिये जब तक कि अभव्य प्रायोग्य जघन्य अनुभाग के नीचे की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे २२-१३, २३-१४, २४-१५ आदि क्रम लेते हुए अत मे ३९-३० के अक से बताया है।

५ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति ४० के अक से बताई है।

६ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध विषयक प्रथम स्थिति मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितियो (सागरोपमशतपृथक्त्व प्रमाण स्थितियो) पर्यन्त तावन्मात्र-तावन्मात्र अर्थात अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ४१ से ६० अक पर्यन्त बतलाया है।

इन स्थितियो को परावर्तमान जघन्य अनुभागबधप्रायोग्य भी कहते है।

७ इससे ऊपर प्रथम स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्तगुण, उनसे भी द्वितीय जघन्य स्थिति का अनुभाग अनन्तगुण, इस प्रकार निवर्तनकण्डक के असख्येयभाग पर्यन्त जानना। जिसे प्रारूप मे ६१ से ६७ के अक पर्यन्त बताया है।

'एकोऽवतिष्ठते' इस नियम के अनुसार निवर्तनकण्डक के एक अवशिष्ट भाग को बताने के लिए ६८, ६९, ७० ये तीन अक बतलाये हैं।

८ जिस उत्कृष्ट स्थितिस्थान के अनुभाग का कथन कर निवृत्त हुए, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे अनन्तगुण, अनन्तगुण अभव्यप्रायोग्य अनुभागबध की चरम स्थिति के नीचे तक कहना चाहिये। जिसे प्रारूप मे ३१ से ४० तक के अक पर्यन्त बतलाया है।

९ जिस स्थितिस्थान से जघन्य अनुभाग का कथन करके निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन स्थितिस्थान मे जघन्य अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६८ के अक से बताया है।

१० अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध विषयक प्रथम स्थिति मे उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। द्वितीयादि स्थितिस्थान तब तक कहना यावत कण्डकमात्र स्थितिया अतिक्रात होती है। जिसे प्रारूप मे ४१ से ५० के अक तक बताया है।

११ जिस स्थितिस्थान के जघन्य अनुभाग को कहकर निवृत्त हुए थे, उससे उपरितन जघन्य स्थितिस्थान का अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६९ के अक से बताया है।

१२ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग विषयक स्थितिस्थान से ऊपर कण्डकमात्र स्थितिस्थान अनन्तगुण जानना चाहिये। जिसे प्रारूप मे ५१ से ६० के अक पर्यन्त बताया है।

१३ इस प्रकार एक स्थिति का जघन्य अनुभाग और कण्डकमात्र स्थितियो का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्त-गुण तब तक जानना, जब तक कि अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभाग की चरम स्थिति आती है। जिसे प्रारूप मे ७० के अक से जानना।

१४ अभव्यप्रायोग्य जघन्य अनुभागबध के ऊपर प्रथम स्थिति का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे प्रारूप मे ६१ के अक से जानना। प्रागुक्त जघन्य अनुभागबध के ऊपर का जघन्य स्थितिस्थान अनन्तगुण, जिसे प्रारूप मे ७१ के अक से बताया है और प्रागुक्त उत्कृष्ट अनुभाग से ऊपर के स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुण है। जिसे ६२ के अक से समझना।

इस प्रकार एक स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग और एक स्थितिस्थान का उत्कृष्ट अनुभाग परस्पर आक्रान्त रूप मे तब तक कहना यावत उत्कृष्ट स्थिति का जघन्य अनुभाग अनन्त गुण आता है। जिसे प्रारूप मे ६३-७३, ६४-७४, ६५-७५ आदि लेते हुए ९०-८१ अक पर्यन्त कहना। यह ९० के उत्कृष्ट स्थितिस्थान का जघन्य अनुभाग हुआ।

१५ अब जो उत्कृष्ट स्थिति के उत्कृष्ट अनुभाग की कण्डक मात्र स्थितिया अनुक्त है, उसे क्रमश अनन्तगुण कहना। जिसे प्रारूप मे ८१ से ९० के अक पर्यन्त बताया है।

२६. पल्योपम और सागरोपम का स्वरूप

क्षुल्लकभव का प्रमाण बतलाने के प्रसग मे जैन दृष्टिकोण से प्राचीन कालगणना का कुछ निर्देश किया गया है कि कालगणना की आद्य इकाई 'समय' है और उसके पश्चात् आवलिका, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि का क्रम चलता है। इस मुहूर्त के बाद कालगणना की ऐसी सज्ञायें चालू हो जाती है, जिन्हें हम सभी जानते

है। जैसे कि ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो माम की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्प प्रमिद्ध ही है।

इन वर्षो के समुदाय का सकेत करने के लिए युग, दशक, शताब्दि आदि सज्ञाओ का भी प्रयोग देखने मे आता है। लेकिन काल का प्रवाह अनन्त हे। इसलिए वर्षो की अमुक-अमुक सख्या को लेकर प्राचीन काल मे जो सज्ञायें शास्त्रो मे निर्धारित की गई है, वे इस प्रकार है—पूर्वांग, पूर्व, त्रुटिताग, त्रुटित, अडडाग, अडड इत्यादि। इसी क्रम से कहते हुए अतिम सज्ञा का नाम शीर्षप्रहेलिका है। ये सभी उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणी होती है। इन सज्ञाओ को वताकर अनुयोगद्वारसूत्र मे कहा है कि शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने पर १९४ अक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। अर्थात् सख्यात सख्या की यहा तक छद्‌मस्थ गणना कर सकते हैं। इसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

आशय यह है कि समय की जो अवधि वर्षों के रूप मे गिनी जा सकती है, उसके लिये पूर्वांग, पूर्व आदि सज्ञायें मान ली, लेकिन समय की अवधि इतनी लवी है कि उसकी गणना वर्षो मे नही की जा सकती है, उसे उपमा-प्रमाण द्वारा जाना जाता है।

उपमा प्रमाण के दो भेद है—पल्योपम और सागरोपम। समय की जिस लवी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, वह काल पल्योपम कहलाता है। अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम के तीन भेद है—उद्‌धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम। इसी प्रकार उद्‌धार, अद्धा और क्षेत्र के भेद से सागरोपम के भी तीन भेद हैं। इन पल्योपम और सागरोपम के तीन-तीन भेद भी दो प्रकार के हैं—बादर और सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमश इस प्रकार है—

उत्सेधागुल द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लवा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-गड्ढा वनाना चाहिये। जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{6}$ योजन होगी। इसमे एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए वालाग्रो को इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न इन्हें आग जला सके, न वायु उडा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। उस पल्य से प्रति समय एक-एक वालाग्र निकालें। इस तरह करते-करते जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उस काल को वादर उद्‌धारपल्योपम कहते हैं और दस कोटाकोटी बादर उद्‌धारपल्योपम का एक बादर उद्‌धार-सागरोपम होता है।

इस बादर उद्‌धारपल्योपम के एक-एक केशाग्र के बुद्धि से असख्यात, असख्यात खण्ड करो। क्षेत्र की अपेक्षा यदि इनकी अवगाहना का विचार करें तो सूक्ष्म पनक जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असख्यात-गुणी अवगाहना वाले होगे। इन केशाग्र खण्डो को भी पूर्व की तरह पल्य मे ठसाठस भर देना चाहिये और पहले की तरह प्रति समय उस केशाग्रखण्ड को निकालें। इस प्रकार निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उतने काल को सूक्ष्म उद्‌धारपल्योपम कहेंगे और दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्‌धारपल्योपम का एक सूक्ष्म उद्‌धार-सागरोपम होता है।

पूर्वोक्त बादर उद्‌धारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जित पल्य खाली हो, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस कोटाकोटी बा काल का एक बादर अद्धासागरोपम होता है।

पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्य मे से सौ-सौ वर्ष के वाद केशाग्र का एक-एक खण्ड निकालने वह पल्य खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है।

पूर्व की तरह एक योजन लवे, चौडे और गहरे गड्ढे मे एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए बालाग्रो को ठसाठस भरो। वे बालाग्र आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करें, उनमे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे समस्त प्रदेशो का अपहरण हो जाये, उतने समय को वादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। दस कोटाकोटी वादर क्षेत्रपल्योपम का एक वादर क्षेत्रसागरोपम होता है।

वादर क्षेत्रपल्य के बालाग्रो मे से प्रत्येक के असख्यात खण्ड करके पल्य मे ठसाठस भर दो। उक्त पल्य मे वे खण्ड आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करें और जिन प्रदेशो को स्पर्श न करें, उनमे से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशो का अपहरण किया जा सके, उतने समय का एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है।

पल्योपम और सागरोपम के उक्त तीन-तीन भेदो के वादर और सूक्ष्म का उपयोग यह है कि अपने उत्तर भेद का बोध हो सके। जैसे—वादर उद्धार पल्योपम और सागरोपम से सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम सरलता से समझ मे आ जाते है। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम से द्वीप, समुद्रो की गणना की जाती है तथा सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सागरोपम द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारको की आयु, कर्मो की स्थिति आदि जानी जाती है। सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद मे द्रव्यो के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इन पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए अनुयोगद्वार, जीवसमास, प्रवचन-सारोद्धार, द्रव्यलोकप्रकाश, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम एव ग्रथ देखिए।

दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का जो वर्णन है, वह पूर्वोक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। उसमे क्षेत्र पल्योपम नामक कोई भेद नही है और न प्रत्येक पल्योपम के वादर और सूक्ष्म भेद किये है। इसके लिए सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार ग्रथ देखिए।

२७. आयुबंध और उसकी अबाधा सम्बन्धी पंचसंग्रह में आगत चर्चा का सारांश

आयुकर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि सात मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियो के स्थितिवध मे उनका अबाधा-काल निश्चित है और वह उसमे गर्भित है। वैसा आयुकर्म के स्थितिबध मे नही है। आयुबध तथा उसकी अबाधा के सम्बन्ध मे मतभेद दर्शाते हुए पचसग्रह, पचम वधविधिद्वार गाथा ३७-४१ तक जो चर्चा की गई है, उसका साराश इस प्रकार है—

देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यचायु एव मनुष्यायु की तीन पल्योपम है तथा चारो आयुओ की पूर्वकोटि की त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

प्रश्न—आयु के दो भाग बीत जाने पर जो आयु का बध कहा है, वह असम्भव होने से चारो आय मे घटित नही होता है। क्योकि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच तो कुछ अधिक पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक आयु शेष रह जाने पर परभव की आयु नही बाधते हैं परन्तु पल्य का असख्यातवा भाग बाकी रहने पर ही परभव की आयु वाधते है, लेकिन उनकी आयु का त्रिभाग बहुत बडा होता है। जैसे कि तिर्यच, मनुष्यो की आयु का त्रिभाग एक पल्य और देव एव नारको की आयु का त्रिभाग ग्यारह सागरोपम होता है।

उत्तर—उक्त कथन तभी सगत होता यदि हमारे दृष्टिकोण को समझा होता। क्योकि यहा जिन तिर्यंच और मनुष्यो की आयु एक पूर्वकोटि होती है, उनकी अपेक्षा ही एक पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण अबाधा वताई है और यह अबाधा भी भुज्यमान आयु मे ही जानना चाहिये, परभव सम्बन्धी आयु मे नही। क्योकि परभव

है। जैसे कि ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध ही है।

इन वर्षो के समुदाय का सकेत करने के लिए युग, दशक, शताब्दि आदि सज्ञाओ का भी प्रयोग देखने मे आता है। लेकिन काल का प्रवाह अनन्त है। इसलिए वर्षों की अमुक-अमुक सख्या को लेकर प्राचीन काल मे जो सज्ञायें शास्त्रो मे निर्धारित की गई है, वे इस प्रकार है—पूर्वांग, पूर्व, त्रुटिताग, त्रुटित, अडडाग, अडड इत्यादि। इसी क्रम से कहते हुए अतिम सज्ञा का नाम शीर्षप्रहेलिका है। ये सभी उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणी होती हैं। इन सज्ञाओ को बताकर अनुयोगद्वारसूत्र मे कहा है कि शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने पर १९४ अक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, उतनी ही राशि गणित का विषय है। अर्थात् सख्यात सख्या की यहा तक छद्मस्थ गणना कर सकते है। इसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

आशय यह है कि समय की जो अवधि वर्षों के रूप मे गिनी जा सकती है, उसके लिये पूर्वांग, पूर्व आदि सज्ञायें मान ली, लेकिन समय की अवधि इतनी लबी है कि उसकी गणना वर्षों मे नही की जा सकती है, उसे उपमा-प्रमाण द्वारा जाना जाता है।

उपमा प्रमाण के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। समय की जिस लबी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती हैं, वह काल पल्योपम कहलाता है। अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम के तीन भेद हैं—उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम। इसी प्रकार उद्धार, अद्धा और क्षेत्र के भेद से सागरोपम के भी तीन भेद है। इन पल्योपम और सागरोपम के तीन-तीन भेद भी दो प्रकार के है—बादर और सूक्ष्म। इनका स्वरूप क्रमश इस प्रकार है—

उत्सेधागुल द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लबा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-गड्ढा बनाना चाहिये। जिसकी परिधि कुछ कम ३$\frac{1}{6}$ योजन होगी। इसमे एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रो को इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न इन्हें आग जला सके, न वायु उडा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। उस पल्य से प्रति समय एक-एक बालाग्र निकालें। इस तरह करते-करते जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उस काल को बादर उद्धारपल्योपम कहते हैं और दस कोटाकोटी बादर उद्धारपल्योपम का एक बादर उद्धार-सागरोपम होता है।

इस बादर उद्धारपल्योपम के एक-एक केशाग्र के बुद्धि से असख्यात, असख्यात खण्ड करो। क्षेत्र की अपेक्षा यदि इनकी अवगाहना का विचार करें तो सूक्ष्म पनक जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असख्यात-गुणी अवगाहना वाले होगे। इन केशाग्र खण्डो को भी पूर्व की तरह पल्य मे ठसाठस भर देना चाहिये और पहले की तरह प्रति समय उस केशाग्रखण्ड को निकालें। इस प्रकार निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उतने काल को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहेंगे और दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धारपल्योयम का एक सूक्ष्म उद्धार-सागरोपम होता है।

पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्य से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस कोटाकोटी बादर अद्धापल्योपम काल का एक बादर अद्धासागरोपम होता है।

पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धारपल्य मे से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खण्ड निकालने पर, जितने समय मे वह पल्य खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम काल कहते हैं और दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है।

पूर्व की तरह एक योजन लबे, चौडे और गहरे गड्ढे मे एक दिन से लेकर सात दिन तक उगे हुए बालाग्रो को ठसाठस भरो। वे वालाग्र आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करें, उनमे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे समस्त प्रदेशो का अपहरण हो जाये, उतने समय को बादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते है । दस कोटाकोटी बादर क्षेत्रपल्योपम का एक बादर क्षेत्रसागरोपम होता है।

बादर क्षेत्रपल्य के बालाग्रो मे से प्रत्येक के असख्यात खण्ड करके पल्य मे ठसाठस भर दो। उक्त पल्य मे वे खण्ड आकाश के जिन प्रदेशो को स्पर्श करें और जिन प्रदेशो को स्पर्श न करें, उनमे से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशो का अपहरण किया जा सके, उतने समय का एक सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम होता है। दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम होता है।

पल्योपम और सागरोपम के उक्त तीन-तीन भेदो के बादर और सूक्ष्म का उपयोग यह है कि अपने उत्तर भेद का बोध हो सके। जैसे—बादर उद्धार पल्योपम और सागरोपम से सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम सरलता से समझ मे आ जाते हैं। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम से द्वीप, समुद्रो की गणना की जाती है तथा सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सागरोपम द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यच और नारको की आयु, कर्मो की स्थिति आदि जानी जाती है । सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद मे द्रव्यो के प्रमाण का विचार किया जाता है।

इन पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए अनुयोगद्वार, जीवसमास, प्रवचन-सारोद्धार, द्रव्यलोकप्रकाश, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम एव ग्रथ देखिए।

दिगम्बर साहित्य मे पल्योपम का जो वर्णन है, वह पूर्वोक्त वर्णन से कुछ भिन्न है । उसमे क्षेत्र पल्योपम नामक कोई भेद नही है और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद किये है । इसके लिए सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार ग्रथ देखिए।

२७. आयुबंध और उसकी अबाधा सम्बन्धी पंचसंग्रह में आगत चर्चा का सारांश

आयुकर्म के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि सात मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबध मे उनका अबाधा-काल निश्चित है और वह उसमे गर्भित है। वैसा आयुकर्म के स्थितिबध मे नही है। आयुबध तथा उसकी अबाधा के सम्बन्ध मे मतभेद दर्शाते हुए पचसग्रह, पचम बधविधिद्वार गाथा ३७-४१ तक जो चर्चा की गई है, उसका साराश इस प्रकार है—

देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम और तिर्यंचायु एव मनुष्यायु की तीन पल्योपम है तथा चारो आयुओ की पूर्वकोटि की त्रिभाग प्रमाण अबाधा है।

प्रश्न—आयु के दो भाग बीत जाने पर जो आयु का बध कहा है, वह असम्भव होने से चारो आय मे घटित नही होता है । क्योकि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यच तो कुछ अधिक पल्योपम का असख्यातवा भाग अधिक आयु शेष रह जाने पर परभव की आयु नही बाधते हैं परन्तु पल्य का असख्यातवा भाग बाकी रहने पर ही परभव की आयु बाधते हैं, लेकिन उनकी आयु का त्रिभाग बहुत बडा होता है। जैसे कि तिर्यंच, मनुष्यो की आयु का त्रिभाग एक पल्य और देव एव नारको की आयु का त्रिभाग ग्यारह सागरोपम होता है।

उत्तर—उक्त कथन तभी सगत होता यदि हमारे दृष्टिकोण को समझा होता । क्योकि यहा जिन तिर्यंच और मनुष्यो की आयु एक पूर्वकोटि होती है, उनकी अपेक्षा ही एक पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण अबाधा बताई है और यह अबाधा भी भुज्यमान आयु मे ही जानना चाहिये, परभव सम्बन्धी आयु मे नही। क्योकि परभव

सम्बन्धी आयु की दलिकरचना उस भव मे पहुचने के प्रथम समय से ही हो जाती हैं, उसमे अवाधाकाल सम्मिलित नही है। अत पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंचो की परभव की आयु की उत्कृष्ट अवाधा पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण होती है और शेष देव, नारक और भोगभमिजो की परभव की आयु की अवाधा छह मास होती है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवो के अपनी-अपनी आयु के त्रिभाग प्रमाण उत्कृष्ट अवाधा होती है। अन्य आचार्य भोगभूमिजो के परभव की आयु की अवाधा पल्य के असख्यातवें भाग प्रमाण मानते है।

इसी बात को चन्द्रसूरि ने सग्रहणीसूत्र गाथा ३०१, ३०२ मे और अधिक स्पष्ट किया है। दिगम्बर कर्मग्रथ गो कर्मकाड मे आयुबध के सम्बन्ध मे सामान्य से तो यही विचार प्रगट किये है, लेकिन देव, नारक और भोगभूमिजो की छह माह प्रमाण अवाधा को लेकर मतभेद है। वहा बताया है कि छह माह शेप रहने पर आयुबध नही होता है, किन्तु उसके त्रिभाग मे आयुबध होता है और उस त्रिभाग मे भी यदि आयुबध न हो तो छह माह के नौवें भाग मे बध होता है। अर्थात् कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचो की तरह जैसे उनकी पूरी आयु के त्रिभाग मे बध होता है, वैसे ही इनको भी छह माह के त्रिभाग मे बध होता है। भोगभूमिजो को लेकर स्वय वही एक मतभेद और है कि नौ मास शेप रहने पर उसके त्रिभाग मे परभव की आयु का वध होता है। यदि आठो त्रिभागो मे आयुबध न हो तो अनुभूयमान आयु का एक अतर्मुहूर्त काल बाकी रहने पर परभव की आयु नियम से बध जाती है। किन्हीने भज्यमान आयु का काल आवली का असख्यातवा भाग बाकी रहने पर नियम से परभव की आयु का बध माना है (देखो गो कर्मकाण्ड गाथा १५८, ६४० और इनकी टीका)।

२८. मूल एवं उत्तर प्रकृतियो के स्थितिबध एव अबाधाकाल का प्रारूप

मूलकर्म प्रकृतिया

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अवाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अवाधा
ज्ञानावरण	३० को को सागर	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरण	"	"	"	"
वेदनीय	"	"	१२ मुहूर्त	"
मोहनीय	७० को को सागर	७००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	"
आयु	३३ सागरोपम	$\frac{1}{3}$ पूर्व कोटि वर्ष	"	"
नाम	२० को को सागर	२००० वर्ष	८ मुहूर्त	"
गोत्र	"	"	"	"
अन्तराय	३० "	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	"

उत्तर कर्मप्रकृतिया

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अवाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अवाधा
ज्ञानावरणपचक	३० को को सागर	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरणवर्ग (४)	"	"	"	"
निद्रापचक	"	"	$\frac{3}{7}$ सागर पल्यासख्यभाग-हीन	"

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
सातावेदनीय	१५ को को सागरो	१५०० वर्ष	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
असातावेदनीय	३० „ „ „	३००० „	$\frac{३}{७}$ सागर पल्यासख्य-भागहीन	„
मिथ्यात्वमोहनीय	७० को को सागरो	७००० वर्ष	१ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	„
अनन्तानुबधी आदि आद्य १२ कषाय	४० को को सागरो	४००० वर्ष	$\frac{४}{७}$ सागरो पल्यासख्य-भागहीन	„
सज्वलन क्रोध	„	„	२ मास	„
„ मान	„	„	१ „	,
„ माया	„	„	१ पक्ष	„
„ लोभ	„	„	अन्तर्मुहूर्त	„
स्त्रीवेद	१५ को को सागरो	१५०० वर्ष	$\frac{१}{७}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	„
नपुसकवेद	२० „ „ „	२००० „	„	„
पुरुषवेद	१० „ „ „	१००० „	८ वर्ष	„
हास्य-रति	१० „ „ „	१००० „	$\frac{२}{७}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	„
शोक-अरति, भय-जगुप्सा	२० कोडाकोडी सागरोपम	२००० वर्ष	$\frac{२}{७}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	„
नरकायु	३३ सागरोपम	$\frac{१}{३}$ पूर्वकोटि वर्ष	१०००० वर्ष	„
तिर्यचायु	३ पल्योपम	„	क्षुल्लकभव (२५६ आवली)	„
मनुष्यायु	„	„	„	„
देवायु	३३ सागरोपम	„	१०००० वर्ष	„
नरकगति-आनुपूर्वी	२० को को सागरो	२००० वर्ष	२८५ $\frac{५}{७}$ सागरोपम पल्या-सख्यभागहीन	अन्तर्मुहूर्त
तिर्चंयगति-आनुपूर्वी	„ „ „	„	$\frac{२}{७}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	„
मनुष्यगति „	१५ „ „ „	१५०० वर्ष	„	„
देवगति „	१० , „ „	१००० वर्ष	२८५ $\frac{५}{७}$ सागरोपम पल्या-सख्य भागहीन	„

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अबाधा
एकेन्द्रियजाति	२० को को सागरो	२००० वर्ष	$\frac{3}{7}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
विकलेन्द्रियजातित्रिक	१८ ,, ,, ,,	१८०० वर्ष	,,	,,
पचेन्द्रियजाति	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	,,	,,
औदारिकसप्तक	२० ,, ,, ,,	२००० वर्ष	,,	,,
वैक्रियसप्तक	२० ,, ,, ,,	,, ,,	२८५$\frac{3}{7}$ सागरोपम पल्या-सख्य भागहीन	,,
आहारकसप्तक	अन्त को को सागरो	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण	सख्यातगुणहीन अन्त को को सागरो	,,
तैजस-कार्मणसप्तक	२० को को सागरो	२००० वर्ष	$\frac{3}{7}$ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	,,
वज्रऋषभनाराच सहनन समचतुरस्रसस्थान	१० को को सागरोपम	१००० वर्ष	,,	,,
ऋषभनाराच सहनन न्यग्रोध सस्थान	१२ को को सागरोपम	१२०० वर्ष	,,	,,
नाराचसहनन सादिसस्थान	१४ को को सागरोपम	१४०० वर्ष	,,	,,
अर्धनाराचसहनन वामनसस्थान	१६ को को सागरोपम	१६०० वर्ष	,,	,,
कीलिकासहनन कुब्जकसस्थान	१८ को को सागरोपम	१८०० वर्ष	,,	,,
सेवार्तसहनन हुण्डकसस्थान	२० को को सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,
श्वेतवर्ण, सुरभिगध, मधुररस, स्निग्ध-उष्ण-मृदु-लघु स्पर्श	१० को को सागरोपम	१००० वर्ष	$\frac{3}{7}$ सागरोपम पल्या-सख्य भागहीन	,,
कृष्णवर्ण, दुरभिगध, कटुकरस, रूक्ष-शीत-गुरु-कर्कश स्पर्श	२० को को सागरोपम	२००० वर्ष	,,	,,

कर्मप्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति	उत्कृष्ट अवाधा	जघन्य स्थिति	जघन्य अवाधा
नीलवर्ण-तिक्तरस	१७॥ को को सागरोपम	१७५० वर्ष	३/७ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
रक्तवर्ण-कपायरस	१५ को को सागरोपम	१५०० वर्ष	"	"
पीतवर्ण-अम्लरस	१२॥ को को सागरोपम	१२५० वर्ष	"	"
शुभविहायोगति	१० को को सागरो	१००० वर्ष	"	"
अशुभ "	२० " " "	२००० वर्ष	"	"
अगुरूलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-आतप-उद्योत-निर्माण नाम	२० को को सागरोपम	२००० वर्ष	"	"
तीर्थंकरनाम	अन्त को को सागरो	अन्तर्मुहूर्त	सख्यात गुणहीन अत को को सागरो	"
त्रस,बादर,पर्याप्त,प्रत्येक	२० को को सागरोपम	२००० वर्ष	३/७ सागरोपम पल्यासख्यभागहीन	"
स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय	१० को को सागरोपम	१००० वर्ष	"	"
यश कीर्ति	१० को को सागरो	१००० वर्ष	८ मुहूर्त	"
अयश कीर्ति	२० " " "	२००० वर्ष	३/७ सागरोपम पल्या-सख्य भागहीन	"
स्थावरनाम	" " " "	"	"	"
सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त	१८ कोडाकोडी सागरोपम	१८०० वर्ष	३/७ सागरोपम पल्यासख्य-भागहीन	अन्तर्मुहूर्त
अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय-	२० को को सागरोपम	२००० वर्ष	"	"
उच्चगोत्र	१० को को सागरोपम	१००० वर्ष	८ मुहूर्त	"
नीचगोत्र	२० को को सागरो	२००० वर्ष	३/७ सागरो पल्यासख्य-भागहीन	"
अन्तरायपचक	३० " " "	३००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त	"

२९. स्थितिबध, अबाधा और निषेकरचना का स्पष्टीकरण

स्थितिबध–योग और कषाय कर्मबध के कारण है। सासारिक जीवो के योगानुसार ग्रहण किये गये कर्मदलिको का काषायिक अध्यवसाय के द्वारा आत्मा के साथ सबद्ध रहने के नियत काल को स्थितिबध कहते हैं। इस प्रकार *का स्थितिबध प्रतिसमय ग्रहण किये जा रहे कर्मदलिको मे होता रहता है।*

कर्मो के इस स्थितिबध का प्रमाण जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है।

एक समय मे जीव जिन कर्मदलिको को ग्रहण करता है, उन सबकी स्थिति समान नही बधती है, किन्तु हीनाधिक बधती है। जैसे कि किसी जीव ने जिस समय मिथ्यात्वमोहनीय की जो ७० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बाधी, वह उस समय मे ग्रहीत सर्वकर्मदलिको की स्थिति नही है, किन्तु तत्समयबद्ध लता के अतिम निषेक की है।

बद्धलता—एक समय मे ग्रहण किये गये कर्मदलिको को स्थिति के अनुसार अनुक्रम से रखने पर चढाव-उतार के मोतियो की माला के समान आकार होता है, उसे यहा लता नाम से एव एक-एक समय मे बद्ध कर्मदलिको की एक-एक कर्मलता समझना।

इस लता के प्रथम निषेक की ७००० वर्ष अबाधा (७० कोडाकोडी सागरोपम स्थिति की अपेक्षा) और एक समय प्रमाण जघन्य स्थिति होती है। एक साथ एक समय मे उदयमान/निर्जीर्ण होने वाले कर्मदलिको के विभाग को निषेक कहते हैं। जिसका आशय इस प्रकार है—

जीव द्वारा बाधी हुई ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कर्मलताओ का अबाधाकाल ७००० वर्ष प्रमाण होता है। अर्थात् इतने समय तक तत्समयबद्ध वे कर्म जीव को कोई बाध नही करते—उदय मे नही आते है। अबाधा-काल के बीतने पर अनन्तर समय मे उस लता के जितने प्रदेश उदय मे आते हैं—निर्जीण होने वाले हैं, उन्हें प्रथम निषेक जानना चाहिये।

प्रथम निषेक का अबाधाकाल सात हजार वर्ष प्रमाण है। जिस समय जीव ने सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बाधी, उस समय उस लता के दलिको का एक विभाग सात हजार वर्ष और एक समय की स्थिति प्रमाण होता है। यह प्रथम निषेक है। इस स्थिति वाले दलिको का प्रदेशपरिमाण अनन्तरवर्ती निषेको की अपेक्षा सबसे अधिक जानना और उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थिति वाले दलिक स्वभावत हीन-हीन प्रदेशप्रमाण वाले होते हैं। अर्थात् द्वितीय निषेक सात हजार वर्ष और दो समय की स्थिति वाला है। इस निषेक मे प्रथम निषेक से विशेषहीन दलिक और सात हजार वर्ष एव एक समय प्रमाण अबाधाकाल होता है। तीसरा निषेक सात हजार वर्ष और तीन समय की स्थिति वाला होता है। इसमे पूर्व की अपेक्षा दलिक विशेषहीन और अबाधा ७००० वर्ष एव दो समय प्रमाण है। इस प्रकार एक-एक समय अधिक स्थिति के बढते-बढते सबसे अतिम निषेक ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति वाला और अबाधाकाल एक समय कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण जानना चाहिये।

यहा सात हजार वर्ष उत्कृष्ट अबाधाकाल मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की अपेक्षा बताया है। यह सामान्य से समझना। अन्यथा तो वह उस लता के प्रथम निषेक का अबाधाकाल होने से जघन्य अबाधाकाल है और अतिम निषेक का उत्कृष्ट काल तो एक समय कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।

यदि कोई यहा यह तर्क प्रस्तुत करे कि जीव प्रतिसमय कर्मबंध करता है तो उसके साथ ही समय-समय स्थितिबंध भी होता रहता है तो इस प्रकार उत्तरोत्तर कर्मदलिको की वृद्धि की तरह स्थिति में वृद्धि होते जाना चाहिये। जैसे कि किसी एक जीव ने अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे अनन्तानुबधी की विसयोजना की और तत्पश्चात् वही जीव पुन मिथ्यात्व गुणस्थान मे आकर अनन्तानुबधी का बध करता है और तब यदि वह उसकी उत्कृष्ट स्थिति का बध करता है तो प्रथम समय मे ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बध करे, पुन दूसरे समय मे-४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बध करे तो उस अनन्तानुबधी की स्थितिसत्ता ८० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण मानी जाना चाहिये।

समाधान—प्रथम समयबद्ध अनन्तानुबधी के दलिको के साथ द्वितीय समयबद्ध अनन्तानुबधी के समान स्थिति वाले निषेको के दलिक मिल जाने से स्थिति नही बढती है, केवल निषेको मे दलिको की अधिकता होती जाती है। अनन्तानुबधी की प्रथम लता के प्रत्येक निषेक की स्थिति मे दूसरे समय एक समय स्थिति के घट जाने से अतिम निषेक की स्थिति एक समय कम ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण रहती है और उस समय जो चालीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति बधी, उससे दूसरे समयबद्धलता का अतिम निषेक जिसकी ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति है, उसके सिवाय शेष सर्वनिषेक प्रथम समय बद्धलता के समय ही ४० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति के समस्थितिक निषेको के साथ मिल जाने से उतनी ही स्थिति रहती है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ इत्यादि समयबद्ध दलिको के लिये भी समझ लेना चाहिये।

असत्कल्पना से बद्धलता के निषेको की रचना का प्रारूप इस प्रकार है—
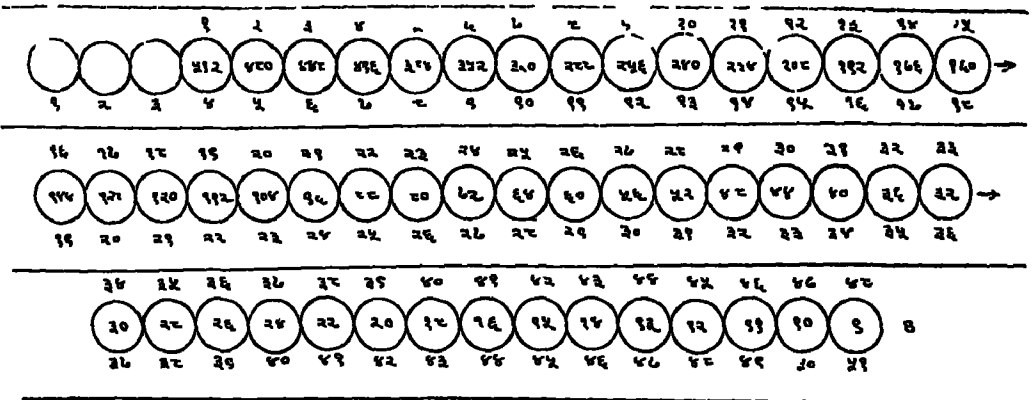
रचनाप्रारूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ यथार्थरूपेण आत्मा के साथ बधे हुए कर्मदलिक प्रतिसमय उदय मे आकर निर्जीर्ण होते रहते है। निर्जीर्ण होने की क्रमव्यवस्था होने से उनका आकार एक समयबद्ध कर्मदलिको की निषेकापेक्षा (उदय मे आने के क्रम से) रचना करने पर पूर्वोक्त प्रमाण लता का आकार हो जाता है।

२ असत्कल्पना से बद्धलता की स्थिति ५१ समय है। उसमे आदि के तीन समय अबाधाकाल है।

३ असत्कल्पना से एक समय मे बधने वाले कर्मदलिको का प्रमाण ६३०० है। यद्यपि एक समय मे बधने वाले कर्मदलिको का प्रमाण अनन्तानन्त है और उनकी स्थिति उत्कृष्ट से सत्तर, तीस आदि कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। लेकिन समझने के लिए असत्कल्पना से कर्मदलिको का उपर्युक्त प्रमाण माना है।

४ गोलाकार ○ बिन्दु रूप एक-एक विन्दु एक-एक समय रूप निषेक का सूचक है तथा विन्दु के मध्य मे दी हुई सख्या उस समय उदय मे आने वाले कर्मदलिको की सख्याप्रमाण की सूचक है।

५ सख्यारहित तीन गोलाकार विन्दु अबाधाकाल के सूचक हैं।

६ बिन्दु के ऊपर दिये गये अक निषेक सख्या के क्रम के तथा विन्दु के नीचे दिये गये अक स्थितिकाल के सूचक है।

७ इस लता की निषेकरचना की प्ररूपणा की विधा के दो प्रकार हैं—१ अनन्तरोपनिधा, २ परपरोपनिधा। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा—प्रथम समय से द्वितीय समय मे विशेषहीन, द्वितीय समय से तृतीय समय मे विशेषहीन, यावत बधे हुए कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अनुक्रम से प्रतिसमय उत्तरोत्तर विशेषहीन कहना चाहिये। अत अबाधाकाल को छोडकर प्रथम समय मे बहुत द्रव्य (५१२) दिया गया है और आगे के उत्तरोत्तर प्रत्येक स्थितिसमय मे ४८०,४४८,४१६ इत्यादि रूप से विशेषहीन, विशेषहीन दलिक प्रक्षेप किये गये है।

परपरोपनिधाप्ररूपणा—इस विधा मे बीच के स्थानो का अतिक्रमण करने के पश्चात् जो स्थान आता है, उसमे द्विगुणवृद्धि या द्विगुणहानि का दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रस्तुत मे हानि का क्रम निर्देश किया है कि पल्योपम के असख्येयभाग प्रमाण स्थितियो का उल्लघन करने पर द्विगुणहानि होगी। जैसे कि प्रकृत लता मे प्रथम स्थान से ८ स्थान रूप पल्योपम के असख्यातवें भाग आगे जाने पर २५६ और उससे आगे पुन ८ स्थानरूप पल्योपम के असख्यातवें भाग आगे जाने पर १२८ रूप द्विगुणहानि होती है। इसी प्रकार आगे-आगे ८-८ स्थान रूप पल्योपम के असख्यातवें भाग जाने पर क्रमश ६४, ३२, १६ सख्यारूप द्विगुणहानि लता मे दिखाई है।

बंधनकरण : गाथाओं की अकारादि-अनुक्रमणिका

बंधनकरण : विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्दसूची

अकाषायिक अध्यवसाय
अगुरुलघुचतुष्क
अगुरुलघु/नामकर्म
अग्रहणयोग्य
अग्रहणवर्गणा
अग्रहणप्रायोग्यवर्गणा
अघातिनी प्रकृति/प्रकृतिया
अग्निकायप्रवेशक
अग्निकायिक
अग्निकायस्थितिकाल
अचक्षुदर्शन
अचक्षुदर्शनावरणकर्म
अजघन्य
अतिचार
अधस्तनस्थानप्ररूपणा
अध्यवसाय
अध्यवसायस्थान
अर्थकडक
अर्धच्छेद
अर्धनाराचसंहनन/नामकर्म
अर्धविशुद्ध
अध्रुवबंधित्व
अध्रुवबंधिनी प्रकृति/प्रकृतिया
अध्रुवाचित्तवर्गणा
अध्रुवोदयत्व
अध्रुवोदया प्रकृति/प्रकृतिया
अध्रुवसत्ताकत्व
अध्रुवसत्ताका प्रकृति/प्रकृतिया
अनन्त
अनन्तगुणहीन
अनन्तभागहीन
अनन्तगुण हानि/वृद्धि
अनन्तभाग हानि/वृद्धि
अनन्तानुबंधीकषाय
अनन्तानुबंधीचतुष्क
अनन्तरोपनिधाप्ररूपणा
अनपवर्तनीय आयु
अनभिसंधिज-वीर्य
अनाकारोपयोगयोग्य
अनादेय/नामकर्म
अनिकाचित
अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान
अनुकृष्टि
अनुग्रह
अनुत्कृष्ट
अनुत्तरोपपातिक
अनुदयप्राप्त
अनुदयवती प्रकृति/प्रकृतिया
अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृति/प्रकृतिया
अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृति/प्रकृतिया
अनुभवयोग्य स्थिति
अनुभवप्रायोग्य
अनुभाग (स्वभाव)
अनुभाग (रस)
अनुभागबंध
अनुभागस्थान
अनुभागबंधस्थान
अनुभागबंधाध्यवसायस्थान
अपर्याप्त/नामकर्म
अपर्याप्तप्रायोग्य
अपरावर्तमान प्रकृति/प्रकृतिया
अपवर्तना/करण
अपूर्वकरणगुणस्थान
अप्रतिपक्ष प्रकृति/प्रकृतिया
अप्रमत्तविरतगुणस्थान
अप्रत्याख्यानावरणकषाय/चतुष्क

उष्णस्पर्श/नामकर्म
ऋषभनाराचसहनन/नामकर्म
एकस्थानक
एकान्तरितमार्गणा
एकान्तसाकारोपयोगयोग्य
एकेन्द्रियजाति/नामकर्म
एकेन्द्रियप्रायोग्य
ओजोयुग्मप्ररूपणा
औदयिकभाव
औदारिक-औदारिकबंधन/नामकर्म
औदारिक-कार्मणबंधन/नामकर्म
औदारिक-अंगोपांगनामकर्म
औदारिकचतुष्क
औदारिक-तैजसबंधन/नामकर्म
औदारिक-तैजसकार्मणबंधन/नामकर्म
औदारिकद्विक
औदारिकवर्गणा
औदारिकशरीर/नामकर्म
औदारिकशरीरप्रायोग्य
औदारिकसप्तक
औपपातिक
अंगोपांग/नामकर्म
अंगोपांगत्रिक
अंजलिप्रग्रह
अन्तरप्ररूपणा
अंतरस्थान/प्ररूपणा
अंतरायकर्म
अंतरायपंचक
अंतरायप्रकृतिवर्ग
कटुरस/नामकर्म
कपित्थ
करणाष्टक
कर्कशस्पर्श/नामकर्म
कर्मदलिक
कर्मदलिकनिषेक
कर्मप्रायोग्य
कर्मरूपतावस्थानलक्षणास्थिति
कर्ष (मापविशेष)
कल्योज
कषाय/मोहनीय
कषायरस/नामकर्म
कषायोदयस्थान
कार्मण-कार्मणबंधन/नामकर्म
कार्मणवर्गणा
कार्मणशरीर/नामकर्म
कार्यद्रव्याभ्यास
कीलिकासंहनन/नामकर्म
कुब्जसंस्थान/नामकर्म
कृतयुग्म
कृष्णवर्ण/नामकर्म
केवलदर्शन
केवलदर्शनावरण
केवलद्विक
केवलज्ञान
केवलज्ञानावरण
केवलिक
केवली
कोडाकोडी
कंडक
कंडकप्ररूपणा
कंडकवर्ग
कंडकस्थान
क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदय प्रकृति/प्रकृतियां
ख्याति
गति/नामकर्म
गतिचतुष्क
गलवृन्द
गुणनिष्पन्न
गुणपरमाणु
गुणप्रत्यय
गुणहानि/स्थान
गुरुस्पर्श/नामकर्म
गृह्यमाण
गोत्र/कर्म
गोत्रद्विक
गंध/नामकर्म
ग्रहणवर्गणा
ग्रहणप्रायोग्यवर्गणा

घाति प्रकृति/प्रकृतिया
घनाकार लोक
चतु स्थानगत
चतु स्थानक
चतु सामयिक
चतुरिन्द्रियजाति/नामकर्म
चक्षुदर्शन
चक्षुदर्शनावरण
चारित्रमोहनीय
चारित्रमोहनीयवर्ग
चारित्रलब्धि
चेष्टा
चौरदन्त
छद्मस्थ
छाद्मस्थिक
छेदनक
जघन्य
जघन्यपद
जघन्यस्थिति
जातिपचक
जीवभेद
जीवविपाकित्व
जीवविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतिया
जीवसमुदाहार
जुगुप्सामोहनीय
डायस्थिति
तिक्तरस/नामकर्म
तिर्यग्गतिप्रायोग्य
तिर्यग्द्विक
तिर्यंचगति/नामकर्म
तिर्यंचगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
तिर्यंचद्विक
तिर्यंचत्रिक
तिर्यंचायु
तीर्थंकर/नामकर्म
तेजस्काय
तैजस्कायिक
तैजसकार्मणबधन/नामकर्म
तैजसकार्मणसप्तक
तैजस-तैजसबधन/नामकर्म
तैजसवर्गणा
तैजसशरीर/नामकर्म
तैजसशरीरप्रायोग्य
त्वक्
दलिक
दलिकनिक्षेप
दर्शनमोहनीय/वर्ग
दर्शनलब्धि
दर्शनावरणकर्म
दर्शनावरणचतुष्क
दर्शनावरणनवक
दर्शनावरणवर्ग
दर्शनावरणषट्क
दाता
दानान्तरायकर्म
दुर्भगनामकर्म
दुरभिगध/नामकर्म
दु स्वर/नामकर्म
देवगति/नामकर्म
देवगतिद्विक
देवगतित्रिक
देवगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
देवायु/कर्म
देशघातित्व
देशघातिनी प्रकृति/प्रकृतिया
देशविरतगुणस्थान
देशविरतद्विक
देशक्षय
द्वापरयुग्म
द्विगुणवृद्धिस्थान
द्विगुणहानिस्थान
द्विगुणित
द्विपरमाणुवर्गणा
द्विस्थानक
द्विस्थानगत
द्विसामयिक
द्वीन्द्रियजाति/नामकर्म
ध्रुवबधित्व

प्रतर
प्रमाणानुगम
प्रशस्तविहायोगति/नामकर्म
प्रज्ञा
प्राणापानप्रायोग्य
प्राणापानवर्गणा
प्रतिजिह्वा
प्रतिलोमक्रम
प्रत्याख्यान
प्रत्याख्यानावरणकपाय/चतुक
प्रत्येक प्रकृति/प्रकृतिया
प्रत्येक शरीर/नामकर्म
प्रत्येकशरीरीवर्गणा
प्रदेश
प्रदेशबध
प्रदेशसक्रमण
प्रदेशाग्र
प्रदेशोदय
बद्धडायस्थिति
बध्यमान
बादर/नामकर्म
बादरनिगोदवर्गणा
बादर पर्याप्तक
बधनकरण
बधननामकर्म
भजनीयबध
भयमोहनीय
भव्यत्वभाव
भवविपाकित्व
भवविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतिया
भावपरमाणु
भाषाप्रायोग्य
भाषावर्गणा
भोगभूमिज
भोगान्तरायकर्म
मतिज्ञान
मतिज्ञानावरणकर्म
मधुररस/नामकर्म
मनपर्यायज्ञान
मनपर्यायज्ञानावरण
मनुष्यगति/नामकर्म
मनुष्यगत्यानुपूर्वी/नामकर्म
मनुष्यद्विक
मनुष्यायु/कर्म
मनुष्यत्रिक
मनोवर्गणा
मन प्रायोग्य
मिथ्यात्व/गुणस्थान
मिथ्यात्वमोहनीय
महाप्रातिहार्य
मूल
मूल प्रकृति/प्रकृतिया
मृदुस्पर्श/नामकर्म
मध्यमसस्थानचतुष्क
मध्यमसहननचतुष्क
मोहनीयकर्म
यवमध्य/प्ररूपणा
यश कीर्ति/नामकर्म
योग
योगप्रत्यय
योगस्थान
रक्तवर्ण/नामकर्म
रस (अनुभाग)
रस/नामकर्म
रसयवमध्य
रसविपाक
रसविपाका प्रकृतिया
रसस्पर्धक
रसस्पर्धकसघातविशेप
रसाणु
रसाविभाग
रतिमोहनीय
रूक्षस्पर्श/नामकर्म
लब्धि-अपर्याप्त
लाभान्तरायकर्म
लोकाकाश
लवक
वचनातिशय

स्थितिसंक्रमण
स्थिर/नामकर्म
स्थिरषट्क
स्निग्धस्पर्श/नामकर्म
सुभगनामकर्म
सुरभिगंध/नामकर्म
सुरद्विक
सुस्वर/नामकर्म
सुस्वरत्रिक
सूत्रधार
सूक्ष्म/नामकर्म
सूक्ष्मअद्धापल्योपम
सूक्ष्मनिगोदवर्गणा
सूक्ष्म पर्याप्त
सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान
सूक्ष्मसंपराययति
सूक्ष्मत्रिक
सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम
सेवार्तसंहनन/नामकर्म
संक्रम/करण
संक्रमणकाल
संघातन/नामकर्म
संख्यातगुणहीन
संख्यातगुण वृद्धि/हानि
संख्यातभागहीन
संख्यातभाग वृद्धि/हानि
संज्वलनकषाय/त्रिक/चतुष्क
संस्थान/नामकर्म
संस्थानषट्क
संक्लिश्यमान
संहनन/नामकर्म
संहननषट्क
संक्लेशस्थान
स्कन्ध
स्थान/प्ररूपणा
स्थावर/नामकर्म
स्थावरत्रिक
स्थावरदशक
स्थावरप्रायोग्य
स्थाम
स्नेहप्रत्ययिक
स्नेहप्रत्ययस्पर्धक/प्ररूपणा
स्नेहाविभाग
स्पर्धक/प्ररूपणा
स्पर्श/नामकर्म
स्पर्शनाप्ररूपणा
स्वप्रत्यय
स्वानुदयबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
स्वोदयबंधिनी प्रकृति/प्रकृतियां
स्त्रीवेद
स्त्यानर्द्धि (स्त्यानगृद्धि)/त्रिक
क्षपक
क्षपकश्रेणि
क्षयोपशम
क्षायिकभाव
क्षायोपशमिकभाव
क्षीणमोहगुणस्थान
क्षुल्लकभव
क्षेत्रविपाकित्व
क्षेत्रविपाकिनी प्रकृति/प्रकृतियां
त्रस/नामकर्म
त्रस चतुष्क/त्रिक
त्रसजीवप्रायोग्य
त्रसदशक
त्रसबीस
त्रिपरमाणुवर्गणा
त्रिस्थानगत
त्रिस्थानकरस
त्रिसामयिक
त्रीन्द्रियजाति/नामकर्म
त्रेतोज
ज्ञान
ज्ञानातिशय
ज्ञानावरणकर्म
ज्ञानावरणपंचक
ज्ञानावरणवर्ग
हास्यमोहनीय
हास्यादियुगलद्विक
हास्यादिषट्क
हेतुविपाका प्रकृति/प्रकृतियां
हुंडसंस्थान/नामकर्म

बंधनकरण : कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१ मगलाचरणात्मक पदो की व्याख्या करके स्पष्ट कीजिये कि उन पदो द्वारा ग्रथकार ने किस-किसको नमस्कार किया है।

२ नोकषायो को कषायसहचारी मानने के कारण को स्पष्ट करके गति और जाति नामकर्म को पृथक् मानने की युक्ति का निर्देश कीजिये।

३ सघात और बधन नामकर्म मे क्या अन्तर है और उनको पृथक्-पृथक् मानने का क्या कारण है ?

४ प्रकृतियो के वर्गीकरण द्वारो का नामोल्लेख करके इन प्रकृतियो का किन-किन द्वारो मे वर्गीकरण सभव है तथा उन द्वारो की परिभाषा भी लिखिये—

ज्ञानावरणपचक, सहननषट्क, तैजसकार्मणसप्तक, वेदनीयद्विक, अगोपागत्रिक, सज्वलनकषायचतुष्क, देवगतिद्विक, युगलद्विक, स्थिरषट्क।

५ ससारी जीव की वीर्यशक्ति द्वारा होने वाले कार्यों का निर्देश कीजिये।

६ योगाविभागो की उत्पत्ति का कारण लिखकर यह बताइये कि वे जीव के एक एक प्रदेश पर जघन्य और उत्कृष्ट से कितने पाये जाते हैं।

७ योगविषयक निम्नलिखित प्ररूपणाओं का सक्षेप मे साराश लिखिये—

१ वृद्धिप्ररूपणा, २ समयप्ररूपणा, ३ जीवाल्पबहुत्वप्ररूपणा।

८ पौदगलिक वर्गणाओ का सक्षेप मे विवेचन करके यह स्पष्ट कीजिये कि जीव द्वारा ग्रहण की जाने वाली वर्गणायें कौन-कौन हैं।

९ पुद्गलद्रव्य के परस्पर सबन्ध होने का कारण क्या है ? और तत्सबन्धित प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा की व्याख्या कीजिये।

१० असत्कल्पना द्वारा योगस्थानप्ररूपणा को स्पष्ट करके यथार्थरूप मे उसका आशय स्पष्ट कीजिये।

११ मूल प्रकृतियो मे प्रदेशविभाजन के सामान्य नियम का निर्देश करके निम्नलिखित उत्तरप्रकृतियो के प्रदेश-विभाग एव उत्कृष्ट और जघन्य पदभावी प्रदेशो के अल्पबहुत्व का निरूपण कीजिये—
१ ज्ञानावरणपचक, २ वेदनीयद्विक, ३ सोलह कषाय, ४ जातिपचक, ५ वर्णनामकर्म, ६ सहननषट्क, ७ अतराय-पचक।

१२ योग एव अनुभागबध सबन्धी समानतत्रीय प्ररूपणाओ को छोडकर शेष अनुभागबधसबन्धी प्ररूपणाओ का साराश लिखिये।

१३ अनुभागबंध मे अनुकृष्टि और तीव्रता-मंदता के संबन्ध को स्पष्ट करके निम्नलिखित प्रकृतियो की अनुकृष्टि तथा तीव्रता-मंदताप्ररूपणा कीजिये—

१ अशुभवर्णनवक, २ पराघात, ३ उच्चगोत्र, ४ नरकद्विक।

१४ निम्नलिखित प्रकृतियो की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति बतलाइये—

१ पुरुषवेद, २ चतुर्थ संस्थान-संहनन, ३ तीर्थंकर-नामकर्म, ४ सूक्ष्मत्रिक, ५ मनुष्यायु, ६ वैक्रियषट्क, ७ वर्णचतुष्क ८ निद्रापंचक, ९ देवगतिद्विक।

१५ जीवभेदो मे स्थितिस्थानो का निरूपण कीजिये।

१६ कर्मों के उत्कृष्ट अबाधाकाल का परिमाण जानने विषयक नियम का आशय स्पष्ट कीजिये।

१७ एकेन्द्रियादि जीवो की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध होने की प्रक्रिया का आशय स्पष्ट कीजिये।

१८ जीवभेदो मे स्थितिबंध के अल्पबहुत्व का आशय स्पष्ट कीजिये।

१९ स्थितिस्थानो मे निषेकरचना के क्रम को स्पष्ट कीजिये।

२० संज्ञी-असंज्ञी पर्याप्त रहित शेष जीवभेदो का आयुव्यतिरिक्त सात कर्मों मे स्थितिबंध आदि का अल्पबहुत्व बतलाइये।

२१ स्थितिबंध के अध्यवसायस्थानो के कितने अनुयोगद्वार है? उनको संक्षेप मे समझाइये।

२२ रसयवमध्य से प्रकृतियो के स्थितिस्थानादिको का अल्पबहुत्व स्पष्ट कीजिये।

२३ निम्नलिखित शब्दो की परिभाषायें लिखिये—

१ स्पर्धक, २ कंडक, ३ स्नेहप्रत्ययस्पर्धक, ४ अनुकृष्टि, ५ निवर्तनकंडक, ६ द्वायस्थिति, ७ अबाधाकंडक, ८ क्षुद्रकभव, ९ निषेक, १० स्थान, ११ रसाविभाग, १२ कल्योजराशि, १३ अनन्तरोपनिधा।